बौद्धभारतीग्रन्थमाला - १२ (क)
Bauddha Bharati Series - 12 (A)

बुद्धघोसाचरियविरचितो

विसुद्धिमग्गो

(हिन्दीअनुवादसहितो)

पठमो भागो



प्रधान सम्पादक
स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

बौद्धभारतीग्रन्थमाला-१२ (क)

Bauddha Bharati Series-12 (A)

बुद्धघोसाचरियविरचितो

विसुद्धिमग्गो

[हिन्दीअनुवादसहितो]

(पठमो भागो)

प्रधानसम्पादक

स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

Bauddha Bharati Series-12 (A)

The VISUDDHIMAGGA

SIRI BUDDHAGHOSĀCARIYA

With

Hindi Translation

(Vol. 1st)

General Editer
Swāmi Dwārikādās Shāstri

Translated in Hindi
By
Dr. Tapasyā Upādhyāya
Bauddha Darshana Shastri, M. A., PH. D.

BAUDDHA BHARATI
VARANASI

2541 B.] **1998** [V. 2055

बौद्धभारतीग्रन्थमाला-१२ (क)

आचार्यबुद्धघोषविरचित

विसुद्धिमग्ग

[हिन्दीअनुवादसहित]

[प्रथम से षष्ठ परिच्छेद तक]

(पहला भाग)

सम्पादक, संशोधक

स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

हिन्दी-व्याख्याकार

डॉ० तपस्या उपाध्याय

बौद्धदर्शनाचार्य, एम० ए०, पीएच० डी०



वाराणसी

बु० २५४१]   १९९८ ई०   [वि०२०५५

पो० बॉ० नं० १०४९
वाराणसी-२२१ ००१. (भारत)

P. B. No. 1049
VARANASI-221 001 [India]

सहायक सम्पादक :
धर्मकीर्त्ति शास्त्री
चन्द्रकीर्त्ति शास्त्री

अभिनव संस्करण : १९९८

Unique Edition : 1998

Price Rs. 200/-

मुद्रक :
साधना प्रेस
काटन मिल कालोनी
वाराणसी-२२१ ००२
फोन :- (०५४२) २१००९४

Printed By :
SADHANA PRESS
Cotton Mill Colony
VARANASI- 221 002
Ph. : (0542) 210094

प्रकाशकीय

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः, सरितश्च महीतले।
प्रचरिष्यति लोकेऽस्मिन्, तावद्वै बौद्धभारती॥

विगत १९७७ ई० में, बौद्धभारती-ग्रन्थमाला के १२वें पुष्प के अन्तर्गत, आचार्य बुद्धघोषरचित **विसुद्धिमग्ग** (बौद्ध योगशास्त्र का मूर्धन्य ग्रन्थ) का मूल (पालि) पाठ ही प्रकाशित हुआ था।

यद्यपि विद्वानों ने इस ग्रन्थ का आशातीत समादर किया; परन्तु अध्येता छात्रों ने, साथ में हिन्दी अनुवाद न होने के कारण, इसको संगृहीत करने में कुछ उपेक्षा दिखायी। इतने अन्तराल के बाद, आज हम छात्रों की उत्कण्ठा के शमनहेतु ग्रन्थ के मूल पालि-पाठ के साथ उसका **हिन्दी रूपान्तर** भी प्रकाशित कर रहे हैं।

यह हिन्दी-रूपान्तर भगवत्कृपा से इतना सुव्यवस्थित लिखा गया है कि अब यह छात्रों के लिये ही ज्ञानवर्धक नहीं, अपितु विद्वानों के लिये भी अत्युपयोगी एवं सहायक हो गया।

यह हिन्दी-रूपान्तर विषयवस्तु का सम्यक्तया अवबोध कराने के लिये, कुछ अधिक विस्तृत हो गया है, अतः अब इसे रूपान्तर (अनुवाद) मात्र न कहकर 'विस्तृत हिन्दी व्याख्या' कहा जाय तो भविष्णु व्याख्याकार के कठिन श्रम का उचित एवं उपयुक्त मूल्याङ्कन होगा।

इस हिन्दी व्याख्या की रचयित्री **डॉ० तपस्या उपाध्याय**, एम. ए., पीएच. डी., हिन्दी जगत् के लिये सुपरिचित ही हैं। आप हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि एवं प्राक्तन प्राचार्य प्रो० कान्तानाथ पाण्डेय 'चोंच' राजहंस (हरिश्चन्द्र कालेज, वाराणसी) की सुपुत्री एवं पालि साहित्य के जाने-माने विद्वान् प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय (भू० पू० पालिविभागाध्यक्ष, सं. सं. वि. वि., वाराणसी) की पुत्रवधू हैं। यह बात हमें आश्वस्त करती है कि आप को हिन्दी, संस्कृत एवं पालि भाषाओं का साहित्यिक ज्ञान कुलक्रमागत एवं परम्पराप्राप्त है, अतः इनकी लेखनी पर विश्वास किया जा सकता है।

इन्होंने, यह व्याख्या लिखते समय, विसुद्धिमग्ग से सम्बद्ध यथोपलब्ध सभी सामग्रियों का—जो कि पालि हिन्दी एवं अंग्रेजी भाषा में यत्र-तत्र विकीर्ण थीं, यथाशक्ति गम्भीरतया अध्ययन कर उनका इस व्याख्या में यथास्थान आवश्यक उपयोग व समावेश किया है। यों, यह व्याख्या प्रामाणिकता की मर्यादा से ही स्पृष्ट नहीं, अपितु इससे भी आगे बहुत दूर तक अन्तःप्रविष्ट भी है—ऐसा हमारा विश्वास है। अतः हमारी मान्यता है कि यह व्याख्या लिखकर आपने अपने अध्ययन का सदुपयोग तो किया ही, साथ में पालि-जगत् का भी महान् उपकार किया है। अस्तु।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में पूर्ववत् विस्तृत भूमिका एवं हिन्दीसंक्षेप भी दे दिये गये हैं!

अन्ते च, आर्थिक सौकर्य को ध्यान में रखते हुए, हम इस बार इस विपुलकलेवर ग्रन्थ को हिन्दी व्याख्या के साथ क्रमशः तीन भागों में प्रकाशित कर रहे हैं। जिनमें पहला एवं दूसरा भाग आपके सम्मुख प्रस्तुत किया जा रहा है। अवशिष्ट तीसरा भाग यथासम्भव समय में उपलब्ध हो जायगा—ऐसी आशा है।

वाराणसी
वैशाखपूर्णिमा, २०५३ वि०

अध्यक्ष, बौद्धभारती

दो शब्द

यह बात सभी विद्वान् मानते हैं कि बौद्धधर्म-दर्शन के क्षेत्र में आचार्य बुद्धघोष के इस 'विसुद्धिमग्ग' ग्रन्थ का स्थान विशिष्टतम है।

इस ग्रन्थरत्न की विषयवस्तु एवं महत्त्व पर इस संस्करण की भूमिका में प्रधान सम्पादक द्वारा पर्याप्त लिखा गया है, अत: उस विषय पर पुन: कुछ लिखना पिष्टपेषण ही माना जायगा।

पालि से हिन्दी-रूपान्तर के क्षेत्र में हमारा यह प्रथम प्रयास है। जिस प्रकार निर्गन्ध पुष्प यदि देवता के चरणों में रख दिया जाय तो वह भी शीर्ष पर धारण करने योग्य हो जाता है; उसी प्रकार जिस कार्य को पालि से हिन्दी रूपान्तर के अभ्यासमात्र या स्वान्त:सुखाय के रूप में प्रारम्भ किया गया था, वह मात्र एक वर्ष की अल्पावधि में पूज्य स्वामी जी के वात्सल्यमय प्रोत्साहन, कुशल निर्देशन तथा समुचित संशोधन एवं परिष्कार के फलस्वरूप सुधी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत हो रहा है।

प्रारम्भ से ही हमारा उद्देश्य इस ग्रन्थ का भाषान्तरमात्र न कर इस की विषयवस्तु का स्पष्टीकरण भी रहा है, अत: इस अनुवाद में यथास्थान कोष्ठकों का मुक्त भाव से प्रयोग करना पड़ गया है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रत्येक भाषा की अपनी प्रकृति होती है। इस अनुवाद में हमने हिन्दी एवं पालि—दोनों ही भाषाओं की प्रकृति के साथ न्याय करने का प्रयास किया है।

हमें अपने कार्य में भिक्षु ञाणमोलि जी कृत इस ग्रन्थ के अंग्रेजी अनुवाद से बहुत सहायता मिली है। एतदर्थ हम उनके आभारी हैं।

अन्ते च, ऐसे बृहत् कार्य में त्रुटियाँ रहना स्वाभाविक हैं। विद्वज्जनों एवं अध्येताओं से विनम्र अनुरोध है कि प्रस्तुत संस्करण की त्रुटियाँ हमें अवश्य अवगत कराते रहें जिससे द्वितीय संस्करण में उनका परिमार्जन व परिशोधन हो सके।

— अनुवादिका

विसुद्धिमग्ग की

बहिरङ्गकथा

पालीतिवुत्तविञ्ञूनं देसनानयनिस्सिता।
विसुद्धिमग्गगन्थस्स बहिरङ्गकथा अयं॥

त्रिपिटक का विकास

पालित्रिपिटक सिंहल (श्रीलङ्का) में राजा वट्टगामणि के शासनकाल में भगवान् के महापरिनिर्वाण से प्रायः चार शताब्दी बाद अपने वर्तमान रूप में लिखा गया। इस प्रकार वर्तमान पालित्रिपिटक का निबन्धनकाल ईसापूर्व प्रथम शताब्दी माना जा सकता है।

इस त्रिपिटक के विनय, सूत्र तथा अभिधर्म-ये तीन विभाग (पिटक) हैं।

(क) विनयपिटक—भिक्षुओं के आचरण का नियमन करने के लिए भगवान् बुद्ध ने जो नियम बनाये थे, वे 'प्रातिमोक्ष' (पातिमोक्ख) कहे जाते है। इन्ही नियमों की चर्चा विनयपिटक में है। तीनों पिटकों में विनयपिटक का स्थान सर्वप्रथम है। प्रातिमोक्ष की महत्ता इसी से सिद्ध है कि भगवान् ने स्वयं कहा था कि उनके न रहने पर भी प्रातिमोक्ष और शिक्षापदों के कारण भिक्षुओं को अपने कर्तव्य का ज्ञान होता रहेगा और यों सङ्घ भी स्थायी रहेगा।

प्रारम्भ में केवल १५२ नियम बने होंगे, किन्तु विनयपिटक की रचना के समय उनकी संख्या २२७ हो गयी थी। 'भिक्खुविभङ्ग', जो विनयपिटक का प्रथम भाग है, वस्तुतः इन २२७ नियमों का विधान करनेवाले शिक्षापदों की व्याख्या है। ये व्याख्यात्मक ग्रन्थ **पाराजिक, पाचित्तिय** नाम से प्रसिद्ध हैं। विनयपिटक के दूसरे भाग का नाम 'खन्धक' है। **महावग्ग** तथा **चुल्लवग्ग** ये दोनों ग्रन्थ 'खन्धक' में समाविष्ट है। विनयपिटक का अन्तिम अंश **परिवार** है। इसमें वैदिक अनुक्रमणिकाओं की तरह त्रिपिटक से सम्बद्ध कई सूचियों का समावेश है।

(ख) सुत्तपिटक—यह भगवान् के लोकोपकारी उपदेशों का संग्रह है। इसमें **१. दीघनिकाय, २. मज्झिमनिकाय, ३. संयुत्तनिकाय, ४. अंगुत्तरनिकाय और ५. खुद्दकनिकाय**—इन पाँच निकायों का समावेश है।

१. **दीघनिकाय** में ३४ सुत्त (सूत्र) हैं। ये सुत्त लम्बे हैं, अतः 'दीघ' (दीर्घ) कहे गये हैं। इनमें यथास्थान शील, समाधि एवं प्रज्ञा का रोचक वर्णन है।

२. **मज्झिमनिकाय** में मध्यम आकार के (न अधिक लम्बे न छोटे) १५२ सुत्तों में भी बुद्ध के उपदेशों का संवादात्मक संग्रह है। इनमें चार आर्यसत्य, निर्वाण, कर्म, सत्कायदृष्टि, आत्मवाद, ध्यान आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा है। यह ग्रन्थ भी **मूलपण्णासक, मज्झिमपण्णासक** तथा **उपरिपण्णासक** नाम से ५०—५०—५२ सुत्तों से तीन भागों में विभक्त है।

३. **संयुत्तनिकाय** में ५६ संयुत्तों का संग्रह है। जैसे—प्रथम **देवतासंयुत्त** में देवताओं के वचनों का तथा **मारसंयुत्त** में बुद्ध को विचलित करने के लिये मार द्वारा किये गये प्रयत्नों का संग्रह है। इस ग्रन्थ में काव्य की दृष्टि से भी पर्याप्त सामग्री है।

४. **अंगुत्तरनिकाय** में २३०८ सुत्त हैं। उनमें एक वस्तु से लेकर ग्यारह वस्तुओं तक का क्रमशः समावेश किया गया है। इसमें विषय-वैविध्य का होना स्वाभाविक है।

५. **खुद्दकनिकाय** में— खुद्द (क्षुद्र) अर्थात् छोटे-छोटे उपदेश ग्रन्थों का संग्रह है। इन निकाय में निम्नलिखित १५ ग्रन्थों का समावेश है—

(१) खुद्दकपाठ—इसमें त्रिशरण, दश शिक्षापद आदि बौद्धधर्म में प्रवेश चाहने वालों के लिये अवश्य ज्ञातव्य विषयों का समावेश है।

(२) धम्मपद—बौद्ध ग्रन्थों में यह सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं महत्त्वशाली ग्रन्थ है। इसमें भगवान् बुद्ध द्वारा प्रोक्त नैतिक उपदेशों का संग्रह है।

(३) उदान—इसमें एक ही विषय का निरूपण करनेवाली अल्पसंख्यक गाथाओं का संग्रह है। प्रासंगिक दो-चार गाथाओं में भगवान् ने अपना मन्तव्य व्यक्त किया है।

(४) इतिवुत्तक—इस ग्रन्थ में 'भगवान् ने ऐसा कहा'—इस मन्तव्य से गाथाओं तथा गद्यांशों का संग्रह है।

(५) सुत्तनिपात—इसमें भगवान् के प्राचीनतम उपदेशों का संग्रह है।

(६) विमानवत्थु—इसमें देवयोनि की कथाओं के सहारे कर्मफल-सिद्धान्त का वर्णन हुआ है।

(७) पेतवत्थु—इस ग्रन्थ में प्रेतयोनि-कथाओं के प्रमाण से कर्मफल का वर्णन है।

(८) थेरगाथा—इस ग्रन्थ में बौद्ध भिक्षुओं ने अपना-अपना अनुभव काव्य में व्यक्त किया है।

(९) थेरीगाथा—इसमें बौद्ध भिक्षुणियों ने अपना-अपना अनुभव कविता के माध्यम से व्यक्त किया है।

(१०) जातक—इस ग्रन्थ में भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्मकृत सदाचारों को व्यक्त करनेवाली ५४७ कथाओं का संग्रह है। नीतिशिक्षण की दृष्टि से इन कथाओं की समानता करनेवाला ग्रन्थ अन्यत्र सुदुर्लभ है।

(११) निद्देस—यह ग्रन्थ **सुत्तनिपात** के अट्ठकवग्ग तथा खग्गविषाणसुत्त एवं पारायण वग्ग की व्याख्या है। यह **चुल्लनिद्देस** तथा **महानिद्देस** नाम से दो भागों में विभक्त है;

(१२) पटिसम्भिदामग्ग—इसमें प्राणायाम, ध्यान कर्म, आर्यसत्य, मैत्री आदि का वर्णन है।

(१३) अवदान—इसमें अर्हतों (ज्ञानियों) के पूर्वजन्मों का वर्णन है।

(१४) बुद्धवंस—इसमें भगवान् बुद्ध से पूर्व हुए २४ बुद्धों का जीवनचरित है।

(१५) चरियापिटक—यह खुद्दकनिकाय का अन्तिम ग्रन्थ है। इसमें बुद्ध ने अपने पूर्वभव में कौन-सी पारमिता, किस भव में, किस प्रकार पूर्ण की—इसका वर्णन है।

(ग) अभिधम्मपिटक—इस पिटक में भगवान् बुद्ध के उपदेशों के आधार पर बौद्धदार्शनिक विचारों की व्याख्या की गयी है। इस पिटक में इन सात ग्रन्थों का समावेश है—१. धम्मसङ्गणि, २. विभङ्ग, ३. धातुकथा, ४. पुग्गलपञ्ञत्ति, ५. कथावत्थु, ६. यमक, और ७. पट्ठान।

(१) धम्मसङ्गणि—इसमें धर्मों का वर्गीकरण और व्याख्या की गयी है।

(२) विभङ्ग—इसमें उन्हीं धर्मों के वर्गीकरण का विस्तार किया है।

(३) धातुकथा—इसमें धातुओं का प्रश्नोत्तररूप में व्याख्यान है।

(४) पुग्गलपञ्ञत्ति—इस ग्रन्थ में मनुष्यों का विविध अङ्गों में वर्णन किया गया है। यह वर्गीकरण विविध रीति से गुणों के आधार पर है।

(५) कथावत्थु—इस ग्रन्थ की रचना प्रश्नोत्तररूप में हुई है। इस ग्रन्थ का महत्त्व

बौद्धधर्म के विकासात्मक इतिहास के लिये सर्वाधिक है। पिटकान्तर्गत होने पर भी इसके रचयिता तिस्स मोग्गलिपुत्त हैं, जो तीसरी सङ्गीति के अध्यक्ष थे। इसमें क्रमशः बौद्धधर्म में जो मतभेद हुए, उनका भी संग्रह बाद तक होता रहा है। मतान्तरों का पूर्वपक्षरूप में समर्थन करके फिर उनका खण्डन किया गया है। 'आत्मा है या नहीं ?'—आदि प्रश्न उठा कर बौद्ध मन्तव्यों की स्थापना की गयी है।

(६) **यमक**—*इसमें प्रत्येक प्रश्न का उत्तर दो प्रकार से दिया गया है। और कथावत्थु* तक के ग्रन्थों से जिन शङ्काओं का समाधान नहीं हुआ, *उनका विवरण इसमें दिया गया है।*

(७) **पट्ठान**—इसे 'महापकरण' भी कहते हैं। इसमें नाम और रूप के २४ प्रकार के कार्यकारणभाव-सम्बन्ध की विस्तृत चर्चा है।

पिटकेतर ग्रन्थ

(१) पिटकेतर पालिग्रन्थों में **मिलिन्दपञ्हो** ग्रन्थ (मिलिन्दप्रश्न) सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। समस्त पालि वाङ्मय में शैली की दृष्टि से यह अनुपम है। आचार्य नागसेन के साथ ग्रीकसम्राट् मिनाण्डर (ई० पू० प्रथम शताब्दी) के संवाद की योजना होने से इस ग्रन्थ का नाम सार्थक है। इस ग्रन्थ की प्राचीनता और प्रामाणिकता इसी से सिद्ध होती है कि आचार्य बुद्धघोष ने, पिटक से बाह्य होने पर भी, इस ग्रन्थ की त्रिपिटक के समान प्रामाणिकता मानी है और इसके उद्धरण अपने ग्रन्थों में दिये हैं।

इस ग्रन्थ में बौद्धदर्शन के जटिल प्रश्नों को, जैसे—अनात्मवाद, क्षणभङ्गवाद के साथ-साथ कर्म, पुनर्जन्म, और निर्वाण आदि को, सरल उपमाएँ देकर, तार्किक दृष्टि से सुलझाने का प्रयत्न किया गया है।

(२) मिलिन्दपञ्ह के समान ही **नेत्तिप्पकरण** भी प्राचीन ग्रन्थ है। जो कि महाकच्चान की कृति माना जाता है।

(३)इसी कोटि का एक अन्य प्रकरण-ग्रन्थ **पेटकोपदेस** भी है। यह भी महाकच्चान की कृति है।

अनुपिटक या अट्ठकथा साहित्य

त्रिपिटक तथा पिटकेतर साहित्य के बाद पालिसाहित्य में अट्ठकथा साहित्य का स्थान महत्त्वपूर्ण है। अट्ठकथा=अर्थकथा अर्थात् व्याख्या। पूर्व काल में जैसे ब्राह्मण-साहित्य में सूत्र-ग्रन्थों पर भाष्य लिखने की परिपाटी थी, वैसे ही पालिसाहित्य में अट्ठकथा नाम से व्याख्याएँ लिखने की परिपाटी चली। ये अट्ठकथाएँ अर्थ की व्याख्या के साथ ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को भी स्पष्टतः विवृत करती हुई भाष्य-ग्रन्थों की अपेक्षा अपने आप में अधिक महत्त्वपूर्ण हो गयीं। संस्कृत भाष्यों में अर्थ की व्याख्या पर ही बल दिया जाता है, अनेक सिद्धान्तों या विचारधाराओं के विवरण वहाँ आते हैं, किन्तु वे 'इत्येके' 'इत्यपरे' कह कर छोड़ देते हैं। वहाँ केवल सिद्धान्त का ही अर्थ-विवेचन अधिक हुआ है। कौन सा सिद्धान्त कब उत्पन्न हुआ, अथवा वह किस का था ?—आदि की खोज नहीं की गयी। पालि-अट्ठकथाओं में ऐसी बात नहीं है। जैसे 'कथावत्थु' की अट्ठकथा को ही लीजिये, वहाँ निराकृत २१६ सिद्धान्तों में से कौन किस का, किस सम्प्रदाय का सिद्धान्त था, कब उत्पन्न हुआ ? आदि का पूर्ण विवरण मिलता है। अस्तु।

प्राचीन सिंहली अट्ठकथाएँ—बुद्धघोष की अट्ठकथाओं के साक्ष्य के आधार पर हम जानते हैं कि सिंहल में सम्पूर्ण त्रिपिटक पर सिंहली भाषा में लिखी हुई अट्ठकथाएँ उपलब्ध थीं।

जैसे—सुत्तपिटक पर **महाअट्ठकथा** थी, विनयपिटक पर **कुरुन्दी** थी और अभिधम्मपिटक की अट्ठकथा का नाम था **महापच्चरी**। ये प्राचीन सिंहली अट्ठकथाएँ बारहवीं शताब्दी तक उपलब्ध थीं। आज इनका कोई अंश सुरक्षित नहीं है।

पालि साहित्य के भारतीय अट्ठकथाकार—भारतीय अट्ठकथाकारों में तीन नाम प्रसिद्ध हैं—**बुद्धदत्त, बुद्धघोष तथा धम्मपाल**। इनमें बुद्धदत्त तथा बुद्धघोष दोनों समकालिक थे—यह 'बुद्धघोसुप्पत्ति', 'सासनवंस' आदि ग्रन्थों के प्रमाण से स्पष्ट सिद्ध है। ये दोनों 'सिंहली अट्ठकथाओं के आधार पर त्रिपिटक की प्रामाणिक अट्ठकथाएँ लिखी जाँय'—इस एक ही उद्देश्य से श्रीलङ्का भी पहुँचे थे। यह बात 'बुद्धघोसुप्पत्ति' तथा 'विनयविनिच्छय' ग्रन्थों में समुद्र में नाव पर हुए बुद्धदत्त-बुद्धघोष संवाद से स्पष्ट है। यद्यपि बुद्धदत्त अवस्था में वृद्ध थे, तथापि अट्ठकथा-लेखन का कार्य उन्होंने तब तक स्थगित रखा, जब तक आचार्य बुद्धघोष श्रीलङ्का से, अपने लक्ष्य में सफल होकर, वापस नहीं आ गये।

आचार्य बुद्धदत्त—उत्तरविनिच्छय, विनयविनिच्छय नाम से विनयपिटक की अट्ठकथा, **अभिधम्मावतार** नाम से अभिधम्मपिटक की अट्ठकथा तथा **रूपारूपविभाग** और **मधुरत्थविलासिनी** नाम से बुद्धवंस की अट्ठकथा लिखने वाले आचार्य बुद्धदत्त चोल राज्य में उरगपुर के निवासी थे।

आचार्य धम्मपाल—ये भी दाक्षिणात्य थे। इनका जन्म तमिळ प्रदेश के काञ्चीपुर में हुआ था। इनकी रचनायें ये हैं—

(१) **परमत्थदीपनी**—यह खुद्दकनिकाय के उदान, इतिवुत्तक, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा एवं चरियापिटक ग्रन्थों की अट्ठकथा है। इन ग्रन्थों पर आचार्य बुद्धघोष ने अट्ठकथाएँ नहीं लिखीं।

(२) **नेत्तिप्पकरणअट्ठकथा**—यह नेत्तिप्पकरण की अट्ठकथा है।

(३) **नेत्तित्थकथाय टीका**—उपर्युक्त नेत्तिप्पकरण की अट्ठकथा की टीका।

(४) **परमत्थमञ्जूसा**—विसुद्धिमग्ग की प्रसिद्ध अट्ठकथा।

(५) **लीनत्थप्पकासिनी**—दीघनिकायादि चार निकायों पर बुद्धघोष की अट्ठकथा पर टीका।

(६) **जातकट्ठकथा की टीका**—यह भी लीनत्थप्पकासिनी नाम से प्रसिद्ध है।

(७) बुद्धदत्त कृत **मधुरत्थविलासिनी** की टीका।

आचार्य धम्मपाल की इन सातों अट्ठकथाओं में परमत्थमञ्जूसा सबसे अधिक प्रसिद्ध है।

इन्होंने बुद्धदत्त तथा बुद्धघोष द्वारा रचित ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी हैं, अतः यह स्पष्ट है कि ये उन दोनों से बाद के थे।

पालि-साहित्य के युगविधायक आचार्य बुद्धघोष

विसुद्धिमग्ग के रचयिता आचार्य बुद्धघोष की विश्व के प्रसिद्ध दार्शनिकों, विशेषतः बौद्ध दार्शनिकों तथा ग्रन्थकारों, की पंक्ति में प्रथम गणना की जाती है। उन्होंने अपना समग्र जीवन पालिसाहित्य की श्रीवृद्धि में लगा दिया। उनकी लेखनी के सतत प्रयास से भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट त्रिपिटक तथा पालिसाहित्य के सिद्धान्त लुप्त होने से बच गये। सभी इतिहासकार मानते हैं कि यदि आचार्य बुद्धघोष ने सम्पूर्ण त्रिपिटक पर अपनी गवेषणापूर्ण अट्ठकथाएँ न लिखी होतीं तो आज त्रिपिटक वाङ्मय लुप्त होता या न होता, पर उसको इतनी सरलता से

समझना अत्यन्त दुरूह हो जाता। उन्होंने अपनी अट्ठकथाओं में न केवल बुद्धवचनों का प्रामाणिक अर्थ ही प्रस्तुत किया, अपितु अपने से प्राचीन तथा सम काल के दर्शन, इतिहास, धर्म, राजनीति, अर्थनीति, समाजनीति आदि विषयों का भी यथास्थान समीक्षात्मक वर्णन विस्तार से किया है, इसलिये इतिहाकार आचार्य बुद्धघोष को मुक्तकण्ठ से 'पालिसाहित्य का युगविधायक' मानते हैं। ऐसे महापुरुषों के व्यक्तिगत जीवन के विषय में ज्ञान रखना पुण्यप्रद तथा सामान्य जन के लिये उत्साहवर्धक होता है।

बुद्धघोष का जीवनपरिचय

परन्तु आचार्य ने भी, अन्य भारतीय मनीषियों की तरह, अपने व्यक्तिगत जीवन के विषय में अधिक कुछ नहीं लिखा। अपनी अट्ठकथाओं के प्रारम्भ और अन्त में उन्होंने जो कुछ लिखा भी है उससे उनकी रचनाओं पर ही कुछ प्रकाश पड़ता है कि वे किस उद्देश्य लिखी गयीं, या किनकी प्रेरणा से लिखी गयीं; परन्तु आचार्य के जीवन के विषय में उनसे कुछ विशेष पता नहीं लगता। सम्भवत:, अन्य भारतीय ऋषि-मुनियों की तरह, बुद्धघोष ने भी अपने महान् उद्देश्य के सामने व्यक्तिगत जीवन की महत्ता को पूर्णत: तिरोहित कर दिया। परन्तु मानव होने के नाते हम उनके मानव रूप के विषय में भी कुछ जानने को उत्सुक हैं, ताकि वह जानकारी हमारे जीवन में भी सम्बल के रूप में काम आ सके।

बुद्धघोष के जीवन के विषय में जानने के लिये उनकी लिखी अट्ठकथाओं के अतिरिक्त ये साधन हैं—१. **चूळवंस** के ३७ वें परिच्छेद की २१५—२४६ गाथाएँ, २. **बुद्धघोसुप्पति**, ३. **गन्थवंस**, ४. **सासनवंस तथा सद्धम्मसंगह**।

चूळवंस का उपर्युक्त अंश, जिसमें बुद्धघोष की जीवनी है, धम्मकित्ति (धर्मकीर्ति) नाम के भिक्षु की रचना है। जिनका काल तेरहवीं शताब्दी का मध्य-भाग है। जबकि बुद्धघोष का जीवन-काल चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईस्वी माना जाता है, अत: उनसे आठ-नौ सौ वर्ष बाद लिखी उनकी जीवनी पूर्णत: प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती—यह तो निश्चित है; फिर भी बुद्धघोष की जीवनी का सबसे अधिक प्रामाणिक वर्णन जो हमें मिलता है, वह यही है। इसी प्रकार 'गन्थवंस' और 'सासनवंस' तो ठीक उन्नीसवीं सदी की रचनाएं हैं, अत: हम इनके सहारे कितना काम चला सकते हैं!

धम्मकित्ति महासामी की 'बुद्धघोसुप्पत्ति' रचना चौदहवीं शताब्दी की है जो चूळवंस के बाद और 'गन्थवंस' और 'सासनवंस' से पहले की रचना है। इस रचना में इतनी अधिक अतिशयोक्तियाँ भरी पड़ी हैं कि सर्वांश में इसका भी प्रामाण्य नहीं माना जा सकता। अत: 'चूळवंस' के उपर्युक्त अंश को ही इस सम्बन्ध में सबसे अधिक प्रामाणिक माना है। उसके अनुसार आचार्य बुद्धघोष की जीवनी कुछ इस प्रकार लिखी जा सकती है—

आचार्य बुद्धघोष का जन्म गया (विहार) के समीप बोधिवृक्ष के निकट (किसी ग्राम में) ब्राह्मणपरिवार में हुआ। बाल्यावस्था में ही यह ब्राह्मणविद्यार्थी शिल्प और तीनों वेदों में पारङ्गत होकर शास्त्रार्थ करता हुआ भारतवर्ष में जहाँ-तहाँ घूमने लगा। इसको ज्ञान की उत्कट जिज्ञासा थी, योगाभ्यास में अत्यधिक रुचि थी। एक दिन यह रात्रि में किसी विहार में पहुँच गया। वहाँ पातञ्जल योग पर बहुत अच्छा प्रवचन किया। किन्तु रेवत नाम बौद्ध स्थविर ने इसको वाद-चर्चा में पराजित कर दिया। इन बौद्धभिक्षु के श्रीमुख से बुद्धशासन का अपूर्व वर्णन सुनकर बुद्धघोष को यह विश्वास हो गया कि निर्वाणप्राप्ति का एकमात्र यही मार्ग है। और

उन्होंने उस मत में महास्थविर रेवत से प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। प्रव्रजित होकर उन्होंने त्रिपिटक का गम्भीर अध्ययन किया। वस्तुतः प्रव्रजित होने से पूर्व बुद्धघोष एक ब्राह्मण-विद्यार्थी (ब्राह्मणमाणव) मात्र थे। बाद्र में भिक्षुसङ्घ ने त्रिपिटक में उनके गम्भीर घोष को बुद्ध के समान जानकर 'बुद्धघोष' की पदवी दी। उन्होंने, जिस विहार में इनकी प्रव्रज्या हुई थी, वहीं ञाणोदय (ज्ञानोदय) नामक ग्रन्थ की रचना की। इसके बाद वहीं इन्होंने धम्मसङ्गणि (अभिधम्मपिटक का प्रथम ग्रन्थ) पर 'अट्ठसालिनी' नामक अट्ठकथा भी लिखी। और अन्त में त्रिपिटक पर एक संक्षिप्त अट्ठकथा लिखने का भी उपक्रम किया, जिसे देखकर उनके गुरु महास्थविर रेवत ने उन्हें परामर्श दिया— "लङ्का से यहाँ भारत में केवल मूल पालि-त्रिपटिक ही लाया गया है, परन्तु अट्ठकथाएँ यहाँ उपलब्ध नहीं है। लङ्काद्वीप में महास्थविर महेन्द्र द्वारा संगृहीत प्रामाणिक अट्ठकथाएँ सिंहली भाषा में सुरक्षित हैं। तुम वहाँ जाकर उनका श्रवण करो, और बाद में मागधी भाषा में उनका रूपान्तर करो, ताकि वे सर्वजनसाधारण के लिये सुलभ होकर हितावह हो सकें।" इस प्रकार गुरु की आज्ञा से आचार्य बुद्धघोष लङ्काधिपति महानाम के शासनकाल में लङ्का गये।

वहाँ अनुराधपुर के महाविहार में 'महापधान' नामक भवन में रहकर उन्होंने सङ्घपाल नामक स्थविर से सिंहली अट्ठकथाओं और स्थविरवाद की परम्परा को सुना। जब बुद्धघोष को श्रवण, मनन, निदिध्यासन करते करते यह निश्चय हो गया कि तथागत (बुद्ध) का यही ठीक अभिप्राय है, तब उन्होंने महाविहार के भिक्षुसङ्घ से प्रार्थना की—"मैं अट्ठकथाओं का मागधी भाषा में रूपान्तर (अनुवाद) करना चाहता हूँ, मुझे आप लोग अपनी पुस्तकें देखने की अनुमति दें।" इसपर उन्होंने उनकी परीक्षा के लिये पहले उन्हें त्रिपिटक (संयुक्तनिकाय) की दो गाथाएँ व्याख्या करने के लिये दीं। बुद्धघोष ने उन दो गाथाओं की व्याख्या के रूप में 'विसुद्धिमग्ग' की रचना की। इस विद्वत्तापूर्ण रचना को देखकर भिक्षु इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने बुद्धघोष को साक्षात् भगवान् मैत्रेय बुद्ध (भावी बुद्ध) ही मान लिया और उन्हें अपनी सब पुस्तकें देखने की आज्ञा दे दी। अनुराधपुर के उस ग्रन्थकार-विहार में बैठकर आचार्य बुद्धघोष ने सिंहली अट्ठकथाओं का मागधी-भाषान्तर पूर्ण किया। इसके बाद वे अपनी जन्मभूमि भारत लौट आये।

काल—बुद्धघोष लङ्काधिपति महानाम के समय में लङ्का गये थे। इस राजा महानाम का शासनकाल चौथी शताब्दी के अन्तिम भाग में या पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में माना जाता है। अतः निश्चित है कि बुद्धघोष ने अपने ग्रन्थों की रचना इसी काल में की।

बर्मी भिक्षु-परम्परा भी यह मानती है कि आचार्य बुद्धघोष पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में लङ्का गये थे।

क्योंकि उस समय उनकी अवस्था युवा तो रही ही होगी, अतः उनका जीवनकाल निश्चय ही चौथी-पाँचवीं शताब्दी कहा जा सकता है।

जन्मस्थान—'चूळवंस' के उपर्युक्त अंश में आचार्य बुद्धघोष का जन्मस्थल बौद्धगया (या बोधिगया) के समीप ब्राह्मण कुल में बताया गया है। परन्तु प्रसिद्ध विद्वान् श्री धर्मानन्द कोशाम्बी जी, बर्मी परम्परा के अनुसार, बुद्धघोष को दक्षिण भारत का निवासी मानते हैं। और वे विसुद्धिमग्ग के उपसंहार में लिखे इस वाक्य से "**बुद्धघोसो ति गरूहि गहितनामधेय्येन थेरेन मोरण्डखेटकवत्तब्बेन**" आचार्य बुद्धघोष की जन्मभूमि मोरण्ड नामक खेटक (=खेड़ा, छोटा ग्राम) को मानते हैं। संक्षेप में, "बुद्धघोष ने, क्योंकि अपने जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण

कार्य दक्षिण के नगरों में ही किया, अत: वे दक्षिण के ही निवासी थे''—ऐसा निष्कर्ष आचार्य कोशाम्बी जी ने उनकी लिखी अट्ठकथाओं के साक्ष्य पर निकाला है। जो कुछ सीमा तक ही ठीक कहा जा सकता है; क्योंकि उक्त अन्त:साक्ष्यों के आधार पर हम इतना ही मान सकते हैं आचार्य बुद्धघोष का अधिकतर जीवनकार्य दक्षिण भारत में हुआ होगा, जन्म नहीं।

परिनिर्वाण—कम्बोडिया के निवासी यह मानते हैं कि आचार्य बुद्धघोष महास्थविर का परिनिर्वाण उनके देश (कम्बोडिया) में ही हुआ था। वहाँ 'बुद्धघोषविहार' नामक एक अत्यन्त प्राचीन विहार यथाकथमपि सुरक्षित है। डॉ० विमलचरण लाहा ने भी यही सिद्ध करने का प्रयास किया है!

परन्तु 'चूळवंस' तथा 'बुद्धघोसुप्पत्ति', जो अपेक्षाकृत प्राचीन तथा परम्पराप्राप्त ग्रन्थ हैं, के आधार पर आचार्य का परिनिर्वाण बुद्धगया में बोधिवृक्ष के समीप हुआ, और वहीं श्रद्धालुजनों ने उनके अस्थ्यवशेष पर स्तूप का निर्माण कराया। यह मानने में हमें भी हानि क्या है!

आचार्य बुद्धघोष द्वारा रचित ग्रन्थ

१. **विसुद्धिमग्ग**—संयुक्तनिकाय में आयी दो गाथाओं को व्याख्या के रूप में रचित बौद्धयोग पर अनुपम ग्रन्थ।

२. **समन्तपासादिका** (विनयपिटक की अट्ठकथा)।

३. **कङ्खावितरणी** (पातिमोक्ख की अट्ठकथा)।

४. **सुमङ्गलविलासिनी** (दीघनिकाय की अट्ठकथा)।

५. **पपञ्चसूदनी** (मज्झिमनिकाय की अट्ठकथा)।

६. **सारत्थपकासिनी** (संयुत्तनिकाय की अट्ठकथा)।

७. **मनोरथपूरणी** (अङ्गुत्तरनिकाय की अट्ठकथा)।

८. **परमत्थजोतिका** (खुद्दकनिकाय के खुद्दकपाठ तथा सुत्तनिपात की अट्ठकथा)।

९. **अट्ठसालिनी** (धम्मसङ्गणि की अट्ठकथा)।

१०. **सम्मोहविनोदिनी** (विभङ्ग की अट्ठकथा)।

११-१५. **पञ्चप्पकरणट्ठकथा**—अभिधम्मपिटक के अवशिष्ट पाँच ग्रन्थों की अट्ठकथा।

१६. **जातकट्ठवण्णना**—जातक की अट्ठकथा।

१७. **धम्मपदट्ठकथा**—धम्मपद की अट्ठकथा।

१८. **ञाणोदय**—ज्ञानोदय आदि। यह ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है।

१९. इनके अतिरिक्त श्री कुप्पूस्वामी शास्त्री ने **पद्यचूड़ामणि** (सिद्धार्थचरितमहाकाव्य) नामक ग्रन्थ को भी आचार्य बुद्धघोष की रचना माना है। परन्तु डॉ० विमलचरण लाहा, प्रमाणों के आधार पर उक्त ग्रन्थ को आचार्य की रचना के रूप में स्वीकृत नहीं कर पा रहे हैं।

विसुद्धिमग्ग

विसुद्धिमग्ग बौद्धसाहित्य का एक अनुपम ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ प्रधानत: योगशास्त्र का विशद व्याख्यान है, अत: इसमें योगाभ्यास में प्रवृत्त होनेवाले जिज्ञासु के लिये, प्रारम्भ से लेकर सिद्धि तक की समग्र विधियाँ तो क्रमबद्ध पद्धति से वर्णित की ही गयी हैं, साथ ही प्रसङ्ग-प्रसङ्ग पर बौद्धदर्शन की अन्य विवेचनात्मक गवेषणाएँ तथा ब्राह्मणदर्शनों की विशेषत: व्याकरण, न्याय, सांख्य, योग, आयुर्वेद तथा मीमांसा शास्त्रों की ग्रन्थियाँ भी अतीव सरल भाषा में समझा दी गयी हैं। अत: यदि विद्वान् लोग इस ग्रन्थ को 'बौद्धधर्म का विश्वकोष' कहते हैं तो इसमें

कोई अतिशयोक्ति नहीं है। यह कहकर उन विद्वानों ने इस ग्रन्थ की तथा इसके रचयिता आचार्य बुद्धघोष की वास्तविक प्रशंसा ही की है।

आचार्य बुद्धघोष भी अपने इस विसुद्धिमग्ग को अपनी सम्पूर्ण रचनाओं का केन्द्रबिन्दु मानते थे, अतः वे अपनी अट्ठकथाओं के मनन-चिन्तन करने वाले पाठक से यह अपेक्षा रखते थे कि वह सर्वप्रथम 'विसुद्धिमग्ग' पढ़े। इसलिये उन्होंने अपनी आगे की अट्ठकथाओं के प्रारम्भ में ही बार-बार कहा है—'चारों निकायों (दीघ, मज्झिम, संयुत्त तथा अंगुत्तर) के मध्य स्थित यह विसुद्धिमग्ग उन निकायों के बुद्धसम्मत अर्थ को प्रकाशित करने में सहायक होगा।[1]'

इससे यह स्पष्ट ही सिद्ध है कि आचार्य ने पहले विसुद्धिमग्ग की रचना की, बाद में उक्त चारों निकायों की अट्ठकथाओं की। इसीलिये विसुद्धिमग्ग में जिस विषय का विस्तृत निरूपण कर दिया है उसे पुनः उन अट्ठकथाओं में नहीं दुहराया और वहाँ लिख दिया कि "इन सब का शुद्धतया निरूपण विसुद्धिमग्ग में कर दिया है, अतः उसे जिज्ञासु पाठकों को वहीं देख लेना चाहिये। उसे मैं यहाँ न दुहराऊँगा[2]।"

जैसा कि सर्वविदित है, विसुद्धिमग्ग संयुत्तनिकाय में आयी दो गाथाओं के आधार पर रचित, बौद्ध योगशास्त्र का स्वतन्त्र मौलिक प्रकरण-ग्रन्थ है। इन दोनों में पहली गाथा प्रश्न के रूप में तथा दूसरी गाथा उत्तर के रूप में है। इस दूसरी गाथा का ही आचार्य ने विसुद्धिमग्ग के रूप में विस्तृत व्याख्यान किया है।

पहली गाथा है—

अन्तो जटा बहि जटा जटाय जटिता पजा।
तं तं गोतम पुच्छामि—को इमं विजटये जटं?॥ ति॥

[एक बार भगवान् बुद्ध श्रावस्ती में विहार कर रहे थे, उस समय किसी देवता ने आकर भगवान् से पूछा—अन्दर भी जञ्जाल (उलझन) है, बाहर भी जञ्जाल है, यह सारा संसार जञ्जाल से कैसे छुटकारा पा सकता है? अर्थात् यह समग्र संसार भवबन्धन में जकड़ा हुआ है, कौन किस उपाय से इससे मुक्त हो सकता है?]

दूसरी गाथा है—

सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो चित्तं पञ्ञं च भावयं।
आतापी निपको भिक्खु सो इमं विजटये जटं ति॥

[इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं—शील (सदाचार) में प्रतिष्ठित हो कर जो प्रज्ञावान् पुरुष जब समाधि और प्रज्ञा की भावना करता है, तब वह उद्योगी तथा ज्ञानवान् पुरुष भिक्षु (त्यागी) हो कर इस जञ्जाल (भवबन्धन) को सुलझा लेता है।]

आचार्य ने भगवान् के इस उत्तर के सहारे समग्र बौद्ध सिद्धान्त और दर्शन को एक निश्चित उद्देश्य में ग्रथित कर विसुद्धिमग्ग की अवतारणा की है। वह निश्चित उद्देश्य है—साधना मार्ग के उत्तरोत्तर विकास का स्पष्टतम निर्देश। दूसरे शब्दों में हम यों भी कह सकते हैं कि विसुद्धिमग्ग बौद्धयोग को एक अत्यन्त क्रमबद्ध पद्धति से उपस्थित करने का बुद्धिमत्तापूर्ण प्रयास है।

---

१. *"मज्झे विसुद्धिमग्गो एस चतुन्नं पि आगमानं हि।*
ठत्वा पकासयिस्सति तत्थ यथाभासितं अत्थं" ति॥

२. *"इति पन सब्बं यस्मा विसुद्धिमग्गे मया सुपरिसुद्धं।*
वुत्तं, तस्मा भिय्यो न तं इध विचारयिस्सामी" ति॥

वर्ण्य विषय— विसुद्धिमग्ग का वर्ण्य विषय संक्षेप में यह है—शील, समाधि और प्रज्ञा द्वारा चित्त के समग्रमल का निरसन तथा निर्वाण की प्राप्ति (का उपाय) बुद्ध-शासन की यही तीन शिक्षा हैं। शील से शासन की आदिकल्याणता प्रकाशित होती है, समाधि से मध्येकल्याणता, तथा प्रज्ञा (पञ्ञा) से पर्यवसानकल्याणता। शील से अपाय (दुर्गतिविनिपात) का अतिक्रमण, समाधि से कामधातु का और प्रज्ञा से सर्वभव का अतिक्रमण होता है। जो व्यक्ति निर्वाण के लिये यत्नशील होता है उसे पहले शील में प्रतिष्ठित होना चाहिये। जब शील अल्पेच्छता, सन्तुष्टि, प्रविवेक (एकान्तवास) आदि गुणों द्वारा सुविशुद्ध हो जाता है तो उसके प्रभाव से चित्त तथा चैतसिक धर्मों की एक आलम्बन में विना किसी विक्षेप के सम्यक् स्थिति हो जाती है। समाधि में विक्षेप का विध्वंस होता है, और चित्त, चैतसिक विप्रकीर्ण न हो कर एक आलम्बन में पिण्डरूप से अवस्थित होते हैं। समाधि दो तरह की होती है—१. लौकिक समाधि, और २. लोकोत्तर समाधि। काम, रूप और अरूप भूमियों की कुशल चित्तैकाग्रता को लौकिक समाधि कहते हैं तथा जो चित्तैकाग्रता आर्यमार्ग से सम्प्रयुक्त होती है उसे लोकोत्तर समाधि कहते हैं। इस लोक को उत्तीर्ण कर स्थित रहने वाली लोकोत्तर समाधि का भावना-प्रकार प्रज्ञा के भावना-प्रकार में संगृहीत है। प्रज्ञा के सुभावित होने से ही लोकोत्तर समाधि की भावना होती है। अतः लोकोत्तर समाधि प्रज्ञास्कन्ध का विषय है।

प्रयोजन—हम पहले कह आये हैं कि आचार्य बुद्धघोष बुद्धमत में प्रव्रजित होने से पूर्व पातञ्जल योग में निष्णात थे। निश्चय ही उन्होंने बौद्धों के इस योगदर्शन को साधकों के कल्याण के लिये विसुद्धिमग्ग के रूप में प्रकाशित किया है। भिक्षु जगदीश काश्यप के मत में "पातञ्जल योगदर्शन की अपेक्षा विसुद्धिमग्ग अधिक सुव्यवस्थित और नियमबद्ध है—यह कहना अतिरञ्जना नहीं होगी"। आचार्य बुद्धघोष ने साधकों के कल्याण के लिये ही इस ग्रन्थ की रचना की है—यह बात उन्होंने छिपायी नहीं, अपि तु प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में **'साधुजनपामोज्जत्थाय कते विसुद्धिमग्गे'** कहकर अपने हृदय की बात बार-बार स्पष्ट कर दी है।

इसी प्रकार उन्होंने ग्रन्थ के प्रारम्भ में भी कह दिया कि मैं अब विशुद्धि के मार्ग का प्रवचन करूँगा, सभी साधु पुरुष, जिन्हें अपनी चित्तविशुद्धि की कामना है, मेरे कहे हुए को आदरपूर्वक सुनें।

इस तरह अन्तःसाक्ष्य के स्पष्ट आधार से सिद्ध हो जाता है कि इस ग्रन्थ का निर्माण केवल साधु (साधक) जन के प्रामोद्य (कल्याण) के लिये ही हुआ है।

आधार—यह ग्रन्थ महाविहारवासी भिक्षुओं की उपदेश-विधि पर आधृत है, यह बात भी आचार्य ने प्रारम्भ में ही यह कर स्पष्ट कर दी है कि "महाविहारवासी भिक्षुओं की उपदेश-विधि पर आधृत विसुद्धिमग्ग ग्रन्थ का कथन करूँगा।[1]"

यह बात पहले कही जा चुकी है कि बुद्धघोष के समय तक पालित्रिपिटक तथा पालिसाहित्य के विषय में सिंहलद्वीप की प्रामाणिकता सर्वोपरि थी। सिंहल द्वीप में भी अनुराधपुरस्थित महाविहार पालि-साहित्य का सर्वोपरि प्रामाणिक पीठ था। आचार्य का इसी महाविहार में रहने वाले स्थविर भिक्षुओं की ओर संकेत है। इस तरह महाविहारवासी भिक्षुओं

१. *"महाविहारवासीनं देसनानयनिस्सितं।*
विसुद्धिमग्गं भासिस्सं"

के नाम-ग्रहण से आचार्य यह कहना चाहते हैं कि विसुद्धिमग्ग में जो कुछ भी लिखा या कहा गया है वह स्वकपोलकल्पना नहीं है, अपितु उस समय के प्रामाणिक भिक्षुओं की सरणि के अनुसार बौद्धयोग का यह एक प्रामाणिक विवेचन है।

अधिकारी—अतः चित्तविशुद्धि का मार्ग खोजने वाले सभी प्रज्ञावान् योगिजनों को इस विसुद्धिमग्ग ग्रन्थ का आदर करना चाहिये[1]। वे ही इस ग्रन्थ के अध्ययन के वास्तविक अधिकारी है।

विसुद्धिमग्ग की विषयवस्तु

विसुद्धिमग्ग तीन भाग और तेईस परिच्छेदों में विभक्त है। पहला भाग **शीलस्कन्ध** कहलाता है। इसमें, प्रथम दो परिच्छेदों में, शील तथा उसकी प्राप्ति के उपायभूत तेरह धुताङ्गों का विशद वर्णन है। द्वितीय भाग **समाधिस्कन्ध** कहलाता है। इसमें परिच्छेदक्रम से ११ परिच्छेदों (३ से १३ तक) में कर्मस्थानों की ग्रहणविधि, पृथ्वीकसिण, शेषकसिण, अशुभ कर्मस्थान छह अनुस्मृति, अनुस्मृति कर्मस्थान, ब्रह्मविहार, आरूप्य, समाधि, ऋद्धिविध तथा अभिज्ञाओं का वर्णन है। तीसरा भाग **प्रज्ञास्कन्ध** है, इसमें (१४ से २३ परिच्छेद तक) क्रमशः स्कन्ध, आयतनः, धातु, इन्द्रिय-सत्य, प्रतीत्यसमुत्पाद (प्रज्ञाभूमि), दृष्टिविशुद्धि, कांक्षावितरणविशुद्धि, मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि, प्रतिपदाज्ञानदर्शनविशुद्धि, ज्ञानदर्शनविशुद्धि तथा अन्त में प्रज्ञाभावना का माहात्म्य वर्णित है।

आगे हम क्रमशः इस ग्रन्थ के प्रत्येक परिच्छेद का वर्ण्य विषय विस्तार से लिखेंगे, ताकि पालि न जानने वाले जिज्ञासु जन भी इसका लाभ उठा सकें; अतः यहाँ हम इतना ही कहकर अन्य प्रसङ्ग पर आते हैं।

विसुद्धिमग्ग का सम्पादन

इस ग्रन्थ के सम्पादन में हमने अधोलिखित संस्करणों, ग्रन्थों तथा टीकाओं का आलम्बन किया है—

१. आचार्य धर्मानन्द कोशाम्बी द्वारा सम्पादित तथा भारतीय विद्याभवन, बम्बई से प्रकाशित (१९४० ई०) विसुद्धिमग्ग। मूल पालि-पाठ के लिये यह सर्वतोभद्र संस्करण है। हमने अपने इस संस्करण में इसी के आधार पर ही प्रायः सर्वत्र पाठ रखा है।

२. आचार्य रेवतधम्म द्वारा सम्पादित, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय से प्रकाशित (सन् १९७२ ई०) विसुद्धिमग्ग (तीन भागों में)। यह संस्करण आचार्य धम्मपाल रचित **परमत्थमञ्जूसा** नामक विसुद्धिमग्गमहाटीका के साथ प्रकाशित हुआ है। इस के सम्पादक के वर्मा देश का निवासी होने के कारण और बर्मा देश के ग्रन्थों के आधार पर ही सम्पादन करने के कारण इस संस्करण पर बर्मी परम्परा की अधिक छाप है, जिससे विसुद्धिमग्ग में आगत बहुत से शब्द भारतीय परम्परा, जो कि नालन्दा से प्रकाशित पालि त्रिपिटक तथा अट्ठकथा साहित्य में स्पष्ट परिलक्षित होती है, से दूर जा पड़े हैं, अतः पढने-बोलने में कुछ अटपटे लगते हैं; क्योंकि यह ग्रन्थ भारत में पहली बार प्रकाशित हो रहा था, इस दृष्टि का भी सम्पादक को अवश्य ध्यान रखना चाहिये था। इस तरह, शब्दवैमत्य के अतिरिक्त, यह संस्करण भी सुपरिशुद्ध है; अतः ग्रन्थ के सम्पादन में हमें इस संस्करण से भी अत्यधिक सहायता मिली है।

---

१. "तं मे सक्कच्च भासतो।
विसुद्धिकामा सब्बे पि निसामयथ साधवो" ति।

३. आचार्य धर्मानन्द कोशाम्बी कृत विसुद्धिमग्ग-टीका का भी हमने पाद-टिप्पणियों में सहारा लिया है।

४. डॉ० भिक्षु धर्मरक्षित कृत तथा ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी से प्रकाशित (सन् १९५६ ई०) विसुद्धिमग्ग का हिन्दी भाषान्तर। इस संस्करण ने भी हमको पाद-टिप्पणियों में यत्र-तत्र सहारा दिया है।

५. ग्रन्थ का पैराग्राफिंग तथा उसका क्रमाङ्क हमारा अपना है। कारण यह है कि श्री कोशाम्बीजी के संस्करण में हमें लगा कि उन्होंने क्रमाङ्क के सम्बन्ध में रोमन संस्करण का अन्धानुकरण किया है। जिससे कहीं-कहीं उनके संस्करण में विषय-वस्तु की हास्यास्पद स्थिति बन गयी है। डॉ० रेवतधम्म ने पैराग्राफिंग तथा क्रमाङ्क के सम्बन्ध में अधिक सावधानी रखी है, परन्तु वे भी बर्मी संस्करण का मोह-संवरण नहीं कर सके। अतः हमने दोनों के ही क्रमाङ्कों को न लेकर विषयवस्तु के अनुसार प्रारम्भ में स्वतन्त्र क्रमाङ्क दिये हैं। तथा अवान्तर विषयवस्तु को समझाने के लिये अन्त में अवान्तर क्रमाङ्क भी दिये हैं। उस से भी काम न चला तो कहीं-कहीं (क), (ख) से भी विषय-वस्तु का विभाजन किया है।

६. अनुसन्धाताओं की सुविधा के लिये, ग्रन्थ में आये त्रिपिटक के ग्रन्थों के उद्धरणों के अन्त में कोष्ठक में पृष्ठाङ्कसहित सम्बद्ध ग्रन्थ का नाम दे दिया गया है।

७. पालि के साधारण पाठकों को भी ग्रन्थ सुखेन पठनीय हो सके, अतः हमने अनावश्यक सन्धि वाले पद पृथक् पृथक् लिखे हैं, विशेषतः वग्गन्त (परसवर्ण) की सन्धि वाले पद। इस से ग्रन्थ की परम्परा भी सुरक्षित रहेगी, और साधारण पाठकों के लिये यह ग्रन्थ सुग्राह्य होगा।

८. विराम आदि चिह्नों के लिये हमने नालन्दा की परम्परा को आदर्श मानकर उसी के अनुसार समग्र चिह्नों का प्रयोग किया है।

९. इस तरह गुरु-कृपा से अत्यधिक परिश्रमपूर्वक इस ग्रन्थ का सम्पादन किया गया है। *पूर्ण विश्वास है कि हमारा यह परिश्रम विद्वज्जन तथा छात्रजन—दोनों को ही समान रूप से* हितावह तथा सुखावह होगा।

१०. इस ग्रन्थ के सम्पादन में जिन-जिन महानुभावों की कृतियों का, रचनाओं का, ग्रन्थों का हमने सहारा लिया है, उसके लिये हम उन सज्जनों के हृदय से सर्वातिशयतया कृतज्ञ हैं। तथा इसके लिये उनका आभार मानना हमारा प्रथम कर्तव्य है।

अक्षयतृतीया, २०५४ वि०
वाराणसी

विद्वज्जनवशंवद
स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

अन्तरङ्गकथा

महाविहारवासीनं देसनानयनिस्सिता।
विसुद्धिमग्गगन्थस्स अब्भन्तरकथा अयं॥

विसुद्धिमग्ग की विषय-भूमि से अवगत होने के लिये यह परम आवश्यक है कि हम पहले इस ग्रन्थ के प्रत्येक निर्देश में प्रतिपादित विषय से परिचित हो जाँय। अतः अब हम क्रमशः प्रत्येक निर्देश में आगत विषय-वस्तु का संक्षिप्त परिचय देना उचित समझते हैं।

१. शीलनिर्देश

एक समय भगवान् श्रावस्ती के जेतवन में विहार कर रहे थे। रात्रि का समय था। किसी देवपुत्र ने भगवान् से आकर पूछा—"भगवन्! यह मनुष्य (जैसे) अन्दर जञ्जालों से घिरा हुआ है, (वैसे ही) बाहर भी जञ्जालों से घिरा हुआ है। अतः हे गौतम! मेरा आप से यही पूछना है कि कौन इन जञ्जालों को काट कर मुक्ति पा सकता है?"

भगवान् ने उत्तर दिया—"देवपुत्त! प्रज्ञावान्, वीर्यवान् तथा पण्डित साधक ही शील में प्रतिष्ठित हो कर इन उपर्युक्त जञ्जालों को काट सकता है।"

इस तरह भगवान् ने अपने संक्षिप्त उत्तर में संसार से मुक्ति पाने के लिये शील, समाधि, तथा प्रज्ञा की भावना उपदेश किया। जो पुरुष स्वचित्त को शील से सुपरिशुद्ध कर चुका होता है वही समाधि और प्रज्ञा की भावना का अधिकारी होता है, वही इन उपायों द्वारा निर्वाण को प्राप्त कर सकता है। अर्थात् उक्त तीन उपाय ही निर्वाण के मार्ग है। इन्हें 'विशुद्धि का मार्ग' कह सकते हैं।

उक्त (शील, समाधि और प्रज्ञा) तीन में से प्रथम शील के विषय में ये सात प्रश्न होते हैं—

१. शील क्या है? २. किस अर्थ में शील है? ३. शील के लक्षण, कार्य, जानने के आकार तथा आसन्न कारण क्या हैं? ४. शील का माहात्म्य क्या है? ५. शील कितने प्रकार का है? ६. शील का मल क्या है? ७. और शील की विशुद्धि क्या है?

१. प्रथम प्रश्न का उत्तर है—प्राणि-हिंसा आदि से विरत रहने वाले तथा व्रतादि का आचरण करने वाले साधक के चेतनादि धर्म ही 'शील' कहलाते हैं।

शील के प्रसङ्ग में **पटिसम्भिदामग्ग** में कहा है—"शील किसे कहते है? चेतना को, चैतसिक को, संवर को तथा अव्यतिक्रम को 'शील' कहते हैं।" यहाँ चेतना से तात्पर्य है प्राणातिपातादि से विरत रहने वाले तथा व्रताचारसम्पन्न की चेतना। **चैतसिक शील** कहते है प्राणातिपातादि से विरत रहनेवाले की विरति को। संवर का अर्थ है निवृत्ति। वह पाँच प्रकार का होता है—१. प्रातिमोक्षसंवर, २. स्मृतिसंवर, ३. ज्ञानसंवर, ४. क्षान्तिसंवर, ५. वीर्यसंवर। इस प्रकार यह पाँच प्रकार का संवर तथा पाप से डरने वाले कुलपुत्रों की सम्प्राप्त पापवस्तु से निवृत्ति ही **संवरशील** है। **अव्यतिक्रमशील** से तात्पर्य है—ग्रहण किये हुए शील का व्यतिक्रम (उल्लङ्घन) न करना।

२. द्वितीय प्रश्न के उत्तर में आचार्य कहते हैं—शीलन (आधार या संयम) के अर्थ में शील होता है। अर्थात् काय-कर्म आदि का संयम और सुशीलता से एक जैसा बने रहना या ठहरने के लिये आधार की भाँति कुशल धर्मों को धारण करना—इन अर्थों में यहाँ शील शब्द का प्रयोग है।

३. चेतन आदि भेदों से उस नानाविध शील का काय-कर्म आदि के संयम तथा कुशल धर्मों के आधार के कारण जो शीलन है, वही उसका लक्षण है। दौ:शील्यविध्वंसन आदि उसके कार्य हैं। कायशुद्धि, वाक्शुद्धि तथा मन:शुद्धि आदि उस शील के जानने के आकार हैं। अर्थात् जब ये शुद्धियाँ आने लगें तो समझ लेना चाहिये कि उसका शील सुविशुद्ध हो रहा है। इसी तरह जब उक्त योगाभिलाषी में ह्री (लज्जाभाव) का सम्यक्तया उत्पाद होने लगे तो समझना चाहिये कि उसमें शील स्थिर हो गया है; क्योंकि ह्री (लज्जा) शील का आसन्न कारण है।

४. हेय उपादेय वस्तुओं के लिये पश्चात्ताप न करना शील का माहात्म्य (गुण) है। अंगुत्तरनिकाय में भगवान् ने कहा है—"आनन्द, कुशल शील पश्चात्ताप न करने के लिये है। पश्चात्ताप न करना इसका गुण है।" और इसी प्रसङ्ग में दीघनिकाय में उनका वचन है—"गृहपतियो! शीलवान् की शील सम्पत्ति के पाँच गुण हैं। कौन से पाँच? १. यहाँ शीलवान् व्यक्ति, प्रमाद में न पड़ने के कारण, बहुत सा धन-वैभव प्राप्त करता है; २. ख्याति, सुयश प्राप्त करता है; ३. सभी मनुष्यसमूहों के बीच, भले ही वे ब्राह्मण हों क्षत्रिय हों, वैश्य हों, शूद्र हों, या श्रमण हों, वह निर्भीक नि:संकोच जाने का साहस रखता है; ४. शीलवान् व्यक्ति मृत्यु के सम्मुख आने पर भी अपनी चेतना नहीं खोता; ५. और वह मरने के बाद सुगति-स्वर्गलोक को प्राप्त करता है।" मज्झिमनिकाय में भी भगवान् का वचन है—"यदि कोई भिक्षु चाहता है कि वह अपने साथियों में सम्मान की दृष्टि से देखा जाय, उनका वह प्रियपात्र हो तो उसे शील (सदाचार) का ही पालन करना चाहिये।"

५. "शील कितने प्रका र का होता है?" —इन पाँचवें प्रश्न के उत्तर में आचार्य ने एकविध, द्विविध, त्रिविध, चतुर्विध तथा पञ्चविध भेद से नाना प्रकार से शील के भेद किये हैं। परन्तु वे सब चतुर्विध पारिशुद्धिशील में ही उपसंहृत हो सकते हैं अत: इनका ज्ञान अवश्य कर लेना चाहिये। चार पारिशुद्धिशील ये हैं—(क) प्रातिमोक्षसंवरशील, (ख) इन्द्रियसंवरशील, (ग) आजीवपारिशुद्धिशील, और (घ) प्रत्ययसन्निश्रितशील।

(क) संवर का अर्थ है ढकना। प्रातिमोक्ष कहते हैं भगवान् के शिक्षापदों को। उस प्रातिमोक्ष (शिक्षापद) से संवृत शील को **प्रातिमोक्षसंवरशील** कहते हैं। आचारगोचर से सम्पन्न रहना, अल्पमात्र दोष में भी भय देखना—प्रातिमोक्षसंवरशील कहलाता है।

(ख) शरीर या वाणी द्वारा शीलों का उल्लङ्घन न करना **इन्द्रियसंवरशील** कहलाता है। वह प्रातिमोक्षसंवरशील सम्पन्न भिक्षु आँख से रूप देखकर, कान से शब्द सुनकर, नाक से गंध सूँघ कर, जीभ से रस चखकर, काय से स्पर्शकर, मन से धर्मों को जानकर निमित्त और अनुव्यञ्जनों को ग्रहण नहीं करता है, जिनसे कि उन-उन इन्द्रियों में संवर रहित होने पर लोभदार्मनस्यादि अकुशल धर्म उत्पन्न होते हैं, उनके संवर के लिये उसका तत्पर होना, उसके द्वारा उनकी सुरक्षा करना ही इन्द्रिय-संवरशील है।

(ग) आजीविका के प्रसङ्ग में कहे गये छह शिक्षापादों अनुसार आचरण करना **आजीवपारिशुद्धिशील** कहलाता है। वे छह शिक्षापद पाराजिक में यों कहे है—१. आजीविका के लिए जनता को इन्द्रजाल दिखाना, २. ठग-विद्या, ३. अपने को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाना कि जिससे कुछ मिले, ४. भिक्षु द्वारा अपने को बढ़ा-चढ़ा हुआ दिखाकर अच्छा भोजन या वस्त्र या अन्य लाभ की वस्तु प्राप्त करना, ५. या अपनी प्रशंसा कर जनता से उपभोग वस्तुएँ प्राप्त करना। इन छह शिक्षापदों के अनुसार आजीविकाशील-रक्षा ही आजीवपारिशुद्धिशील कहलाता है।

(घ) चीवर, पिण्डपात, शयनासन तथा रोग के लिये उपयोगी ओषधियाँ—इन चार प्रत्ययों का, प्रज्ञापूर्वक ठीक-ठीक जानकर सेवन करना ही **प्रत्ययसन्निश्रितशील** कहलाता है।

आचार्य कहते हैं—जैसे टिटिहरी पक्षी अपने अण्डे की, चमरी गाय अपनी पूँछ की, माता अपने पुत्र की, काणा व्यक्ति अपनी आँख की, प्राणों की तरह रक्षा करता है; उसी तरह योगाभ्यासी व्यक्ति को अपने उक्त चतुर्विध शील के प्रति प्रेम, गौरव तथा एकनिष्ठा रखनी चाहिये।

प्रातिमोक्षसंवरशील को श्रद्धा से पूर्ण करना चाहिये। इन्द्रियसंवरशील को स्मृति से पूर्ण करना चाहिये; क्योंकि स्मृति से संरक्षित इन्द्रियाँ लोभ आदि से आक्रान्त नहीं होती। इसी प्रकार आजीवपारिशुद्धिशील को वीर्य से तथा प्रत्ययसन्निश्रित शील को प्रज्ञा से पूर्ण किया जाता है।

पञ्चक-गणना से शील पाँच प्रकार का होता है—१. पर्यन्तपारिशुद्धि शील, २. अपर्यन्त-पारिशुद्धि शील, ३. परिपूर्णपारिशुद्धि शील, ४. अपरामृष्टपारिशुद्धि शील, तथा ५. प्रतिप्रश्रब्धिपारिशुद्धि शील। इन पाँचों का विस्तार आगे ग्रन्थ से समझ लेना चाहिये।

६. अब छठा प्रश्न रह जाता है—शील का मल क्या है? शील का खण्डित होना ही उस का मल है। सात प्रकार के मैथुनधर्म के संयोग से शील खण्डित होता है। अत: शील-संरक्षण के लिये साधक को सात प्रकार के मैथुन धर्मों से सतत बचते रहना चाहिये। दर्शन स्पर्शन, केलि आदि सात प्रकार के मैथुनधर्मों का विवरण प्रसङ्गवश अंगुत्तरनिकाय (तृतीय भाग १९४ पृ०) में दिया गया है।

७. सातवें प्रश्न के उत्तर में शील का अखण्ड रहना ही उसकी विशुद्धि है। यह विशुद्धि शिक्षापदों के समादान से, प्रायश्चित्त से, सप्तविध मैथुनों से सर्वथा दूर रहने से, क्रोध, ईर्ष्या आदि दुर्गुणों के अनुत्पाद से तथा अल्पेच्छता, सन्तोष आदि गुणों के उत्पाद से साधक को संगृहीत करनी चाहिये।

२. धुताङ्गनिर्देश

भगवान् ने, जिन जिज्ञासुओं द्वारा लाभ-सत्कार आदि का परित्याग कर दिया गया है उन अनुलोम मार्ग को पूर्ण करना चाहने वालों के लिये, इन १३ धुताङ्गों का उपदेश किया है। ये सभी धुताङ्ग शील-समादान के लिये अत्यावश्यक हैं। क्रमश: वे १३ धुताङ्ग ये हैं—

१. पंसुकूलिकङ्ग (पांशुकूलिकाङ्ग), २. तेचीवरिकङ्ग (त्रैचीवरिकाङ्ग), ३. पिण्डपातिकङ्ग (पिण्डपातिकाङ्ग), ४. सपदानचारिकङ्ग (सापदानचारिकाङ्ग), ५. एकासनिकङ्ग (ऐकासनिकाङ्ग), ६. पत्तपिण्डिकङ्ग (पात्रपिण्डिकाङ्ग), ७. खलुपच्छाभत्तिकङ्ग (खलुपश्चाद्भक्तिकाङ्ग), ८. आरञ्ञिकङ्ग (आरण्यकाङ्ग), ९. रुक्खमूलिकङ्ग (वृक्षमूलिकाङ्ग), १०. अब्भोकासिकङ्ग (अभ्यवकाशिकाङ्ग), ११. सोसनिकङ्ग (श्माशानिकाङ्ग), १२. यथासन्थतिकङ्ग (यथासंस्तरिकाङ्ग) एवं १३. नेसज्जिकङ्ग (नैषद्यकाङ्ग)।

ये सभी अङ्ग, ग्रहण करने से क्लेशनाशक होने के कारण, धुत (परिशुद्ध) भिक्षु के अङ्ग कहलाते हैं। या क्लेशों को धुन डालने के कारण धुत नामक ज्ञानाङ्ग कहलाते हैं।

इन सभी को भगवान् से ग्रहण करना चाहिये। भगवान् की अनुपस्थिति में महाश्रावक से, महाश्रावक के न होने पर, क्षीणास्रव, अनागामी, सकृदागामी, स्रोतआपन्न से, उनके भी न होने पर त्रिपिटकधर, द्विपिटकधर, एकनिकायधर या अट्ठकथाचार्य से ग्रहण करना चाहिये। ये

भी न हों तो धुताङ्गधारी से इनको ग्रहण करना चाहिये। इस के भी न होने पर चैत्य को निर्मल कर उत्कुटिक (उकडू) बैठकर, भगवान् के पास बैठे हुए के समान स्वयं ग्रहण करना भी उचित है।

१. पांशु का अर्थ है धूल। सड़क, श्मशान या कूड़ा-कर्कट के ढेर पर जहाँ कहीं धूल पर पड़े वस्त्र 'पांशुकूल' कहलाते हैं, उन्हें धारण करने वाला 'पांशुकूलिक' कहलाता है। इसका अङ्ग (नियम) 'पांशुकूलिकाङ्ग' कहलाता है।

जो भिक्षु पांशुकूलिकाङ्गव्रत धारण करता है, उसे १."गृहस्थों द्वारा दिये गये चीवर को त्यागता हूँ", या २. 'पांशुकूलिकाङ्ग ग्रहण करता हूँ'—इन दोनों में से एक का अधिष्ठान करना चाहिये।

२. भिक्षु के तीन वस्त्र (चीवर) होते हैं—(क) सङ्घाटि, (ख) उत्तरासङ्ग, (ग)अन्तरवासक। जो भिक्षु इन तीन वस्त्रों से अधिक ग्रहण नहीं करता उसे 'त्रैचीवरिक' कहते हैं। उसका यह धुताङ्ग 'त्रैचीवरिकाङ्ग' कहलाता है।

३. भिक्षा के रूप में प्राप्त अन्न या दूसरों के द्वारा दिया हुआ अन्न 'पिण्डपात' कहलाता है। जो पिण्डपात के लिये घर-घर घूमता है उसे 'पिण्डपातिक' कहते हैं। उसका यह धुताङ्ग 'पिण्डपातिकाङ्ग' कहलाता है।

४. ग्राम में विना अन्तर डाले प्रत्येक घर से भिक्षा ग्रहण करने वाला 'सापदानचारिक' कहलाता है। इसका यह अङ्ग 'सापदानचारिकाङ्ग' कहलाता है।

५. एक आसन पर बैठ कर भोजन करने वाला (अर्थात् रात दिन में एक बार भोजन करने वाला) भिक्षु 'ऐकासनिक' कहलाता है। उसका यह व्रत 'ऐकासनिकाङ्ग' कहलाता है।

६. भिक्षार्थ गृहीत पात्र में पड़ा हुआ अन्न 'पात्रपिण्ड' कहलाता है। उस पात्रपिण्ड को ही ग्रहण करने वाले भिक्षु के इस व्रत को 'पात्रपिण्डिकाङ्ग' कहते हैं।

७. 'खलु' इस निपात का प्रयोग यहाँ निषेध अर्थ में है, एक बार भोजन करने के बाद मिले भोजन का निषेध करना 'खलुपश्चाद्भक्त' कहलाता है। इस नियम का पालन 'खलुपश्चाद्भक्तिकाङ्ग' कहलाता है।

८.आरण्यकाङ्ग का अर्थ है—अरण्य (जंगल) में रहने वाला। जो भिक्षु ग्राम, नगर के शयनासन को छोड़ जंगल में रहने का ही नियम धारण करता है, उसका यह नियम 'आरण्यकाङ्ग' कहलाता है।?

९. ईंट, पत्थर, तृण आदि से बने गृह, कुटी आदि को छोड़कर केवल वृक्ष के नीचे रहना 'वृक्षमूल' कहलाता है। इस नियम को धारण करने वाला भिक्षु 'वृक्षमूलिक' कहलाता है। इस के इस धुताङ्ग को 'वृक्षमूलिकाङ्ग' कहते हैं।

१०. छाये हुए गृह, कुटी या वृक्षमूल को छोड़ खुले आकाश के नीचे रहने के व्रत को 'अभ्यवकाशिकाङ्ग' कहते हैं।

११. इसी तरह उपर्युक्त वासयोग्य स्थानों को छोड़कर एक श्मशान में रहने के व्रत को 'श्माशानिकाङ्ग' कहते हैं।

१२. 'यह आसन आप के लिये है' यह कह कर पहले से बिछाये आसन को ही ग्रहण करने वाला भिक्षु 'यथासंस्तरिक' कहलाता है। इस के इस नियम को 'यथासंस्तरिकाङ्ग' कहते हैं।

१३. सोना, टहलना, खड़ा होना और बैठना— भिक्षु के ये चार ईर्यापथ कहे गये हैं। इन

में से सोना छोड़कर सर्वदा (दिन-रात) बैठा रहने वाला भिक्षु 'नैषद्यक' कहलाता है। इस व्रत को पालन करना 'नैषद्यकाङ्ग' कहलाता है।

ये तेरहों धुताङ्ग प्रत्येक साधक को पालन करना आवश्यक नहीं हैं, अपितु जिस साधक के राग, द्वेष या मोह अधिक संवृद्ध हों, उसी के लिये ये धुताङ्ग आवश्यक बताये गये हैं। क्योंकि ये अत्यधिक कायक्लेशदायक हैं, अतः आचार्य ने इन धुताङ्गों को प्रत्येक साधक के लिये आवश्यक नहीं माना। मज्झिमा पटिपदा मानने वाली बौद्ध साधना में यह आवश्यक हो भी कैसे सकता था!

३. कम्मट्ठानग्रहणनिर्देश

समाधि बहुविध है। यदि सब समाधियों का वर्णन किया जाय तो अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि नहीं होगी और यह भी सम्भव है कि इस प्रकार विक्षेप उपस्थित हो। इसलिये यहाँ केवल अभिप्रेत अर्थ का ही उल्लेख किया जायगा। आचार्य को यहाँ लौकिक समाधि ही अभिप्रेत है। काम, रूप और अरूप भूमियों की कुशल-चित्तैकाग्रता को लौकिक समाधि कहते हैं। जो एकाग्रता आर्यमार्ग से सम्प्रयुक्त होती है, उसे लोकोत्तर समाधि कहते हैं। लोकोत्तर समाधि का भावना-प्रकार प्रज्ञा के भावना-प्रकार में संगृहीत है। प्रज्ञा के सुभावित होने से लोकोत्तर समाधि की भावना होती है। इस लोकोत्तर समाधि की भावना के विषय में आगे कहा जायगा। यहाँ हम केवल लौकिक समाधि का ही सविस्तर वर्णन करेंगे।

हमारे अभिप्रेत अर्थ में समाधि 'कुशलचित्त की एकाग्रता' को कहते हैं। अर्थात् चित्त की वह एकाग्रता जो दोषरहित है और जिसका विपाक सुखमय है। इस लौकिक समाधि के मार्ग को शमथ-यान कहते हैं। लोकोत्तर समाधि (प्रज्ञा) का मार्ग विपश्यना-यान कहलाता है।

इसके पूर्व कि हम लौकिक समाधि के भावना-प्रकार का विस्तार से वर्णन करें, हम इस स्थान पर शमथ-मार्ग का संक्षेप में निरूपण करना आवश्यक समझते हैं।

शमथ का अर्थ है—पाँच नीवरणों अर्थात् विघ्नों का उपशम। विघ्नों के शमन से चित्त की एकाग्रता होती है। शमथ का मार्ग लौकिक समाधि का मार्ग है। विघ्नों के अर्थात् अन्तरायों के नाश से ही लौकिक समाधि में प्रथम ध्यान का लाभ होता है। प्रथम ध्यान में पाँच अङ्गों का प्रादुर्भाव होता है। दूसरे तीसरे ध्यान में पाँच अङ्गों का अतिक्रमण होता है।

नीवरण इस प्रकार हैं—कामच्छन्द, व्यापाद, स्त्यान-मृद्ध, औद्धत्य-कौकृत्य, विचिकित्सा। 'कामच्छन्द' 'विषयों में अनुराग' को कहते हैं, जब चित्त नाना विषयों से प्रलोभित होता है तो एक आलम्बन में समाहित नहीं होता। 'व्यापाद' हिंसा को कहते हैं। यह प्रीति का प्रतिपक्ष है। 'स्त्यान' चित्त की अकर्मण्यता और 'मिद्ध' आलस्य को कहते हैं। वितर्क स्त्यान-मिद्ध का प्रतिपक्ष है। औद्धत्य का अर्थ है अव्यवस्थित-चित्तता और कौकृत्य 'खेद', 'पश्चात्ताप' को कहते हैं। सुख औद्धत्य-कौकृत्य का प्रतिपक्ष है। विचिकित्सा 'संशय' को कहते हैं। विचार विचिकित्सा का प्रतिपक्ष है। विषयों में लीन होने के कारण समाधि में चित्त की प्रतिष्ठा नहीं होती। हिंसाभाव से अभिभूत चित्त की निरन्तर प्रवृत्ति नहीं होती। स्त्यान-मृद्ध से अभिभूत चित्त अकर्मण्य होता है। चित्त के अनवस्थित होने से और खेद से शान्ति नहीं मिलती और चित्त भ्रान्त रहता है। विचिकित्सा से उपहत चित्त ध्यान का लाभ करानेवाले मार्ग में आरोहण नहीं करता। इसलिये इन विघ्नों का नाश करना चाहिये।

नीवरणों के नाश से ध्यान का लाभ और ध्यान के पाँच अङ्ग वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता का प्रादुर्भाव होता है।

वितर्क आलम्बन में चित्त का आरोप करता है। आलम्बन के पास चित्त का आनयन 'वितर्क' कहलाता है। आलम्बन का यह स्थूल आभोग है। वितर्क की प्रथमोत्पत्ति के समय चित्त का परिस्पन्दन होता है। वितर्क विचार का पूर्वगामी है। विचार सूक्ष्म है। विचार की वृत्ति शान्त होती है और इसमें चित्त का अधिक परिस्पन्दन नहीं होता। जब प्रीति उत्पन्न होती है तब सबसे पहिले शरीर में रोमाञ्च होता है। धीरे-धीरे यह प्रीति बारम्बार शरीर को अवक्रान्त करती है। जब प्रीति का बलवान् उद्वेग होता है तो प्रीति शरीर को ऊर्ध्व उत्क्षिप्त कर आकाश-लङ्घन के लिये समर्थ करती है, धीरे-धीरे सकल शरीर प्रीति से सर्वरूपेण व्याप्त हो जाता है, मानों पर्वत-गुहा से एक महान् जलप्रपात परिस्फुट होकर तीव्र वेग से प्रवाहित हो रहा है। प्रीति के परिपाक से काय-प्रश्रब्धि और चित्त-प्रश्रब्धि होती है। प्रश्रब्धि (शान्ति) के परिपाक से काय और चित्त-सुख होता है। सुख के परिपाक से क्षणिक, उपचार और अर्पणा इस त्रिविध समाधि का परिपूरण होता है। इष्ट आलम्बन के प्रति लाभ से जो तुष्टि होती है उसे 'प्रीति' कहते हैं। प्रतिलब्ध रस के अनुभव को 'सुख' कहते हैं। जहाँ प्रीति है वहाँ सुख है पर जहाँ सुख है वहाँ नियम से प्रीति नहीं है। प्रथम ध्यान में उक्त पाँच अङ्गों का प्रादुर्भाव होता है। धीरे-धीरे अङ्गों का अतिक्रमण होता है और अन्तिम ध्यान में समाधि उपेक्षासहित होती है।

जिसको लौकिक समाधि अभीष्ट हो उसको सुपरिशुद्ध शील में प्रतिष्ठित होकर सबसे पहिले विघ्नों का नाश (पलिबोध) करना चाहिये।

पलिबोध— आवास, कुल, लाभ, गण, कर्म, मार्ग, ज्ञाति, आबाध, ग्रन्थ और ऋद्धि— यह दश 'पलिबोध' कहलाते हैं।

जो भिक्षु अभी नया-नया किसी कार्य में उत्सुकता रखता है या बहुविध सामग्री संग्रह करता है या जिसका चित्त किसी कारणवश अपने **आवास** में प्रतिबद्ध है, आवास उसके लिये अन्तराय (विघ्न) है।

कुल से तात्पर्य ज्ञाति-कुल या सेवक के कुल से है। साधारणतया दोनों विघ्नकारी हैं। कुछ ऐसे भिक्षु होते हैं जो कुल के मनुष्यों के विना धर्मश्रवण के लिये भी पास के विहार में नहीं जाते। वह उन श्रद्धालु उपासकों के सुख में सुखी और दुःख में दुःखी होते हैं जिनसे उनको लाभ-सत्कार मिलता है। ऐसे ही भिक्षुओं के लिये कुल अन्तराय है; दूसरों के लिये नहीं।

लाभ चार प्रत्ययों को कहते हैं। प्रत्यय (पच्चय) ये हैं—चीवर, पिण्डपात, शयनासन और ग्लानप्रत्ययभेषज। भिक्षु को इन चार वस्तुओं की आवश्यकता रहती है। कभी-कभी ये भी अन्तराय हो जाते हैं। पुण्यवान् भिक्षु का लाभ-सत्कार प्रचुर परिमाण में होता है। उसको सदा लोग घेरे रहते हैं। जगह-जगह से उसको निमन्त्रण आता है। उसको निरन्तर दान का अनुमोदन करना पड़ता है और दाताओं को धर्म का उपदेश देना पड़ता है। श्रमण-धर्म के लिये उसको अवकाश नहीं मिलता। ऐसे भिक्षु को उस स्थान में जाकर रहना चाहिये जहाँ उसे कोई न जानता हो और जहाँ वह एकान्तसेवी हो सके।

गण में रहने से लोग अनेक प्रकार के प्रश्न पूछते हैं, या उसके पास पाठ के लिये आते हैं। इस प्रकार श्रमण-धर्म के लिये अवकाश नहीं मिलता। इस अन्तराय का उपच्छेद इस प्रकार होना चाहिये— यदि थोड़ा ही पाठ रह गया हो तो उसे समाप्त कर अरण्य में प्रवेश करना चाहिये, यदि पीठ बहुत अ..शिष्ट हो तो अपने शिष्यों को समीपवर्ती किसी दूसरे गणवाचक के अधीन करना चाहिये। यदि दूसरा गणवाचक पास में न मिले तो शिष्यों से अवकाश ले श्रमण-धर्म में प्रवृत्त हो जाना चाहिये।

कर्म का अर्थ है 'नवकर्म'। अर्थात् विहार का अभिसंस्कार (मरम्मत आदि)। जो नवकर्म कराता है उसे श्रमिकों के कार्य का निरीक्षण करना पड़ता है। उसके लिये सर्वदा अन्तराय है। इस अन्तराय का नाश करना चाहिये। यदि थोड़ा ही काम अवशिष्ट रह गया हो तो काम को समाप्त कर श्रमण-धर्म में प्रवृत्त हो जाना चाहिये। यदि अधिक कार्य बाकी हो तो सङ्घभारहारक भिक्षुओं को सौंप देना चाहिये। यदि ऐसा कोई प्रबन्ध न हो सके तो सङ्घ का परित्याग कर अन्यत्र चला जाना चाहिये।

मार्ग-गमन भी कभी-कभी अन्तराय होता है। जिसे कहीं किसी की प्रव्रज्या के लिये जाना है या जिसे कहीं भी लाभ-सत्कार मिलना है, यदि वह अपनी इच्छा को पूर्ण किये विना अपने चित्त को स्थिर नहीं रख सकता तो उससे श्रमण-धर्म सम्यक् रीति से सम्पादित नहीं हो सकता। इसलिये उसे गन्तव्य स्थान पर जाकर अपना मनोरथ पूर्ण करने के अनन्तर श्रमणधर्म में उत्साह के साथ प्रवृत्त होना चाहिये।

ज्ञाति भी कभी-कभी अन्तराय हो जाते हैं। विहार में आचार्य, उपाध्याय, अन्तेवासिक, समानोपाध्यायक और समानाचार्यक तथा घर में माता, पिता, भ्राता आदि 'ज्ञाति' होते हैं। जब ये रुग्ण होते हैं तब ये अन्तराय होते हैं। क्योंकि भिक्षु को इनकी सेवा-शुश्रूषा करनी पड़ती है। उपाध्याय, प्रव्रज्याचार्य, उपसम्पदाचार्य, ऐसे अन्तेवासिक जिनकी उसने प्रव्रज्या या उपसम्पदा की है, तथा एक ही उपाध्याय के अन्तेवासी के रुग्ण होने पर उनकी सेवा उस समय तक करना उसका कर्तव्य है जब तक वह नीरोग न हो। माता-पिता उपाध्याय के समान हैं। यदि उनके पास औषध न हो तो अपने पास से देना चाहिये; यदि अपने पास भी न हो तो भिक्षा माँगकर देना चाहिये।

आबाध भी अन्तराय है। यदि भिक्षु को कोई रोग हुआ तो श्रमणधर्म के पालन में अन्तराय होता है। चिकित्सा द्वारा रोग का उपशम करने से या उसकी उपेक्षा करने से यह अन्तराय नष्ट होता है।

ग्रन्थ भी अन्तराय होता है। जो सदा स्वाध्याय में व्यापृत रहता है उसी के लिये ग्रन्थ अन्तराय है, दूसरों के लिये नहीं।

ऋद्धि से पृथग्जन की ऋद्धि अभिप्रेत है। यह ऋद्धि विपश्यना (प्रज्ञा) में अन्तराय है, समाधि में नहीं; क्योंकि जब समाधि की प्राप्ति होती है तब ऋद्धि-बल की प्राप्ति होती है। इसलिये जो विपश्यना का अर्थी है उसे ऋद्धि अन्तराय का उपच्छेद करना चाहिये।

इन विघ्नों का उपच्छेद कर भिक्षु को 'कर्मस्थान' ग्रहण के लिये **कल्याणमित्र** के पास जाना चाहिये। 'कर्मस्थान' योग के साधन को कहते हैं। योगानुयोग ही कर्म है। इसका स्थान अर्थात् 'निष्पत्ति हेतु' कर्मस्थान है। इसीलिये कर्मस्थान उसे कहते हैं जिसके द्वारा योग-भावना की निष्पत्ति होती है।

कर्मस्थान अर्थात् समाधि के चालीस साधन हैं। इन चालीस साधनों में से किसी एक का, जो अपनी चर्या के अनुकूल हो, ग्रहण करना पड़ता है। कर्मस्थान का दायक कल्याणमित्र कहलाता है; क्योंकि वह उसका एकान्तहितैषी है। कल्याणमित्र गम्भीर कथा का कहने वाला होता है तथा अनेक गुणों से समन्वागत होता है। बुद्ध से बढ़कर कोई दूसरा कल्याणमित्र नहीं है। संयुत्तनिकाय में भगवान् ने स्वयं कहा है कि जीव मुझ कल्याणमित्र की शरण में आकर जन्म के बन्धन से मुक्त होते हैं।

इसलिये भगवान् के रहते उनके समीप ग्रहण करने से कर्मस्थान सुगृहीत होता है। संक्षेप में कर्मस्थान ग्रहण करने की वही विधि है, जो हम पीछे 'धुतङ्गनिद्देस' में बता चुके हैं।

इन चालीस कर्मस्थानों को पालि में—'पारिहारिय कम्मट्ठान' कहते हैं। क्योंकि इनमें से जो चर्या के अनुकूल होता है उसका नित्य परिहरण अर्थात् अनुयोग करना पड़ता है।

पारिहारिक कर्मस्थान के अतिरिक्त 'सब्बत्थक कम्मट्ठान' (अर्थात् सर्वार्थक कर्मस्थान) भी है। इसे सर्वार्थक इसलिये कहते हैं क्योंकि यह सबको लाभ पहुँचाता है। भिक्षुसङ्घ आदि के प्रति मैत्रीभावना, मरण-स्मृति और कुछ आचार्यों के मतानुसार अशुभ-संज्ञा भी सर्वार्थक कर्मस्थान कहलाते हैं। जो भिक्षु कर्मस्थान में नियुक्त होते हैं उसे पहिले सीमा में रहनेवाले भिक्षुसङ्घ के प्रति मैत्री प्रदर्शित करनी चाहिये। उससे मैत्री-भावना इस प्रकार करनी चाहिये— 'सीमा में रहनेवाले भिक्षु सुखी हों, उनका कोई व्यापाद न करे'। धीरे-धीरे उसे इस भावना का इस प्रकार विस्तार करना चाहिये— सीमा के भीतर वर्तमान देवताओं के प्रति, तदनन्तर उस ग्राम के निवासियों के प्रति जहाँ वह भिक्षाचर्या करता है, तदनन्तर राजा तथा अधिकारी वर्ग के प्रति, तदनन्तर सब सत्त्वों के प्रति मैत्री-भावना का अनुयोग करना चाहिये। ऐसा करने से उसके सहवासी उसके साथ सुखपूर्वक निवास करते हैं। देवता तथा अधिकारी उसकी रक्षा करते हैं तथा उसकी आवश्यकताओं को पूर्ण करते हैं, लोगों का वह प्रियपात्र होता है और सर्वत्र निर्भय होकर विचरता है। मरणस्मति द्वारा वह निरन्तर इस बात का चिन्तन करता रहता है कि मुझे मरना अवश्यमेव है। इसलिये वह कुपथ का गामी नहीं होता तथा वह संसार में लीन और आसक्त नहीं होता। जब चित्त अशुभ-संज्ञा से परिचित होता है (अर्थात् जब चित्त यह देखता है कि चाहे मृत हो या जीवमान, शरीर शुभ भाव से वर्जित है और इसका स्वभाव अशुचि है) तब दिव्य आलम्बन का लोभ भी चित्त को ग्रस्त नहीं करता। बहु उपकारक होने से यह सबको अभिप्रेत है। इसलिये इन्हें सर्वार्थक कर्मस्थान कहते हैं।

इन दो प्रकार के कर्मस्थानों के ग्रहण के लिये कल्याणमित्र के समीप जाना चाहिये। यदि एक ही विहार में कल्याणमित्र का वास हो तो अत्युत्तम है। अन्यथा जहाँ कल्याणमित्र का आवास हो वहाँ जाना चाहिये। अपना पात्र और चीवर स्वयं लेकर प्रस्थान करना चाहिये। मार्ग में जो विहार पड़े वहाँ वर्त्त-प्रतिवर्त्त (कर्तव्य-सेवा-आचार) सम्पादित करना चाहिये। आचार्य का वासस्थान पूछकर सीधे आचार्य के पास जाना चाहिये। यदि आचार्य अवस्था में छोटा हो तो उसे अपना पात्र-चीवर ग्रहण न करने देना चाहिये। यदि अवस्था में अधिक हो तो आचार्य को वन्दना कर खड़े रहना चाहिये। जब आचार्य कहे कि पात्र-चीवर भूमि पर रख दो तब उन्हें भूमि पर रख देना चाहिये। और यदि वह जल पीने के लिये पूछे तो इच्छा रहते जल पीना चाहिये। यदि पैर धोने को कहें तो पैर न धोना चाहिये। क्योंकि यदि जल आचार्य द्वारा आहृत हो तो वह पादक्षालन के लिये अनुपयुक्त होगा। यदि आचार्य कहें कि जल दूसरे द्वारा लाया गया है तो उसको ऐसे स्थान में बैठकर पैर धोना चाहिये जहाँ आचार्य उसे न देख सकें। यदि आचार्य तैल दें तो उठकर दोनों हाथों से आदरपूर्वक उसे ग्रहण करना चाहिये। पर पहिले पैरों में न मलना चाहिये, क्योंकि यदि आचार्य के गात्राभ्यञ्जन के लिये वह तैल हो तो पैर में मलने के लिये अनुपयुक्त होगा। इसलिये पहिले सिर और कन्धों में तैल लगाना चाहिये। जब आचार्य कहें कि सब अङ्गों में लगाने का यह तैल है तो थोड़ा सिर में लगाकर पैर में लगाना चाहिये। पहिले ही दिन कर्मस्थान की याचना न करनी चाहिये। दूसरे दिन से आचार्य की सेवा करनी चाहिये। जिस

प्रकार अन्तेवासी आचार्य की सेवा करता है उसी प्रकार भिक्षु को कर्मस्थानदायक की सेवा करनी चाहिये। समय से उठकर आचार्य को दन्तकाष्ठ देना चाहिये, मुँह धोने के लिये तथा स्नान के लिये जल देना चाहिये। और पात्र साफ करके प्रातराश के लिये यवागू देना चाहिये। इस प्रकार अपनी सेवा से आचार्य को प्रसन्न कर जब वह आने का कारण पूछें तब बताना चाहिये। यदि आचार्य आने का कारण न पूछें और सेवा लें तो एक दिन अवसर पाकर आने का कारण स्वयं बताना चाहिये। यदि वह प्रातःकाल बुलावें तो प्रातःकाल जाना चाहिये। यदि उस समय किसी रोग की बाधा हो तो निवेदन कर दूसरा उपयुक्त समय नियत कराना चाहिये। याचना के पूर्व आचार्य के समीप आत्मभाव का विसर्जन करना चाहिये। सदा आचार्य की आज्ञा में रहना चाहिये; स्वेच्छाचारी न होना चाहिये। यदि आचार्य बुरा-भला कहें तो क्रोध नहीं करना चाहिये। यदि भिक्षु आचार्य के समीप आत्मभाव का परित्याग नहीं करता और विना पूछे जहाँ कहीं इच्छा होती है चला जाता है तो आचार्य रुष्ट होकर धर्म का उपदेश नहीं करते और गम्भीर कर्मस्थान-उपाय की शिक्षा नहीं देते। इस प्रकार भिक्षु शासन में प्रतिष्ठा नहीं पाता। इसके विपरीत यदि वह आचार्य के वशवर्त्ती और अधीन रहता है तो शासन में उसकी वृद्धि होती है। भिक्षु को अलोभादि छह सम्पन्न अध्याशयों से भी संयुक्त होना चाहिये। सम्यक्सम्बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध आदि जिस किसी ने विशेषता प्राप्त की है उसने इन्हीं छह सम्पन्न अध्याशयों द्वारा प्राप्त की है। 'अध्याशय' अभिनिवेश को कहते हैं। 'अध्याशय' दो प्रकार के हैं—विपन्न, सम्पन्न। रुष्यता आदि जो मिथ्याभिनिवेश-निश्रित हैं विपन्न अध्याशय कहलाते हैं। सम्पन्न अध्याशय दो प्रकार के हैं—वर्त अर्थात् संसारनिश्रित और विवर्तनिश्रित। यहाँ विवर्तनिश्रित अध्याशय से अभिप्राय है।

सम्पन्न अध्याशय छह आकार के हैं—अलोभ, अद्वेष, अमोह, नैष्कर्म्य, प्रविवेक और निस्सरण। इन छह अध्याशयों से बोधि का परिपाक होता है। इसलिये इनका आसेवन आवश्यक है। इसके अतिरिक्त साधक का सङ्कल्प समाधि तथा निर्वाण के लाभ के लिये दृढ़ होना चाहिये। जब विशेष गुणों से सम्पन्न साधक कर्मस्थान की याचना करता है तो आचार्य चर्या की परीक्षा करता है। जो आचार्य परिचित्त-ज्ञानलाभी हैं वे चित्ताचार का सूक्ष्म निरीक्षण कर स्वयं ही साधक के चरित का परिचय प्राप्त कर लेता है पर जो इस ऋद्धि-बल से समन्वागत नहीं है वह विविध प्रश्नों द्वारा साधक का चर्या जानने की चेष्टा करता है। आचार्य साधक से पूछता है कि वह कौन से धर्म हैं जिनका तुम प्रायः आचरण करते हो? क्या करने से तुम सुखी होते हो? किस कर्मस्थान में तुम्हारा चित्त लगता है? इस प्रकार चर्या का विनिश्चय कर आचार्य चर्या के अनुकूल कर्मस्थान का वर्णन करता है। साधक कर्मस्थान का अर्थ और अभिप्राय भली प्रकार जानने की चेष्टा करता है। वह आचार्य के व्याख्यान को मनोयोगपूर्वक आदरसहित सुनता है। ऐसे ही साधक का कर्मस्थान सुगृहीत होता है।

चर्या के कितने प्रभेद हैं, कि चर्या का क्या निदान है, कैसे जाना जाय कि अमुक मनुष्य अमुक चरितवाला है और किस चरित के लिये कौन से शयनासन आदि उपयुक्त हैं? इन विषयों पर यहाँ विस्तार से विचार किया जायगा। चर्या का अर्थ है प्रकृति, अन्य धर्मों की अपेक्षा किसी विशेष धर्म की उत्सन्नता अर्थात् अधिकता। चर्या छह हैं—रागचर्या, द्वेषचर्या, मोहचर्या, श्रद्धाचर्या, बुद्धिचर्या और वितर्कचर्या। सन्तान में जब अधिक भाव से राग की प्रवृत्ति होती है तब रागचर्या कही जाती है। कुछ लोग सम्प्रयोग और सन्निपात वश रागादि की चार और चर्याएँ मानते है;

जैसे राग-मोहचर्या, राग-द्वेषचर्या, द्वेष-मोहचर्या और राग-द्वेष-मोहचर्या। इसी प्रकार श्रद्धादि चर्याओं के परस्पर सम्प्रयोग और सन्निपात से श्रद्धा-बुद्धिचर्या, श्रद्धा-वितर्कचर्या, बुद्धि-वितर्कचर्या, श्रद्धा-बुद्धि-वितर्कचर्या—इन चार अन्य चर्याओं को भी मानते हैं। इस प्रकार इनके मत में समग्र चौदह चर्याएँ होती हैं। यदि हम रागादि का श्रद्धादि चर्याओं से सम्प्रयोग करें तो अनेक चर्याएँ होती हैं। इस प्रकार चर्याओं की तिरसठ और इससे भी अधिक संख्या हो सकती है। इसलिये संक्षेप से छह ही मूलचर्या जानना चाहिये। मूलचर्याओं के प्रभेद से छह प्रकार के पुद्गल होते हैं—रागचरित, द्वेषचरित, मोहचरित, श्रद्धाचरित, बुद्धिचरित, वितर्कचरित। जिस समय रागचरित पुरुष की कुशल में अर्थात् शुभकर्मों में प्रवृत्ति होती है उस समय श्रद्धा बलवती होती है; क्योंकि श्रद्धा-गुण राग-गुण का समीपवर्ती है। जिस प्रकार अकुशल पक्ष में रागी की स्निग्धता और अरूक्षता पायी जाती हैं उसी प्रकार कुशल पक्ष में राग की स्निग्धता और अरूक्षता पायी जाती है। श्रद्धा प्रसाद-गुणवश स्निग्ध है और राग रञ्जन-गुणवश स्निग्ध है। यथा राग काम्य वस्तुओं का पर्येषण करता है उसी प्रकार श्रद्धा शीलादि गुणों का पर्येषण करती है। यथा राग अहित का परित्याग नहीं करता, उसी प्रकार श्रद्धा हित का परित्याग नहीं करती। इस प्रकार हम देखते हैं कि भिन्न भिन्न स्वभाव के होते हुए भी रागचरित और श्रद्धाचरित की सभागता (तुल्यता) है।

इसी तरह द्वेषचरित और बुद्धिचरित की तथा मोहचरित और वितर्कचरित की सभागता है। जिस समय द्वेषचरित पुरुष की कुशल में प्रवृत्ति होती है उस समय प्रज्ञा बलवती होती है; क्योंकि प्रज्ञा-गुण द्वेष का समीपवर्ती है। जिस प्रकार अकुशल पक्ष में द्वेष व्यापादवश स्नेहरहित होता है, आलम्बन में उसकी आसक्ति नहीं होती, उसी प्रकार यथाभूत स्वभाव के अवबोध के कारण कुशलपक्ष में प्रज्ञा की आसक्ति नहीं होती। यथा द्वेष अभूत दोष की भी पर्येषणा करता है उसी प्रकार प्रज्ञा यथाभूत दोष का प्रविचय करती है। यथा द्वेषचरित पुरुष सत्त्वों का परित्याग करता है उसी प्रकार बुद्धिचरित पुरुष संस्कारों का परित्याग करता है। इसलिये स्वभाव की विभिन्नता होते हुए भी द्वेषचरित और बुद्धिचरित की सभागता है। जब मोहचरित पुरुष कुशल कर्मों के उत्पाद के लिये यत्नवान् होता है तो नाना प्रकार के वितर्क और मिथ्या संकल्प उत्पन्न होते हैं, क्योंकि वितर्क-गुण मोह-गुण का समीपवर्ती है। जिस प्रकार व्याकुलता के कारण मोह अनवस्थित है उसी प्रकार नाना प्रकार के विकल्प-परिकल्प के कारण वितर्क अनवस्थित है। जिस प्रकार मोह चञ्चल है उसी प्रकार वितर्क में चपलता है। इस प्रकार स्वभाव की विभिन्नता होते हुए भी मोहचरित और वितर्कचरित की सभागता है।

कुछ लोग इन छह चर्याओं के अतिरिक्त तृष्णा, मान और दृष्टि को भी चर्या में परिगणित करते हैं। परन्तु तृष्णा और मान राग के अन्तर्गत हैं और दृष्टि मोह के अन्तर्गत है।

इन छह चर्याओं का क्या निदान है? कुछ का कहना है कि पूर्व जन्मों का आचरण और धातु-दोष की उत्सन्नता पहली तीन चर्याओं की नियामक है। इनका कहना है कि जिसने पूर्व जन्मों में अनेक शुभ कर्म किये है और जो इष्टप्रयोग-बहुल रहा है या जो स्वर्ग से च्युत हो इस लोक में जन्म लेता है वह रागचरित होता है। जिसने पूर्व जन्मों में छेदन, वध, बन्धन आदि अनेक वैरकर्म किये हैं या जो निरय या नाग-योनि से च्युत हो इस लोक में उत्पन्न होता है वह द्वेषचरित होता है और जिसने पूर्व जन्मों में अधिक परिमाण में निरन्तर मद्यपान किया है और जो श्रुतविहीन है या जो निकृष्ट पशुयोनि से च्युत हो इस लोक में उत्पन्न होता है, वह मोहचरित

होता है। पृथिवी तथा जलधातु की उत्सन्नता से पुद्गल मोहचरित होता है। तेज और वायुधातु की उत्सन्नता से पुद्गल द्वेषचरित होता है। चारों धातुओं के समान भाग में रहने से पुद्गल रागचरित होता है। दोषों में श्लेष्मा की अधिकता से पुद्गल रागचरित या मोहचरित होता है; वात की अधिकता से मोहचरित या रागचरित होता है। इन वचनों में श्रद्धाचर्या आदि में से एक का भी निदान नहीं कहा गया है। दोष-नियम में केवल राग और मोह का ही निदर्शन किया गया है; इनमें भी पूर्वापरविरोध देखा जाता है। इसी प्रकार धातुओं में उक्त पद्धति से उत्सन्नता का नियम नहीं पाया जाता। पूर्वाचरण के आधार पर जो चर्या का नियमन बताया गया है उसमें भी ऐसा नहीं है कि सब केवल रागचरित हों या द्वेष-मोह-चरित हों। इसलिए यह वचन अपरिच्छिन्न हैं।

अट्ठकथाचार्यों के मतानुसार चर्याविनिश्चय 'उस्सदकित्तन' में इस प्रकार वर्णित है— पूर्व-जन्मों में प्रवृत्त लोभ-अलोभ द्वेष-अद्वेष, मोह-अमोह, हेतुवश प्रतिनियत रूप में सत्त्वों में लोभ आदि की अधिकता पायी जाती है। कर्म करने के समय जिस मनुष्य में लोभ बलवान् होता है और अलोभ मन्द होता है, अद्वेष और अमोह बलवान् होते हैं तथा द्वेष-मोह मन्द होते हैं, उसका मन्द अलोभ लोभ को अभिभूत नहीं कर सकता; किन्तु अद्वेष-अमोह, बलवान् होने के कारण द्वेष मोह को अभिभूत करते हैं। इसलिये जब वह मनुष्य इन कर्मों के वश प्रतिसन्धि का लाभ करता है तो वह लुब्ध, सुखशील, क्रोधरहित और प्रज्ञावान् होता है। कर्म करने के समय जिसके लोभ-द्वेष बलवान् होते हैं, अलोभ-अद्वेष मन्द होते हैं, अमोह बलवान् होता है और मोह मन्द होता है वह लुब्ध और दुष्ट परन्तु प्रज्ञावान् होता है। कर्म करने के समय जिसके लोभ-मोह-अद्वेष बलवान् होते हैं और इतर मन्द होते हैं वह लुब्ध, मन्द बुद्धिवाला, सुखशील और क्रोधरहित होता है। कर्म करने के समय जिसके लोभ द्वेष मोह बलवान् होते हैं अलोभादि मन्द होते हैं, वह लुब्ध,दुष्ट और मूढ़ होता है। कर्म करने के समय जिसके अलोभ द्वेष मोह बलवान् होते हैं इतर मन्द होते हैं, वह अलुब्ध, दुष्ट और मन्द बुद्धिवाला होता है। कर्म करने के समय जिस सत्त्व के अलोभ अद्वेष मोह बलवान् होते हैं इतर मन्द होते हैं, वह अलुब्ध, अदुष्ट और मन्द बुद्धिवाला होता है। कर्म करते समय जिसके अलोभ, द्वेष और अमोह बलवान् होते हैं इतर मन्द होते है वह अलुब्ध, प्रज्ञावान् और दुष्ट होता है। कर्म करने के समय जिसके अलोभ अद्वेष और अमोह तीनों बलवान् होते हैं और लोभ आदि मन्द होते हैं वह अलुब्ध, अदुष्ट और प्रज्ञावान् होता है।

यहाँ जिसे लुब्ध कहा है वह रागचरित है; जिसे दुष्ट या मन्द बुद्धिवाला कहा है वह यथाक्रम द्वेषचरित या मोहचरित है; प्रज्ञावान् बुद्धिचरित है; अलुब्ध, अदुष्ट, प्रसन्न प्रकृतिवाला होने के कारण श्रद्धाचरित है। इस प्रकार लोभादि में से जिस किसी द्वारा अभिसंस्कृत कर्मवश प्रतिसन्धि होती है उसे चर्या का निदान समझना चाहिये।

अब प्रश्न यह है कि किस प्रकार जाना जाय कि यह पुद्गल रागचरित है? इत्यादि। इसका निश्चय ईर्यापथ (ईर्यापथ=वृत्ति), कृत्य, भोजन, दर्शन आदि तथा धर्म-प्रवृत्ति (चित्त की विविध अवस्थाओं की प्रवृत्ति) द्वारा होता है।

ईर्यापथ—जो रागचरित होता है उसकी गति अकृत्रिम, स्वाभाविक होती है; वह चतुरभाव से धीरे-धीरे पद-निक्षेप करता है। वह समभाव से पैर रखता और उठाता है; उसके पादतल का मध्यभाग भूमि का स्पर्श नहीं करता। जो द्वेषचरित है वह जब चलता है तब ज्ञात होता है मानो भूमि को खोदता हुआ सहसा पैर रखता है और उठाता है। पादनिक्षेप के समय

ऐसा ज्ञात होता है मानो पैर पीछे की ओर खींचता है। मोहचरित की गति व्याकुल होती है। वह भीत पुरुष की तरह पैर रखता है और उठाता है। वह अग्रपाद तथा पार्ष्णि से गति को सहसा सन्निरुद्ध करता है। रागचरित पुरुष जब खड़ा होता है या बैठता है तो उसका आकार प्रसादावह और मधुर होता है। द्वेषचरित पुरुष का आकार स्तब्ध होता है और मोहचरित का आकुल होता है। रागचरित पुरुष विना त्वरा के अपना बिछौना ठीक तरह से बिछाता है और धीरे से शयन करता है, शयन करते समय वह अपने अङ्ग प्रत्यङ्ग का विक्षेप नहीं करता और उसका आकार प्रासादिक होता है। उठाये जाने पर चौंक कर नहीं उठता किन्तु शङ्कित पुरुष की तरह मृदु उत्तर देता है। द्वेषचरित पुरुष जल्दी से किसी न किसी प्रकार अपने बिछौने को बिछाता है और अवश की तरह अङ्ग-प्रत्यङ्ग का सहसा निक्षेप कर भृकुटि चढ़ाकर सोता है, उठाये जाने पर सहसा उठता है और क्रुद्ध होकर उत्तर देता है। मोहचरित पुरुष का विछौना अस्त-व्यस्त होता है, वहा हाथ-पैर फैलाकर प्रायः मुँह नीचा कर सोता है, उठाये जाने पर हुङ्कार करते हुए मन्दभाव से उठता है। श्रद्धाचरितादि पुरुष की वृत्ति रागचरितादि पुरुष के समान होती है, क्योंकि इनकी सभागता है।

कृत्य—कृत्य से भी चर्या का निश्चय होता है। जैसे झाड़ू देते समय रागचरित पुरुष विना शीघ्रता के झाड़ू को अच्छी तरह पकड़ कर समान रूप से झाड़ू देता है और स्थान को अच्छी तरह साफ करता है। द्वेषचरित पुरुष झाड़ू को कसकर पकड़ता है और जल्दी-जल्दी दोनों ओर धूल उड़ाता हुआ साफ करता है और स्थान भी साफ नहीं होता। मोहचरित पुरुष झाड़ू को शिथिलता के साथ पकड़ कर इधर-उधर चलाता है; स्थान भी साफ नहीं होता। इसी प्रकार अन्य क्रियाओं के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। रागचरित पुरुष कार्य में कुशल होता है; सुन्दर तथा समरूप से सावधानता के साथ कार्य करता है। द्वेषचरित पुरुष का कार्य स्थिर, स्तब्ध और विषम होता है और मोहचरित पुरुष कार्य में अनिपुण, व्याकुल, विषम और अयथार्थ होता है। सभागता होने के कारण श्रद्धाचरितादि पुरुषों की वृत्ति भी इसी प्रकार की होती है।

भोजन—रागचरित पुरुष को स्निग्ध और मधुर भोजन प्रिय होता है; वह धीरे-धीरे विविध रसों का आस्वाद लेते हुए भोजन करता है; अच्छा भोजन करके उसको प्रसन्नता होती है। द्वेषचरित पुरुष को रूखा और अम्ल भोजन प्रिय होता है; वह विना रसों का स्वाद लिये जल्दी-जल्दी भोजन करता है; यहि वह कोई बुरे स्वाद का पदार्थ खाता है तो उसे अप्रसन्नता होती है। मोहचरित पुरुष की रुचि अनियत होती है; वह विक्षिप्तचित्त पुरुष की तरह नाना प्रकार के वितर्क करते हुए भोजन करता है। इसी प्रकार श्रद्धाचरितादि पुरुष की वृत्ति होती है।

दर्शन—रागचरित पुरुष थोड़ा भी मनोरम रूप देखकर विस्मित भाव से चिरकाल तक उसका अवलोकन करता रहता है; थोड़ा भी गुण हो तो वह उसमें अनुरक्त हो जाता है; वह यथार्थ दोष का भी ग्रहण नहीं करता। उस मनोरम रूप के पास से हटने की उसकी इच्छा नहीं होती। द्वेषचरित पुरुष थोड़ा अमनोरम रूप देखकर खेद को प्राप्त होता है। वह उसकी ओर देर तक देख नहीं सकता। अल्प भी दोष उसकी दृष्टि से बचकर नहीं जा सकता। यथार्थ गुण का भी वह ग्रहण नहीं करता। मोहचरित पुरुष जब कोई रूप देखता है तो वह उसके विषय में उपेक्षाभाव रखता है; दूसरों को निन्दा करते देखकर निन्दा और प्रशंसा करते देखकर प्रशंसा करता है। श्रद्धाचरितादि पुरुषों की वृत्ति भी इसी प्रकार की होती है।

धर्म-प्रवृत्ति—रागचरित पुरुष में माया, शाठ्य, मान, पापेच्छा, असन्तोष, चपलता, लोभ, शृङ्गारभाव आदि धर्मों की बहुलता होती है। द्वेषचरित पुरुष में क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य, दम्भ आदि धर्मों की बहुलता होती है। मोहचरित पुरुष में विचिकित्सा, आलस्य, चित्तविक्षेप, चित्त की अकर्मण्यता, पश्चात्ताप, प्रतिनिविष्टता, दृढग्राह आदि धर्मों की बहुलता होती है। श्रद्धाचरित पुरुष का परित्याग निःसङ्ग होता है; वह आर्यों के दर्शन की तथा सद्धर्म-श्रवण की इच्छा रखता है; उसमें प्रीतिबहुलता होती है, वह शठता और माया से रहित है, उचित स्थान में वह श्रद्धाभाव रखता है। बुद्धिचरित पुरुष स्निग्धभाषी, मितभोजी और कल्याणमित्र होता है। वह स्मृति-सम्प्रजन्य की रक्षा करता है; सदा जाग्रत् रहता है। संसार का दुःख देखकर उसमें संवेग उत्पन्न होता है और वह उद्योग करता है। वितर्कचरित पुरुष की कुशलधर्मों में अरति होती है; उसका चित्त अनवस्थित होता है; वह बहुभाषी और समाजप्रिय होता है। वह इधर उधर आलम्बनों की पीछे दौड़ता है।

चर्या की विभावना उक्त प्रकार से पालि और अट्ठकथाओं में वर्णित नहीं है। यह केवल कुछ आचार्यों के मतानुसार कहा गया है। इस लिये इस पर पूर्णरूप से विश्वास नहीं करना चाहिये। द्वेषचरित पुरुष भी यदि प्रमाद से रहित हो उद्योग करे तो रागचरित पुरुष की गति आदि का अनुकरण कर सकता है। जो पुरुष संसृष्टचरित है उसमें भिन्न-भिन्न प्रकार की गति आदि नहीं घटती; किन्तु जो प्रकार अट्ठकथाओं में वर्णित है उसका साररूप से ग्रहण करना चाहिये।

इस प्रकार आचार्य साधक की चर्या को जान कर निश्चय करता है कि यह पुरुष रागचरित है या द्वेष-चरित है। इस चरित के पुरुष के लिये क्या उपयुक्त है? अब इस प्रश्न पर हम विचार करेंगे। रागचरित पुरुष को तृणकुटी में, पर्णशाला में, एक तरफ अवनत पर्वतपाद के अधोभाग में या वेदिका से घिरे हुए अपरिशुद्ध भूमितल पर निवास करना चाहिये। उसका आवास रज से आकीर्ण, छिन्न-भिन्न, अति उच्च या अति नीच, अपरिशुद्ध, चमगादड़ों से परिपूर्ण, छायोदकरहित, सिंह-व्याघ्रादि के भय से युक्त, देखने में विरूप और दुर्वर्ण होना चाहिये। ऐसा आवास रागचरित पुरुष को उपयुक्त है। रागचरित पुरुष के लिये ऐसा चीवर उपयुक्त होगा जो किनारों पर फटा हो, जिसके धागे चारों ओर से लटकते हों, जो देखने में जालाकार पूए के समान हो, जो छूने में खुरदरा और देखने में भद्दा, मैला और भारी हो। उसका पात्र मृत्तिका का या लोहे का होना चाहिये। देखने में कुरूप और भारी हो; कपाल की तरह, जिसको देखकर घृणा उत्पन्न हो। उसका भिक्षाचर्या का मार्ग विषम, अमनोरम, और ग्राम से दूर होना चाहिये। भिक्षाचार के लिए उसे ऐसे ग्राम में जाना चाहिये जहाँ के लोग उसकी उपेक्षा करें, जहाँ एक कुल से भी जब उसे भिक्षा न मिले तब लोग आसन-शाला में बुलाकर उसे यवागू भोजन के लिए दें और बिना पूछें चलते बनें। परोसनेवाले भी दास या भृत्य हों, जिनके वस्त्र मैले और दुर्गन्धमय हों, जो देखने में दुर्वर्ण हों और जो उपेक्षा से परोसते हों। उसका भोजन रूक्ष, दुर्वर्ण और नीरस होना चाहिये। भोजन के लिये सावाँ, कोदो, चावल के कण, सड़ा हुआ तक्र और जीर्ण शाक का सूप होना चाहिये। उसका ईर्यापथ स्थान या चंक्रमण होना चाहिये अर्थात् उसे या तो खड़े रहना चाहिये या टहलना चाहिये। नीलादि वर्ण-कसिणों (कसिण=कृत्स्न=समस्त)में जिस आलम्बन का वर्ण अपरिशुद्ध हो वह उसके लिये उपयुक्त है।

द्वेषचरित पुरुष का शयनासन न बहुत ऊँचा और न बहुत नीचा होना चाहिये, उसे छाया और जल से सम्पन्न तथा सुवासित होना चाहिये। उसका भूमि-तल समुज्वल, मृदु, सम

और स्निग्ध हो; ब्रह्मविमान के तुल्य सुन्दर तथा कुसुममाला और नानावर्ण के वस्त्र-वितानों से समलंकृत हो और जिसके दर्शनमात्र से चित्त को आह्लाद प्राप्त हो। उसको श्रमण के अनुरूप हल्का सुरक्त और शुद्ध वर्ण का रेशमी या सूक्ष्म क्षौमवस्त्र धारण करना चाहिये। उसका पात्र मणि की तरह चमकता हुआ और लोहे का होना चाहिये। भिक्षाचार का मार्ग भयरहित, सम, सुन्दर तथा ग्राम से न बहुत दूर और न बहुत निकट होना चाहिये। जिस ग्राम में वह भिक्षाचर्या के लिये जाय वहाँ के लोग आदरपूर्वक उसको भोजन के लिये अपने घर पर निमन्त्रित करें और आसन पर बैठाकर अपने हाथ से भोजन करायें। परोसने वाले पवित्र और मनोज्ञ वस्त्र धारण कर, आभरणों से प्रतिमण्डित हो आदर के साथ भोजन परोसें। भोजन वर्ण, रस और गन्ध से सम्पन्न और हर प्रकार से उत्कृष्ट हो। ईर्यापथ में उसके लिये शय्या या निषद्या उपयुक्त है अर्थात् उसे लेटना या बैठना चाहिये। नीलादि वर्ण-कसिणों में जो आलम्बन सुपरिशुद्ध वर्ण का हो वह उसके लिये उपयुक्त है।

मोहचरित पुरुष का आवास खुले हुए स्थान में होना चाहिये; जहाँ बैठकर वह सब दिशाओं को विवृत रूप से देख सके। चार ईर्यापथों में से इसके लिये चंक्रमण (टहलना) उपयुक्त है, आलम्बनों में शरावमात्र या शूर्पमात्र, क्षुद्र और आलम्बन इसके लिये उपयुक्त नहीं है, क्योंकि घिरी जगह में चित्त और भी मोह को प्राप्त होता है। इसलिये मोहचरित पुरुष का कसिण-मण्डल विपुल होना चाहिये। शेष बातों में मोहचरित द्वेषचरित पुरुष के समान हैं। जो कुछ द्वेषचरित पुरुष के उपयुक्त बताया गया है वह सब श्रद्धाचरित के लिये भी उपयुक्त है। आलम्बनों में श्रद्धाचरित पुरुष के लिये भी अनुस्मृति-स्थान भी उपयुक्त है। बुद्धिचरित पुरुष के लिये आवासादि के विषय में कुछ भी अनुपयुक्त नहीं है। वितर्कचरित पुरुष के लिये दिशाभिमुख, खुला हुआ आवास उपयुक्त नहीं है। क्योंकि ऐसे स्थान से उसको आराम, वन, पुष्करिणी आदि दिखलायी देगीं, जिससे चित्त का विक्षेप होगा और वितर्क की वृद्धि होंगी। इसलिये उसे गम्भीर पर्वत-विहार में रहना चाहिये। इसके लिये विपुल आलम्बन भी उपयपुक्त न होगा; क्योंकि यह भी वितर्क की वृद्धि में हेतु होगा। उसका आलम्बन क्षुद्र होना चाहिये। शेष बातों में वितर्कचरित पुरुष रागचरित पुरुष के समान है।

आचार्य को चर्या के अनुकूल कर्मस्थान का ग्रहण कराना चाहिये। इस सम्बन्ध में ऊपर संक्षेप में ही कहा गया है, अब विस्तार से कहा जायगा।

कर्मस्थान चालीस हैं। वह इस प्रकार हैं—दस कसिण, दस अशुभ, दस अनुस्मृति, चार ब्रह्मविहार, चार आरूप्य, एक संज्ञा, एक व्यवस्थान।

कसिण योग-कर्म के सहायक आलम्बनों में से हैं। श्रावक 'कसिण' आलम्बनों की भावना करते हैं। 'कसिणों' (=कृत्स्न) पर चित्त को एकाग्र करने से ध्यान की समाप्ति होती है। इस अभ्यास को 'कसिण कम्म' कहते हैं। 'कसिण' दस हैं। विसुद्धिमग्ग के अनुसार 'कसिण' इस प्रकार हैं—पृथ्वीकसिण, अप्०, तेज०, वायु०, नील०, पीत०, लोहित०, अवदात०, आलोक०, परिच्छिन्नाकाशकसिण। मज्झिमनिकाय तथा दीघनिकाय की सूची में आलोक और परिच्छिन्नाकाश के स्थान में आकाश और विज्ञान परिगणित हैं।

अशुभ दस हैं—उद्धुमातक (भाथी की तरह फूला हुआ मृत शरीर), विनीलक (मृत शरीर सामान्यत: नीला हो जाता है), विपुब्बक (जिसके भिन्न स्थानों से पीव विस्यन्दमान होती

है), विच्छिद्दक (द्विधा छिन्न शव-शरीर), विक्खायितक (वह शरीर जिसे कुत्तों और शृगालों ने स्थान-स्थान पर विविध रूप से खाया हो), विक्खितक (वह शव जिसके अङ्ग इधर-उधर बिखरे पड़े हों) हतविक्खित्तक (वह शव जिसके अङ्ग प्रत्यङ्ग शस्त्र से काटकर इधर-उधर छितरा दिये गये हों), लोहितक (रक्त से सम्पृक्त शव),पुलुवक (क्रिमियों से परिपूर्ण शव) अट्ठिक (अस्थि-पंजरमात्र)।

अनुस्मृति दस हैं—बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति, सङ्घानुस्मृति, शीलानुस्मृति, त्यागानुस्मृति, देवतानुस्मृति, कायगतास्मृति, मरणानुस्मृति, आनापानस्मृति, उपशमानुस्मृति।

मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा— ये चार **ब्रह्मविहार** हैं।[1]

आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिञ्चन्यायतन, नैवसंज्ञानासंज्ञायतन— ये चार **आरूप्य** हैं। आहार में प्रतिकूलसंज्ञा एक संज्ञा है। चार धातुओं का व्यवस्थान एक व्यवस्थान हैं।

समाधि के दो प्रकार हैं—उपचार और अर्पणा। जब तक ध्यान क्षीण रहता है और अर्पणा की उत्पत्ति नहीं होती; तब तक उपचार समाधि का व्यवहार होता है। उपचार-भूमिमें नीवरणों का प्रहाण होकर चित्त समाहित होता है। पर वितर्क विचार आदि पाँच अङ्गों का प्रादुर्भाव नहीं होता। जिस प्रकार ग्राम का समीपवर्ती प्रदेश ग्रामोपचार कहलाता है उसी प्रकार अर्पणासमाधि के समीपवर्त्ती होने के कारण उपचार संज्ञा पड़ी। उपचार-भूमि में अङ्ग सुदृढ़ नहीं होते, पर अर्पणा में अङ्गों का प्रादुर्भाव होता है और वे सुदृढ़ हो जाते हैं। इस लिये यह समाधि की प्रतिलाभ-भूमि है। जिस प्रकार बालक जब खड़ा होकर चलने का प्रयास करता है तो आरम्भ में अभ्यास न होने के कारण खड़ा होता है और फिर बार-बार गिर पड़ता है; उसी प्रकार उपचार-समाधि के उत्पन्न होने पर चित्त कभी निमित्त को आलम्बन बनाता है तो कभी भवाङ्ग में अवतीर्ण हो जाता है। पर अर्पणा में अङ्ग सुदृढ़ हो जाते हैं; सारा दिन, सारी रात, चित्त स्थिर रहता है। चालीस कर्मस्थानों में से दस कर्मस्थान—बुद्ध-धर्म-सङ्घ-शील-त्याग-देवता ये छह अनुस्मृतियाँ, मरणानुस्मृति, उपशमानुस्मृति, आहार के विषय में प्रतिकूल संज्ञा और चतुर्धातुव्यवस्थान—उपचार-समाधि का और अवशिष्ट तीस अर्पणा-समाधि का आनयन करते हैं। जो कर्मस्थान अर्पणा-समाधि का आनयन करते हैं; उनमें से दस कसिण और आनापानस्मृति चार ध्यानों के आलम्बन होते हैं; दस अशुभ और कायगतास्मृति प्रथम ध्यान के आलम्बन हैं; पहले तीन ब्रह्म-विहार तीन ध्यानों के और चौथा ब्रह्म-विहार और चार आरूप्य चार ध्यानों के आलम्बन हैं। पहले ध्यान के पाँच अङ्ग होते हैं—वितर्क, विचार, प्रीति, सुख, एकाग्रता (समाधि) इससे सवितर्क-सविचार कहते हैं।

ध्यानों की परिगणना दो प्रकार से है। चार ध्यान या पाँच ध्यान माने जाते हैं। पाँच की परिगणना के दूसरे ध्यान में वितर्क का अतिक्रम होता है पर विचार रह जाता है। इसे अवितर्क-विचार मात्र कहते हैं। पर चार की परिगणना के द्वितीय ध्यान में और पाँच की परिगणना के तृतीय ध्यान में वितर्क और विचार दोनों का अतिक्रम होता है; केवल प्रीति, सुख और समाधि अवशिष्ट रह जाते हैं। पाँच की परिगणना के चतुर्थ ध्यान में और चार की परिगणना के तृतीय ध्यान में प्रीति का अतिक्रम होता है; केवल सुख और समाधि अवशिष्ट रह जाते हैं। दोनों प्रकार

१. तुलना कीजिए—"मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्" (पा० योगदर्शन, समाधिपाद, सू० ३३)।

के अन्तिम ध्यान में सुख का अतिक्रम होता है। अन्तिम ध्यान की समाधि उपेक्षा-सहगत होती है।

इस प्रकार तीन और चार ध्यानों के आलम्बन-स्वरूप कर्मस्थानों में ही अङ्ग का समतिक्रम होता है; क्योंकि वितर्क-विचारादि ध्यान के अङ्गों का अतिक्रम कर उन्हीं आलम्बनों में द्वितीयादि ध्यानों की प्राप्ति होती है। यही कथा चतुर्थ ब्रह्मविहार की है। मैत्री आदि आलम्बनों में सौमनस्य का अतिक्रमण कर चतुर्थ ब्रह्मविहार में उपेक्षा की प्राप्ति होती है। चार आरूप्यों में आलम्बन का समतिक्रमण होता है। पहले नौ कसिणों में से किसी-किसी का अतिक्रमण करने से ही आकाशानन्त्यायतन की प्राप्ति होती है। आकाश आदि का अतिक्रमण कर विज्ञानानन्त्यायतन आदि की प्राप्ति होती है। शेष अर्थात् इक्कीस कर्मस्थानों में समतिक्रमण नहीं होता। इस प्रकार कुछ में अङ्ग का अतिक्रमण और कुछ में आलम्बन का अतिक्रमण होता है।

इन चालीस कर्मस्थानों में से केवल दस कसिणों की वृद्धि करनी चाहिये। क्योंकि जितना स्थान कसिण द्वारा व्याप्त होता है उतने ही अवकाश में दिव्य श्रोत्र से शब्द सुना जाता है, दिव्य चक्षु से रूप देखे जा सकते हैं और परचित्त का ज्ञान हो सकता है। परकायगता स्मृति और दस अशुभों की वृद्धि नहीं करनी चाहिये; क्योंकि इससे कोई लाभ नहीं है। यह परिच्छिन्नाकार में ही उपस्थित होते हैं। इसलिये इनकी वृद्धि से कोई अर्थ नहीं निकलता। इनकी वृद्धि किये विना भी काम-राग का ध्वंस होता है। शेष कर्मस्थानों की भी वृद्धि नहीं करनी चाहिये। उदाहरण के लिये जो आनापान निमित्त की वृद्धि करता है, वह वातराशि की ही वृद्धि करता है और अवकाश भी परिच्छिन्न होता है। चार ब्रह्मविहारों के आलम्बन सत्त्व हैं। इनमें निमित्त की वृद्धि करने से सत्त्व-राशि की ही वृद्धि होती है और उससे कोई उपकार नहीं होता। कोई प्रतिभागनिमित्त नहीं है जिसकी वृद्धि की जाय। आरूप्य आलम्बनों में भी आकाश की वृद्धि नहीं करनी चाहिये; क्योंकि कसिण के अपगम से ही आरूप्य की प्राप्ति होती है। विज्ञान और नैवसंज्ञानासंज्ञायतन स्वभाव-धर्म हैं; इसलिये इनकी वृद्धि सम्भव नहीं है। शेष की वृद्धि इसलिये नहीं हो सकती क्योंकि ये अनिमित्त है। बुद्धानुस्मृति आदि का आलम्बन प्रतिभाग-निमित्त नहीं है। इसलिये इनकी वृद्धि नहीं करनी चाहिये।

दस कसिण, दस अशुभ, आनापान-स्मृति, कायगतास्मृति-केवल इन बाईस कर्मस्थानों के आलम्बन प्रतिभाग-निमित्त होते हैं। शेष आठ स्मृतियाँ, आहार के विषय में प्रतिकूल-संज्ञा और चतुर्धातु व्यवस्थान, विज्ञानानन्त्यायतन, नैवसंज्ञानासंज्ञायतन— इन बारह कर्मस्थानों के आलम्बन स्वभाव-धर्म हैं। उक्त दस कसिण आदि बाईस कर्मस्थानों के आलम्बन निमित्त हैं। शेष छह—चार ब्रह्म-विहार, आकाशानान्त्यायतन और आकिञ्चन्यायतन के आलम्बनों के सम्बन्ध में न तो यही कहा जा सकता है कि वे निमित्त हैं और न यही कहा जा सकता है कि वे स्वभाव-धर्म हैं।

विपुल्वक लोहितक,पुलुवक, आनापान-स्मृति, अप्कसिण, तेजकसिण, वायुकसिण और आलोककसिणों में सूर्यादि से जो अवभास-मण्डल आता है—इन आठ कर्मस्थानों के आलम्बन चलित हैं; पर प्रतिभाग-निमित्त स्थिर हैं। शेष कर्मस्थानों के आलम्बन स्थिर हैं।

मनुष्यों में सब आलम्बनों की प्रवृत्ति होती है। देवताओं में दस अशुभ, कायगतास्मृति और आहार के विषय में प्रतिकूल-संज्ञा—इन बारह आलम्बनों की प्रवृत्ति नहीं होती। ब्रह्मलोक

में उक्त बारह आलम्बन तथा आनापानस्मृति की प्रवृत्ति नहीं होती। अरूपभव में चार आरूप्यों को छोड़कर किसी अन्य आलम्बन की प्रवृत्ति नहीं होती।

वायु-कसिण को छोड़कर बाकी नौ कसिण और दस अशुभ का ग्रहण दृष्टि द्वारा होता है। इस का अर्थ यह है कि पहले चक्षु से बार-बार देखने से निमित्त का ग्रहण होता है। कायगता स्मृति के आलम्बन का ग्रहण दृष्टि-श्रवण से होता है; क्योंकि त्वक् पञ्च का ग्रहण दृष्टि से और शेष का श्रवण से होता है। आनापान-स्मृति स्पर्श से, वायु-कसिण दर्शन-स्पर्श से, शेष अठारह श्रवण से गृहीत होते हैं। भावना के आरम्भ में योगी उपेक्षा, ब्रह्मविहार और चार आरूप्यों का ग्रहण नहीं कर सकता; पर शेष चौंतीस आलम्बनों का ग्रहण कर सकता है।

आकाश-कसिण को छोड़कर शेष नौ कसिण आरूप्यों में हेतु हैं; दस कसिण अभिज्ञा में हेतु हैं, पहले तीन ब्रह्मविहार चतुर्थ ब्रह्मविहार में हेतु हैं; नीचे के आरूप्य ऊपर के आरूप्य में हेतु हैं, नैवसंज्ञानासंज्ञायतन निरोधसमापत्ति में हेतु है; और सब कर्मस्थान सुखविहार, विपश्यना और भवसम्पत्ति में हेतु हैं।

रागचरित पुरुष के ग्यारह कर्मस्थान— दस असुभ और कायगतास्मृति-अनुकूल हैं; द्वेषचरित पुरुष के आठ कर्मस्थान—चार ब्रह्म-विहार और चार वर्णकसिण—अनुकूल हैं; मोह और वितर्कचरित पुरुष के लिये एक आनापानस्मृति ही अनुकूल हैं; श्रद्धाचरित पुरुष के लिये पहली छह अनुस्मृतियाँ, बुद्धिचरित पुरुष के लिये मरणस्मृति, उपशमानुस्मृति, चतुर्धातुव्यवस्थान और आहार के विषय में प्रतिकूलसंज्ञा—ये कर्मस्थान अनुकूल हैं। शेष कसिण और चार आरूप्य सब चरित के पुरुषों के लिए अनुकूल हैं। कसिणों में जो क्षुद्र है वह वितर्कचरित पुरुष के लिये और जो अप्रमाण हैं वह मोहचरित पुरुष के अनुकूल है। जिसके लिये जो कर्मस्थान अत्यन्त उपयुक्त है उसका उल्लेख ऊपर किया गया है। ऐसी कोई कुशलभावना नहीं है जिसमें रागादि का परित्याग न हो और जो श्रद्धादि की उपकर्त्री न हो।

मेघिय-सुत्त में भगवान् कहते हैं कि इन चार धर्मों की भावना करनी चाहिये— राग के नाश के लिये अशुभ-भावना, व्यापाद के नाश के लिये मैत्री-भावना, वितर्क के उपच्छेद के लिये आनापान-स्मृति की भावना और अहङ्कार-ममकार के समुद्घात के लिये अनित्य-संज्ञा की भावना। राहुल-सुत्त में भगवान् ने एक के लिये सात कर्मस्थानों का उपदेश किया है। इसलिये वचनमात्र में अभिनिवेश न रखकर सब जगह अभिप्राय की खोज होनी चाहिये।

४. पृथ्वीकसिण-निर्देश

अब दस कसिणों का ग्रहण कर भावना किस प्रकार की जाती है? और ध्यानों का उत्पाद कैसे होता है?—इस पर विचार करेंगे।

पृथ्वीकसिण—साधक को कल्याणमित्र के समीप अपनी चर्या के अनुकूल किसी कर्मस्थान का ग्रहण कर समाधि-भावना के अनुपयुक्त विहार का परित्याग कर अनुरूप विहार में वास करना चाहिये और भावना-विधान का किसी अंश में भी परित्याग न कर कर्मस्थान का आसेवन करना चाहिये।

जिस विहार में आचार्य निवास करते हों यदि वहाँ समाधि-भावना की सुविधा हो तो वहीं रहकर कर्मस्थान का संशोधन करना चाहिये। यदि असुविधा हो तो आचार्य के विहार से अधिक से अधिक एक योजन की दूरी पर निवास करना चाहिये। यदि किसी विषय में सन्देह उपस्थित हो या स्मृति-संमोष हो तो विहार का दैनिक कृत्य सम्पादन कर आचार्य के समीप जाकर गृहीत कर्मस्थान का संशोधन करना चाहिये। यदि एक योजन के भीतर भी कोई उपयुक्त

विहार न मिले तो सब प्रकार के सन्देहों का निराकरण कर कर्मस्थान के अर्थ और अभिप्राय को भली प्रकार चित्त में प्रतिष्ठित कर कर्मस्थान को सुविशुद्ध करना चाहिये। तदनन्तर दूर जाकर भी समाधि-भावना के अनुरूप स्थान में निवास करना चाहिये। अठारह दोषों में से किसी एक से भी समन्वागत विहार समाधि-भावना के अनुरूप नहीं होता।

सामान्यत: योगी को महाविहार, नवविहार, जीर्णविहार, राजपथ-समीपवर्त्ती विहार आदि में निवास नहीं करना चाहिये।

महाविहार में नानाप्रकार के भिक्षु निवास करते हैं। आपस के विरोध के कारण विहार का दैनिक कृत्य भलीभाँति सम्पादित नहीं होता। जब साधक भिक्षा के लिये बाहर जाता है और यदि वह देखता है कि कोई काम करने से रह गया है, तो उसे उस काम को स्वयं करना पड़ता है। न करने से वह दोष का भागी होता है और यदि करे तो समय नष्ट होता है, और विलम्ब हो जाने से उसको भिक्षा नहीं मिलती। यदि वह किसी एकान्त स्थान में बैठकर समाधि की भावना करना चाहता है तो श्रामणेर और तरुण भिक्षुओं के कोलाहल के कारण विक्षेप उपस्थित होता है।

जीर्ण विहार में अभिसंस्कार का काम बराबर लगा रहता है। राजपथ के समीपवर्त्ती विहार में दिनरात आगन्तुक आया करते हैं। यदि विकाल में कोई आया तो अपना शयनासन भी देना पड़ता है। इसलिये वहाँ कर्मस्थान का अवकाश नहीं मिलता। यदि विहार के समीप पुष्करिणी हुई तो वहाँ निरन्तर लोगों का जमघट रहा करता है। कोई जल भरने आता है तो कोई चीवर धोने और रंगने आता है। इस प्रकार निरन्तर विक्षेप हुआ करता है। ऐसा विहार भी अनुपयुक्त है, जहाँ नाना प्रकार के शाक, पर्ण, फल या फूल के वृक्ष हो, वहाँ भी निवास नहीं करना चाहिये; क्योंकि ऐसे स्थानों पर फल-फूलों के अभ्यर्थी निरन्तर करते हैं, न देने पर कुपित होते हैं, कभी-कभी हठ भी करते हैं, और समझाने बुझाने पर क्रुद्ध होते हैं और उस भिक्षु को विहार से निकालने की चेष्टा करते हैं!

किसी लोक-सम्मत स्थान में भी निवास न करना चाहिये। क्योंकि ऐसे प्रसिद्ध स्थान में यह समझकर कि यहाँ अर्हत् निवास करते हैं, लोग दूर-दूर से दर्शनार्थ आया करते हैं। इससे विक्षेप होता है। जो विहार नगर के समीप हो वह भी अनुरूप नहीं है, क्योंकि वहाँ निवास करने से कामगुणोपसंहित हीन शब्द कर्णगोचर होते हैं और असद् आलम्बन दृष्टिपथ में आपतित होते हैं। जिस विहार में वृक्ष होते हैं, वहाँ काष्ठहारक लकड़ी काटने आते हैं; जिससे ध्यान में विक्षेप होता है। जिस विहार के चारों ओर खेत हों वहाँ भी निवास न करना चाहिये। क्योंकि विहार के मध्य में किसान खलिहान बनाते हैं, धान पीटते हैं अन्य तरह के विघ्न उपस्थित करते हैं! जिस विहार में बड़ी सम्पत्ति लगी हो वहाँ भी विक्षेप हुआ करता है। लोग तरह तरह के आरोप लाते हैं और समय समय पर राजद्वार पर जाना पड़ता है। जिस विहार में ऐसे भिक्षु निवास करते हों जिनके विचार परस्पर न मिलते हों और जो एक दूसरे के प्रति वैरभाव रखते हों वहाँ सदा विघ्न उपस्थित रहता है, वहाँ भी नहीं रहना चाहिये।

साधक को दोषों से युक्त विहारों का परित्याग कर ऐसे विहार में निवास करना चाहिये जो भिक्षाग्राम से न बहुत दूर हो, न बहुत समीप; वहाँ आने-जाने की सुविधा हो, जहाँ दिन में लोगों का संघट्ट न हो, जहाँ रात्रि में बहुत शब्द न हो और जहाँ हवा, धूप, मच्छर, खटमल, और साँप आदि रेंगनेवाले जानवरों की बाधा न हो; ऐसे विहार में सूत्र और विनय के जानने वाले भिक्षु निवास करते हैं। योग-जिज्ञासु उनसे प्रश्न करता है और वे उसके सन्देहों को दूर करते हैं।

अनुरूप विहार में निवास करते हुए योगी को पहले क्षुद्र अन्तरायों का उपच्छेद करना चाहिये। अर्थात् यदि चीवर मैला हो तो उसे फिर से रंगवाना चाहिये, यदि पात्र मैला हो तो उसे शुद्ध करना चाहिये, यदि केश और नख बढ़ गये हों तो उनको कटवाना चाहिये और यदि चीवर जीर्ण हो गया हो तो उसको सिलवाना चाहिये। इस प्रकार क्षुद्र अन्तरायों का उपच्छेद करना चाहिये।

भोजन के बाद थोड़ा विश्राम कर एकान्त स्थान में पर्यङ्कबद्ध हो सुखपूर्वक बैठकर प्राकृतिक अथवा कृत्रिम पृथ्वी-मण्डल में भावना-ज्ञान द्वारा पृथ्वीनिमित्त का ग्रहण करना चाहिये; अर्थात् पृथ्वीमण्डल की ओर बार-बार देखकर चक्षुर्निमीलन द्वारा पृथ्वीनिमित्त को मन में अच्छी तरह धारण करना चाहिये, जिसमें पुनरवलोकन के क्षण में ही वह निमित्त उपस्थित हो जाय।

जो पुण्यवान् है और जिसने पूर्वजन्म में श्रमण-धर्म का पालन करते हुए पृथ्वीकसिण नाम कर्मस्थान की भावना कर ध्यानों का उत्पाद किया है, उसके लिये कृत्रिम पृथ्वी-मण्डल के उत्पाद की आवश्यकता नहीं है। वह चलमण्डलादिक प्राकृतिक पृथ्वी-मण्डल में ही निमित्त का ग्रहण कर लेता है। पर जिसको ऐसा अधिकार प्राप्त नहीं है, उसे चार कसिण दोषों का परिहार करते हुए कृत्रिम पृथ्वी-मण्डल बनाना चाहिये। नील, पीत, लोहित, और अवदात (श्वेत) के संसर्गवश पृथ्वी-कसिण में दोष प्राप्त हो जाते हैं। नीलादि वर्ण दस कसिणों में परिगणित हैं। इनके संसर्ग से शुद्ध पृथ्वी-कसिण का उत्पाद नहीं होता। इसीलिये इन वर्णों की मृत्तिका का परित्याग बताया गया है। अतः पृथ्वी-मण्डल बनाते समय नीलादि वर्ण की मृत्तिका का ग्रहण न कर गङ्गा नदी की अरुण वर्ण की मृत्तिका काम में लानी चाहिये।

बिहार में जहाँ श्रामणेर आदि आते-जाते हों वहाँ मण्डल न बनाना चाहिये। विहार के प्रत्यन्त में, प्रच्छन्न स्थान में, गुहा या पर्णशाला में, पृथ्वी-मण्डल बनाना चाहिये। यह मण्डल दो प्रकार होता है—१. चल (संहारिम=चलनयोग्य) और २. अचल (तत्रट्ठक)। चार दण्डों में कपड़ा चमड़ा या चटाई बाँधकर उसमें साफ की हुई मिट्टी का नियत प्रमाण का वृत्त (वर्तुल) लीप देने से चल-मण्डल बनता है। भावना के समय यह भूमि पर फैला दिया जाता है। पद्मकर्णिका के आकार में स्थाणु गाड़कर लताओं से उसे वेष्टित कर देने से अचलमण्डल बनता है। यदि अरुण वर्ण की मृत्तिका पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न हो सके तो अधोभाग में दूसरी तरह की मिट्टी डालकर ऊपर के भाग में सुपरिशुद्ध अरुण वर्ण की मृत्तिका का एक बालिश्त चार अंगुल के विस्तार का वृत्त बनना चाहिये।

प्रमाण के सम्बन्ध में कहा गया है कि वृत्त शूर्पमात्र हो अथवा शरावमात्र। कुछ लोगों के मत में इन दोनों का सम प्रमाण है, पर कुछ का कहना है कि शराव (=प्याला) एक बालिश्त चार अंगुल का होता है और शूर्प का प्रमाण इससे अधिक है। इनके मत में वृत्त को शराव से कम और शूर्प से अधिक प्रमाण का न होना चाहिये। इस वृत्त को पत्थर से घिसकर भेरि-तल के सदृश सम करना चाहिये। स्थान साफ कर और स्नान कर मण्डल से ढाई हाथ की दूरी पर एक बालिश्त चार अङ्गुल ऊँचे पैरोंवाले पीढ़े पर बैठना चाहिये। इससे अधिक अन्तराल पर बैठने से मण्डल नहीं दिखायी देगा और यदि इससे नीचे आसन पर बैठा जाय तो घुटने दर्द करने लगेंगे। इसलिये उक्त प्रकार के आसन पर ही बैठना चाहिये।

काम का दोष देखकर और ध्यान के लाभ को ही सब दुःखों के अतिक्रमण का उपाय निश्चित कर नैष्कर्म्य के लिये प्रीति उत्पन्न करनी चाहिये। ''बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध और आर्यश्रावकों

ने इसी मार्ग का अनुसरण किया है। मैं भी इसी मार्ग का अनुगामी हो एकान्त-सेवन के सुख का आस्वाद करूँगा" ऐसा विचार कर उसे योग-साधन के लिये उत्साह पैदा करना चाहिये। और सम आकार से चक्षु का उन्मीलन कर निमित्त-ग्रहण (=उग्गहनिमित्त) की भावना करनी चाहिये। जिस प्रकार अतिसूक्ष्म और अतिभास्वर रूप के ध्यान से आँखें थक जाती हैं उसी प्रकार अति उन्मीलन से भी आँखें थक जाती हैं और मण्डल का रूप भी अत्यन्त प्रकट हो जाता है अर्थात् उसके स्वभाव का अत्यन्त आविर्भाव होता है; तथा उसके वर्ण और लक्षण अधिक स्पष्ट हो जाते हैं और इस प्रकार निमित्त का ग्रहण नहीं होता। मन्द उन्मीलन से मण्डल का रूप दिखायी नहीं दता और दर्शन के कार्य में चित्त का व्यापार मन्द हो जाता है; इसलिये निमित्त का ग्रहण नहीं होता। अतः सम आकार से ही चक्षु का उन्मीलन करना चाहिये।

पृथ्वी-कसिण के अरुण वर्ण का चिन्तन और पृथ्वी-धातु के लक्षण का ग्रहण न करना चाहिये। यद्यपि वर्ण का चिन्तन निषिद्ध है, तथापि पृथ्वीधातु की उत्सन्नतावश वर्णसहित पृथ्वी की भावना एक प्रज्ञप्ति के रूप में करनी चाहिये। इस प्रकार प्रज्ञप्तिमात्र में चित्त की प्रतिष्ठा करनी चाहिये। लोक में सम्भारसहित पृथ्वी को 'पृथ्वी' कहते हैं। पृथ्वी, मही, मेदिनी, भूमि, वसुधा, वसुन्धरा आदि पृथ्वी के नामों में से जो नाम साधक को रुचिकर हो, उस नाम का उच्चारण कर भावना करना अच्छा है। कभी आँख खोलकर, कभी आँख मूँदकर, निमित्त का ध्यान करना चाहिये। जब भावनावश आँखें मूँदने पर उसी तरह जैसा आँख खोलने पर निमित्त का दर्शन हो, तब समझना चाहिये कि निमित्त का उत्पाद हुआ हैं। निमित्तोत्पाद के बाद उस स्थान पर नहीं बैठना चाहिये। अपने निवास-स्थान में बैठकर भावना करनी चाहिये। यदि किसी अनुपयुक्त कारणवश इस तरुण समाधि का नाश हो जाय तो शीघ्र उस स्थान पर जाकर निमित्त का ग्रहण कर अपने वास-स्थान पर लौट आना चाहिये और बहुलता के साथ इस भावना का आसेवन और बार बार चित्त में निमित्त की प्रतिष्ठा करनी चाहिये। ऐसा करने से क्रमपूर्वक नीवरण अर्थात् अन्तरायों का नाश और क्लेशों का उपशम होता है।

भावना-क्रम से जब श्रद्धा आदि इन्द्रियाँ सुविशद और तीक्ष्ण हो जाती हैं तब कामादि दोष का लोप होता है और उपचार-समाधि में चित्त समाहित हो प्रतिभाग-निमित्त का प्रादुर्भाव होता है। प्रतिभाग-निमित्त, उद्ग्रह-निमित्त (=उग्गहनिमित्त) से कई गुना अधिक सुपरिशुद्ध होता है। उद्ग्रह-निमित्त में कसिण-दोष (जैसे अंगुली की छाप) दिखलायी पड़ते हैं; पर प्रतिभाग-निमित्त भास्वर और स्वच्छ होकर निकलता है। प्रतिभाग-निमित्त वर्ण और आकार (संस्थान) से रहित होता है। यह चक्षु द्वारा ज्ञेय नहीं है, यह स्थूल पदार्थ नहीं है और अनित्यता आदि लक्षणों से अङ्कित नहीं है। केवल समाधि-लाभी को यह उपस्थित होता है और भावना-संज्ञा से इसका उत्पाद होता है। इसकी उत्पत्ति के समय से ही अन्तरायों का नाश और क्लेशों का उपशम होता है तथा चित्त उपचार-समाधि द्वारा समाहित होता है।

प्रतिभाग-निमित्त का उत्पाद अतिदुष्कर है। इस निमित्तकी रक्षा बहुत प्रयत्न के साथ करनी चाहिये; क्योंकि ध्यान का यही आलम्बन है। निमित्त के विनष्ट होने से लब्ध ध्यान भी नष्ट हो जाता है। उपचार-समाधि के बलवान् होने से ध्यान के अधिगम की अवस्था अर्थात् अर्पणा समाधि उत्पन्न होती है। उस अवस्था में ध्यान के अङ्गों का प्रादुर्भाव होता है। उपयुक्त के आसेवन और अनुपयुक्त के परित्याग से निमित्त की रक्षा और अर्पणा समाधि का लाभ होता है। जिस आवास में निमित्त उत्पन्न और स्थिर होता है, जहाँ स्मृति का सम्प्रमोष नहीं होता और

चित्त एकाग्र होता है; उसी आवास में साधक को निवास करना चाहिये। जो गोचर, ग्राम, आवास के समीप हो और जहाँ भिक्षा सुलभ हो वही उपयुक्त है। साधक के लिये लौकिक कथा अनुपयुक्त है। इससे निमित्त का लोप होता है। साधक को ऐसे पुरुष का सङ्ग न करना चाहिये जो लौकिक कथा कहे; क्योंकि इससे समाधि में बाधा उपस्थित होती है और जो प्राप्त किया है वह भी नष्ट हो जाता है। उपयुक्त भोजन, ऋतु और ईर्यापथ (=वृत्ति) का आसेवन करना चाहिये, ऐसा करने से तथा बहुलता के साथ निमित्त का आसेवन करने से शीघ्र ही अर्पणा-समाधि का लाभ होता है।

पर यदि इस विधि से भी अर्पणा का उत्पाद न हो तो निम्नलिखित दश प्रकार से अर्पणा में कुशलता प्राप्त होती है:—

१. **शरीर तथा चीवर आदि का शुद्धता से।** यदि केश-नख बड़े हों, शरीर से दुर्गन्ध आती हो, चीवर जीर्ण तथा क्लिष्ट और आसन मैला हो तो चित्त तथा चैतसिक-धर्म भी अपरिशुद्ध होते हैं; ज्ञान भी अपरिशुद्ध होता है, समाधि भावना दुर्बल और क्षीण हो जाती है; कर्मस्थान भी प्रगुण भाव को नहीं प्राप्त होता और इस प्रकार अङ्गों का प्रादुर्भाव नहीं होता। इसलिये शरीर तथा चीवर आदि को विशद तथा परिशुद्ध रखना चाहिये जिसमें चित्त सुखी हो और एकाग्र हो।

२. **श्रद्धादि इन्द्रियों के समभाव प्रतिपादन से।** श्रद्धादि (श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा) इन्द्रियों में से यदि कोई एक इन्द्रिय बलवान् हो तो इतर इन्द्रियाँ अपने कृत्य में असमर्थ हो जाती हैं। जिसमें श्रद्धा का आधिक्य होता है और प्रज्ञा मन्द होती है, वह अवस्तु में श्रद्धा करता है; जिसकी प्रज्ञा बलवती होती है और श्रद्धा मन्द होती है वह शठता का पक्ष ग्रहण करता है और उसका चित्त शुष्क तर्क से विलुप्त होता है। श्रद्धा और प्रज्ञा का अन्योन्यविरह अनर्थावह है। इसलिये इन दोनों इन्द्रियों का समभाव इष्ट है। दोनों की समता से ही अर्पणा होती है। इसी प्रकार वीर्य और समाधि का भी समभाव इष्ट है। समाधि यदि प्रबल हो और वीर्य मन्द हो तो आलस्य अभिभूत करता है; क्योंकि समाधि आलस्यपाक्षिक है। यदि वीर्य प्रबल हो और समाधि मन्द हो तो चित्त की भ्रान्तता या विक्षेप अभिभूत करता है; क्योंकि वीर्य विक्षेप-पाक्षिक है। किसी एक इन्द्रिय की सातिशय प्रवृत्ति होने से अन्य इन्द्रियों का व्यापार मन्द हो जाता है। इसलिये अर्पणा की सिद्धि के लिये इन्द्रियों की एकरसता अभीष्ट है। किन्तु शमथयानिक को बलवती श्रद्धा भी चाहिये। विना श्रद्धा के अर्पणा का लाभ नहीं हो सकता। यदि वह यह सोचे कि केवल पृथ्वी-पृथ्वी इस प्रकार चिन्तन करने से कैसे ध्यान की उत्पत्ति होगी तो अर्पणा-समाधि का लाभ नहीं हो सकता। उसको भगवान् की बतायी हुई विधि की सफलता पर विश्वास होना चाहिये। बलवती स्मृति तो सर्वत्र अभीष्ट है; क्योंकि चित्त स्मृति-परायण है और इसलिये विना स्मृति के चित्त का निग्रह नहीं होता।

३. **निमित्त कौशल से** अर्थात् लब्ध-निमित्त की रक्षा में कुशल और दक्ष होने से।

४. **जिस समय चित्त का प्रग्रह करना हो उस समय चित्त का प्रग्रह करने से।**

जिस समय वीर्य, प्रामोद्य आदि की शिथिलता से भावना-चित्त सङ्कुचित होता है, उस समय प्रश्रब्धि (काय और चित्त की शान्ति), समाधि और उपेक्षा इन बोध्यङ्गों की भावना उपयुक्त नहीं हैं, क्योंकि इनसे संकुचित चित्त का उत्थान नहीं होता। जिस समय चित्त संकुचित हो उस समय धर्मविचय, (प्रज्ञा), वीर्य (उत्साह) और प्रीति इन बोध्यङ्गों की भावना करनी

चाहिये। इनसे मन्द-चित्त का उत्थान होता है। कुशल और अकुशल के स्वभाव तथा सामान्य लक्षणों के यथार्थ अवबोध से धर्मविचय की भावना होती है। आलस्य के परित्याग से अभ्यासवश कुशल-क्रिया का आरम्भ वीर्यसञ्चय और प्रतिपक्ष धर्मों के विध्वंसन की पटुता प्राप्त होती है। प्रीतिसम्प्रयुक्त धर्मों का निरन्तर चिन्तन करने से प्रीति का उत्पाद और वृद्धि होती है।

परिप्रश्न, शरीरादि की शुद्धता, इन्द्रिय-समभाव-करण, मन्दबुद्धिवालों के परिवर्जन, प्रज्ञावान् के आसेवन, स्कन्ध, आयतन, धातु, चार आर्यसत्य, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि गम्भीर ज्ञानकथा की प्रत्यवेक्षा तथा प्रज्ञापरायणता से धर्मविचय का उत्पाद होता है।

दुर्गति आदि दुःखावस्था की भीषणता का विचार करने से, इस विचार से कि लौकिक अथवा लोकोत्तर में जो कुछ विशेषता है उसकी प्रीति वीर्य के अधीन, इस विचार से कि आलसी पुरुष बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध, महाश्रावकों के मार्ग का अनुगामी नहीं हो सकता, शास्ता के महत्त्व का चिन्तन करने से (शास्ता ने हमारे साथ बहुत उपकार किया है, शास्ता के शासन का अतिक्रमण नहीं हो सकता, वीर्यारम्भ (=कुशलोत्साह) की शास्ता ने प्रशंसा की है), धर्मदायाद्य के महत्त्व का चिन्तन करने से (मुझे धर्म का दायाद होना चाहिये, आलसी पुरुष धर्म का दायाद नहीं हो सकता), आलोक-संज्ञा के चिन्तन से, ईर्यापथ के परिवर्तन और खुली जगह रहने से, आलस्य और अकर्मण्यता का परित्याग करने से, आलसियों के परिवर्जन और वीर्यवान् के आसेवन से, व्यायाम (=उद्योग) के चिन्तन से तथा वीर्यपरायण होने से वीर्य का उत्पाद होता है।

बुद्ध, धर्म, सङ्घ शील, त्याग (=दान), देवता और उपशम के निरन्तर स्मरण से, बुद्धादि में जो स्नेह और प्रासाद नहीं रखता उसके परिवर्जन तथा बुद्ध में जो स्निग्ध है उसके आसेवन से, सम्पसादनीय सुत्त के चिन्तन तथा प्रीति-परायण होने से प्रीति का उत्पाद होता है।

५. जिस समय चित्त का निग्रह करना हो उस समय चित्त का निग्रह करने से।

जिस समय वीर्य, संवेग, (=वैराग्य), प्रामोद्य के अतिरेक से चित्त उद्धत और अनवस्थित होता है उस समय धर्मविचय, वीर्य और प्रीति की भावना अनुपयुक्त है, क्योंकि इनसे उद्धत-चित्त का समाधान नहीं हो सकता। ऐसे समय प्रश्रब्धि, समाधि और उपेक्षा इन बोध्यङ्गों की भावना करनी चाहिये।

काय और चित्त की शान्ति का निरन्तर चिन्तन करने से प्रश्रब्धि की भावना, शमथ और अव्यग्रता का निरन्तर चिन्तन करने से समाधि की भावना और उपेक्षासम्प्रयुक्त धर्मों का निरन्तर चिन्तन करने से उपेक्षा की भावना होती है।

प्रणीत भोजन, अच्छी ऋतु, उपयुक्त ईर्यापथ के आसेवन से, उदासीन वृत्ति से, क्रोधी पुरुष के परित्याग और शान्तचित्त पुरुष के आसेवन से तथा प्रश्रब्धि-परायण होने से प्रश्रब्धि का उत्पाद होता है।

शरीरादि की शुद्धता से, निमित्तकुशलता से, इन्द्रिय-समभाव-कारण से, समय-समय पर चित्त के प्रग्रह (=लीन चित्त का उत्थान) और निग्रह (=उद्धत चित्त का समाधान) करने से, श्रद्धा और संवेग (=वैराग्य) द्वारा उपशम-सुख-रहित चित्त का संतर्पण करने से प्रग्रह-निग्रह-सन्तर्पण के विषय में सम्यक्प्रवृत्त भावना-चित्त की विरक्तता से, असमाहित पुरुष के परित्याग और समाहित पुरुष के आसेवन से, ध्यानों की भावना, उत्पाद, अधिष्ठान (=अवस्थिति) व्युत्थान, संक्लेश और व्यवदान (=विशुद्धता) के चिन्तन से तथा समाधिपरायण होने से समाधि का उत्पाद होता है।

जीवों और संस्कारों के प्रति उपेक्षा-भाव, ऐसे लोगों का परित्याग जिनको जीव और संस्कार प्रिय हैं, ऐसे लोगों का आसेवन जो जीव और संस्कारों के प्रति उपेक्षा भाव रखते हैं तथा उपेक्षापरायणता से उपेक्षा का उत्पाद होता है।

६. जिस समय चित्त का सम्प्रहर्षण (=सन्तर्पण) करना चाहिये उस समय चित्तके सम्प्रहर्षण से। जब प्रज्ञाव्यापार के अल्पभाव के कारण या उपशम-सुख के अलाभ के कारण चित्त का तर्पण नहीं होता तब आठ संवेगों द्वारा संवेग-उत्पन्न करना चाहिये। जन्म, जरा, व्याधि, मरण, अपाय दु:ख, अतीत में जिस दु:ख का मूल हो, अनागत में जिस दु:ख का मूल हो और वर्तमान में आहारपर्येषण का दु:ख—ये आठ संवेग-वस्तु हैं। बुद्ध, धर्म और सङ्घ के गुणों के अनुस्मरण से चित्त का सम्प्रसाद होता है।

७. जिस समय चित्त का उपेक्षा भाव होना चाहिये उस समय चित्त की उदासीन-वृत्ति से। जब भावना करते हुए योगी के चित्त का व्यापार मन्द नहीं होता, चित्त का विक्षेप नहीं होता, चित्त को उपशम-सुख का लाभ होता है, आलम्बन में चित्त की सम प्रवृत्ति होती है और शमथ के मार्ग में चित्त का आरोहण होता है; तब प्रग्रह, निग्रह और सम्प्रहर्षण के विषय में चित्त की उदासीन वृत्ति होती है।

८. ऐसे लोगों के परित्याग से जो अनेक कार्यों में व्यापृत रहते हैं, जिनका हृदय विक्षिप्त है और जो ध्यान के मार्ग में कभी प्रवृत्त नहीं हुए हैं।

९. समाधि-लाभी पुरुषों के आसेवन से।

१०. समाधि-परायण होने से।

उक्त दस प्रकार से अर्पणा में कुशलता प्राप्त की जाती है।

आलस्य और चित्तविक्षेप का निवारण कर जो योगी सम प्रयोग से भावनचित्त को प्रतिभाग-निमित्त में स्थिर करता है वह अर्पणा-समाधि का लाभ करता है। चित्त के लीन और उद्धत भावों का परित्याग कर निमित्त की ओर चित्त को प्रवृत्त करना चाहिये।

जब योगी चित्त को निमित्त की तरफ प्रेरित करता है तब चित्त-द्वार भावना के बल से उपस्थित उसी पृथ्वीमण्डलरूपी आलम्बन को अपनी ओर आकृष्ट करता है। उस समय उस आलम्बन में चार या पाँच चेतनाएँ (जवन) उत्पन्न होती हैं। इनमें से अन्तिम रूपावचर-भूमि की है; शेष तीन या चार चेतनाएँ काम-धातु की हैं। प्राकृतिक चित्त की अपेक्षा इन तीन या चार चेतनाओं के वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता आदि भावना के बल से पटुतर होते हैं। इन्हें 'परिकर्म' (परिकम्म) कहते हैं। क्योंकि ये चेतनाएँ अर्पणा की प्रतिसंस्कारक हैं। अर्पणा का समीपवर्ती होने से इन्हें 'उपचार' भी कहते हैं। अर्पणा के अनुलोम होने से इनकी 'अनुलोम' संज्ञा भी है। तीसरी या चौथी चेतना गोत्रभू कहलाती है। यह चेतना (=जवन) काम-तृष्णा के विषयों के विशेष रूप और अनुत्तर धर्मों के साम्परायिक रूप की सीमा पर स्थित है। इस प्रकार में ये सब संज्ञाएँ सामान्य रूप से सब जवनों की हैं। यदि विशेषता के साथ कहा जाय तो पहला जवन 'परिकर्म', दूसरा 'उपचार', तीसरा 'अनुलोम', चौथा 'गोत्रभू', या पहला 'उपचार', दूसरा 'अनुलोम', तीसरा 'गोत्रभू', और चौथा या पाँचवाँ 'अर्पणा' है। जिसकी बुद्धि प्रखर है उसकी चौथे जवन में अर्पणा की सिद्धि होती है; पर जिसकी बुद्धि मन्द है उसको पाँचवें जवन में अर्पणा-चित्त का लाभ होता है। चौथे या पाँचवें जवन में ही अर्पणा की सिद्धि होती है। तत्पश्चात् चेतना भवाङ्ग में अवतीर्ण होती है। अर्पणा का काल-परिच्छेद

एक चित्त-क्षण है, तदनन्तर भवाङ्ग में पात होता है। पीछे भवाङ्ग का उपच्छेद कर ध्यान की प्रत्यवेक्षा के लिये चित्तावर्जन होता है; तत्पश्चात् ध्यान की परीक्षा होती है।

काम और अकुशल के परित्याग से ही प्रथम ध्यान का लाभ होता है, यह प्रथम ध्यान के प्रतिपक्ष हैं। प्रथम ध्यान में विशेष कर काम-धातु का अतिक्रमण होता है। काम से 'वस्तुकाम' का आशय है। जो वस्तु (जैसे, प्रिय-मनोरम-रूप) काम का उद्दीपन करे वह वस्तुकाम है, किसी वस्तु के लिये अभिलाष, राग तथा लोभ के प्रभेद 'क्लेशकाम' कहलाते हैं। अकुशल से क्लेशकाम तथा अन्य अकुशल का आशय है। काम के परित्याग से कार्य-विवेक और अकुशल के विवर्जन से चित्त-विवेक सूचित होता है। पहले से तृष्णा आदि क्लेश के विषय का परित्याग और दूसरे से क्लेश का परित्याग सूचित होता है। पहले से काम-सुख का परित्याग और दूसरे से ध्यान-सुख का परिग्रह प्रकाशित होता है। पहले से चपल भाव के हेतु का परित्याग और दूसरे से अविद्या का परित्याग; पहले से प्रयोग-शुद्धि (प्राणातिपातादि अशुद्ध प्रयोग का परित्याग) और दूसरे से अध्याशय की शुद्धि सूचित होती है।

यद्यपि अकुशल धर्मों में दृष्टि, मान आदि पाप भी संगृहीत हैं; तथापि यहाँ केवल उन्हीं अकुशल धर्मों से तात्पर्य है जो ध्यान के अङ्गों के विरोधी हैं। यहाँ अकुशल धर्मों से पाँच नीवरणों से ही आशय है। ध्यान के अङ्ग इनके प्रतिपक्ष हैं और इनका विघात करते हैं। समाधि कामच्छन्द (अभिलाष, लोभ, तृष्णा) का प्रतिपक्ष है, प्रीति व्यापाद (हिंसा) का प्रतिपक्ष है, वितर्क का स्त्यान (आलस्य, अकर्मण्यता) प्रतिपक्ष है; सुख का औद्धत्य-कौकृत्य (अनवस्थितता, खेद) और विचार का विचिकित्सा प्रतिपक्ष है। इस प्रकार काम के विवेक से कामच्छन्द का विष्कम्भन और अकुशल धर्मों के विवेक से शेष चार नीवरणों का विष्कम्भन होता है। पहले से लोभ (अकुशल-मूल) और दूसरे से द्वेष-मोह, पहले से तृष्णा तथा तत्सम्प्रयुक्त अवस्था, दूसरे से अविद्या तथा तत्सम्प्रयुक्त अवस्था का परित्याग सूचित होता है।

ये पाँच नीवरण प्रथम-ध्यान के प्रहाण-अङ्ग हैं। जब तक इनका विष्कम्भन नहीं होता तब तक ध्यान का उत्पाद नहीं होता। ध्यान के क्षण में अन्य अकुशल धर्मों का भी प्रहाण होता है; तथापि नीवरण ध्यान में विशेष रूप से अन्तराय उपस्थित करते हैं। इन पाँच नीवरणों का परित्याग कर प्रथम ध्यान वितर्क, विचार, प्रीति, सुख, और समाधि इन पाँच अङ्गों से समन्वागत होता है।

आलम्बन के विषय में यह कल्पना कि यह ऐसा है 'वितर्क' कहलाता है। अथवा आलम्बन के समीप चित्त का आनयन आलम्बन में चित्त का प्रथम प्रवेश 'वितर्क' कहलाता है। आलम्बन में चित्त की अविच्छिन्न-प्रवृत्ति 'विचार' है, वितर्क विचार का पूर्वगामी है। वितर्क चित्त का प्रथम अभिनिपात है। घण्टे के अभिघात से जो शब्द उत्पन्न होता है वह वितर्क के समान है। इसका जो अनुरव होता है वह विचार के समान है। जिस प्रकार आकाश में उड़ने की इच्छा करनेवाला पक्षी पक्ष-विक्षेप करता है, इसी प्रकार वितर्क की प्रथमोत्पत्ति के काल में विचार की वृत्ति शान्त होती है; उसमें चित्त का अधिक परिस्पन्दन नहीं होता। विचार आकाश में उड़ते हुए पक्षी के पक्ष-प्रसारण या कमल के ऊपरी भाग पर भ्रमर के परिभ्रमण के समान है।

काय और चित्त के तर्पण, परितोषण को 'प्रीति' कहते हैं। प्रीति प्रणीत रूप से काम में व्याप्त होती है और इसका उत्कृष्ट-भाव होता है। 'प्रीति' पाँच प्रकार की है—१. क्षुद्रिका प्रीति, २. क्षणिका प्रीति, ३. अवक्रान्तिका प्रीति, ४. उद्वेगा प्रीति, ५. स्फरणा प्रीति। क्षुद्रिका प्रीति शरीर

को केवल रोमाञ्चित कर सकती है। क्षणिका प्रीति क्षण क्षण पर होनेवाले विद्युत्पात के समान होती है। जिस प्रकार समुद्रतट पर लहरें टकराती हैं उसी प्रकार अवक्रान्तिका प्रीति शरीर को अवक्रान्त कर भिन्न हो जाती है। उद्वेगा प्रीति बलवती होती है। स्फरणा प्रीति निश्चला और चिरस्थायिनी होती है। यह सकल शरीर को व्याप्त करती है। यह पाँच प्रकार की प्रीति परिपक्व हो, काय और चित्त-प्रश्रब्धि (चित्तशान्ति) को सम्पन्न करती है। प्रश्रब्धि परिपाक को प्राप्त हो कायिक और चैतसिक सुख को सम्पन्न करती है। सुख परिपक्व हो समाधि का परिपूरण करता है। स्फरणा प्रीति ही अर्पणा-समाधि का मूल है। यह प्रीति अनुक्रम से वृद्धि को पाकर अर्पणा-समाधि से सम्प्रयुक्त होती है। यहाँ यही प्रीति अभिप्रेत है। 'सुख' काय और चित्त की बाधा को नष्ट करता है। सुख से सम्प्रयुक्त धर्मों की अभिवृद्धि होती है।

वितर्क चित्त को आलम्बन के समीप ले जाता है। विचार से आलम्बन में चित्त की अविच्छिन्न प्रवृत्ति होती है। वितर्क-विचार से चित्त-समाधान के लिये भावना-प्रयोग सम्पादित होता है। प्रीति से चित्त का तर्पण और सुख से चित्त की वृद्धि होती है। तदनन्तर एकाग्रता अवशिष्ट स्पर्शादि धर्मों सहित चित्त को एक आलम्बन में सम्यक् और समरूप से प्रतिष्ठित करती है। प्रतिपक्ष धर्मों के परित्याग से चित्त का लीन और उद्धत भाव दूर हो जाता है। इस प्रकार चित्त का सम्यक् और सम आधान होता है। ध्यान के क्षण में एकाग्रता-वश चित्त सातिशय समाहित होता है।

इन पाँच अङ्गों का जब तक प्रादुर्भाव नहीं होता तब तक प्रथम ध्यान का लाभ नहीं होता। यह पाँच अङ्ग उपचार-क्षण में भी रहते हैं पर अर्पणा-समाधि में पटुतर हो जाते हैं; क्योंकि उस क्षण में यह रूप-धातु के लक्षण प्राप्त करते हैं। प्रथम ध्यान की त्रिविध कल्याणता है। *इसके आदि, मध्य, और अन्त तीनों कल्याण के करने वाले हैं। प्रथम ध्यान दस लक्षणों से* सम्पन्न है। ध्यान के उत्पाद-क्षण में भावना-क्रम के पूर्व भाग की (अर्थात् गोत्रभू तक) विशुद्धि होती है। यह ध्यान की आदि-कल्याणता है। इसके तीन लक्षण हैं—नीवरणों के विष्कम्भन से चित्त की विशुद्धि, चित्त की विशुद्धि से मध्यम शमथ-निमित्त का अभ्यास और इस अभ्यासवश उक्त निमित्त में चित्त का अनुप्रवेश। स्थिति-क्षण में उपेक्षा की अभिवृद्धि विशेष रूप से होती है। यह ध्यान की मध्य-कल्याणता हैं, यह तीनों लक्षणों से समन्वागत हैं—विशुद्ध चित्त की *उपेक्षा, शमथ की भावना में रत चित्त की उपेक्षा और एक आलम्बन में सम्यक् समाहित चित्त* की उपेक्षा। ध्यान के अवसान में प्रीति का लाभ होता है, अवसान-क्षण में कार्य निष्पन्न होने से धर्मों के अनतिवर्तनादिसाधक ज्ञान की परिशुद्धि प्रकट होती है। इसके चार लक्षण हैं—१. जातधर्म एक दूसरे को अतिक्रान्त नहीं करते; २. इन्द्रियों (पाँच मानसिक शक्तियों) की एक एक सत्ता होती है; ३. साधक इनका उपकारक वीर्य धारण करता है; ४. और वह इनका आसेवन करता है।

जिस क्षण में अर्पणा का उत्पाद होता है, उसी क्षण में अन्तराय उपस्थित करने वाले क्लेशों से चित्त विशुद्ध होता है। 'परिकर्म' की विशुद्धि से अर्पणा की सातिशय विशुद्धि होती है, जब तक चित्त का आवरण दूर नहीं होता तब तक मध्यम शमथनिमित्त का अभ्यास नहीं हो सकता। लीन और उद्धतभाव इन दो अन्तों का परित्याग करने से इसे मध्यम कहते हैं। विरोधी धर्मों का विशेष रूप से उपशम करने से शमथ और साधक के सुखविशेष का कारण होने से यह निमित्त कहलाता है। यह मध्यम शमथनिमित्त लीन और उद्धतभाव से रहित अर्पणासमाधि ही

है। तदनन्तर गोत्रभू-चित्त एकत्वनय से अर्पणा समाधिवश समाहित-भाव को प्राप्त होता है, और इस निमित्त का अभ्यास करता है। अभ्यासवश समाहित-भाव की प्राप्ति से निमित्त में चित्त अनुप्रविष्ट होता है। इस प्रकार प्रतिपद्विशुद्धि गोत्रभू-चित्त में इन तीन लक्षणों को निष्पन्न करती है। एक बार विशुद्ध हो जाने से साधक फिर विशोधन की चेष्टा नहीं करता और इस प्रकार यह विशुद्ध चित्त को उपेक्षा-भाव से देखता है।

शमथ के अभ्यास-वश शमथ भाव को प्राप्त होने के कारण साधक समाधान की चेष्टा नहीं करता और शमथ की भावना में रत चित्त की उपेक्षा करता है। शमथ के अभ्यास और क्लेश के प्रहाण से चित्त सम्यक् रूप से एक आलम्बन में समाहित होता है। साधक समाहित चित्त की उपेक्षा करता है। इस प्रकार उपेक्षा की वृद्धि होती है। उपेक्षा की वृद्धि से ध्यान-चित्त में उत्पन्न एकाग्रता और प्रज्ञा एक दूसरे को अतिक्रान्त किये विना प्रवृत्त होती हैं, श्रद्धा आदि इन्द्रियाँ (मानसिक शक्ति) नाना क्लेशों से विनिर्मुक्त हो विमुक्ति-रस से एकरसता को प्राप्त होती हैं, साधक इन अवस्थाओं के अनुकूल वीर्य प्रवृत्त करता है। स्थिति क्षण से आरम्भ कर ध्यान-चित्त की आसेवना प्रवृत्त होती है। ये सब अवस्थाएँ इस कारण निष्पन्न होती हैं; क्योंकि ज्ञान द्वारा इस बात की प्रतीति होती है कि समाधि और प्रज्ञा की समरसता न होने से भावना संक्लिष्ट होती है और इनकी समरसता से विशुद्ध होती है।

इस विशोधक ज्ञान-कार्य के निष्पन्न होने से चित्त का परितोष होता है। उपेक्षावश ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है, प्रज्ञा द्वारा अर्पणा प्रज्ञा की व्यापारबहुलता होती है। उपेक्षावश नीवरण आदि नाना क्लेशों से चित्त विमुक्त होता है। इस विशुद्धि से और पूर्व प्रवृत्त प्रज्ञावश प्रज्ञा की बहुलता होती है और श्रद्धा आदि धर्मों का व्यापार समान हो जाता है। इस एकरसता से भावना निष्पन्न होती है। यह ज्ञान का व्यापार है। इसलिये ज्ञान के व्यापार से चित्त-परितोषण की सिद्धि होती है।

प्रथम ध्यान के अधिगत होने पर यह देखना चाहिये कि किस प्रकार के आवास में रहकर किस प्रकार का भोजन कर और किस ईर्यापथ में विहार कर चित्त समाहित हुआ था। समाधि के नष्ट होने पर उपयुक्त अवस्थाओं को सम्पन्न करने से साधक बार-बार अर्पणा का लाभी हो सकता है। इससे अर्पणा का लाभमात्र होता है, वह चिरस्थायिनी नहीं होती।

समाधि के अन्तरायों और विरोधी धर्मों के सम्यक्-प्रहाण से ही अर्पणा की चिर-स्थिति होती है। उपचार-क्षण में इनका प्रहाण होता है पर अर्पणा की चिर स्थिति के लिये अत्यन्त प्रहाण की आवश्यकता है। कामादि का दोष और नैष्कर्म्य को गुण चखकर लोभ-राग का भली प्रकार प्रहाण किये विना, काय-प्रश्रब्धि द्वारा कायक्लमथ को अच्छी तरह शान्त किये विना, वीर्य द्वारा आलस्य और अकर्मण्यता का अच्छी तरह परित्याग किये विना, शमथ, निमित्त की भावना द्वारा खेद और चित्त की अनवस्थितता का उन्मूलन किये बिना, तथा समाधि के अन्य अन्तरायों का उपशम किये विना जो साधक ध्यान सम्पादित करता है, उसका ध्यान शीघ्र ही भिन्न हो जाता है। पर जो साधक समाधि के अनतरायों का अत्यन्त प्रहाण कर ध्यान सम्पादित करता है वह दिन भर समाधि में रत रह सकता है। इसलिये जो साधक अर्पणा की चिरस्थिति चाहता है उसे अन्तरायों का अत्यन्त प्रहाण करके ही ध्यान सम्पन्न करना चाहिये। समाधि-भावना के विपुलभाव के लिये लब्ध प्रतिभाग-निमित्त की वृद्धि करनी चाहिये। जिस प्रकार भावना द्वारा ही निमित्त की उत्पत्ति होती है; उसी प्रकार भावना द्वारा उसकी वृद्धि भी होती है।

इस प्रकार ध्यान-भावना भी वृद्धि को प्राप्त होती है। प्रतिभाग-निमित्त की वृद्धि के लिये दो भूमियाँ हैं—१. उपचार और २. अर्पणा। इन दो स्थानों में से एक में तो अवश्य ही इसकी वृद्धि करनी चाहिये।

प्रतिभाग-निमित्त की वृद्धि परिच्छिन्न रूप से ही करनी चाहिये। क्योंकि विना परिच्छेद के भावना की प्रवृत्ति नहीं होती। इसकी वृद्धि क्रमशः चक्रवालपर्यन्त की जा सकती है। जिस साधक ने पहले ध्यान का लाभ किया हो उसे प्रतिभाग-निमित्त का निरन्तर अभ्यास करना चाहिये; पर अधिक प्रत्यवेक्षा न करनी चाहिये। क्योंकि प्रत्यवेक्षा के आधिक्य से ध्यान के अङ्ग अतिविभूत ज्ञात होते हैं और प्रगुण-भाव को नहीं प्राप्त होते। इस प्रकार वे स्थूल और दुर्बल ध्यान के अङ्ग उत्तर-ध्यान के लिये उत्सुकता उत्पन्न नहीं करते। उद्योग करने पर भी साधक प्रथम ध्यान से च्युत होता है दूसरे ध्यान का लाभ नहीं करता। साधक को इसलिये पाँच प्रकार से प्रथम ध्यान पर आधिपत्य प्राप्त करना चाहिये। तभी द्वितीय ध्यान की प्राप्ति हो सकती है। पाँच प्रकार ये हैं—१. आवर्जन, २. सम, ३. अधिष्ठान, ४. व्युत्थान और ५. प्रत्यवेक्षण।

इष्ट देश और काल में ध्यान के प्रत्येक अङ्ग को इष्ट समय के लिये शीघ्र यथारुचि प्रवृत्त करने की सामर्थ्य आवर्जनवशिता कहलाती है। जिसकी आवर्जन-वशिता सिद्ध हो चुकी है वह जहाँ चाहे जब चाहे और जितनी देर तक चाहे प्रथम ध्यान के किसी अङ्ग को तत्काल प्रवृत्त कर सकता है। आवर्जनवशिता प्राप्त करने के लिये साधक को क्रमशः ध्यान के अङ्गों का आवर्जन करना चाहिये। जो साधक प्रथम ध्यान से उठकर पहले वितर्क का आवर्जन करता है और भवाङ्ग का उपच्छेद करता है; उसमें उत्पन्न आवर्जन के बाद ही वितर्क को आलम्बन बनाकर चार या पाँच जीवन (चेतनाएँ) उत्पन्न होते हैं। तदनन्तर दो क्षण के लिये भवाङ्ग में पात होता है। तब विचार को आलम्बन बनाकर उक्त प्रकार से फिर जवन उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार साधक को ध्यान के पाँचों अङ्गों में चित्त को निरन्तर प्रेषित करने की शक्ति प्राप्त होती है।

अङ्गावर्जन के साथ ही ध्यानसमङ्गी होने की योग्यता एक या दस अङ्गुलिस्फोट (चुटकी) के काल तक वेग को रोक कर ध्यान की प्रतिष्ठा करने की शक्ति अधिष्ठानवशिता है। ध्यानसमङ्गी होकर ध्यान से उठने की सामर्थ्यव्युत्थान वशिता है यह व्युत्थान भवाङ्ग-चित्त की उत्पत्ति ही है। पूर्व परिकर्मवश इस प्रकार की शक्ति सम्पन्न करना कि, मैं इतने क्षण ध्यान-समङ्गी होकर ध्यान से व्युत्थान करूँगा, व्युत्थानवशिता है। वितर्क आदि ध्यान के अङ्गों के यथाक्रम आवर्जन के अनन्तर जो जवन प्रवृत्त होते हैं वे प्रत्येवक्षण के जवन हैं। इनके प्रत्यवेक्षण की शक्ति प्रत्यवेक्षण-वशिता है।

जो इन पाँच प्रकारों से प्रथम ध्यान में अभ्यस्त हो जाता है वह परिचित प्रथम ध्यान से उठकर यह विचारता है कि प्रथम ध्यान सदोष है। क्योंकि इसके वितर्क-विचार स्थूल हैं और इसलिए इसके अङ्ग दुर्बल और परिक्षीण (=ओळारिक) हैं। यह देख कर कि द्वितीय ध्यान की वृत्ति शान्त है और उसके प्रीति, सुख आदि शान्ततर और प्रणीतर हैं, उस द्वितीय ध्यान के अधिगम के लिये स्मृति-सम्प्रजन्यपूर्वक वह ध्यान के अङ्गों की प्रत्यवेक्षा करता है तो उसे ज्ञात होता है कि वितर्क-विचार स्थूल हैं और प्रीति, सुख और एकाग्रता शान्त हैं। वह स्थूल अङ्गों के प्रहाण तथा शान्त अङ्गों के प्रतिलाभ के लिये उसी पृथ्वी-निमित्त का बारम्बार ध्यान करता है। तब भवाङ्ग का उपच्छेद होकर चित्त का आवर्जन होता है। इससे यह सूचित होता है कि अब द्वितीय ध्यान सम्पादित होगा। उसी पृथ्वीकसिण में चार या पाँच जवन उत्पन्न होते हैं। केवल अन्तिम जवन रूपावचर दूसरे ध्यान का है।

द्वितीय ध्यान के पक्ष में वितर्क और विचार का अनुत्पाद होता है। इसलिये द्वितीय ध्यान वितर्क और विचार से रहित है। वितर्कसम्प्रयुक्त स्पर्श आदि धर्म द्वितीय ध्यान में रहते हैं; पर प्रथम ध्यान के स्पर्श आदि से भिन्न प्रकार के होते हैं। द्वितीय ध्यान के केवल तीन अङ्ग हैं— १. प्रीति, २. सुख, और ३. एकाग्रता द्वितीयध्यान 'सम्प्रसादन' है। अर्थात् श्रद्धायुक्त होने के कारण तथा वितर्क-विचार के क्षोभ के कारण यह चित्त को सुप्रसन्न करता है। सम्प्रसाद इस ध्यान का परिष्कार है। यह ध्यान वितर्क-विचार से अध्यारूढ न होने के कारण अग्र और श्रेष्ठ होकर ऊपर उठता है अर्थात् समाधि की वृद्धि करता है। इसलिये इसे 'एकोदिभाव' कहते हैं।

पहला ध्यान वितर्क-विचार के कारण क्षुब्ध और समाकुल होता है। इसलिये उसमें यथार्थ श्रद्धा होती है तथापि वह 'सम्प्रसादन' नहीं कहलाता। सुप्रसन्न न होने से प्रथम ध्यान की समाधि भी अच्छी तरह आविर्भूत नहीं होती। इसलिये उसका एकोदिभाव नहीं होता। किन्तु दूसरे ध्यान में वितर्क और विचार के अभाव से श्रद्धा अवकाश पाकर बलवती होती है और बलवती श्रद्धा की सहायता से समाधि भी अच्छी तरह आविर्भूत होती है।

द्वितीय ध्यान का भी उक्त पाँच प्रकार से अभ्यास करना चाहिये। द्वितीय ध्यान से उठ कर साधक विचार करता है कि द्वितीय ध्यान भी सदोष है; क्योंकि इसकी प्रीति स्थूल है और इसलिये इसके अङ्ग दुर्बल हैं। इस प्रीति के विषय में कहा है कि इसने परिग्रह में प्रेम का परित्याग नहीं किया और यह तृष्णासहगत होती है; क्योंकि इस प्रीति की प्रवृत्ति का आकार उद्वेगपूर्ण होता है। यह देख कर कि तृतीय ध्यान की वृत्ति शान्त है, तृतीय-ध्यान के लिये यत्नशील होना चाहिये। जब वह ध्यान के अङ्गों की प्रत्यवेक्षा करता है, तो उसे प्रीति स्थूल और सुख-एकाग्रता शान्त ज्ञात होते हैं। वह स्थूल अङ्ग के प्रहाण के लिये पृथ्वी-निमित्त का बारम्बार चिन्तन करता है। तब भवाङ्ग का उच्छेद हो चित्त का आवर्जन होता है। तदनन्तर उसी पृथ्वीकसिण आलम्बन में चार या पाँच जवन उत्पन्न होते हैं। इनमें केवल अन्तिम जवन रूपावचर तृतीय-ध्यान का है। तृतीय ध्यान के क्षण में प्रीति का अनुत्पाद होता है। इस ध्यान के दो अङ्ग हैं—१. सुख और २. एकाग्रता। उपेक्षा, स्मृति और सम्प्रजन्य इसके परिष्कार हैं।

प्रीति का अतिक्रमण करने से और विर्तक-विचार के उपशम से तृतीय ध्यान का लाभी उपेक्षाभाव रखता है, वह समदर्शी होता है अर्थात् पक्षपातरहित हो देखता है। इसकी समदर्शिता विशद, विपुल और स्थिर होती है। इस कारण तृतीय-ध्यान का लाभी उपेक्षक कहलाता है।

उपेक्षा दस प्रकार की होती है—१. षडङ्गोपेक्षा, २. ब्रह्मविहारोपेक्षा, ३. बोध्यङ्गोपेक्षा, ४. वीर्योपेक्षा, ५. संस्कारोपेक्षा, ६. वेदनोपेक्षा, ७. विपश्यनोपेक्षा, ८. तत्रमध्यत्वोपेक्षा, ९. ध्यानोपेक्षा और १०. परिशुद्ध्युपेक्षा।

छह इन्द्रियों के छह इष्ट-अनिष्ट विषयों से क्लिष्ट न होना और अपनी शुद्धप्रकृति को निश्चल रखना 'षडङ्गोपेक्षा' है। सब प्राणियों के प्रति समभाव रखना 'ब्रह्मविहारोपेक्षा' कहलाती है। आलम्बन में चित्त की समप्रवृत्ति से और प्रग्रह-निग्रह-सम्प्रहर्षण के विषय में व्यापार का अभाव होने से सम्प्रयुक्त धर्मों में उदासीन वृत्ति को 'बोध्यङ्गोपेक्षा' कहते हैं। जो वीर्य लीन और उद्धत भाव से रहित है उसे 'वीर्योपेक्षा' कहते हैं। भावना की समप्रवृत्ति के समय जो उपेक्षाभाव होता है, उसे 'वीर्योपेक्षा' कहते हैं। प्रथम-ध्यान आदि से नीवरण आदि का प्रहाण होता है यह निश्चय कर और नीवरणादि धर्मों के स्वभाव की परीक्षा कर संस्कारों के ग्रहण में जो उपेक्षा

उत्पन्न होती है वह 'संस्कारोपेक्षा' है। यह उपेक्षा समाधिवश आठ और विपश्यनावश दश प्रकार की है। जो उपेक्षा दुःख और सुख से रहित है वह 'वेदनोपेक्षा' कहलाती है। अनित्यादि लक्षणों पर विचार करने से पञ्चस्कन्ध के विषय में जो उपेक्षा उत्पन्न होती है वह 'विपश्यनोपेक्षा' है। जो उपेक्षा सम्प्रयुक्त धर्मों की समप्रवृत्ति में हेतु होती है। वह 'तत्रमध्यत्वोपेक्षा' है। जो उपेक्षा तृतीय-ध्यान के अग्रसुख के विषय में भी पक्षपातरहित है वह 'ध्यानोपेक्षा' कहलाती है। जो उपेक्षा नीवरण, वितर्क, विचारादि अन्तरायों से विमुक्त है और जो उनके उपशम के व्यापार में प्रवृत्त नहीं है वह 'परिशुद्ध्युपेक्षा' कहलाती है।

इन दश प्रकार की उपेक्षाओं में षडङ्गोपेक्षा, ब्रह्मविहारोपेक्षा, बोध्यङ्गोपेक्षा, तत्रमध्यत्वोपेक्षा, ध्यानोपेक्षा, और परिशुद्ध्युपेक्षा अर्थतः एक हैं; केवल अवस्थाभेद से संज्ञा में भेद किया गया है। इसी प्रकार संस्कारोपेक्षा और विपश्यनोपेक्षा का अर्थतः एकीभाव है। यथार्थ में दोनों प्रज्ञा के कार्य हैं, केवल कार्य के भेद से संज्ञा-भेद किया गया है। विपश्यना-ज्ञान द्वारा लक्षण-त्रय का ज्ञान होने से संस्कारों के अनित्यभावादि के विचार में जो उपेक्षा उत्पन्न होती है वह विपश्यनोपेक्षा है। लक्षण-त्रय के ज्ञान से तीन भवों को आदीप्त देखने वाले साधक को संस्कारों के ग्रहण में जो उपेक्षा होती है, वह संस्कारोपेक्षा है। किन्तु वीर्योपेक्षा और वेदनोपेक्षा, एक दूसरे से तथा अन्य उपेक्षाओं से, अर्थतः भिन्न हैं। इन दश उपेक्षाओं में से यहाँ ध्यानोपेक्षा अभिप्रेत है। *उपेक्षाभाव इसका लक्षण है; प्रणीत सुख का भी यह आस्वाद नहीं करती, प्रीति से यह विरक्त है और व्यापाररहित है।*

यह उपेक्षा-भाव प्रथम तथा द्वितीय ध्यान में भी पाया जाता है। पर वहाँ वितर्क आदि से अभिभूत होने के कारण इसका कार्य अव्यक्त रहता है, तृतीय ध्यान में वितर्क, विचार और प्रीति से अनभिभूत होने के कारण इसका कार्य परिव्यक्त होता है, इसलिये इसी ध्यान के सम्बन्ध में कहा गया है कि साधक तृतीय ध्यान का लाभ कर उपेक्षा-भाव से विहार करता है। तृतीय ध्यान का लाभी सदा जागरूक रहता है और इस बात का ध्यान रखता है कि प्रीति से अपनीत तृतीय ध्यान का सुख प्रीति से फिर सम्प्रयुक्त न हो जाय। तृतीय ध्यान का सुख मधुर है। इससे बढ़कर कोई दूसरा सुख नहीं है और जीव स्वभाव से ही सुख में अनुरक्त होते हैं। इसी लिये साधक इस ध्यान में स्मृति और सम्प्रजन्य द्वारा सुख में आसक्त नहीं होता और प्रीति को उत्पन्न नहीं होने देता। जिस प्रकार खड्ग की धार पर बहुत सँभल कर चलना होता है उसी प्रकार इस ध्यान में चित्त की गति का भली प्रकार निरूपण करना पड़ता है और सदा सतर्क और जागरूक रहना पड़ता है।

साधक इस ध्यान में चैतसिक सुख का लाभ करता है और ध्यान से उठकर कायिक सुख का भी अनुभव करता है, क्योंकि उसका शरीर अति प्रणीत रूप से व्याप्त हो जाता है।

जब तीसरे ध्यान का पाँच प्रकार से अच्छी तरह अभ्यास हो जाता है, तब तृतीय ध्यान से उठकर साधक विचारता है कि तृतीय-ध्यान सदोष है; क्योंकि इसका सुख स्थूल है और इसलिये इसके अङ्ग दुर्बल हैं। यह देखकर कि चतुर्थ ध्यान शान्त है उसे चतुर्थ-ध्यान के लिये *यत्नशील होना चाहिये।*

जब स्मृति-सम्प्रजन्यपूर्वक वह ध्यान के अङ्गों की प्रत्यवेक्षा करता है तो उसे ज्ञात होता है कि चैतसिक सुख स्थूल हैं और उपेक्षा, वेदना तथा चित्तैकाग्रता शान्त हैं। तब स्थूल अङ्ग के प्रहाण तथा शान्त अङ्गों के प्रतिलाभ के लिये वह उसी पृथ्वीनिमित्त का बार-बार ध्यान करता

है। भवाङ्ग का उपच्छेद कर चित्त का आवर्जन होता है, जिससे यह सूचित होता है कि अब चतुर्थ ध्यान सम्पादित होगा, उसी पृथ्वी-कसिण में चार या पाँच जवन उत्पन्न होते हैं, केवल अन्तिम जवन रूपावचर चतुर्थ ध्यान का है।

चतुर्थ ध्यान के दो अङ्ग हैं—१. उपेक्षा-वेदना और २. एकाग्रता। चतुर्थ-ध्यान के उपचार-क्षण में चैतसिक सुख का प्रहाण होता है। कायिक दुःख का प्रथम ध्यान के उपचार-क्षण में, चैतसिक दुःख का द्वितीय और कायिक सुख का तृतीय ध्यान के उपचार-क्षण में निरोध होता है पर अतिशय निरोध उस ध्यान की अर्पणा में ही होता है। प्रथम ध्यान के उपचार-क्षण में जो निरोध होता है वह अत्यन्त निरोध नहीं है, पर अर्पणा में प्रीति के स्फुरण से समग्र शरीर सुख से अवक्रान्त होता है। इस प्रकार प्रतिपक्षी सुख द्वारा दुःखेन्द्रिय का अत्यन्त निरोध होता है। इसी प्रकार यद्यपि द्वितीय ध्यान के उपचार-क्षण में चैतसिक दुःख का प्रहाण होता है तथापि वितर्क और विचार के कारण चित्त का उपघात हो सकता है, पर अर्पणा में वितर्क और विचार के अभाव से इसकी कोई सम्भावना नहीं है। इसी प्रकार यद्यपि तृतीय ध्यान के उपचार-क्षण में कायिक सुख का निरोध होता है तथापि सुख के प्रत्यय (हेतु) प्रीति के रहने से कायिक सुख की उत्पत्ति सम्भव है। पर अर्पणा में प्रीति के अत्यन्त निरोध से इसकी सम्भावना नहीं रह जाती। इसी तरह चतुर्थ-ध्यान के उपचार-क्षण में अर्पणा-प्राप्त उपेक्षा के अभाव तथा भली प्रकार से चैतसिक सुख का अतिक्रम न होने से चैतसिक सुख की उत्पत्ति सम्भव है, पर अर्पणा में इसकी सम्भावना नहीं है।

यह दुःख और सुख-रहित अतिसूक्ष्म और दुर्विज्ञेय है; सुगमता से इसका ग्रहण नहीं हो सकता। यह न कायिक सुख है न कायिक दुःख, न चैतसिक सुख है न चैतसिक दुःख। यह सुख, दुःख, सौमनस्य (चैतसिक सुख) और दौर्मनस्य (चैतसिक दुःख) का अभावमात्र भी नहीं है। यह तीसरी वेदना है। इसे उपेक्षा भी कहते हैं। यही उपेक्षा चित्त की विमुक्ति (चेतोविमुक्ति) है। सुख दुःखादि के प्रहाण से इसका अधिगम होता है।

सुख आदि के घात से राग-द्वेष प्रत्यय (हेतु) सहित नष्ट हो जाते हैं, अर्थात् उनका दूरीभाव हो जाता है। चतुर्थ ध्यान में स्मृति परिशुद्ध होती है। यह परिशुद्धि उपेक्षा के द्वारा होती है, अन्यथा नहीं। केवल स्मृति ही परिशुद्ध नहीं होती, किन्तु सब सम्प्रयुक्त धर्म भी परिशुद्ध हो जाते हैं। यद्यपि पहले तीन ध्यानों में भी उपेक्षा विद्यमान है तथापि उनमें वितर्क आदि विरोधी धर्मों द्वारा अभिभूत होने से तथा सहायक प्रत्ययों की विकलता से उनकी अपेक्षा अपरिशुद्ध होती है और उसके अपरिशुद्ध होने से सहजात धर्म, स्मृति आदि भी अपरिशुद्ध होते हैं। पर चतुर्थ-ध्यान में वितर्क आदि विरोधी धर्मों के उपशम से तथा उपेक्षा-वेदना के प्रतिलाभ से उपेक्षा अत्यन्त परिशुद्ध होती है और साथ ही साथ स्मृति आदि भी परिशुद्ध होती है।

ध्यान-पञ्चक के द्वितीय ध्यान में केवल वितर्क नहीं होता और विचार, प्रीति, सुख, और एकाग्रता ये चार अङ्ग होते हैं, तृतीय ध्यान में विचार का परित्याग होता है और प्रीति, सुख और एकाग्रता यह तीन अङ्ग होते हैं, अन्तिम दो ध्यान ध्यान-चतुष्क के तृतीय और चतुर्थ हैं। ध्यान-चतुष्क के द्वितीय ध्यान को ध्यान-पञ्चक में दो ध्यानों में विभक्त करते हैं।।

५. शेषकसिणनिर्देश

आपोकसिण—सुखपूर्वक बैठकर जल में निमित्त का ग्रहण करना चाहिये। नील, पीत, लोहित और अवदात वर्णों में से किसी वर्ण का जल ग्रहण न करना चाहिये। पूर्व इसके

कि आकाश का जल भूमि पर प्राप्त हो, उसे शुद्ध वस्त्र में ग्रहण कर किसी पात्र में रखना चाहिये। इस जल का या किसी दूसरे शुद्ध जल का व्यवहार करना चाहिये। जल से भरे पात्र को (विदत्थिचतुरङ्गुल-वर्तुल) विहार के प्रत्यन्त में किसी ढके स्थान में रखना चाहिये। भावना करते हुए वर्ण और लक्षण की प्रत्यवेक्षा नहीं करनी चाहिये। भावना करते करते क्रमशः पूर्वोक्त प्रकार से निमित्तद्वय की उत्पत्ति होती है, पर इसका उद्ग्रहनिमित्त चलित प्रतीत होता है। यदि जल में फेन और बुदबुदे उठते हों तो कसिण-दोष प्रकट हो जाता है। प्रतिभागनिमित्त स्थिर है। उक्तरीत्या साधक आपो-कसिण का आलम्बन कर ध्यानों का उत्पाद करता है॥

तेजोकसिण—तेजोकसिण की भावना करने की इच्छा रखने वाले साधक को अग्नि में निमित्त का ग्रहण करना चाहिये। जो अधिकारी है वह अकृत अग्नि—जैसे दावाग्नि—में भी निमित्त का उत्पाद कर सकता है, पर जो अधिकारी नहीं है उसे सूखी लकड़ी लेकर आग जलानी पड़ती है। चटाई, चमड़े या कपड़े के टुकड़े में एक बालिश्त चार अङ्गुल का छेद कर उसे अपने सामने रख लेना चाहिये, जिसमें नीचे का तृण-काष्ठ और ऊपर की धूमशिखा न दिखायी देकर केवल मध्यवर्ती अग्नि की सघन ज्वाला ही दिखायी दे। इसी सघन ज्वाला में निमित्त का ग्रहण करना चाहिये। नील, पीत आदि वर्ण तथा उष्णता आदि लक्षण की प्रत्यवेक्षा नहीं करनी चाहिये। केवल प्रज्ञप्तिमात्र में चित्त को प्रतिष्ठित कर भावना करनी चाहिये। उक्त प्रकार से भावना करने पर क्रमपूर्वक दोनों निमित्त उत्पन्न होते हैं। उद्ग्रह-निमित्त में अग्निज्वाला खण्ड-खण्ड होकर गिरती हुई ज्ञात होती है। प्रतिभागनिमित्त निश्चल होता है। उक्तरीत्या साधक उपचार-ध्यान का लाभी हो, क्रमपूर्वक ध्यानों का उत्पाद करता है॥

वायोकसिण—साधक को वायु में निमित्त का ग्रहण करना होता है। दृष्टि द्वारा इस निमित्त का ग्रहण होता है। घने पत्तों सहित गन्ना, बाँस या किसी दूसरे वृक्ष के अग्रभाग को वायु से सञ्चालित होते देखकर चलनाकार से निमित्त का ग्रहण कर प्रहारक वायुसङ्घात में स्मृति की प्रतिष्ठा करनी चाहिये या शरीर के किसी प्रदेश में वायु का स्पर्श अनुभव कर सङ्घटनाकार में निमित्त का ग्रहण कर वायुसङ्घात में स्मृति की प्रतिष्ठा करनी चाहिये। उद्ग्रहनिमित्त चल और प्रतिभाग-निमित्त निश्चल और स्थिर होता है। ध्यानोत्पाद की प्रणाली पृथ्वीकसिण की तरह है॥

नीलकसिण—जो अधिकारी है उसे नील पुष्प-संस्तर, नील वस्त्र या नीलमणि देखकर निमित्त का उत्पाद होता है। पर जो अधिकारी नहीं है उसे नीले रङ्ग के फूल लेकर उन्हे टोकरी में फैला देना चाहिये और ऊपर तक फूल की पत्तियों को इस तरह भर देना चाहिये जिसमें केसर या वृन्त न दिखलायी पड़े या टोकरी को नीले कपड़े से इस तरह बाँधना चाहिये जिसमें वह नीलमण्डल की तरह ज्ञात हो, या नील वर्ण के किसी धातु को लेकर चल-मण्डल बनावे या दीवाल पर उसी धातु से कसिणमण्डल बनावे और उसे किसी असदृश वर्ण से परिच्छिन्न कर दे। फिर उस पर भावना करे। शेष-क्रिया पृथ्वी-कसिण के समान है॥

पीतकसिण—पीतवर्ण के पुष्प, वस्त्र या धातु में निमित्त का ग्रहण करना पड़ता है॥

लोहितकसिण—रक्तवर्ण के पुष्प, वस्त्र या धातु में नीलकसिण की तरह, भावना करनी होती है॥

अवदातकसिण—अवदात पुष्प, वस्त्र या धातु में नीलकसिण की तरह भावना करनी होती है॥

आलोककसिण—जो अधिकारी है वह प्राकृतिक आलोक-मण्डल में निमित्त का ग्रहण करता है। सूर्य या चन्द्र का जो आलोक खिड़की या छेद के मार्ग से प्रवेश कर दीवाल या

भूमि पर आलोक-मण्डल बनाता है, या घने वृक्ष की शाखाओं से निकलकर जो आलोक जमीन पर आलोक-मण्डल बनाता है, उसमें भावना द्वारा साधक निमित्त का उत्पाद करता है। पर यह अवभास-मण्डल चिरकाल तक नहीं रहता। इसलिये साधारण जन इसके द्वारा निमित्त का उत्पाद करने में असमर्थ भी होते हैं। ऐसे लोगों को घट में दीपक जलाकर घट का मुख ढक देना चाहिये, और घट में छेदकर घट को दीवार के सामने रख देना चाहियें। छेद से दीप का जो आलोक निकलता है वह दीवाल पर मण्डल बनाता है।

उद्ग्रह-निमित्त दीवाल या भूमि पर बने आलोकमण्डल की तरह होता है। प्रतिभाग-निमित्त बहल और शुभ्र आलोकपुञ्ज की तरह होता है। उसी आलोकमण्डल में भावना करनी चाहिये।

परिच्छन्नाकाश-कसिण—जो अधिकारी है वह किसी छिद्र में निमित्त का उत्पाद कर लेता है। सामान्य साधक सुच्छन्न मण्डल में या चमड़े की चटाई में एक बालिश्त चार अङ्गुल का छेद बनाकर उसी छेद में भावना द्वारा निमित्त का ग्रहण करता है। उद्ग्रह-निमित्त दीवाल के कोनों के साथ छेद की तरह होता है। उसकी वृद्धि नहीं होती। प्रतिभाग-निमित्त आकाश-मण्डल की तरह उपस्थित होता है। उसकी वृद्धि हो सकती है॥

६. अशुभकर्मस्थाननिर्देश

कर्मस्थानों का संक्षिप्त विवरण ऊपर दे दिया गया है। उद्धुमातक आदि इन दस कर्मस्थानों का ग्रहण साधक को आचार्य के पास ही करना चाहिये।

कर्मस्थान सभाग है या विसभाग—इसकी परीक्षा करनी चाहिये। पुरुष के लिये स्त्री-शरीर विसभाग है और स्त्री के लिये पुरुष-शरीर। इस लिए अशुभ कर्मस्थान अमुक स्थान पर है—ऐसा जानने पर भी उसको ठीक जाँच करके ही उस स्थान पर जाना चाहिये।

ऐसे कर्मस्थान प्रायः श्मशान पर ही मिलते हैं, जहाँ वन्य पशु, भूत-प्रेत और चोरों का भय रहता है। सङ्घ-स्थविर को कहकर जाने से योगावचर भिक्षु की पूर्ण व्यवस्था की जा सकती है। साधक को ऐसे कर्मस्थान के पास एकाकी जाना चाहिये। जिस प्रकार क्षत्रिय अभिषेक स्थान पर, या यजमान यज्ञशाला पर, या निर्धन निधि-स्थान की ओर सौमनस्यचित्त से जाता है उसी प्रकार साधक को उपस्थित स्मृति से, संवृत-इन्द्रियों से, एकाग्र चित्त से अशुभ कर्मस्थान के पास जाना चाहिये। वहीं जाकर अशुभ-निमित्त को सहज भाव से देखना चाहिये।

साधक को वर्ण, लिङ्ग, संस्थान, दिशा, अवकाश, परिच्छेद, सन्धि, विवर आदि निमित्तों को सुगृहीत करना चाहिये। उस को अशुभ-ध्यान के गुणों का दर्शन करके अशुभ-कर्मस्थान को अमूल्य रत्न के समान देखकर चित्त को उस आलम्बन पर एकाग्र करना चाहिये और सोचना चाहिये—"मैं इस प्रतिपदा के कारण जरा-मरण से मुक्त होऊँ"।

चित्त की एकाग्रता के साथ ही वह कामों से विविक्त होता है, अकुशलधर्मों से विविक्त होता है, और विवेकज प्रीति के साथ प्रथमध्यान को प्राप्त करता है। इस कर्मस्थान में प्रथमध्यान से आगे बढ़ा नहीं जाता; क्योंकि यह आलम्बन दुर्बल होने से वितर्क के विना चित्त उसमें स्थिर नहीं रहता। इसी कारण, प्रथम ध्यान के बाद इसी आलम्बन को लेकर द्वितीय ध्यान असम्भव है॥

(स्वामी द्वारिकादासशास्त्री)

उद्धटगन्थानं संकेतविवरणं

अं०—१	**अङ्गुत्तरनिकायो**, पठमो भागो, नालन्दा।
अं०—२	**अङ्गुत्तरनिकायो**, दुतियो भागो, नालन्दा।
अं०—३	**अङ्गुत्तरनिकायो**, ततियो भागो, नालन्दा।
अं०—४	**अङ्गुत्तरनिकायो**, चतुत्थो भागो, नालन्दा।
अभि०—	**अभिधम्मपिटकं**।
अभि०—१	अभिधम्मपिटके **धम्मसङ्गणिपालि**, नालन्दा।
अभि०—२	अभिधम्मपटिके **विभङ्गपालि**, नालन्दा।
अभि०—७:१	अभिधम्मपिटके **पट्ठानपालि**, पठमो भागो, नालन्दा।
अभि० ट्ठ०—१	**धम्मसङ्गणिट्ठकथा**। (अट्ठसालिनी) पूना।
खु०—१	खुद्दकनिकाये पठमो भागो, **खुद्दकपाठ-धम्मपद-सुत्तनिपात-पालि**।
खु०—४:१	खुद्दकनिकाये चतुत्थभागे पठमो खन्धो, **महानिद्देसपालि**, नालन्दा।
खु०—४:२	खुद्दकनिकाये चतुत्थभागे दुतियो खन्धो, **चूळनिद्देसपालि**, नालन्दा।
खु०—५	खुद्दकनिकाये पञ्चमो भागो, **पटिसम्भिदामग्गपालि**, नालन्दा।
दी०—१	**दीघनिकायपालि**, पठमो भागो, सीलक्खन्धवग्गो, बौद्धभारती।
दी०—२	**दीघनिकायपालि**, दुतियो भागो, 'महावग्गो, बौद्धभारती।
दी०—३	**दीघनिकायपालि**, ततियो भागो, पाथिकवग्गो, बौद्धभारती।
....पे0....	पेय्यालं।
म०—१	**मज्झिमनिकायपालि**, पठमो भागो (मूलपण्णासकं), बौद्धभारती।
म०—२	**मज्झिमनिकायपालि**, दुतियो भागो (मज्झिमपण्णासकं), बौद्धभारती।
म०—३	**मज्झिमनिकायपालि**, ततियो भागो (उपरिपण्णासकं), बौद्धभारती।
मि० पञ्ह०	**मिलिन्दपञ्हो**, बौद्धभारती, वाराणसी।
वि०—१	विनयपिटके **पाराजिकपालि**, नालन्दा।
वि०—२	विनयपिटके **पाचित्तियपालि**, नालन्दा।
वि०—३	विनयपिटके **महावग्गपालि**, नालन्दा।
वि०—४	विनयपिटके **चुळ्लवग्गपालि**, नालन्दा।
विसु०—	**विसुद्धिमग्गो**। (इदमेव संखरणं)।
सं०—१	**संयुत्तनिकायपालि**, पठमो भागो (सगाथवग्गो) नालन्दा।
सं०—२	**संयुत्तनिकायपालि**, दुतियो भागो (निदानवग्गो खन्धवग्गो च), नालन्दा।
सं०—३	**संयुत्तनिकायपालि**, ततियो भागो (सळायतनवग्गो) नालन्दा।
सं०—४	**संयुत्तनिकायपालि**, चतुत्थो भागो (महावग्गो), नालन्दा।
सी०—	सीहळपोत्थके।



पिट्ठङ्कनिद्देससहितो
विसुद्धिमग्गट्ठ-

विसयवत्थुक्कमो



विसुद्धिमग्ग

(प्रथम से षष्ठ परिच्छेद तक)

[हिन्दी रूपान्तरसहित]

तरन्तो दृश्यन्ते बहव इह गम्भीरसरसि
स्वसाराभ्यामाभ्यां हृदि विदधतः कौतुकशतम्।
प्रविश्यान्तर्लीनं किमपि सुविवेच्योद्धरति य-
श्चिरं रुद्धश्वासः स खलु पुनरेतेषु विरलः॥

✡ *नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स* ✡

विसुद्धिमग्गे

सीलनिद्देसो

पठमो परिच्छेदो

निदानादिकथा

१. "सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो, चित्तं पञ्ञं च भावयं।
आतापी निपको भिक्खु, सो इमं विजटये जटं"॥ *(सं० १-१४)*

इति हीदं वुत्तं। कस्मा पनेतं वुत्तं? भगवन्तं किर सावत्थियं विहरन्तं रत्तिभागे अञ्ञतरो देवपुत्तो उपसङ्कमित्वा अत्तनो संसयसमुग्घातत्थं—

"अन्तो जटा बहि जटा जटाय जटिता पजा।
तं तं, गोतम पुच्छामि, को इमं विजटये जटं"॥ *(सं० १-१४)* ति॥ इमं पञ्हं पुच्छि।

२. तस्सायं संङ्खेपत्थो—**जटा** ति। तण्हाय जालिनिया एतं अधिवचनं। सा हि रूपादीसु आरम्मणेसु हेट्ठूपरियवसेन पुनप्पुनं उप्पज्जनतो संसिब्बनट्ठेन वेळुगुम्बादीनं

✡ *उन भगवान् अर्हत् सम्यक्सम्बुद्ध को प्रणाम* ✡

विशुद्धिमार्ग

शीलनिर्देश

(प्रथम परिच्छेद)

ग्रन्थ–रचना का कारण व प्रयोजन

१."जो बुद्धिमान् (विवेकी) पुरुष शील (सदाचार) को आधार बनाकर समाधि (=चित्तनिरोध) एवं प्रज्ञा (=विपश्यना) की भावना करता हुआ निरन्तर उद्योगरत एवं क्रियाशील रहता है, स्वहिताहित-चिन्तन में कुशल (=निपक) है एवं भिक्षुभाव (प्रवज्या) ग्रहण कर चुका है, वही इस जटा (भव-तृष्णाजाल) को छिन्न भिन्न कर सकता है।"

(भगवान् ने) ऐसा कहा है; परन्तु यह (कहाँ, किस प्रसङ्ग में) किस कारण (प्रयोजन) कहा है?

रात्रि के मध्य प्रहर में किसी देवपुत्र (देवता) ने, श्रावस्ती में साधनाहेतु विराजमान भगवान् बुद्ध के पास आकर, अपने संशय (=विमति, सन्देह) के समुद्धात (निराकरण) हेतु यह प्रश्न किया—

"अन्दर भी जटा (जञाल) है, बाहर भी जटा है, यों यह समग्र प्रजा (प्राणिसमूह) जटाओं (जञालों) से जकड़ी हुई है। भो गोतम! (मैं) आपसे इस विषय में यह पूछना (जानना) चाहता हूँ कि कौन इस जटा को विशृङ्खलित (छिन्न-भिन्न) करने में समर्थ है?"

२. उस प्रश्न का संक्षिप्त अर्थ यह है—यहाँ, इस गाथा में, जटा शब्द का प्रयोग (१०८ भेद-समूह होने से) 'जाल (समूह) वाली तृष्णा' के लिये किया गया है। वह तृष्णा रूप आदि आलम्बनों में

साखाजालसङ्खाता जटा विया ति जटा। सा पनेसा सकपरिक्खारपरपरिक्खारेसु सकअत्तभाव-परअत्तभावेसु अज्झत्तिकायतन-बाहिरायतनेसु च उपज्जनतो **अन्तो जटा बहि जटा** ति वुच्चति। ताय एव उप्पज्जमानाय **जटाय जटिता पजा**। यथा नाम वेळुगुम्बजटादीहि वेळुआदयो, एवं ताय तण्हाजटाय सब्बा पि अयं सत्तनिकायसङ्खाता पजा जटिता=विनद्धा, संसिब्बिता ति अत्थो। यस्मा च एवं जटिता। **तं तं गोतम पुच्छामी** ती तस्मा तं पुच्छामि। 'गोतमा' ति भगवन्तं गोत्तेन आलपति। **को इमं विजटये जटं** ति। इमं एवं तेधातुकं जटेत्वा ठितं जटं को विजटेय्य, विजटेतुं को समत्थो? ति पुच्छति।

३. एवम्पुट्ठो पनस्स सब्बधम्मेसु अप्पटिहतञाणचारो देवदेवो, सक्कानं अतिसक्को, ब्रह्मानं अतिब्रह्मा, चतुवेसारज्जविसारदो दसबलधरो अनावरणञाणो समन्तचक्खु भगवा तमत्थं विस्सज्जेन्तो—

"सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो चित्तं पञ्ञं च भावयं।
आतापी निपको भिक्खु सो इमं विजटये जटं"॥

(सं०१-१४) ति इमं गाथमाह।

४. इमिस्सा दानि गाथाय, कथिताय महेसिना।
वण्णयन्तो यथाभूतं, अत्थं सीलादिभेदनं॥
सुदुल्लभं लभित्वान, पब्बज्जं जिनसासने।

नीचे–ऊपर होती हुई बार बार उत्पन्न होने से, वस्त्र आदि के कई भागों को जोड़ने वाली सिलाई (संसीवन) की तरह, या वेणु–(बाँस) समूह की एक दूसरे से लिपटी शाखाओं के जाल की तरह होती है। अतः इसे 'जालिनी' कहा गया है। फिर इस तृष्णा के स्व और पर की आवश्यकता पूर्ति हेतु स्वयं अपने या दूसरों के शरीर के लिये आन्तरिक चक्षु आदि एवं बाह्य रूप आदि छह छह आयतनों में उत्पन्न होने से **अन्तो जटा बहि जटा** कहा गया है। फिर उसी उत्पन्न होती हुई तृष्णा के अभिप्राय से **जटाय जटिता पजा** कहा गया है। जैसे वेणुगुल्म (बाँस की झाड़ियों) के परस्पर गुँथे होने से वे वेणु आदि परस्पर गुँथे रहते हैं, उसी तरह यह समग्र प्रजा (सत्त्व, प्राणी) उस तृष्णा से सर्वथा गूँथ दी गयी है, सिल दी गयी है, जुड़ी हुई सी दिखायी देती है; क्योंकि यह समग्र प्राणिसमूह उस तृष्णा से जकड़ा हुआ है, इसीलिये, अपने मन में यह अभिप्राय लेकर, भो गोतम! मैं आपसे जानना चाहता हूँ— **तं तं गोतम पुच्छामि**। यहाँ वह देवपुत्र भगवान् को उनके 'गोतम'—इस गोत्र–नाम से सम्बोधन कर रहा है। **को इमं विजटये जटं**। 'तीनों (१. काम, २. रूप एवं ३. अरूप) धातुओं (कायों) को जकड़े हुई इस तृष्णा को कौन छिन्न–भिन्न करे? उसे विशृङ्खलित करने में कौन समर्थ हो?—वह देवपुत्र भगवान् से यह जिज्ञासा कर रहा है।

३. देवपुत्र द्वारा यों जिज्ञासा प्रकट किये जाने पर, समग्र धर्मों में अप्रतिहत (निर्बाध) ज्ञान का आश्रय लेने वाले, श्रेष्ठ इन्द्र (देवराज), सर्वोत्तम ब्रह्मा, चार वैशारद्यों की साधना में निपुण, दश बलों के धारक, अनावृत ज्ञान (अनावरणज्ञान एवं सर्वज्ञताज्ञान) से सम्पन्न, चारों ओर सावधान दृष्टि रखने वाले भगवान् बुद्ध ने उस (देवपुत्र) की जिज्ञासा शान्त करने के लिये—

'सीले पतिट्ठाय.......सो इमं विजटये जटं' यह गाथा कही है।

४. अब मैं (बुद्धघोष) महर्षि (भगवान् बुद्ध) द्वारा कही गयी इस गाथा (पद्य) का विस्तृत व्याख्यान करते हुए (इस गाथा में आये) 'शील' आदि शब्दों का विशेष एवं वास्तविक (=यथाभूत, सत्य) अर्थ बतलाऊँगा।।

सीलादिसङ्गहं खेमं, उजुं मग्गं विसुद्धिया॥
यथाभूतं अजानन्ता, सुद्धिकामा पि ये इध।
विसुद्धिं नाधिगच्छन्ति, वायमन्ता पि योगिनो॥
तेसं पामोज्जकरणं, सुविसुद्धविनिच्छयं।
महाविहारवासीनं, देसनानयनिस्सितं॥
विसुद्धिमग्गं भासिस्सं, तं मे सक्कच्च भासतो।
विसुद्धिकामा सब्बे पि, निसामयथ साधवो ति॥

५. तत्थ **विसुद्धी** ति सब्बमलविरहितं अच्चन्तपरिसुद्धं निब्बानं वेदितब्बं। तस्सा विसुद्धिया मग्गो ति विसुद्धिमग्गो। **मग्गो** ति अधिगमूपायो वुच्चति। तं विसुद्धिमग्गं भासिस्सामी ति अत्थो।

६. सो पनायं **विसुद्धिमग्गो** कत्थचि **विपस्सनामत्तवसेनेव** देसितो। यथाह—

"सब्बे सङ्खारा अनिच्चा ति, यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया॥" *(खु० १-४३)* ति॥

कत्थचि **झानपञ्ञावसेन**। यथाह—

"यम्हि झानं च पञ्ञा च, स वे निब्बानसन्तिके" *(खु० १-५२)* ति।

(क्योंकि) भगवान् बुद्ध (=जिन) द्वारा अनुशिष्ट (उपदिष्ट) धर्म में साधारण मानवों के लिये अत्यन्त दुर्लभ प्रव्रज्या (=भिक्षुभाव) ग्रहण करके भी कल्याणकारी (क्षेमङ्कर) शील आदि (१.शील, २. समाधि एवं ३. प्रज्ञा—इस स्कन्धत्रय) का स्वचित्त में संग्रह (धारण) करना ही चित्त को विशुद्ध, निर्विकार, निर्मल या निर्वाण एवं अर्हत्त्व प्राप्त करने के लिये सरल (ऋजु) मार्ग (उपाय) है।।

यहाँ लोक में यह देखा जाता है कि समग्र सांसारिक क्लेशों व उक्त तृष्णाजाल से विमुक्तिहेतु चित्तविशुद्धि चाहने वाला कोई कोई योगावचर भिक्षु, प्रयास करने पर भी, उक्त शील आदि के विषय में यथातथ (वास्तविक) ज्ञान न होने के कारण, स्वचित्तविशुद्धि, जो कि निर्वाणप्राप्ति का प्रमुख साधन है, नहीं कर पाते।।

उन वैसे योगावचर भिक्षुओं के प्रमोद (अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति से होने वाले हर्ष) के लिये मैं चित्तविशुद्धि के उपायभूत एवं (श्रीलङ्कास्थित) महाविहार में साधनारत स्थविर भिक्षुओं द्वारा उपदिष्ट विधि से कथित यह '**विसुद्धिमग्ग**' (ग्रन्थ) कहूँगा। मेरे द्वारा कथित इस ग्रन्थ को वे सभी योगमार्गारूढ़ साधु (भिक्षु) जन श्रद्धा एवं सम्मान पूर्वक सुनें।।

विसुद्धिमार्ग का अर्थ—५. यहाँ, इस 'विसुद्धिमग्ग' ग्रन्थ के नाम में **विसुद्धि** शब्द सभी प्रकार के मलों (चित्तविकारों) से रहित अतएव अत्यन्त परिशुद्ध निर्वाण के अर्थ में जानना चाहिये। उस विशुद्धि का मार्ग=प्राप्ति का उपाय ही इस ग्रन्थ में वर्णित है, अतः इसे भी विशुद्धिमार्ग (विसुद्धिमग्ग) कहा गया है। मैं उस 'विसुद्धिमग्ग' का निरूपण (रचना) करूँगा— यह इस गाथा का संक्षिप्त अर्थ हुआ।

६. वह यह **विसुद्धिमग्ग** (शब्द) बुद्धवचनों में—

(क) कहीं केवल 'विपश्यना' (प्रज्ञा) मात्र अर्थ में प्रयुक्त हुआ है; जैसे—

"सभी संस्कार अनित्य हैं—यह बात जब प्रज्ञा द्वारा (भिक्षु) समझ लेता है, तब उसे दुःख (दुःखभूत संस्कारों) में निर्वेद (ग्लानि, वैराग्य) होने लगता है—यही चित्त-विशुद्धि का उपाय है।"

(ख) कहीं यह शब्द 'ध्यान' व 'प्रज्ञा' दोनों अर्थों में कहा गया है; जैसे—

कत्थचि **कम्मादिवसेन**। यथाह—

"कम्मं विज्जा च धम्मो च, सीलं जीवितमुत्तमं।
एतेन मच्चा सुज्झन्ति, न गोत्तेन धनेन वा" *(म० नि० ३-३५०)* ति॥

कत्थचि **सीलादिवसेन**। यथाह—

"सब्बदा सीलसम्पन्नो, पञ्ञवा सुसमाहितो।
आरद्धविरियो पहितत्तो, ओघं तरति दुत्तरं" *(सं० नि० १-५१)* ति॥

कत्थचि **सतिपट्ठानादिवसेन**। यथाह—

"एकायनो अयं, भिक्खवे, मग्गो सत्तानं विसुद्धिया···पे०···निब्बानस्स सच्छिकिरियाय, यदिदं चत्तारो सतिपट्ठाना" *(दी० नि० २-२१७)* ति।

सम्मप्पधानादीसु पि एसेव नयो। इमस्मिं पन पञ्हाव्याकरणे **सीलादिवसेन** देसितो।

७. तत्रायं सङ्खेपवण्णना—**सीले पतिट्ठाया** ति सीले ठत्वा। परिपूरयमानोयेव चेत्थ सीले ठितो ति वुच्चति, तस्मा सीलपरिपूरणेन सीले पतिट्ठहित्वा ति अयमेत्थं अत्थो। **नरो** ति सत्तो। **सपञ्ञो** ति। कम्मजतिहेतुकपटिसन्धिपञ्ञाय **पञ्ञवा**। **चित्तं पञ्ञं च भावयं** ति। **समाधिं** चेव विपस्सनं च भावयमानो। चित्तसीसेन हेत्थं समाधि निद्दिट्ठो, पञ्ञानामेन च **विपस्सना** ति। **आतापी** ति। विरियवा। विरियं हि किलेसानं आतापनपरितापनट्ठेन आतापो ति वुच्चति, तदस्स अत्थी ति आतापी। **निपको** ति नेपक्कं वुच्चति पञ्ञा, ताय समन्नागतो ति अत्थो। इमिना पदेन पारिहारिकपञ्ञं दस्सेति।

"जो पुद्गल पादक ध्यान करके प्रज्ञा (विपश्यना) में औत्सुक्य लाता है, वह निर्वाण के (अत्यन्त) निकट पहुँच जाता है।।"

(ग) कहीं कहीं यह (विसुद्धिमग्ग) शब्द कर्म आदि के लिये भी प्रयुक्त हुआ है; जैसे—

"कर्म, विद्या, धर्म, शील एवं उत्तम आजीविका—इन की शुद्धि पर ही मानव के चित्त की शुद्धि निर्भर है; अधिक धन या उच्च गोत्र पर नहीं।"

(घ) कहीं कहीं शील आदि द्वारा इस विशुद्धि का मार्ग अभिप्रेत है। जैसे—

'सर्वदा शील से युक्त, प्रज्ञावान्, एकाग्रचित्त, उत्साही एवं संयमी पुरुष ही ओघ (बाढ़, प्रवाह) को पार कर पाता है।"

(ङ) कहीं स्मृतिप्रस्थान आदि को ही विशुद्धि का मार्ग बताया गया है; जैसे—

"भिक्षुओ! प्राणियों की चित्तविशुद्धि का एकमात्र यही मार्ग है....निर्वाण—साक्षात्कार हेतु यही एकमात्र मार्ग है कि कोई इन चारों स्मृतिप्रस्थानों की भावना करे।"

(च) इसी प्रकार कहीं कहीं 'सम्यक्प्रयत्न' आदि के लिये भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है।

परन्तु यहाँ इस प्रकरण—ग्रन्थ में शील आदि द्वारा ही विशुद्धि के मार्ग की देशना की गयी है।।

गाथा के शब्दों का अर्थ— ७. उक्त 'सीले पतिट्ठाय' गाथा में आये शब्दों का संक्षिप्त (नातिविस्तृत) वर्णन (व्याख्यान) इस प्रकार है— **सीले पतिट्ठाय** शील (सदाचार) में स्थित होकर। शील का सम्यक्प्रकार से पालन करने वाला योगावचर ही यहाँ 'शील में स्थित' कहा गया है। इसलिये यहाँ 'शील की परिपूर्णता द्वारा शील में प्रतिष्ठित होकर'—यह अर्थ हुआ। **नरो** का अर्थ है—सत्त्व (प्राणी)। **सपञ्ञो** का अर्थ है—कर्मज (प्रारब्ध कर्मानुभाव से प्राप्त) एवं त्रिहेतुक (अलोभ, अद्वेष, अमोहयुक्त) प्रतिसन्धि (मातृगर्भ) की प्रज्ञा से सम्पन्न। **चित्तं पञ्ञं च भावयं** का अर्थ है समाधि (चित्त)

इमस्मिं हि पञ्हाब्याकरणे तिक्खत्तुं पञ्ञा आगता। तत्थ पठमा जातिपञ्ञा, दुतिया विपस्सनापञ्ञा, ततिया सब्बकिच्चपरिणायिका पारिहारिकपञ्ञा।

संसारे भयं इक्खती ति **भिक्खु। सो इमं विजटये जटं** ति। सो इमिना च सीलेन, इमिना च चित्तसीसेन निद्दिट्ठसमाधिना, इमाय च तिविधाय पञ्ञाय, इमिना च आतापेना ति छहि धम्मेहि समन्नागतो भिक्खु। सेय्यथापि नाम पुरिसो पथवियं पतिट्ठाय सुनिसितं सत्थं उक्खिपित्वा महन्तं वेळुगुम्बं विजटेय्य; एवमेव सील पथवियं पतिट्ठाय समाधिसिलायं सुनिसितं विपस्सनापञ्ञासत्थं विरियबलपग्गहितेन पारिहारिकपञ्ञाहत्थेन उक्खिपित्वा सब्बं पि तं अत्तनो सन्ताने पतितं तण्हाजटं विजटेय्य=सञ्छिन्देय्य, सम्पदालेय्य। मग्गक्खणे पनेस तं जटं विजटेति नाम। फलक्खणे विजटितजटो सदेवकस्स लोकस्स अग्गदक्खिणेय्यो होति।

तेनाह भगवा—

"सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो, चित्तं पञ्ञं च भावयं।
आतापी निपको भिक्खु, सो इमं विजटये जटं"॥ ति।

एवं प्रज्ञा (विपश्यना) की भावना (साधना) करता हुआ। **आतापी**=वीर्यवान्। वीर्य=क्लेशों को तपाना, झुलसाना, अर्थात् आताप। वह आताप जिसको भी हो वह हुआ आतापी। **निपको** 'नेपक्क' कहते हैं प्रज्ञा को। यहाँ इस 'नेपक्क' पद से पारिहारिक प्रज्ञा का (ऐसी प्रज्ञा जिसके द्वारा स्व-परहिताहित-चिन्तन में कौशल प्राप्त किया जा सके) ग्रहण है। उस नेपक्क से सम्पन्न योगावचर को 'निपक' कहते हैं।

इस गाथा में 'प्रज्ञा' शब्द तीन बार आया है। बुद्धसम्मत त्रिविध प्रज्ञाओं में से कर्मज एवं त्रिहेतुक प्रतिसन्धिज प्रज्ञा का ग्रहण पीछे 'सपञ्ञो' पद से किया जा चुका, इस 'निपक' शब्द से पारिहारिक (कर्मस्थान को परिपूर्ण करने में लगी) प्रज्ञा का ग्रहण है। इस बात को और अधिक स्पष्टतया समझने के लिये यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस प्रश्न की व्याकरण(व्याख्यान)भूत गाथा में 'प्रज्ञा' शब्द का प्रयोग तीन बार हुआ है, उनमें पहली कर्मज प्रज्ञा 'जाति प्रज्ञा' (प्रारब्धवश जन्मजात) कहलाती है, दूसरी 'विपश्यना-प्रज्ञा' कहलाती है, (इसे पीछे 'त्रिहेतुकप्रतिसन्धि प्रज्ञा' भी कहा गया है) और तीसरी 'पारिहारिक (उठने, बैठने आदि सब कर्मों को सम्भव बनाने वाली) प्रज्ञा' कहलाती है।

संसार में भय देखने वाले को **भिक्खु** कहते हैं। **सो इमं विजटये जटं**। वह (भिक्षु) इस उपर्युक्त १. शील, २. चित्त द्वारा निर्दिष्ट समाधि एवं उपर्युक्त त्रिविध ३-४-५ प्रज्ञाओं एवं ६. वीर्य (उद्योग)—इन छह धर्मों से युक्त होकर—जिस प्रकार कोई पुरुष पृथ्वी पर खड़ा होकर तेज धार वाला (निशित, तीक्ष्ण) शस्त्र हाथ में लेकर बांसों के विशाल झुरमुट (=वेणुगुल्म, बँसवारी) को काट डाले; उसी प्रकार भिक्षु शीलरूपी पृथ्वी पर खड़ा हो, समाधिरूपी शिला (पत्थर) पर घिसकर तीखे किये गये विपश्यना एवं प्रज्ञा शस्त्र को वीर्य रूपी बल से पकड़े हुए, पारिहारिक प्रज्ञा रूपी हाथ से उठाकर अपनी मनःसन्तति के प्रवाह में विद्यमान समग्र तृष्णाजाल को विशृङ्खलित, छिन्न भिन्न (टुकड़े-टुकड़े) एवं नष्ट कर दे। वह भिक्षु मार्ग-क्षण में इस जटा को काटता है और फल-क्षण में, उक्त तृष्णाजाल से मुक्त होने के कारण, देवलोकसहित समग्र लोकों में सर्वप्रथम लाभ सत्कार श्लोक (यश) एवं दान पाने योग्य हो जाता है।

इसी अभिप्राय से भगवान् ने कहा है— 'सीले पतिट्ठाय....विजटये जटं'।

८. तत्रायं याय पञ्ञाय **सपञ्ञो** ति वुत्तो, तत्रास्स करणीयं नत्थि। पुरिमकम्मानुभावेनेव हिस्स सा सिद्धा। **आतापी निपको** ति। एत्थं वुत्तविरियवसेन पन तेन सातच्चकारिना पञ्ञावसेन च सम्पजानकारिना हुत्वा सीले पतिट्ठाय चित्तपञ्ञावसेन वुत्ता समथविपस्सना भावेतब्बा ति इममत्र भगवा सीलसमाधिपञ्ञामुखेन विसुद्धिमग्गं दस्सेति।।

९. एत्तावता हि तिस्सो सिक्खा, तिविधकल्याणं सासनं, तेविज्जतादीनं उपनिस्सयो, अन्तद्वयवज्जनमज्झिमपटिपत्तिसेवनानि, अपायादिसमतिक्कमनुपायो, तीहाकारेहि किलेसप्पहानं, वीतिक्कमादीनं पटिपक्खो, सङ्किलेसत्तयविसोधनं, सोतापन्नादिभावस्स च कारणं पकासितं होति।

१०. कथं? एत्थं हि सीलेन अधिसीलसिक्खा पकासिता होति, समाधिना अधिचित्तसिक्खा, पञ्ञाय अधिपञ्ञासिक्खा।

सीलेन च सासनस्स आदिकल्याणता पकासिता होति। "को चादि कुसलानं धम्मानं सीलं च सुविसुद्धं" *(सं०४-१२३)* ति हि वचनतो, "सब्बपापस्स अकरणं" *(खु० १-३५)* ति आदिवचनतो च सीलं सासनस्स आदि, तं च कल्याणं, अविप्पटिसारादिगुणावहत्ता।

समाधिना मज्झेकल्याणता पकासिता होति। "कुसलस्स उपसम्पदा" *(खु० १-*

---

८. यहाँ इस गाथा में जिस प्रज्ञा द्वारा योगावचर को 'सपञ्ञो' कहा है, वहाँ योगावचर भिक्षु को, उक्त प्रज्ञा-प्राप्तिनिमित कोई पृथक् प्रयत्न नहीं करना पड़ता; क्योंकि वह कर्मज प्रज्ञा तो उसे पूर्वकृत कर्मों के प्रभाव से जन्मतः ही प्राप्त रहती है। (जिसे हम लोकव्यवहार में 'प्रतिभा' कहते हैं।) **आतापी निपको।** (इन शब्दों का भाव यह है कि) इस गाथा में उक्त आताप और वीर्य के बल से सतत परिश्रमी बने रहकर प्रज्ञा के बल से निरन्तर सावधान (सम्प्रज्ञानयुक्त) बने रहकर, शील में प्रतिष्ठित हो, 'चित्त' एवं 'प्रज्ञा' के नाम से वर्णित शमथ एवं विपश्यना की भावना करनी चाहिये। यों, यहाँ इस गाथा में भगवान् ने शील-समाधि-प्रज्ञा के माध्यम से ही विशुद्धिमार्ग-प्राप्ति का संकेत किया है।।

९. इतने व्याख्यान से— १. तीन शिक्षा (शील-समाधि-प्रज्ञा), २. त्रिविध कल्याणकर धर्म (बुद्ध-शासन), ३. त्रैविद्य आदि का प्रमुख कारण (=उपनिश्रय), ४. दोनों अन्तों (किनारों, कोटियों) का त्याग एवं मध्यमा प्रतिपदा (मार्ग) का अनुपालन, ५. अपाय आदि के अतिक्रमण को रोकने का उपाय, ६. तीन प्रकार से क्लेशों का प्रहाण, ७. शिक्षापदों के उल्लङ्घन आदि का प्रतिपक्ष (विरोध), ८. तीन संक्लेशों का विशोधन एवं ९. स्रोतआपन्न आदि (मार्ग-फल) की प्राप्ति का साधन प्रकाशित होता है।

१०. वह कैसे?

तीन शिक्षाएँ— यहाँ 'शील' शब्द से शील पर आधृत (अधिशील) शिक्षा, 'समाधि' शब्द से चित्त पर आधृत (अधिचित्त) शिक्षा, एवं 'प्रज्ञा' शब्द से प्रज्ञा पर आधृत (अधिप्रज्ञ) शिक्षा का तात्पर्य समझना चाहिये।

त्रिविध बुद्धानुशासन— 'शील' से बुद्धशासन की आदिकल्याणता (कुशल धर्मों का प्रारम्भ में कल्याणकर होना) प्रदर्शित होती है। "कुशल धर्मों का आरम्भ क्या है? सुविशुद्ध शील ही इनका आरम्भ है", "सभी पापों का न करना" आदि वचनों से शील बुद्धशासन का 'आदि' है और वह भी स्वकृत कर्मों का स्मरण कर उनके प्रति पश्चात्ताप न होना आदि गुणों का उत्पादक होने से 'कल्याणकर' है।

'समाधि' से इस शासन की 'मध्येकल्याणता' (मध्य में कल्याणकरता) द्योतित होती है।

३५) ति आदिवचनतो हि समाधि सासनस्स मज्झे, सो च कल्याणो, इद्धिविधादिगुणावहत्ता। पञ्ञाय सासनस्स परियोसानकल्याणता पकासिता होति। "सचित्तपरियोदपनं, एतं बुद्धान सासनं" *(खु० १-३५)* ति हि वचनतो, पञ्ञुत्तरतो च पञ्ञा सासनस्स परियोसानं, सा च कल्याणं, इट्ठानिट्ठेसु तादिभावावहनतो।

"सेलो यथा एकघनो वातेन न समीरति।
एवं निन्दापसंसासु, न समिञ्जन्ति पण्डिता"॥*(खु०१-२५)* ति हि वुत्तं।

११. तथा **सीलेन** तेविज्जताय उपनिस्सयो पकासितो होति। सीलसम्पत्तिं हि निस्साय तिस्सो विज्जा पापुणाति, न ततो परं। **समाधिना** छळभिञ्ञताय उपनिस्सयो पकासितो होति। समाधिसम्पदं हि निस्साय छ अभिञ्ञा पापुणाति, न ततो परं। **पञ्ञाय** पटिसम्भिदा-पभेदस्स उपनिस्सयो पकासितो होति। पञ्ञासम्पत्तिं हि निस्साय चतस्सो पटिसम्भिदा पापुणाति, न अञ्ञेन कारणेन।

सीलेन च कामसुखल्लिकानुयोगसङ्खातस्स अन्तस्स वज्जनं पकासितं होति। समाधिना अत्तकिलमथानुयोगसङ्खातस्य। पञ्ञाय मज्झिमाय पटिपत्तिया सेवनं पकासितं होति।

१२. तथा सीलेन अपायसमतिक्कमनुपायो पकासितो होति, समाधिना कामधातुसम-तिक्कमनुपायो, पञ्ञाय सब्बभवसमतिक्कमनुपायो।

"कुशल पुण्यप्रद कर्मों का सञ्चय करना" आदि बुद्धवचनों के प्रमाण के बल पर 'समाधि' की इस धर्म (बुद्धशासन) में मध्येकल्याणता सिद्ध होती है। वह ऋद्धिविध (द्र० इसी ग्रन्थ का १२ वाँ परिच्छेद) आदि गुणों की उत्पादक होने के कारण कल्याणकर भी है।

इसी तरह 'प्रज्ञा' से शासन की पर्यवसानकल्याणता (अन्त में कल्याणकरता) सिद्ध होती है। "चित्त को वश में करना—यही बुद्धों की देशना है" —इत्यादि वचनों से और क्योंकि प्रज्ञा की भावना ही इस बुद्धशासन की चरम सीमा है—इसलिये भी, और इस प्रज्ञा से इष्ट अनिष्ट के प्रति समत्व भाव उत्पन्न होने से भी यह प्रज्ञा कल्याणकारी है।

"जैसे शैल (प्रस्तरसमूह या पर्वत) वायु से हिलाया—डुलाया नहीं जा सकता, वैसे ही बुद्धिमान् पण्डितजन भी लोक में हो रही अपनी निन्दा—प्रशंसा के कारण विचलित नहीं होते"— *(ध० प० १-२५)* ऐसा कहा गया है।

उपनिश्रय— ११. (क) और शील को तीनों विद्याओं का उपनिश्रय (बलवान् या प्रधान कारण) बताया गया है। (भिक्षु) शील—सम्पत्ति का सहारा लेकर तीनों विद्याएँ प्राप्त कर सकता है, इससे आगे नहीं। (ख) समाधि को छह अभिज्ञाओं की प्राप्ति का उपनिश्रय (प्रधान कारण) बतलाया गया है। भिक्षु समाधि सम्पत्ति का सहारा लेकर छह अभिज्ञाएँ पा सकता है, इससे आगे नहीं। (ग) और प्रज्ञा को चारों प्रतिसंविदाओं का प्रधान (=उपनिश्रय) बताया गया है। (भिक्षु) प्रज्ञा—सम्पत्ति का आश्रय लेकर ही चार प्रतिसंवेदनाएँ पा सकता है, अन्य किसी हेतु (कारण) के आलम्बन से नहीं।

अन्तद्वयवर्जन— 'शील' से कामसुखों में आनन्द लेने की प्रवृत्ति (कामसुखल्लिकानुयोग) की तरफ वाले पहले अन्त (कोटि) का परिवर्जन (प्रतिनिषेध) या त्याग द्योतित किया गया है और 'समाधि' से स्वयं को पीड़ित करते रहने की प्रवृत्ति (अत्तकिलमथानुयोग=आत्मक्लमथानुयोग) की तरफ वाले दूसरे अन्त का।

'प्रज्ञा' से मध्यमा प्रतिपदा (बुद्धानुमोदित मध्यम मार्ग) का ग्रहण प्रदर्शित किया है।

अपाय—त्यागोपाय— १२. तथा शील द्वारा अपाय (हीन योनि= १. नरक, २. प्रेत्य विषय,

सीलेन च तदङ्गप्पहानवसेन किलेसप्पहानं पकासितं होति, समाधिना विक्खम्भनप्पहानवसेन, पञ्ञाय समुच्छेदप्पहानवसेन।

१३. तथा सीलेन किलेसानं वीतिक्कमपटिपक्खो पकासितो होति, समाधिना परियुट्ठान-पटिपक्खो, पञ्ञाय अनुसयपटिपक्खो।

सीलेन च दुच्चरितसङ्किलेसविसोधनं पकासितं होति, समाधिना तण्हासङ्किलेसविसोधनं, पञ्ञाय दिट्ठिसङ्किलेसविसोधनं।

१४. तथा सीलेन सोतापन्नसकदागामिभावस्स कारणं पकासितं होति, समाधिना अनागामिभावस्स, पञ्ञाय अरहत्तस्स। सोतापन्नो हि "सीलेसु परिपूरकारी" *(अं० नि० १-२१४)* ति वुत्तो। तथा सकदागामी। अनागामी पन "समाधिस्मिं परिपूरकारी" *(अं० नि० १-२१४)* ति। अरहा पन "पञ्ञाय परिपूरकारी" *(अं० नि० १-२१५)* ति।

१५. एवं एत्तावता तिस्सो सिक्खा, तिविधकल्याणं सासनं, तेविज्जतादीनं उपनिस्सयो, अन्तद्वयवज्जनमज्झिमपटिपत्तिसेवनानि, अपायादिसमतिक्कमनुपायो, तीहाकारेहि किलेसप्पहानं, वीतिक्कमादीनं पटिपक्खो, सङ्किलेसत्तयविसोधनं, सोतापन्नादिभावस्स च कारणं ति इमे नव, अञ्ञे च एवरूपा गुणत्तिका पकासिता होन्ती ति॥

---

३. तिर्यग्योनि, ४. असुरकाय) में जन्म लेने से छुटकारा पा लेने का उपाय कहा गया है। समाधि द्वारा कामधातु के समतिक्रमण का एवं प्रज्ञा द्वारा सभी भवों (कामभव, रूपभव, अरूपभव) को अतिक्रान्त कर (लाँघ) जाने का उपाय बताया गया है।

क्लेशप्रहाण— शील से तदङ्ग (कुशल से अकुशल) के प्रहाण के सहारे, क्लेश-प्रहाण प्रदर्शित किया गया है; 'समाधि' से विष्कम्भन-प्रहाण (नीवरण आदि का दमन करते हुए उनका शनैः शनैः प्रहाण) एवं प्रज्ञा से समुच्छेद-प्रहाण (चार आर्यमार्गों की भावना से क्लेशों का सर्वथा क्षय एवं पुनरनुत्पाद) प्रदर्शित किया है।

क्लेशप्रहाण— १३. वैसे ही 'शील' से क्लेशों का व्यतिक्रमरूप क्लेश-प्रतिपक्ष कहा गया है। 'समाधि' से पुनः पुनः उठ खड़े होने (पर्युत्थान) वाले क्लेशों का प्रतिपक्ष एवं 'प्रज्ञा' द्वारा सात अनुशयों (१. कामराग, २. प्रतिघ, ३. मिथ्यादृष्टि, ४. विचिकित्सा, ५. मान, ६. भवराग एवं ७. अविद्या) का प्रतिपक्ष बताया गया है।

क्लेशविशोधन— एवं 'शील' से दुश्चरितरूप संक्लेश का प्रहाण, (दुश्चरितसंक्लेश का विशोधन), 'समाधि' से तृष्णारूप संक्लेश का विशोधन (प्रहाण) एवं 'प्रज्ञा' से दृष्टिरूप संक्लेश का प्रहाण द्योतित होता है।

चार आर्यमार्ग— १४. 'शील' से चार आर्यमार्गों में से स्रोतआपन्नत्व एवं सकृदागामित्व का तथा 'समाधि' से अनागामित्व का एवं 'प्रज्ञा' से अर्हत्त्व का कारण द्योतित किया गया है। पालि में— स्रोतआपन्न पुद्गल शीलों में परिपूर्णता प्राप्त करने वाला कहा गया है। वैसे ही सकृदागामी भी कहा गया है; परन्तु अनागामी समाधि में परिपूर्णता करने वाला एवं अर्हत् प्रज्ञा में परिपूर्णता करने वाला कहा गया है।

१५. इस तरह, इतने प्रकरण से—१. तीन शिक्षाएँ, २. त्रिविध (आदि-मध्य-अन्त) कल्याणकर शासन, ३. त्रैविद्य का उपनिश्रय, ४. अन्तद्वयर्जनपूर्वक मध्यम मार्ग का अनुपालन, ५. दुर्गतिविनिपात आदि अपाय के समतिक्रमण का उपाय, ६. त्रिविध क्लेशों का प्रहाण, ७. व्यतिक्रम आदि का प्रतिपक्ष,

सीलसरूपादिकथा

१६. एवं अनेकगुणसङ्गाहकेन सील-समाधि-पञ्ञामुखेन देसितो पि पनेस विसुद्धि-मग्गो अतिसङ्खेपदेसितो येव होति। तस्मा नालं सब्बेसं उपकाराया ति वित्थारमस्स दस्सेतुं सीलं ताव आरब्भ इदं पञ्हाकम्मं होति—

किं सीलं? केनट्ठेन सीलं? कानस्स लक्खणरसपच्चुपट्ठानपदट्ठानानि? किमानिसंसं सीलं? कतिविधं चेतं सीलं? को चस्स सङ्किलेसो? किं वोदानं ति?

१७. तत्रिदं विस्सज्जनं—

(१) सीलसरूपं

किं सीलं ति? पाणातिपातादीहि वा विरमन्तस्स वत्तपटिपत्तिं वा पूरेन्तस्स चेतनादयो धम्मा। वुत्तं हेतं **पटिसम्भिदायं**—"किं सीलं ति? चेतना सीलं, चेतसिकं सीलं, संवरो सीलं, अवीतिक्कमो सीलं" *(खु० ५-४९)* ति।

तत्थ **चेतनासीलं** नामं पाणातिपातादीहि वा विरमन्तस्स वत्तपटिपत्तिं वा पूरेन्तस्स चेतना।

चेतसिकं सीलं पाणातिपातादीहि विरमन्तस्स विरति।

अपि च चेतना सीलं नाम पाणातिपातादीनि पजहन्तस्स सत्त कम्मपथचेतना।

---

८. तीन संक्लेशों का विशोधन, ९. स्रोतआपन्नत्व आदि अवस्थाओं का कारण—ये नौ (९) अथवा ऐसे ही अन्य तीन विवेक, तीन कुशलमूल तीन विमोक्षसुख, तीन इन्द्रियाँ आदि गुणत्रिक द्योतित होते हैं।।

शील के स्वरूप आदि का वर्णन

१६. इस प्रकार यह विशुद्धिमार्ग अनेक गुणों से युक्त शील, समाधि एवं प्रज्ञा के रूप में उपदिष्ट होने पर भी—अतिसंक्षेप में ही उपदिष्ट हुआ; अतः 'सब (साधकों) का उपकार करने के लिये पर्याप्त नहीं है'—ऐसा विचार कर इसका विस्तृत वर्णन करने के लिये सर्वप्रथम शील को ही लेकर ये प्रश्न उपस्थित होते हैं—

(१) यह शील क्या है? (२) यह किस अर्थ में शील है? (३) इसके लक्षण, रस (कृत्य), जानने का आकार (प्रत्युपस्थान) एवं आसन्नतम कारण (=पदस्थान) क्या है? (४) इस शील के गुण (=आनृशंस्य, माहात्म्य) क्या हैं? (५) यह शील कितने प्रकार का है? (६) इसका संक्लेश (मल, विकार) क्या है? (७) और इसकी विशुद्धि (=व्यवदान) क्या है?

१७. इस (प्रश्नसमूह) का क्रमशः उत्तर यह है—

(१) यह शील क्या है?— जीवहिंसा आदि से विरत रहने वाले या उपाध्याय आदि की सेवा—शुश्रूषा (व्रत—प्रतिपत्ति) करने वाले के चेतना आदि धर्म 'शील' कहलाते हैं। यही बात **पटिसम्भिदामग्ग** में भी कही गयी है— "शील क्या है? चेतना शील है, चैतसिक शील है, संवर शील है, अव्यतिक्रम (अनुल्लङ्घन) शील है।"

(क) वहाँ प्राणातिपात आदि से विरत रहने वाले या व्रत—प्रतिपत्ति (कर्त्तव्य) पूर्ण करने वाले की चेतना ही **'चेतनाशील'** (चेतना के रूप में शील) है।

(ख) पुद्गल की उन उन प्राणातिपात आदि अकुशल धर्मों से विरति **'चैतसिक शील'** (चैतसिक के रूप में शील) कहलाती है।

साथ ही प्राणातिपात आदि से विरत रहने का विचार करने वाले पुद्गल की सात कुशल

चेतसिकं सीलं नाम "अभिज्झं पहाय विगताभिज्झेन चेतसा विरहती" *(दी० नि० १-३६)* ति आदिना नयेन वुत्ता अनभिज्झाब्यापादसम्मादिट्ठिधम्मा।

संवरो सीलं ति एत्थं पञ्चविधेन संवरो वेदितब्बो—१. पातिमोक्खसंवरो, २. सतिसंवरो, ३. ञाणसंवरो, ४. खन्तिसंवरो, ५. वीरियसंवरो ति। तत्थ "इमिना पातिमोक्ख-संवरेन उपेतो होति समुपेतो" *(अभि० २-२६१)* ति अयं **पातिमोक्खसंवरो**। "रक्खति चक्खुन्द्रियं, चक्खुन्द्रिये संवरं आपज्जती" ति *(दी० १-६२)* अयं **सतिसंवरो**।

'यानि सोतानि लोकस्मिं (अजिता ति भगवा), सति तेसं निवारणं।
सोतानं संवरं ब्रूमि, पञ्ञायेते पिधिय्यरे'॥ *(खु० १-४२४)* ति।

अयं **ञाणसंवरो**। पच्चयपटिसेवनं पि एत्थेव समोधानं गच्छति। यो पनायं "खमो होति सीतस्स उण्हस्सा" ति *(म० नि० १-१५)* आदिना नयेन आगतो, अयं **खन्तिसंवरो** नाम। "यो चायं उप्पन्नं कामवितक्कं नाधिवासेती" *(म० नि० १-१६)* ति आदिना नयेन आगतो, अयं **विरियसंवरो** नाम। आजीवपारिसुद्धि पि एत्थेव समोधानं गच्छति। इति अयं **पञ्चविधो पि संवरो**, या च पापभीरुकानं कुलपुत्तानं सम्पत्तवत्थुतो विरति, सब्बं पेतं संवरसीलं ति वेदितब्बं।

अवीतिक्कमो सीलं ति समादिन्नसीलस्स कायिकवाचसिको अनतिकम्मो।

इदं ताव "किं सीलं" ति पञ्हस्स विस्सज्जनं॥

(२) केनट्ठेन सीलं

१८. अवसेसेसु **केनट्ठेन सीलं** ति? सीलनट्ठेन सीलं। किमिदं सीलनं नाम?

कर्मपथों की चेतना, उनके करने का विचार भी 'चेतनाशील' है। "लोभ (अभिध्या) को त्याग कर लोभरहित चित्त से साधना करता है" आदि प्रकार से कथित लोभराहित्य (अनभिध्या), अहिंसा (अव्यापाद) एवं सम्यग्दृष्टि आदि धर्म 'चैतसिक शील' कहलाते हैं।

(ग) **संवरशील—** संवर (संयम) पाँच प्रकार का होता है। जैसे—१. प्रातिमोक्षसंवर, २. स्मृतिसंवर, ३. ज्ञानसंवर, ४. क्षान्तिसंवर एवं ५. वीर्यसंवर। इनमें "इस प्रातिमोक्ष संवर से युक्त, संयुक्त होता है।" यह 'प्रातिमोक्ष संवर से युक्त, संयुक्त होना ही'— 'प्रातिमोक्षसंवर' है। "चक्षुरिन्द्रिय की रक्षा करता है, चक्षुरिन्द्रिय में संवर करता है"— यह 'स्मृतिसंवर' है। (भगवान् अजित से कह रहे हैं— "लोक में जितने भी तृष्णा, मिथ्यादृष्टि, अविद्या आदि स्रोत हैं, उनके निवारण का उपाय स्मृति है, अतः स्रोतों के संवर (पिदहन, ढकना) की भी देशना करता हूँ। प्रज्ञा उनको ढक देती है।"—इस भगवान् की देशना में 'ज्ञानसंवर' का निरूपण है। 'प्रत्ययप्रतिसेवन संवर' भी इसी ज्ञानसंवर में संगृहीत हो जाता है। और जो संवर "शीत उष्ण को सहन करने में समर्थ होता है" आदि बुद्धवचन में वर्णित है वह 'क्षान्ति संवर' कहलाता है। और "उत्पन्न कामभोगसम्बन्धी वितर्कों के वश में नहीं होता" यह बुद्धवचन 'वीर्यसंवर' का बोधक है। आजीविका की परिशुद्धि से सम्बद्ध संवर भी इसी वीर्यसंवर में अन्तर्निगूढ है।

यों, यह पाँच प्रकार का संवरशील एवं पाप-भय से भीत कुलपुत्रों के सम्मुख उपस्थित पापमय वस्तुओं (बातों) से विरति को संवरशील के अन्तर्गत ही समझना चाहिये।

(घ) **'अव्यतिक्रमशील' से तात्पर्य है—** गृहीत शील का काया एवं वाणी द्वारा अनुल्लङ्घन।

यह हुआ 'शील क्या है?'— इस प्रथम प्रश्न का साङ्गोपाङ्ग उत्तर॥

(१) समाधानं वा, कायकम्मादीनं सुसील्यवसेन अविप्पकिण्णता ति अत्थो। (२) उपधारणं वा; कुसलानं धम्मानं पतिट्ठानवसेन आधारभावो ति अत्थो। एतदेव हेत्थ अत्थद्वयं सद्दलक्खणविदू अनुजानन्ति।

अञ्ञे पन—सिरट्ठो सीलत्थो, सीतलट्ठो सीलत्थो ति एवमादिना पि नयेनेत्थं अत्थं वण्णयन्ति॥

(३) सीलस्स लक्खणादीनि

१९. इदानि **कानस्स लक्खण-रस-पच्चुपट्ठान-पदट्ठानानी** ति? अत्थं—

सीलनं **लक्खणं** तस्स भिन्नस्सा पि अनेकधा।
सनिदस्सनत्तं रूपस्स यथा भिन्नस्सनेकधा॥

यथा हि नीलपीतादिभेदेन अनेकधा भिन्नस्सापि रूपायतनस्स सनिदस्सनत्तं लक्खणं, नीलादिभेदेन भिन्नस्सापि सनिदस्सनभावानतिक्कमनतो; तथा सीलस्स चेतनादिभेदेन अनेकधा भिन्नस्सापि यदेतं कायकम्मादीनं समाधानवसेन कुसलानं धम्मानं पतिट्ठानवसेन वुत्तं सीलनं, तदेव लक्खणं; चेतनादिभेदेन भिन्नस्सापि समाधानपतिट्ठानभावानतिक्कमनतो।

एवंलक्खणस्स पनस्स—

दुस्सील्यविद्धंसनता अनवज्जगुणो तथा।

---

(२) **'किस अर्थ में शील है?'**— १८. अवशिष्ट प्रश्नों के उत्तर में— शीलन के अर्थ में 'शील' है। यह 'शीलन' क्या है? (१) शीलन का अर्थ है 'समाधान'। अर्थात् काय–कर्मादि का संयमन या सुशीलता के फलस्वरूप कायिक कर्मों में असामञ्जस्य का अभाव (=अविप्रकीर्णता)। अथवा (२) 'उपधारण'। अर्थात् कुशल धर्मों का आधार होने के फलस्वरूप आधारभाव (अधिष्ठान)। वैयाकरण (शब्दलक्षणविद्) 'शील' शब्द के यही दो अर्थ स्वीकार करते हैं।

(३) अन्य **आचार्य** इस 'शील' शब्द के ये अधोलिखित अर्थ भी करते हैं— (क) 'शिर (प्रधान) के अर्थ में शील है', (ख) 'शीतल के अर्थ में शील है', (ग) 'जिसके होने पर अकुशल धर्म सो जाँय', (घ) 'जिसके कारण सभी दुश्चरित विगतोत्साह होकर सो जाँय', या (ङ) 'सभी धर्मों की प्रवेशार्हशाला होने के कारण शील है'— आदि।।

(३) **शील के लक्षणादि**— १९. अब आचार्य इस शील के लक्षण, रस (कृत्य या सम्पत्ति), प्रत्युपस्थान एवं पदस्थान (प्रत्यय) क्या हैं?— यह बतायेंगे।

लक्षण— जैसे, अनेक प्रकार से विभक्त किये जाने पर भी, रूप का लक्षण 'प्रत्यय का विषय होना' (सनिदर्शन) ही होता है; वैसे ही, अनेक प्रकार से विभक्त किये जाने पर भी, उस (शील) का लक्षण 'शीलन' ही होगा।

जैसे—नील, पीत आदि नाना प्रकार से विभक्त किये जाने पर भी 'रूप' का लक्षण 'सनिदर्शन' ही होता है; क्योंकि वह रूपायतन नीलादि भेद के अनुसार अनेकधा विभक्त होने पर भी अपने सनिदर्शन (दिखायी देना) स्वभाव का अतिक्रमण नहीं कर पाता; वैसे ही शील के चेतनादि भेद से नाना विभाग होने पर भी, शील का लक्षण पूर्वोक्त काय–कर्म आदि का समाधान रखना, अथवा कुशल धर्मों का आधार (प्रतिष्ठान) रूप 'शीलन' ही कहलायगा। अतः वही उसका लक्षण है; क्योंकि वह शील चेतनादि भेद से विभक्त होकर भी अपने 'समाधान' या 'आधार' स्वभाव का अतिक्रमण नहीं कर पाता।

रस— ऐसे लक्षण वाले इस शील का,

किच्चसम्पत्ति अत्थेन रसो नाम पवुच्चति॥

तस्मा इदं सीलं नाम किच्चट्ठेन रसेन दुस्सील्यविद्धंसनरसं, सम्पत्तिअत्थेन रसेन अनवज्जरसं ति वेदितब्बं। लक्खणादीसु हि किच्चमेव सम्पत्ति वा रसो ति वुच्चति।

सोचेय्यपच्चुपट्ठानं तयिदं, तस्स विञ्ञूहि।
ओत्तप्पं च हिरी चेव पदट्ठानं ति वण्णितं॥

तयिदं सीलं "कायसोचेय्यं, वचीसोचेय्यं, मनोसोचेय्यं" *(अं० नि० १-२५२)* ति एवं वुत्तसोचेय्यपच्चुपट्ठानं, सोचेय्यभावेन पच्चुपट्ठाति, गहणभावं गच्छति। हिरोत्तप्पं च पनस्स विञ्ञूहि पदट्ठानं ति वण्णितं, आसन्नकारणं ति अत्थो। हिरोत्तप्पे हि सति सीलं उप्पज्जति चेव तिट्ठति च। असति नेव उप्पज्जति, न तिट्ठती ति।

एवं सीलस्स लक्खण-रस-पच्चुपट्ठान-पदट्ठानि वेदितब्बानि॥

(४) सीलानिसंसं

२०. **किमानिसंसं सीलं** ति? अविप्पटिसारादिअनेकगुणपटिलाभानिसंसं। वुत्तं हेतं—"अविप्पटिसारत्थानि खो, आनन्द, कुसलानि सीलानि अविप्पटिसारानिसंसानी" *(अं० नि० ४-३५७)* ति।

२१. अपरं पि वुत्तं—"पञ्चिमे, गहपतयो, आनिसंसा सीलवतो सीलसम्पदाय।

'कृत्य' के अर्थ में दुःशीलता (अनाचार) का नाश (विध्वंसन) एवं 'सम्पत्ति' के अर्थ में निर्दुष्ट अनिन्दनीय अनवद्य गुणवाला ही 'रस' है। कृत्य और सम्पत्ति के अर्थ में भी इसे 'रस' कहा जाता है।

इसलिये इस शील को कृत्य के अर्थ में—कदाचरण (दौःशील्य) को नष्ट करने में सहायक एवं सम्पत्ति के अर्थ में अनिन्दय रस जानना चाहिये।

लक्षण—आदि के व्याख्यानप्रसङ्ग में सहायक होना कृत्य ही 'सम्पत्ति' या 'रस' कहलाता है।

प्रत्युपस्थान— पण्डित जनों द्वारा, 'उस शील का परिशुद्ध होना' ही उसके जानने का आकार (प्रत्युपस्थान=पच्चुपट्ठान) बताया गया है।

पदस्थान— तथा शास्त्र में, सङ्कोच (अपत्राप्य) एवं लज्जा (ह्री) ही इस शील के पदस्थान (आसन्न कारण) के रूप में वर्णित हुए हैं।

वह शील "देह की परिशुद्धि है, वाणी की परिशुद्धि है, मन की परिशुद्धि है" *(अं० नि० १-२५२)* इस प्रकार बुद्धवचन में कथित 'परिशुद्धि-प्रत्युपस्थान' कहलाता है; क्योंकि वह शील परिशुद्धि के रूप (आकार) में जाना जाता है, ग्रहण किया जाता है। विद्वानों द्वारा ह्री एवं अपत्राप्य इस शील का 'पदस्थान' कहा गया है, जिसका सरल अर्थ है—आसन्न कारण; क्योंकि ह्री और अपत्राप्य के होने पर ही शील उत्पन्न होता है, ठहरता है। अर्थात् शील के उत्पाद में ये ही दो गुण आसन्न (समीपतम) कारण हैं। उनके न होने पर, न तो शील की उत्पत्ति ही हो सकती है, न स्थिति।

यों, इस शील के लक्षण, रस, प्रत्युपस्थान एवं पदस्थान समझने चाहियें॥

(४) शील का माहात्म्य (आनृशंस्य) क्या है?— २०. इस प्रश्न का उत्तर है—'पश्चात्ताप न करना' आदि अनेक गुणों की प्राप्ति ही शील का माहात्म्य है।

त्रिपिटक में कहा भी है— "आनन्द, उत्तम शील (सदाचार) ही पश्चात्ताप से दूर रखने वाला है, अपश्चात्ताप ही उस उत्तम शील का माहात्म्य (वैशिष्ट्य) है।"

२१. त्रिपिटक में ही और भी कहा है—"गृहपतियो! शीलवान् की शीलसम्पत्ति के पाँच गुण

कतमे पञ्च? इध, गहपतयो, सीलवा सीलसम्पन्नो अप्पमादाधिकरणं महन्तं भोगक्खन्धं अधिगच्छति, अयं पठमो आनिसंसो सीलवतो सीलसम्पदाय।

"पुन च परं, गहपतयो, सीलवतो सीलसम्पन्नस्स कल्याणो कित्तिसद्दो अब्भुगगच्छति, अयं दुतियो आनिसंसो सीलवतो सीलसम्पदाय।

"पुन च परं, गहपतयो, सीलवा सीलसम्पन्नो यञ्ञदेव परिसं उपसङ्कमति— यदि खत्तियपरिसं यदि ब्राह्मणपरिसं यदि गहपतिपरिसं यदि समणपरिसं, विसारदो उपसङ्कमति अमङ्कुभूतो, अयं ततियो आनिसंसो सीलवतो सीलसम्पदाय।

"पुन च परं, गहपतयो, सीलवा सीलसम्पन्नो असम्मूळ्हो कालं करोति, अयं चतुत्थो आनिसंसो सीलवतो सीलसम्पदाय।

"पुन च परं, गहपतयो, सीलवा सीलसम्पन्नो कायस्स भेदा परं मरणा सुगतिं सग्गं लोकं उपपज्जति, अयं पञ्चमो आनिसंसो सीलवतो सीलसम्पदाया" *(दी०नि० २-६९)* ति।

२२. अपरे पि—"आकङ्खेय्य चे, भिक्खवे, भिक्खु सब्रह्मचारीनं पियो च अस्सं, मनापो च, गरु च भावनीयो चा ति, सीलेस्वेवस्स परिपूरकारी" *(म०नि० १-४४)* ति आदिना नयेन पियमनापतादयो आसवक्खयपरियोसाना अनेका सीलानिसंसा वुत्ता।

एवं अविप्पटिसारादिअनेकगुणानिसंसं सीलं॥

२३. अपि च—

सासने कुलपुत्तानं, पतिट्ठा नत्थि यं विना।
आनिसंसा परिच्छेदं, तस्स सीलस्स को वदे ॥ १ ॥

हैं— १. गृहपतियो! शीलवान् शीलसम्पन्न पुरुष प्रमाद में न पड़ने के कारण बहुत अधिक कामभोग (धन–धान्यादि) सम्पत्ति प्राप्त करता है—यह शीलवान् की शीलसम्पत्ति का प्रथम गुण है।

२. "गृहपतियो! इस शीलवान् शीलसम्पन्न का सभी दिशाओं में 'यह बहुत अधिक शीलवान् है'— ऐसा मङ्गलमय यश फैलने लगता है—यह इस शीलवान् की शीलसम्पत्ति का दूसरा गुण है।

३. "फिर गृहपतियो! वह शीलवान् शीलसम्पन्न पुरुष जिस जिस भी परिषद् (सभा) में जाता है—फिर भले ही वह क्षत्रियों की परिषद् हो, या ब्राह्मणों की, वैश्यों (गृहपतियों) की हो या किन्हीं श्रमणों की वहाँ वह निर्भीक, चतुर वक्ता, व निःसङ्कोच (अमङ्कुभूत) होकर जाता है, मूक (गूंगे–बहरे) की तरह नहीं—यह उस शीलवान् की शीलसम्पत्ति का तीसरा गुण है।

४. "और फिर गृहपतियो! वह शीलवान् शीलसम्पन्न पुरुष अविमूढ़ (भ्रमरहित, चेतन अवस्था में) रह कर मृत्यु को प्राप्त होता है—यह शीलवान् की शीलसम्पत्ति का चौथा गुण है।

५. "और फिर गृहपतियो! वह शीलवान् शीलसम्पन्न पुरुष, शरीर छूटने पर मरने के बाद, सुगति को प्राप्त हो स्वर्गलोक में उत्पन्न होता है — यह उस शीलवान् की शीलसम्पत्ति का पाँचवाँ गुण है।"

२२. इसी तरह, इस शीलाचरण के दूसरे भी गुण हैं, जैसे— "भिक्षुओ! यदि कोई भिक्षु यह चाहे कि वह अपने दूसरे सब्रह्मचारियों (साथियों, गुरुभाइयों) को प्रिय लगे, उनका प्रेमपात्र बना रहे, उनके द्वारा स्नेह–सम्मान की दृष्टि से देखा जाय, तो उसे शीलों की पूर्ति में अधिक ध्यान देना चाहिये" (म०नि० १–४४)—इस बुद्धवचन के आधार से प्रिय–मनाप आदि से लेकर आश्रवक्षय (अर्हत्त्व) तक शील के अनेक गुण कहे गये हैं।

न गङ्गा यमुना चा पि, सरभू वा सरस्वती।
निन्नगा वा चिरवती, मही वा पि महानदी ॥ २ ॥
सक्कुणन्ति विसोधेतुं, तं मलं इध पाणिनं।
विसोधयति सत्तानं, यं वे सीलजलं मलं ॥ ३ ॥
न तं सजलदा वाता, न चापि हरिचन्दनं।
नेव हारा न मणयो, न चन्दकिरणङ्कुरा ॥ ४ ॥
समयन्तीध सत्तानं परिळाहं सुरक्खितं।
यं समेति इदं अरियं सीलं अच्चन्तसीतलं ॥ ५ ॥
सीलगन्धसमो गन्धो, कुतो नाम भविस्सति!
यो समं अनुवाते च, पटिवाते च वायति ॥ ६ ॥
सग्गारोहणसोपानं, अञ्ञं सीलसमं कुतो!
द्वारं वा पन निब्बाननगरस्स पवेसने ॥ ७ ॥
सोभन्तेवं न राजानो मुत्तामणिविभूसिता।
यथा सोभन्ति यतिनो सीलभूसनभूसिता ॥ ८ ॥
अत्तानुवादादिभयं विद्धंसयति सब्बसो।
जनेति कित्तिहासं च सीलं सीलवतं सदा ॥ ९ ॥
गुणानं मूलभूतस्स, दोसानं बलघातिनो।

इस तरह, 'पश्चात्ताप न करना' आदि नानाविध गुणों की प्राप्ति ही शील का माहात्म्य है।

२३. और भी–

जिस शील के विना बुद्धश्रावक कुलपुत्रों की बुद्धशासन में गति (प्रतिष्ठा) ही नहीं हो पाती, उस शील के माहात्म्य व वैशिष्ट्य की सीमा कौन बता सकता है!।। १ ।।

प्राणियों के जिस मल (चित्तविकार) को न गङ्गा न यमुना, न सरयू न सरस्वती, न मही अथवा महानदी ही धो पाती है; वह शील प्राणियों के उस मल को भी मूलतः उच्छिन्न कर सकता है।। २–३ ।।

प्राणियों के जिस परिदाह (जलन, ताप) को न सावन–भादो की वर्षा, न हरिचन्दन, न कोई हार या मणि, न चन्द्रमा की शीतल चाँदनी ही शान्त कर पाती हो उसे यह सुरक्षित, अत्यन्त शीतल आर्यशील सरलता से शान्त कर सकता है।। ४–५ ।।

शील की गन्ध के समान और कौन गन्ध होगी, जो अनुकूल–प्रतिकूल गति के रहते भी, समानरूप से एक सी बहती–फैलती रहती है!।। ६ ।।

स्वर्गलोक (सुगति) तक पहुँचने या निर्वाण–नगर में प्रवेश के लिये शील के समान दूसरी कौन सी सीढ़ी (=सोपान) या द्वार हो सकते हैं! ।। ७ ।।

राजा लोग मोतियों की माला एवं मणिरत्नजटित हार पहनकर भी उतने शोभित नहीं होते, जितना कोई शीलभूषणधारी भिक्षु, लौकिक (व्यवहार) दृष्टि से अकिञ्चन दीखते हुए भी, इस जगत् में सर्वत्र शोभित होता है।। ८ ।।

शीलवान् के लिए उसका शील आत्मनिन्दा (दूसरों द्वारा की जाने वाली उसकी निन्दा) आदि भयों को सर्वथा दूर कर देता है! एवं लोक में उसका यश दिनानुदिन फैलता ही रहता है, जिससे उसकी शोभा (छवि) बढ़ती जाती है।। ९ ।।

इति सीलस्स विञ्ञेय्यं, आनिसंसकथामुखं ॥ ति ॥ १० ॥

(५) सीलप्पभेदो

२४. इदानि यं-वुत्तं **कतिविधं चेतं सीलं** ति? तत्रिदं विस्सज्जनं—

सब्बमेव ताव इदं सीलं अत्तनो सीलनलक्खणेन **एकविधं**।

१. चारित्त-वारित्तवसेन **दुविधं**, तथा २. आभिसमाचारिक-आदिब्रह्मचरियकवसेन, ३. विरति-अविरतिवसेन, ४. निस्सित-अनिस्सितवसेन, ५ कालपरियन्तआपाण-कोटिकवसेन, ६. सपरियन्त-अपरियन्तवसेन, ७. लोकिय-लोकुत्तरवसेन च।

तिविधं १. हीन-मज्झिम-पणीतवसेन, तथा २. अत्ताधिपतेय्य-लोकाधिपतेय्य-धम्माधिपतेय्यवसेन, ३.परामट्ठ-अपरामट्ठ-पटिप्पस्सद्धिवसेन, ४. विसुद्ध-अविसुद्ध-वेमतिकवसेन, ५. सेक्ख-असेक्ख-नेवसेक्खनासेक्खवसेन च।

चतुब्बिधं १. हानभागिय-ठितिभागिय-विसेसभागिय-निब्बेधभागियवसेन, तथा २. भिक्खु-भिक्खुनी-अनुपसम्पन्न-गहट्ठसीलवसेन, ३. पकति-आचार-धम्मता-पुब्बहेतुकसी-लवसेन, ४. पातिमोक्खसंवर-इन्द्रियसंवर-आजीवपारिसुद्धि-पच्चयसन्निस्सितसीलवसेन च।

पञ्चविधं परियन्तपारिसुद्धिसीलादिवसेन। वुत्तं पि चेतं **पटिसम्भिदायं**—"पञ्च सीलानि—१. परियन्तपारिसुद्धिसीलं, २. अपरियन्तपारिसुद्धिसीलं, ३. परिपुण्णपारि-

---

यों गुणों के आधार (मूल) भूत एवं दोषदौर्बल्यकारक शील का महत्त्व उसके इस उपर्युक्त माहात्म्य-वर्णन से भी जान लेना चाहिये।। १०।।

(५) शील के प्रकार (भेद)

२४. अब, वह जो प्रश्न किया गया था कि शील कितने प्रकार का होता है?—उसका उत्तर यह है—

(क) एकविध शील— यह समग्र शीलसम्भार अपने 'शीलन-लक्षण' के कारण एकविध (एकक=एक ही प्रकार का) कहा जा सकता है।

(ख) द्विविध शील— पुनः यह शील (विश्लेषण किये जाने पर) चारित्र एवं वारित्र भेद से, आभिसमाचारिक एवं आदिब्रह्मचर्यक भेद से, विरति एवं अविरति भेद से, निश्रित एवं अनिश्रित भेद से, कालपर्यन्त एवं आप्राणकोटिक भेद से, सपर्यन्त एवं अपर्यन्त भेद से और लौकिय और लोकोत्तर भेद से द्विविध (द्विक=दो प्रकार का) भी कहलाता है।

(ग) त्रिविध शील— फिर यही शील (और अधिक विश्लेषण किये जाने पर) हीन, मध्यम एवं प्रणीत तथा आत्माधिपत्य, लोकाधिपत्य एवं धर्माधिपत्य; या परामृष्ट, अपरामृष्ट एवं प्रश्रब्धि भेद से; या विशुद्ध, अविशुद्ध एवं वैमतिक भेद से तथा शैक्ष्य, अशैक्ष्य एवं न शैक्ष्य न अशैक्ष्य भेद से त्रिविध (त्रिक=तीन प्रकार का) भी कहलाता है।

(घ) चतुर्विध शील— फिर यही शील (और अधिक विश्लेषण किये जाने पर) चार प्रकार का भी है। जैसे—हानभागीय, स्थितिभागीय, विशेषभागीय एवं निर्वेधभागीय; भिक्षुशील, भिक्षुणीशील, अनुपसम्पन्नशील एवं गृहस्थशील; प्रकृतिशील, आचारशील, धर्मताशील एवं पूर्वहेतुकशील; प्रातिमोक्षसंवर, इन्द्रियसंवर, आजीवपरिशुद्धि एवं प्रत्ययसन्निश्रित—इन भेदों से यह चतुर्विध (चतुष्क=चार चार प्रकार का) भी शास्त्र में वर्णित है।

(ङ) पञ्चविध शील— यह शील पर्यन्तपरिशुद्धि शील आदि भेद से पाँच भेदों से भी वर्णित

सुद्धिसीलं, ४. अपरामट्ठपारिसुद्धिसीलं, ५. पटिपस्सद्धिपारिसुद्धिसीलं'' *(खु० ५-४७)* ति।

तथा पहान-वेरमणी-चेतना-संवर-अवीतिक्कमवसेन।

सीलेककदुकानि

२५. तत्थ **एकविधकोट्ठासे** अत्थो वुत्तनयेनेव वेदितब्बो। (१)

२६. **दुविधकोट्ठासे** यं भगवता 'इदं कत्तब्बं' ति पञ्ञत्तसिक्खापदपूरणं, तं **चारित्तं**। यं 'इदं न कत्तब्बं' ति पटिक्खित्तस्स अकरणं, तं **वारित्तं**। तत्रायं वचनत्थो—चरन्ति तस्मिं, सीलेसु परिपूरकारिताय पवत्तन्ती ति चारित्तं। वारितं तायन्ति रक्खन्ति तेना ति वारित्तं। तत्थ सद्धाविरियसाधनं चारित्तं, सद्धासाधनं वारित्तं। एवं चारित्तवारित्तवसेनं दुविधं।

दुतियदुके, अभिसमाचारो ति उत्तमसमाचारो। अभिसमाचारो एव **आभिसमाचारिकं**। अभिसमाचारं वा आरब्भ पञ्ञत्तं आभिसमाचारिकं, आजीवट्ठमकतो अवसेससीलस्सेतं अधिवचनं। मग्गब्रह्मचरियस्स आदिभावभूतं ति आदिब्रह्मचरियकं, आजीवट्ठमकसीलस्सेतं

है। जैसे कि **पटिसम्भिदामग्ग** में कहा गया है— ''शील पाँच होते हैं—१. पर्यन्तपरिशुद्धि शील, २. अपर्यन्तपरिशुद्धि शील, ३. परिपूर्णपरिशुद्धि शील, ४. अपरामृष्टपरिशुद्धि शील एवं ५. प्रतिप्रश्रब्धिपरिशुद्धि शील।''

वैसे ही १. प्रहाण, २. विरमण, ३. चेतना, ४. संवर एवं ५. अनुल्लङ्घन भेद से भी यह शील पञ्चविध (पञ्चक=पाँच पाँच प्रकार का) है।

शील के (उपर्युक्त) एकक, द्विक का विवरण (व्याख्यान)

२५. एकक विभाग— वहाँ शील के एक प्रकार वाले विभाग (कोट्ठास) का विस्तृत व्याख्यान पूर्वकृत (पृष्ठ ९–१०) व्याख्यान के अनुसार ही समझना चाहिये। (यहाँ उससे अधिक हमें कुछ नहीं कहना है।) (१)

२६. द्विक— दो प्रकारवाले विभाग में, **प्रथम द्विक** के अन्तर्गत— १. ''यह (सुचरित) करना चाहिये''— कह कर भगवान् ने जिन शिक्षापदों का विधान किया है, उनका पालन **चारित्र** कहलाता है और २. ''यह (दुश्चरित) नहीं करना चाहिये'' कह कर जिन निषेधपरक नियमों का शिक्षापदों में विधान किया है उनसे दूर रहना **वारित्र** कहलाता है। इन दोनों शब्दों का स्पष्टार्थ यह है—उस (शील) में समग्रीभूत होकर वे गुण चलते हैं, उनकी परिपूर्ति में वे सहायक होते हैं, अतः उन्हें **चारित्र** कहा जाता है। और जो गुण भगवान् द्वारा निषिद्ध कर्मों से दूर रहने की प्रेरणा देते हैं, योगावचर का उनसे त्राण (बचाव, रक्षा) करते हैं, अतः उन्हें **वारित्र** कहा गया है। वहाँ श्रद्धा और वीर्य (=सतत उद्योग) से चारित्र को तथा भगवान् के उपदेशों में श्रद्धा से वारित्र को पाया जा सकता है। यों, यह शील चारित्र एवं वारित्र भेद से दो प्रकार का है।

आगे इसी द्वितीय द्विक में, अभिसमाचार एवं आदिब्रह्मचर्य भेद से भी यह शीलद्विक बताया है। वहाँ (क) अभिसमाचार का अर्थ है—उत्तम सदाचार (सम्यगाचरण)। अभिसमाचार के ही अर्थ में **आभिसमाचारिक** शब्द प्रयुक्त हुआ है। (ख) अथवा—अभिसमाचार को आधार मानकर बुद्धवचन में जो कुछ भी कहा गया है वह 'आभिसमाचारिक' है। (ग) इस 'आभिसमाचारिक' शब्द से—आजीव है आठवाँ अङ्ग (चार वाचिक कुशल एवं आठवाँ सम्यगाजीव) जिसका, उस शील को छोड़कर अन्य शील का ग्रहण होता है।

(क) मार्गब्रह्मचर्य (मार्ग को आधार मानकर की जाने वाली धर्मसाधना) का आदि (प्रारम्भिक) होने से यह (शील) **आदिब्रह्मचर्यक** कहलाता है। यह आदिब्रह्मचर्य उपर्युक्त आजीवाष्टमक शील का ही नाम (पर्याय) है। साधना के पूर्वभाग में ही परिशुद्ध होने के कारण वह मार्ग की प्रारम्भिक अवस्था

अधिवचनं। तं हि मग्गस्स आदिभावभूतं, पुब्बभागे येव परिसोधेतब्बतो। तेनाह—"पुब्बे व खो पनस्स कायकम्मं वचीकम्मं आजीवो सुपरिसुद्धो होती" *(म० नि० ३-३११)* ति। यानि वा सिक्खापदानि "खुद्दानुखुद्दकानी" ति वुत्तानि, इदं आभिसमाचारिकसीलं। सेसं **आदिब्रह्मचरियकं**। उभतोविभङ्गपरियापन्नं वा आदिब्रह्मचरियकं। खन्धकवत्तपरियापन्नं आभिसमाचारिकं। तस्स सम्पत्तिया आदिब्रह्मचरियकं सम्पज्जति। तेनेवाह—"सो बत, भिक्खवे, भिक्खु आभिसमाचारिकं धम्मं अपरिपूरेत्वा आदिब्रह्मचरियकं धम्मं परिपूरेस्सती ति नेतं ठानं विज्जति" *(अं० नि० २-२८४)* ति। एवं आभिसमाचारिकआदिब्रह्मचरियकवसेन दुविधं।

ततियदुके, पाणातिपातादीहि वेरमणिमत्तं **विरतिसीलं**। सेसं चेतनादि **अविरतिसीलं** ति। एवं विरति-अविरतिवसेन दुविधं।

चतुत्थदुके, निस्सयो ति द्वे निस्सया—१. तण्हानिस्सयो च, २. दिट्ठिनिस्सयो च। तत्थ यं "इमिनाहं सीलेन देवो वा भविस्सामि, देवञ्ञतरो वा" *(दी०नि० ३-१८५)* ति एवं भवसम्पत्तिं आकङ्खमानेन पवत्तितं, इदं तण्हानिस्सितं। यं "सीलेन सुद्धी" ति एवं सुद्धिदिट्ठिया पवत्तितं, इदं दिट्ठिनिस्सितं। यं पन लोकुत्तरं लोकियं च तस्सेव सम्भारभूतं, इदं अनिस्सितं ति। एवं निस्सितानिस्सितवसेन दुविधं।

पञ्चमदुके, कालपरिच्छेदं कत्वा समादिन्नं सीलं **कालपरियन्तं**। यावजीवं समादियित्वा तथेव पवत्तितं **आपाणकोटिकं** ति एव कालपरियन्त-आपाणकोटिकवसेन दुविधं।

है। इसीलिये (भगवान् ने) ऐसा कहा है—"साधना के प्रारम्भिक भाग में योगावचर के कायकर्म, वाक्कर्म तथा आजीव (=आजीविका) परिशुद्ध हो जाते हैं।" (ख) अथवा जो भगवान् द्वारा कहे गये क्षुद्रानुक्षुद्र (छोटे, बहुत छोटे) शिक्षापद हैं, ये सब आभिसमाचारिक शील तथा अवशिष्ट आदिब्रह्मचर्यक शील कहलाते हैं। (ग) अथवा—उभतोविभङ्ग (भिक्षुविभङ्ग एवं भिक्षुणीविभङ्ग—दोनों) में आये शिक्षापदों का पालन आदिब्रह्मचर्यक शील में परिगणित है और स्कन्धव्रत (महावग्गक्खन्धक एवं चुल्लवग्गक्खन्धक) में आये शिक्षापदों के पालन से आदिब्रह्मचर्यक शील भी पूर्ण हो जाता है। इसीलिए कहा है—"भिक्षुओ! कोई योगावचर आभिसमाचारिक शील की पूर्ति के विना आदिब्रह्मचर्यक शील की पूर्ति कर पायगा—यह सम्भव ही नहीं है।" इस प्रकार आभिसमाचारिक व आदिब्रह्मचर्यक भेद से भी शील द्विविध है।

तृतीय द्विक में— केवल प्राणातिपातादि से विरत रहना ही **विरतिशील** है। शेष चेतना आदि **अविरतिशील** हैं। यों, विरति, अविरति के भेद से भी शील द्विविध है।

चतुर्थ द्विक में— निश्रय एवं अनिश्रय भेद से भी शील द्विविध होता है। निश्रय दो होते हैं—१. तृष्णानिश्रय एवं २. दृष्टिनिश्रय। उनमें— (क) "इस शील के सहारे मैं चातुर्महाराजिक देव या अन्य कोई देव हो जाऊँ"—ऐसी भव-सम्पत्ति (जन्म धारण करना) चाहने वाले योगावचर द्वारा भावित किया गया शील **तृष्णासन्निश्रित शील** कहलाता है। (ख) और 'शील (के आचरण) से ही (चित्त की) शुद्धि होगी'—यों शुद्धि के विचार (दृष्टि) से भावित किया जाने वाला शील **दृष्टिसन्निश्रित शील** कहलाता है। २. और जो लोकोत्तर एवं लौकिक (उसी लोकोत्तर का साधनभूत) शील है वह **अनिश्रित शील** कहलाता है। यों, निश्रित-अनिश्रित भेद से भी शील द्विविध है।

पञ्चम शीलद्विक में— १. काल ('इस दिन या इस रात्रि में', या 'इतने घण्टे इतनी मिनट में' आदि समय) की सीमा (कालपरिच्छेद) बाँध कर किया जाने वाला शील **कालपर्यन्त शील**

छट्ठदुके, लाभ-यस-ञाति-अङ्ग-जीवितवसेन दिट्ठपरियन्तं **सपरियन्तं** नाम। विपरीतं **अपरियन्तं**। वुत्तं पि चेतं **पटिसम्भिदायं**—"कतमं तं सीलं सपरियन्तं? अत्थि सीलं लाभपरियन्तं, अत्थि सीलं यसपरियन्तं, अत्थि सीलं ञातिपरियन्तं, अत्थि सीलं अङ्गपरियन्तं, अत्थि सीलं जीवितपरियन्तं। कतमं तं सीलं लाभपरियन्तं? इधेकच्चो लाभहेतु लाभपच्चया लाभकारणा यथासमादिन्नं सिक्खापदं वीतिक्कमति, इदं तं सीलं लाभपरियन्तं" *(खु०५-४८)*ति। एतेनेव उपायेन इतरानि पि वित्थारेतब्बानि। अपरियन्तविस्सज्जने पि वुत्तं—"कतमं तं सीलं न लाभपरियन्तं? इधेकच्चो लाभहेतु लाभपच्चया लाभकारणा यथासमादिन्नं सिक्खापदं वीतिक्कमाय चित्तं पि न उप्पादेति, किं सो वीतिक्कमिस्सति! इदं तं सीलं न लाभपरियन्तं" *(खु० ५-४८)* ति। एतेनेव उपायेन इतरानि पि वित्थारेतब्बानि। एवं सपरियन्तापरियन्तवसेन दुविधं।

सत्तमदुके, सब्बं पि सासवं सीलं **लोकियं**, अनासवं **लोकुत्तरं**। तत्थ लोकियं भवविसेसावहं होति, भवनिस्सरणस्स च सम्भारो। यथाह—"विनयो संवरत्थाय, संवरो अविप्पटिसारत्थाय, अविप्पटिसारो पामोज्जत्थाय, पामोज्जं पीतत्थाय, पीति पस्सद्धत्थाय, पस्सद्धि सुखत्थाय, सुखं समाधत्थाय, समाधि यथाभूतञाणदस्सनत्थाय, यथाभूतञाणदस्सनं निब्बिदत्थाय, निब्बिदा विरागत्थाय, विरागो विमुत्तत्थाय, विमुत्ति विमुत्तिञाणदस्सनत्थाय,

---

कहलाता है। २. प्राण रहने तक (आजीवन) जिस शील की साधना की जाय वह **आप्राणकोटिक शील** कहलाता है। यों, कालपर्यन्त व आप्राणकोटिक भेद से यह शील द्विविध है।

षष्ठ शीलद्विक में— सपर्यन्त–अपर्यन्त भेद से शील द्विविध माना गया है। उनमें लाभ, यश, ज्ञाति (नाते–रिश्तेदार), अङ्ग एवं जीवन के लिये जो शील परिमित होता दिखायी देता है वह **सपर्यन्त शील** है। इसके विपरीत (अपरिमित) **अपर्यन्त शील** कहलाता है। **पटिसम्भिदामग्ग** में कहा भी गया है—"सपर्यन्त शील क्या है? लाभ से परिमित, यश से परिमित, ज्ञाति से...., अङ्ग से...., जीवन से परिमित शील ही **सपर्यन्त शील** (कहलाता) है। लाभ से परिमित शील कौन सा है? यहाँ कोई कोई पुद्गल किसी लाभ के हेतु या प्रत्यय से लाभ के कारण ग्रहण किये हुए शील का उल्लङ्घन करता है– यह 'लाभ से परिमित' शील है।" इसी प्रकार अन्य यश–ज्ञाति आदि का भी विस्तार कर लेना चाहिये।

वहाँ, **पटिसम्भिदामग्ग** के उसी प्रकरण में, अपर्यन्त शील के विषय में किये गये प्रश्न का उत्तर भी दिया गया है— "लाभ से परिमित न होने वाला शील कौन सा है? यहाँ कोई कोई पुद्गल लाभ के हेतु या प्रत्यय से, लाभ के कारण, ग्रहण किये गये शिक्षापदों का उल्लङ्घन करने का विचार भी नहीं करता, फिर उल्लङ्घन करने की तो बात ही कहाँ! यही वह शील है जो लाभपरिमित नहीं है।" इसी पद्धति से यश–ज्ञाति आदि के विषय में भी विस्तार कर लेना चाहिये। यों, यह शील सपर्यन्त–अपर्यन्त भेद से भी द्विविध है।

सप्तम शीलद्विक विभाग में— लौकिक–लोकोत्तर भेद से भी शील द्विविध है। वहाँ सभी सास्रव शील **लौकिक** हैं और अनास्रव शील **लोकोत्तर**। (आस्रव चतुर्विध होते हैं— १. काम, २. भव, ३. दृष्टि एवं ४. अविद्या)। वहाँ लौकिक शील भव (आगामी जीवन–सन्तति) में अभ्युन्नति लाने वाला एवं भव से निःसरण, मुक्ति का साधन होता है। जैसा कि कहा है— "विनयबोधक शिक्षापद संवर के लिये है, संवर अपश्चात्ताप के लिये, अपश्चात्ताप प्रमोद (प्रीति) के लिये है, प्रीति प्रश्रब्धि (शान्तता=शान्त

विमुत्तिञाणदस्सनं अनुपादापरिनिब्बानत्थाय। एतदत्था कथा, एतदत्था मन्तना, एतदत्था उपनिसा, एतदत्थं सोतावधानं, यदिदं अनुपादाचित्तस्स विमोक्खो" *(वि० ५-२१०)* ति। लोकुत्तरं भवनिस्सरणावहं होति, पच्चवेक्खणञाणस्स च भूमी ति। एवं लोकियलोकुत्तरवसेन दुविधं। (२)

सीलत्तिकानि

२७. **तिकेसु पठमत्तिके**—१. हीनेन छन्देन चित्तेन वीरियेन वीमंसाय वा पवत्तितं **हीनं**। मज्झिमेहि छन्दादीहि पवत्तितं **मज्झिमं**। पणीतेहि **पणीतं**। २. यसकामताय वा समादिन्नं हीनं। पुञ्ञफलकामताय मज्झिमं। 'कत्तब्बमेविदं' ति अरियभावं निस्साय समादिन्नं पणीतं। ३. "अहमस्मि सीलसम्पन्नो, इमे पनञ्ञे भिक्खू दुस्सीला पापधम्मा" *(म०नि० १-२५०)* ति एवं अत्तुक्कंसनपरवम्भनादीहि उपक्किलिट्ठं वा हीनं। अनुपक्किलिट्ठं लोकियं सीलं मज्झिमं। लोकुत्तरं पणीतं। ४. तण्हावसेन वा भवभोगत्थाय पवत्तितं हीनं। अत्तनो विमोक्खत्थाय पवत्तितं मज्झिमं। सब्बसत्तानं विमोक्खत्थाय पवत्तितं पारमितासीलं पणीतं ति। एवं हीन-मज्झिम-पणीतवसेन तिविधं।

अवस्था) के लिये, प्रश्रब्धि सुख के लिये, सुख समाधि (चित्त की एकाग्रता) के लिये, समाधि यथार्थ (यथाभूत, सत्य) ज्ञान तथा दर्शन के लिये एवं यथार्थ ज्ञान और दर्शन निर्वेद (सांसारिक सुखों से ग्लानि) के लिये, निर्वेद विराग के लिये, विराग विमुक्ति के ज्ञान-दर्शन के लिये तथा विमुक्ति का ज्ञान एवं दर्शन उपादानरहित परिनिर्वाण (जिसकी प्राप्ति के बाद पाँच उपादानस्कन्धों की उत्पत्ति असम्भव हो जाती है) के लिये है। इसी (परिनिर्वाण) के लिये (शास्त्र की यह समग्र) कथा-वार्ता है, उसकी मन्त्रणा (विचार, चिन्तन) है, इसी के लिये उपनिश्रय (यथोक्त कारणपरम्परा) और इसी के लिये ध्यान देकर (गुरूपदेश का) सुनना है। निष्कर्ष यह है कि योगी का समग्र क्रियाकलाप केवल उपादानसहित परिनिर्वाण की प्राप्ति के लिये है।" और **लोकोत्तर शील** भवनिःसरण (मुक्ति) को लाने वाला और प्राप्त मार्ग फल को देखने वाले (प्रत्यवेक्षण) ज्ञान की भूमि। इस प्रकार लौकिक लोकोत्तर भेद से भी शील द्विविध है।। (२)

शीलत्रिक

२७. त्रिक विभाग में से प्रथम शीलत्रिक में— हीन छन्द, हीन वीर्य (उत्साह) तथा हीन मीमांसा (मनन-चिन्तन) से प्रवृत्त शील **हीन शील** कहलाता है, मध्यम (न हीन न उत्तम) छन्द आदि से प्रवृत्त शील **मध्यम शील** एवं प्रणीत (उत्तम) छन्द आदि से प्रवृत्त शील **प्रणीत शील** कहलाता है।

अथवा लोक में स्वकीर्ति चाहने की इच्छा यशःकामता से प्रवृत्त शील **हीन शील**, पुण्यफल की इच्छा से प्रवृत्त शील **मध्यम शील** एवं 'यह मेरा कर्त्तव्य है'—इस आर्य (श्रेष्ठ) भावना से प्रवृत्त शील **प्रणीत शील** कहलाता है।

'मैं ही शीलसम्पन्न हूँ, ये दूसरे भिक्षु तो दुःशीलधर्मा हैं, पापकारी हैं'—ऐसी आत्म-प्रशंसा एवं दूसरे के अपमान की इच्छा से कलुषित (उपक्लिष्ट) शील **हीन शील**, उक्त इच्छा न करने से अनुपक्लिष्ट होने पर लौकिक शीलों का आचरण **मध्यम शील** और लोकोत्तर शील **प्रणीत शील** कहलाता है।

अथवा—तृष्णापूर्ति के लिये या भव-सम्पत्ति व भोग-सम्पत्ति के अर्जन हेतु साधित शील **हीन शील**, केवल अपनी मुक्ति के लिये साधित शील **मध्यम शील** तथा समग्र प्राणियों (सत्त्वों) की मुक्ति के लिये भावित शील **प्रणीत शील** कहलाता है। यों, हीन मध्यम प्रणीत भेद से भी शील तीन प्रकार का होता है।

दुतियत्तिके—१. अत्तनो अननुरूपं पजहितुकामेन अत्तगरुना अत्तनिगारवेन पवत्तितं **अत्ताधिपतेय्यं**। २. लोकापवादं परिहरितुकामेन लोकगरुना लोके गारवेन पवत्तितं **लोकाधिपतेय्यं**। ३. धम्ममहत्तं पूजेतुकामेन धम्मगरुना धम्मगारवेन पवत्तितं **धम्माधिपतेय्यं** ति। एवं अत्ताधिपतेय्यादिवसेन तिविधं।

ततियत्तिके—१. यं दुकेसु 'निस्सितं' ति वुत्तं, तं तण्हादिट्ठीहि परामट्ठत्ता **परामट्ठं**। २. पुथुज्जनकल्याणकस्स मग्गसम्भारभूतं सेक्खानं च मग्गसम्पयुत्तं **अपरामट्ठं**। ३. सेक्खासेक्खानं फलसम्पयुत्तं **पटिपस्सद्धं** ति। एवं परामट्ठादिवसेन तिविधं।

चतुत्थत्तिके, यं आपत्तिं अनापज्जन्तेन पूरितं, आपज्जित्वा वा पुन कतपटिकम्मं, तं **विसुद्धं**। आपत्तिं आपन्नस्स अकतपटिकम्मं **अविसुद्धं**। वत्थुम्हि वा आपत्तिया वा अज्झाचारे वा वेमतिकस्स सीलं **वेमतिकसीलं** नाम।

तत्थ योगिना अविसुद्धं सीलं विसोधेतब्बं, वेमतिके वत्थुज्झाचारं अकत्वा विमति पटिविनेतब्बा—"इच्चस्स फासु भविस्सती" ति। एवं विसुद्धादिवसेन तिविधं।

पञ्चमत्तिके, चतूहि अरियमग्गेहि, तीहि च सामञ्ञफलेहि सम्पयुत्तं सीलं **सेक्खं**। अरहत्तफलसम्पयुत्तं **असेक्खं**, सेसं **नेवसेक्खनासेक्खं** ति। एवं सेक्खादिवसेन तिविधं।

द्वितीय शीलत्रिक में— स्वय के लिये अननुकूल (अननुरूप–प्रतिकूल) को छोड़ने की इच्छा से आत्मगौरव या आत्मसम्मान की वृद्धि के लिये भावित शील **आत्माधिपत्य शील** कहलाता है। लोक–निन्दा हटाने की इच्छा से अपने लोकगौरव या लोकसम्मान की वृद्धि के लिये भावित शील **लोकाधिपत्य शील** कहलाता है। धर्म के महत्त्व को पूजित करने की इच्छा से धर्म का गौरव तथा सम्मान बढ़ाने हेतु प्रवर्तित शील **धर्माधिपत्य शील** कहलाता है। यों, इन आत्माधिपत्य–आदि भेद से भी शील त्रिविध है।

शीलत्रिक के तृतीय विभाग में— शील–द्विकों के गणना–प्रसङ्ग में जो शील निश्रित अनिश्रित भेद से विभक्त हुआ है वह तृष्णा एवं दृष्टि (मिथ्या धारणा) द्वारा संश्लिष्ट (सम्बद्ध) होने से **परामृष्ट शील** है, कल्याणक पृथग्जन (पृथग्जनों में कल्याणकारी शीलों से युक्त अनार्य) के लिये मार्गप्राप्ति का साधन बना हुआ और शैक्ष्य जन (स्रोतआपन्न, सकृदागामी एव अनागामी पुद्गल) के लिये मार्गप्राप्ति का साधन बना हुआ शील **अपरामृष्ट शील** कहलाता है। शैक्ष्य–अशैक्ष्य के फल से सम्प्रयुक्त शील **प्रतिप्रश्रब्ध शील** कहलाता है।

शीलत्रिक के चतुर्थ विभाग में— जिसने कोई अपराध (आपत्ति, दोष) नहीं किया है, या अपराध करके पुनः उसका प्रतीकार कर लिया है, उसके द्वारा पूर्ण किया गया शील **विशुद्ध शील** कहलाता है। जिसने अपराध करके प्रतीकार नहीं किया उसका शील **अविशुद्ध शील** है। जो वस्तु, दोष, व्यतिक्रम (अध्याचार) के विषय में सन्देह (विमति) में पड़ गया है उसका शील **वैमतिक शील** कहलाता है।

ग्रन्थकार का मत—वहाँ योगावचर को अविशुद्ध शील का विशोधन करना चाहिये; जिस विषय में सन्देह हो वहाँ वस्तु का उल्लङ्घन न कर, उससे पलायन न करते हुए, उस सन्देह को दूर (करने का उपाय) करना चाहिये—यही उसके लिये हितकर होगा।

यों, विशुद्ध आदि भेद से भी शील के तीन भेद किये जा सकते हैं।

शील–त्रिक के पञ्चम विभाग में— चार आर्यमार्गों (स्रोतआपन्न सकृदागामी अनागामी एव अर्हत्) एव तीन श्रामण्यफलों से युक्त शील शैक्ष्य शील होता है। अर्हत्त्व–फल से सम्प्रयुक्त शील

पटिसम्भिदायं पन, यस्मा लोके तेसं सत्तानं पकति पि सीलं ति वुच्चति, यं सन्धाय—"अयं सुखसीलो, अयं दुक्खसीलो, अयं कलहसीलो, अयं मण्डनसीलो" ति भणन्ति; तस्मा तेन परियायेन—"तीणि सीलानि, कुसलसीलं अकुसलसीलं अब्याकतसीलं" *(खु० ५-४९)* ति। एवं कुसलादिवसेन पि तिविधं ति वुत्तं। तत्थ अकुसलं इमस्मिं अत्थे अधिप्पेतस्स सीलस्स लक्खणादीसु एकेन पि न समेती ति इध न उपनीतं। तस्मा वुत्तनयेनेवस्स तिविधता वेदितब्बा। (३)

सीलचतुक्कानि

२८. **चतुक्केसु पठमचतुक्के,**

योध सेवति दुस्सीले, सीलवन्ते न सेवति।
वत्थुवीतिक्कमे दोसं न पस्सति अविद्दसु॥ १॥
मिच्छासङ्कप्पबहुलो इन्द्रियानि न रक्खति।
एवरूपस्स वे सीलं जायते **हानभागियं**॥ २॥
यो पनत्तमनो होति सीलसम्पत्तिया इध।
कम्मट्ठानानुयोगम्हि न उप्पादेति मानसं॥ ३॥
तुट्ठस्स सीलमत्तेन अघटन्तस्स उत्तरि।
तस्स तं **ठितिभागियं** सीलं भवति भिक्खुनो॥ ४॥
सम्पन्नसीलो घटति समाधत्थाय यो पन।
विसेसभागियं सीलं होति एतस्स भिक्खुनो॥ ५॥

अशैक्ष्य कहलाता है। शेष न **शैक्ष्य अशैक्ष्य** शील कहलाता है। यों, शील के शैक्ष्य आदि भेद से भी तीन भेद किये जा सकते हैं।

पटिसम्भिदामग्ग में— "क्योंकि लोक में उन उन प्राणियों का स्वभाव भी 'शील' कहलाता है, जिसके आधार पर 'यह सुखशील (सुखस्वभाव) है', 'यह कलह स्वभाव वाला है', 'यह शृङ्गारप्रिय (मण्डनशील) है'—इस प्रकार कहते हैं", इसलिये उक्त ग्रन्थ में आलङ्कारिक (पर्याय) रूप से—"शील तीन हैं—१. कुशल शील, २. अकुशल शील एवं ३. अव्याकृत शील" इस प्रकार कहा गया है। यों, कुशल आदि भेद से भी यह तीन प्रकार का कहा गया है। इनमें अकुशल अर्थ में अभिप्रेत शील किसी भी लक्ष्य से मेल नहीं खाता। अतः इसे छोड़ उपर्युक्त विधि से इसका त्रैविध्य जानना चाहिये। (३)

शीलचतुष्क

२८. शीलचतुष्क-विभाग के **प्रथम चतुष्क** में—

(१) जो मूर्ख दुःशीलों (दुष्ट स्वभाव वालों) के संसर्ग में रहता है, शीलवानों से कोई सम्पर्क नहीं रखता और जो (अज्ञानवश) धर्मनियम (वस्तु) के उल्लङ्घन में कोई दोष नहीं देखता, नानाविध मिथ्यासङ्कल्पों से युक्त होकर इन्द्रियों पर निग्रह नहीं रखता, ऐसे पुरुष का शील पतन की ओर ले जाने वाला (हानभागीय) होता है।। १-२।।

(२) जो अपने अर्जित शील से सन्तुष्ट रहता है, परन्तु कर्मस्थान में आगे लगने (अनुयोग) के लिये मन (सङ्कल्प) भी नहीं करता, उस अर्जित शीलमात्र से प्रसन्न परन्तु आगे के लिये प्रयत्न न करने वाले भिक्षु का वह शील **स्थितिभागीय** कहलाता है।। ३-४।।

(३) किन्तु जो शीलसम्पन्न हो ध्यानपूर्वक स्वलक्ष्यसिद्ध्यर्थ **प्रयत्नशील रहता है** ऐसे भिक्षु का **वह शील विशेषभागीय** होता है।। ५।।

अतुट्ठो सीलमत्तेन निब्बिदं योनुयुञ्जति।
होति निब्बेधभागियं सीलमेतस्स भिक्खुनो ॥ ति ॥ ६ ॥

एवं हानभागियादिवसेन चतुब्बिधं।

दुतियचतुक्के, भिक्खू आरब्भ पञ्ञत्तसिक्खापदानि, यानि च नेसं भिक्खुनीनं पञ्ञत्तितो रक्खितब्बानि, इदं **भिक्खुसीलं**। भिक्खुनियो आरब्भ पञ्ञत्तसिक्खापदानि, यानि च तासं भिक्खूनं पञ्ञत्तितो रक्खितब्बानि, इदं **भिक्खुनीसीलं**। सामणेर-सामणेरीनं दससीलानि, (इदं) **अनुसम्पन्नसीलं**। उपासक-उपासिकानं निच्चसीलवसेन पञ्चसिक्खापदानि, सति वा उस्साहे दस, उपोसथङ्गवसेन अट्ठा ति इदं **गहट्ठसीलं** ति। एवं भिक्खुसीलादिवसेन चतुब्बिधं।

ततियचतुक्के, उत्तरकुरुकानं मनुस्सानं अवीतिक्कमो **पकतिसीलं**। कुलदेसपासण्डानं अत्तनो अत्तनो मरियादाचारित्तं **आचारसीलं**। "धम्मता एसा, आनन्द, यदा बोधिसत्तो मातुकुच्छिं ओक्कन्तो होति, न बोधिसत्तमातु पुरिसेसु मानसं उप्पज्जि कामगुणूपसंहितं" (म०नि० ३-१८५) ति एवं वुत्तं बोधिसत्तमातुसीलं **धम्मतासीलं**। महाकस्सपादीनं पन सुद्धसत्तानं, बोधिसत्तस्स च तासु तासु जातीसु सीलं **पुब्बहेतुकसीलं** ति। एवं पकतिसीलादिवसेन चतुब्बिधं।

चतुत्थचतुक्के, यं भगवता—"इध भिक्खु पातिमोक्खसंवरसंवुतो विहरति

---

(४) और जो शीलमात्र से असन्तुष्ट होकर निर्वेद (विपश्यना या वैराग्य) को अपना लक्ष्य बनाता है ऐसे भिक्षु का **शील निर्वेदभागीय** होता है।। ६।।

ऐसे हानभागीय-आदि भेद से भी शील चतुर्विध होता है।

द्वितीय शीलचतुष्कविभाग में— भिक्षुओं के लिये प्रज्ञप्त शिक्षापदों को, जिन्हें भिक्षुणियों के लिये प्रज्ञप्त शिक्षापदों से असम्बद्ध रखना चाहिये, **भिक्षुशील** कहते हैं। इसी प्रकार भिक्षुणियों के लिये प्रज्ञप्त शिक्षापदों को, जिन्हें भिक्षुशिक्षापदों से असम्बद्ध रखना चाहिये, **भिक्षुणीशील** कहते हैं। श्रामणेर-श्रामणेरियों के लिये प्रज्ञप्त जो दश शील है वे **अनुपसम्पन्नशील** कहलाते हैं। उपासक-उपासिकाओं के लिये नित्यशील के रूप में प्राप्त पाँच शिक्षाप्रद अथवा उत्साहसम्पन्नता में दस, व उपोसथ-अङ्ग के रूप में प्रज्ञप्त आठ शिक्षापद—ये **गृहस्थशील** कहलाते हैं। यों, भिक्षुशील-आदि भेद से भी शील चतुर्विध है।

शीलचतुष्क के तृतीय विभाग में— १. उत्तरकुरुप्रदेशनिवासी जनों का पञ्चशील का अनुल्लङ्घन (अव्यतिक्रम) **प्रकृति** (स्वभाव) **शील है**।

२. कुल, देश या पाषण्डधारी सम्प्रदायों का अपनी अपनी परम्परा में भावित शील **आचारशील** कहलाता है।

३. **मज्झिमनिकाय में**—"आनन्द! यह स्वाभाविक बात (धर्मता) ही है कि जब बोधिसत्त्व माता के गर्भ में आये होते हैं तब से बोधिसत्त्व की माता को पुरुषों के प्रति कामरागचित्त उत्पन्न नहीं होता" कही गयी उक्ति के प्रमाण से बोधिसत्त्व की माता का यह शील **धर्मताशील** कहलाता है।

४. *महाकाश्यप आदि पवित्रमना भिक्षुओं तथा बोधिसत्त्वों द्वारा भावित शील* **पूर्वहेतुक शील** होता है। यों, प्रकृतिशील-आदि के भेद से भी शील चतुर्विध होता है।

शीलचतुष्क के चतुर्थ विभाग में— (१) **दीघनिकाय** में प्रोक्त भगवान् की इस उक्ति के

आचारगोचरसम्पन्नो, अणुमत्तेसु वज्जेसु भयदस्सावी, समादाय सिक्खति सिक्खापदेसू" (दी० नि० १-५५) ति एवं वुत्तं सीलं, इदं **पातिमोक्खसंवरसीलं** नाम। यं पन "**सो चक्खुना रूपं दिस्वा न निमित्तग्गाही होति नानुब्यञ्जनग्गाही, यत्वाधिकरणमेनं चक्खुन्द्रियं असंवुतं विहरन्तं अभिज्झादोमनस्सा पापका अकुसला धम्मा अन्वास्सवेय्युं, तस्स संवराय पटिपज्जति, रक्खति चक्खुन्द्रियं, चक्खुन्द्रिये संवरं आपज्जति। सोतेन सद्दं सुत्वा ....पे०.... घानेन गन्धं घायित्वा ....पे०.... जिव्हाय रसं सायित्वा ....पे०.... कायेन फोट्ठब्बं फुसित्वा ....पे०.... मनसा धम्मं विञ्ञाय न निमित्तग्गाही ....पे०.... मनिन्द्रिये संवरं आपज्जती**" (म० नि० १-३३०) ति वुत्तं, इदं **इन्द्रियसंवरशीलं**। या पन आजीवहेतुपञ्ञत्तानं छन्नं सिक्खापदानं वीतिक्कमस्स, "कुहना लपना नेमित्तिकता निप्पेसिकता लाभेन लाभं निजिगीसनता" ति एवमादीनं च पापधम्मानं वसेन पवत्ता मिच्छाजीवा विरति, इदं **आजीवपारिसुद्धिसीलं**। "पटिसङ्खा योनिसो चीवरं पटिसेवति, यावदेव सीतस्स पटिघाताय" (म० नि० १-१४) ति आदिना नयेन वुत्तो पटिसङ्खानपरिसुद्धो चतुपच्चयपरिभोगो **पच्चयसन्निस्सितसीलं** नाम।

(क) पातिमोक्खसंवरसीलं

२९. तत्रायं आदितो पट्ठाय अनुपुब्बपदवण्णनाय सद्धिं विनिच्छयकथा—इधाति।

माध्यम से—"यहाँ भिक्षु प्रातिमोक्षसंवर से संवृत एवं आचार (मन इन्द्रिय द्वारा शुभ आचरण) एवं गोचर (कर्मेन्द्रियों द्वारा कृत शुभ कर्म) से सम्पन्न हो साधना में लगा रहता है, छोटे से छोटे दोषों से भी भय मानना उसका स्वभाव बन जाता है, वह भलीभाँति शिक्षापदों का ग्रहण कर उनका अभ्यास करता है"—कहा गया शील **प्रातिमोक्षसंवर शील** कहलाता है।

(२) "वह चक्षु इन्द्रिय से रूप (विषय) को देखकर न उसके लक्षणों (निमित्तों) का ग्रहण करता है, न चिह्नों (अनुव्यञ्जनों) का; जिसके कारण, यदि वह अपनी चक्षुरिन्द्रिय को असंयत छोड़ दे तो लोभ, दौर्मनस्य आदि पापमय अकुशल धर्म उत्पन्न होने लगेंगे, अतः उनके संवरहेतु साधक प्रयत्नवान् रहता है, चक्षुरिन्द्रिय की लोभादि से रक्षा करता है, उसमें संवर करता है। श्रोत्र से शब्द सुनकर... घ्राण से गन्ध सूँघकर... जिह्वा से रस चखकर... काय से स्प्रष्टव्य (स्पर्शयोग्य) को स्पर्शकर... मन से धर्म को जानकर... मन इन्द्रिय से संवर करता है" इस सन्दर्भ में कथित शील **इन्द्रियसंवरशील** कहलाता है।

(३) और जो आजीविका (रोजी–रोजगार) के सन्दर्भ में प्रज्ञप्त छह शिक्षापदों के उल्लङ्घन, व्यङ्ग्य मारना (कूटचर्या=कुहना), स्व या पर की मिथ्या प्रशंसा (लपना–वाचालता), करना, निमित्तकथन, (शकुन–अपशकुन आदि बताना=नैमित्तिकता), दूसरों को नीचा दिखाना (निष्पेषिकता), एक लाभ से दूसरे लाभ का अन्वेषण (निजिगिंसनता) आदि प्रकार से पाप (उत्पन्न करने वाले) धर्मों के सहारे से होने वाली आजीविका (=कमाई) से विरत रहना—यह **आजीवपरिशुद्धि शील** है।

(४) "प्रज्ञा से सम्यक्तया सोच विचार कर चीवर का उतना ही उपयोग करता है, जिससे शीत या ताप से रक्षा (बचाव) हो सके" इस बुद्ध–वचन से कहा गया, चिन्तन से परिशुद्ध चार प्रत्ययों (चीवर, पिण्डपात, शयनासन, ग्लानप्रत्ययभैषज्य) का उपयोग **प्रत्ययसन्निश्रित शील** कहलाता है।

(क) प्रातिमोक्षसंवरशील

२९. अब उपरिवर्णित **'दीघनिकाय'** के **'इध भिक्खु'** इस ग्रन्थांश (पृष्ठ २५) के पदों की आनुपूर्वी (क्रमिक) व्याख्या (वर्णन) की जा रही है—

इमस्मिं सासने। **भिक्खू** ति। संसारे भयं इक्खणताय वा भिन्नपटधरादिताय वा एवं लद्धवोहारो सद्धापब्बजितो कुलपुत्तो। **पातिमोक्खसंवरसंवुतो** ति। एत्थ पातिमोक्खं ति सिक्खापदसीलं। तं हि यो नं पाति रक्खति, तं मोक्खेति, मोचयति आपायिकादीहि दुक्खेहि, तस्मा पातिमोक्खं ति वुच्चति। संवरणं संवरो। कायिकवाचिकस्स अवीतिक्कमस्सेतं नामं। पातिमोक्खमेव संवरो पातिमोक्खसंवरो। तेन पातिमोक्खसंवरेन संवुतो पातिमोक्खसंवरसंवुतो=उपगतो, समन्नागतो ति अत्थो। **विहरती** ति। इरियति। **आचारगोचरसम्पन्नो** ति आदीनं अत्थो पालियं आगतनयेनेव वेदितब्बो। वुत्तं हेतं—

"आचारगोचरसम्पन्नो ति। अत्थि आचारो, अत्थि अनाचारो।

"तत्थ कतमो अनाचारो? कायिको वीतिक्कमो, वाचसिको वीतिक्कमो, कायिकवाचसिको वीतिक्कमो,अयं वुच्चति अनाचारो। सब्बं पि दुस्सील्यं अनाचारो। इधेकच्चो वेळुदानेन वा पत्तदानेन वा पुप्फफलसिनानदन्तकट्ठदानेन वा चाटुकम्यताय वा मुग्गसूप्यताय वा पारिभट्यताय वा जङ्घपेसनिकेन वा अञ्ञतरञ्ञतरेन वा बुद्धपटिकुट्ठेन मिच्छाआजीवेन जीविकं कप्पेति, अयं वुच्चति अनाचारो।

"तत्थ कतमो आचारो? कायिको अवीतिक्कमो, वाचसिको अवीतिक्कमो, कायिकवाचसिको अवीतिक्कमो, अयं वुच्चति आचारो। सब्बो पि सीलसंवरो आचारो। इधेकच्चो न वेळुदानेन वा, न पत्त.... न पुप्फ.... न फल.... न सिनान.... न दन्तकट्ठदानेन वा न चाटुकम्यताय वा न मुग्गसूप्यताय वा न पारिभट्यताय वा न जङ्घपेसनिकेन वा न अञ्ञतरञ्ञतरेन वा बुद्धपटिकुट्ठेन मिच्छाआजीवेन जीविकं कप्पेति, अयं वुच्चति आचारो।

"गोचरो ति। अत्थि गोचरो, अत्थि अगोचरो।

इध— इस बुद्ध-शासन में। **भिक्खु**— कोई श्रद्धावश प्रव्रजित हुआ कुलपुत्र संसार में भय देखने के कारण या फटे-पुराने वस्त्र (चीवर) पहनने के कारण लोकव्यवहार में 'भिक्षु' इस नाम से पुकारा जाता है। **पातिमोक्खसंवरसंवुतो**—यहाँ 'प्रातिमोक्ष' का अर्थ है—शिक्षापदों में वर्णित आचार का पालन। जो उसका पालन करता है, रक्षण करता है, उसे वह भव-बन्धन से मुक्त कराता है, अपाय, दुर्गति आदि दुःखों से छुटकारा दिलाता है, अतः वह 'प्रातिमोक्ष' कहलाता है। 'संवर' कहते हैं संयम को। यहाँ इस शब्द का 'काय-वाग्गत संयम' से अभिप्राय है। इस प्रातिमोक्ष का संवर ही 'प्रातिमोक्षसंयम' है। यों उस प्रातिमोक्षसंवर से संवृत, उपगत, समन्वागत (युक्त) या प्राप्त व्यक्ति ही 'प्रातिमोक्षसंवरसंवृत' हुआ। **विहरति**—ईरण (भिक्षु-व्यवहार) करता है।

आचारगोचरसम्पन्नो आदि (अवशिष्ट) शब्दों का अर्थ पालि (बुद्धवचन) में अन्यत्र (अभि० २-२९६) जैसा मिलता है, वैसा ही यहाँ भी समझना चाहिये। वहाँ यह कहा गया है—

आचार और गोचर से सम्पन्न— 'आचार' (का) भी (विद्वानों ने स्पष्टीकरण किया) है, अनाचार (का) भी।

आचार— वहाँ उस प्रसङ्ग में 'अनाचार' क्या है? कायसम्बन्धी आचार (शील) का, वाक्सम्बन्धी आचार का तथा काय-वाक्सम्बन्धी आचार का उल्लङ्घन यहाँ 'अनाचार' कहलाता है। संक्षेप में यों कहिये कि सभी दुःशील (दुराचारमय) व्यवहार 'अनाचार' है। यहाँ कोई पुरुष बांस का भार उपहार में देकर या पत्र, पुष्प या फल, स्नानोपयोगी द्रव्य (तैल, उबटन, वस्त्र आदि) या दतउन उपहार में देकर या चाटुकारिता (खुशामद) कर, या झूठ सच बोलकर या उसके शत्रुओं से कृत्रिम विरोध

"तत्थ कतमो अगोचरो? इधेकच्चो वेसियागोचरो वा होति, विधवा-थुल्लकुमारिका-पण्डक-भिक्खुनी-पानागारगोचरो वा होति, संसट्ठो विहरति राजूहि राजमहामत्तेहि तित्थियेहि, तित्थियसावकेहि अननुलोमिकेन संसग्गेन, यानि वा पन तानि कुलानि अस्सद्धानि अप्पसन्नानि अक्कोसकपरिभासकानि अनत्थकामानि अहितकामानि अफासुककामानि अयोगक्खेमकामानि भिक्खूनं भिक्खुनीनं उपासकानं उपासिकानं, तथारूपानि कुलानि सेवति भजति पयिरुपासति, अयं वुच्चति अगोचरो।

"तत्थ कतमो गोचरो? इधेकच्चो न वेसियागोचरो वा होति ...पे०... न पानागारगोचरो वा होति, असंसट्ठो विहरति राजूहि ...पे०... तित्थियसावकेहि अननुलोमिकेन संसग्गेन, यानि वा पन तानि कुलानि सद्धानि पसन्नानि ओपानभुतानि कासावपज्जोतानि इसिवातपटिवातानि अत्थकामानि ...पे०... योगक्खेमकामानि भिक्खूनं ...पे०... उपासिकानं, तथारूपानि कुलानि सेवति भजति पयिरुपासति, अयं वुच्चति गोचरो। इति इमिना च आचारेन इमना च गोचरेन उपेतो होति समुपेतो उपगतो समुपगतो उपपन्नो सम्पन्नो समन्नागतो। तेन वुच्चति—"आचार-गोचरसम्पन्नो" (अभि० २-२९६) ति।

अपि चेत्थ इमिना पि नयेन आचारगोचरा वेदितब्बा—

दुविधो हि अनाचारो, कायिको वाचसिको च। तत्थ कतमो कायिको अनाचारो?

दिखाकर या सेवा–टहल कर या भगवान् बुद्ध द्वारा निन्दित अतएव निषिद्ध आजीविका (जीवन–वृत्ति) से अपना जीवननिर्वाह करता है—यही 'अनाचार' कहा जाता है।

और वहाँ (पालि–पाठ में) 'आचार से' क्या तात्पर्य है? "शास्त्रोक्त काय तथा वाणी के कर्मों का अनुल्लङ्घन या काय–वाक्कर्मों का अनुल्लङ्घन ही यहाँ 'आचार' पद से अभिप्रेत है। यहाँ कोई न तो बाँस का भार उपहार में देकर, न पत्र या पुष्प–फल, स्नानोपयोगी द्रव्य या दतुअन आदि उपहार में देकर, न चाटुकारिता (मुँहदेखी बात) करके, न झूठ–सच बोलकर, न उसके शत्रुओं से कृत्रिम विरोध दिखाकर, न सेवा–टहल कर, न बुद्ध द्वारा निन्दित अतएव निषिद्ध कर्मों से आजीविका चलाता हुआ जीवननिर्वाह करता है— यही (उसका) 'आचार' कहलाता है।

गोचर— शास्त्र में गोचर का भी वर्णन है, अगोचर का भी। "वहाँ 'अगोचर' शब्द का क्या अभिप्राय है? यहाँ कोई वेश्यागामी हो या विधवा, अविवाहित स्वस्थ वयःप्राप्त लड़की (स्थूलकुमारी), नपुंसक या भिक्षुणी से समागम (मैथुन) करने वाला हो, मद्यशाला जाता हो, या राजा व राजा के महामात्य, अन्यतीर्थिकों या उनके शिष्यो से अननुलोम (प्रतिकूल) संसर्ग द्वारा या वैसे वैसे श्रद्धाविरहित परिवारों (कुलों) से वैर रखने वालों से, भिक्षु–भिक्षुणी–उपासक–उपासिकाओं को कोसने, कटुवचन बोलने वालों से या इनका अहित अनिष्ट या अयोगक्षेम चाहने वालों से सम्पर्क रखता है, मेल–जोल बढ़ाता है, उनके पास बार बार जाता है—ऐसा व्यक्ति 'अगोचर' कहलाता है।

"और वहाँ 'गोचर' शब्द से क्या तात्पर्य है? यहाँ जो न वेश्यागामी हो....पूर्ववत्....न मदिरालय जाय, न राजाओ से... न जो अन्यतीर्थिकों के शिष्यों से मेल–जोल बढ़ाता हो, न उनके पास बार बार जाता हो; और जो भिक्षुओं के प्रति प्रेमभाव श्रद्धा व धर्म भाव रखने वाले ऐसे हितैषी योगक्षेमकारक परिवारो में ही आना जाना हो जहाँ काषाय–वस्त्र (चीवर) धारी, ऋषियों के आचारमय वातावरण मे रहने वाले भिक्षुओ का ही प्रायः आता–जाता हो, वह 'गोचर' कहलाता है। यों, जो ऐसे आचार, ऐसे गोचर से युक्त, सम्पन्न एव समन्वागत हो वही 'आचारगोचरसम्पन्न' कहलाता है।"

और यहाँ इस प्रकरण में इन 'आचार' 'गोचर' शब्दों का यह अर्थ भी समझा जा सकता है—

इधेकच्चो सङ्घगतो पि अचित्तीकारकतो थेरे भिक्खू घट्टयन्तो पि तिट्ठति, घट्टयन्तो पि निसीदति, पुरतो पि तिट्ठति, पुरतो पि निसीदति, उच्चे पि आसने निसीदति, ससीसं पि पारुपित्वा निसीदति, ठितको पि भणति, बाहाविक्खेपको पि भणति, थेरानं भिक्खूनं अनुपाहनानं चङ्कमन्तानं सउपाहनो चङ्कमति, नीचे चङ्कमे चङ्कमन्तानं उच्चे चङ्कमे चङ्कमति, छमायं चङ्कमन्तानं चङ्कमे चङ्कमति, थेरे भिक्खू अनुपखज्जा पि तिट्ठति, अनुपखज्जा पि निसीदति, नवे पि भिक्खू आसनेन पटिबाहति, जन्ताघरे पि थेरे भिक्खू अनापुच्छा कट्ठं पक्खिपति, द्वारं पिदहति, उदकतित्थे पि थेरे भिक्खू घट्टयन्तो पि ओतरति, पुरतो पि ओतरति, घट्टयन्तो पि न्हायति, पुरतो पि न्हायति, घट्टयन्तो पि उत्तरति, पुरतो पि उत्तरति; अन्तरघरं पविसन्तो पि थेरे भिक्खू घट्टयन्तो पि गच्छति, पुरतो पि गच्छति, वोक्कम्म च थेरानं भिक्खूनं पुरतो पुरतो गच्छति, यानि पि तानि होन्ति कुलानं ओवरकानि गूळ्हानि च पटिच्छन्नानि च यत्थ कुलित्थियो कुलकुमारियो निसीदन्ति, तत्थ पि सहसा पविसति, कुमारकस्स पि सीसं परामसति—अयं वुच्चति कायिको अनाचारो।

तत्थ कतमो वाचसिको अनाचारो? "इधेकच्चो सङ्घगतो पि अचित्तीकारकतो थेरे भिक्खू अनापुच्छा धम्मं भणति, पञ्हं विस्सज्जेति, पातिमोक्खं उद्दिसति, ठितको पि भणति, बाहाविक्खेपको पि भणति, अन्तरघरं पविट्ठो पि इत्थिं वा कुमारिं वा एवमाह—'इत्थन्नामे, इत्थंगोत्ते किं अत्थि? यागु अत्थि? भत्तं अत्थि? खादनीयं अत्थि? किं पिविस्साम? किं

कायिक वाचिक भेद से अनाचार दो प्रकार का होता है। वहाँ 'कायिक अनाचार' क्या है? यहाँ कोई सङ्घ में सम्मिलित होता हुआ अशिष्टता के साथ स्थविर भिक्षुओं को ढकेलते हुए खड़ा होता है, ढकेलते हुए बैठता है; उनके सामने (पीठ देकर) खड़ा हो जाता है, बैठ जाता है, उनसे ऊँचे आसन पर बैठता है, सिर ढक कर बैठता है, उनके सामने खड़ा होकर बोलता है, असम्मान की दृष्टि से हाथ फैंक–फैंक कर बोलता है; स्थविर भिक्षु जब विना जूता खड़ाऊँ पहने चंक्रमण कर रहे हों तो उनके सामने जूता आदि पहनकर चंक्रमण करता हो; या वे जब किसी नीचे स्थान पर चंक्रमण कर रहे हों तब वह उनके सामने उनकी अपेक्षा उनसे ऊँचे स्थल पर चंक्रमण करता है; स्थविर भिक्षुओं को धक्का देता हुआ खड़ा होता है या बैठता है; नये भिक्षुओं को आसन ग्रहण करने से रोकता है; स्थविर भिक्षुओं को विना पूछे, स्नानगृह में काष्ठ (का आसन) रख देता है या उस स्नानगृह के द्वार बन्द कर देता है; घाट पर स्नान करते समय स्थविर भिक्षुओं को एक तरफ ढकेलते हुए जल में उतरता है, या उनके सामने से भी उतरता है; उन्हें ढकेलते हुए नहाता है, उनके सामने भी नहाता है; किन्हीं गृहस्थो के घरों में प्रवेश करते समय स्थविर भिक्षुओं को ढकेलते हुए भीतर जाता है; और गृहस्थों के घरों में जहाँ अवरोध (पर्दे) लगे हुए हो या निजी कक्ष हो, जिनमें कि परिवार की स्त्रियाँ एवं कुमारियाँ रहती हों, वहाँ भी सहसा, अनुमति के विना प्रवेश करता है, वहाँ सोये या बैठे बच्चो के सिर पर आशीर्वाद के बहाने से हाथ फेरता है, उन्हें थपथपाता है— यह 'कायिक अनाचार' है।

'वाचिक अनाचार' क्या है? "यहाँ कोई सङ्घ में जाकर अशिष्टता के साथ, स्थविर भिक्षुओं की आज्ञा के विना ही, धर्म के विषय में प्रश्न करता है, उत्तर देता है, प्रातिमोक्ष का पारायण करता है, खड़ा होकर बोलता है, बाँह पसार–पसार कर बोलता है; गृहस्थो के घर में प्रवेश कर वहाँ किसी स्त्री या कुमारी से इस प्रकार कहता है— 'अरी ओ अमुक नाम या अमुक गोत्र वाली! (आज हमारे लिये) क्या भोजन बनाया है? मेरे लिये दाल है? भात है? खाने योग्य या पीने योग्य कुछ है? भोजन

खादिस्साम ? किं भुञ्जिस्साम ? किं वा मे दस्सथा' ति विप्पलपति—अयं वुच्चति वाचसिको अनाचारो'' (खु० ४:१-१९१)। पटिपक्खवसेन पनस्स आचारो वेदितब्बो।

अपि च—भिक्खु सगारवो सप्पतिस्सो हिरोत्तप्पसम्पन्नो सुनिवत्थो सुपारुतो, पासादिकेन अभिक्कन्तेन पटिक्कन्तेन आलोकितेन विलोकितेन समिञ्जितेन पसारितेन ओक्खित्तचक्खु इरियापथसम्पन्नो, इन्द्रियेसु गुत्तद्वारो, भोजने मत्तञ्ञू, जागरियमनुयुत्तो, सतिसम्पजञ्ञेन समन्नागतो, अप्पिच्छो, सन्तुट्ठो, आरद्धविरियो, आभिसमाचारिकेसु सक्कच्चकारो, गरुचित्तीकारबहुलो विहरति—अयं वुच्चति आचारो। एवं ताव आचारो वेदितब्बो।

गोचरो पन तिविधो—उपनिस्सयगोचरो, आरक्खगोचरो, उपनिबन्धगोचरो ति। तत्थ कतमो **उपनिस्सयगोचरो** ? दसकथावत्थुगुणसमन्नागतो कल्याणमित्तो यं निस्साय अस्सुतं सुणाति, सुतं परियोदपेति, कङ्खं वितरति, दिट्ठिं उजुं करोति, चित्तं पसादेति। यस्स वा पन अनुसिक्खमानो सद्धाय वड्ढति, सीलेन, सुतेन, चागेन, पञ्ञाय वड्ढति—अयं वुच्चति उपनिस्सयगोचरो।

कतमो **आरक्खगोचरो** ? इध भिक्खु अन्तरघरं पविट्ठो वीथिं पटिपन्नो ओक्खित्तचक्खु युगमत्तदस्सावी सुसंवुतो गच्छति, न हत्थिं ओलोकेन्तो, न अस्सं, न रथं,

---

करने योग्य क्या है? हमें क्या दोगी?''—यों असम्बद्ध वचन बोलता है—यह भी 'वाचसिक अनाचार' कहलाता है।

इसके प्रतिकूल आचरण 'वाचसिक आचार' कहलाता है।

और फिर कोई भिक्षु धर्म एव सङ्घ के प्रति सम्मान, सङ्कोच एवं लज्जा के साथ भलीभाँति अन्तर्वासक (भीतरी वस्त्र) एवं चीवर धारण किये हुए, प्रसन्नवदन हो, ठीक तरह से आलोकन-विलोकन कर आगे पीछे चलते समय अपने अङ्गों को ठीक तरह से समेटते पसारते हुए, नीची नजर कर अपनी शारीरिक चेष्टा करता है, इन्द्रियों पर संयम रखता है, भोजन का उपयोग उचित मात्रा में करता है, जागरणशील रहता है, स्मृति एवं सम्प्रजन्य से युक्त होता है, अल्पेच्छ है तथा यथालाभसन्तुष्ट रहता है, उद्योगरत एवं सदाचार-कर्मों को आदरपूर्वक करने वाला तथा गुरु-वृद्धजनों को सम्मानित दृष्टि से देखता हुआ साधना में तत्पर रहता है—इसे 'आचार' कहते हैं। यों 'आचार' के विषय में समझना चाहिये।

फिर 'गोचर' के भी तीन प्रकार है; जैसे—१. उपनिश्रयगोचर, २. आरक्षगोचर एवं ३. उपनिबन्धगोचर। इनमें उपनिश्रयगोचर क्या है? दश कथावस्तुओं[१] के गुणों से समन्वित कल्याणमित्र, जिसके सहारे न सुने हुए को सुनता है, सुने हुए का संशोधन करता है, शङ्का-सन्देह मिटाता है, यथार्थदर्शी बनता है, इस तरह चित्त में प्रसन्नता की वृद्धि करता है। अथवा—जिसके द्वारा शिक्षित हो वह श्रद्धा, शील, श्रुत, त्याग और प्रज्ञा में उन्नति करता है—यह 'उपनियश्रगोचर' कहलाता है।

'आरक्षगोचर' क्या है? यहाँ कोई भिक्षु गृहस्थ के घर में प्रवेश करते या मार्ग (विथि) में चलते हुए नीची दृष्टि रखकर चार हाथ की दूरी तक ही देखता हुआ (=युगमार्गदर्शी) एवं सर्वथा संयत

---

१. दश कथावस्तु— १. अल्पेच्छता, २. सन्तुष्टि, ३. प्रविवेक, ४. असंसृष्टि, ५. वीर्यारम्भ, ६. शील, ७. समाधि, ८. प्रज्ञा, ९. विमुक्ति एवं १०. विमुक्तिज्ञानदर्शन (म०नि० १-३, ४)।

न पत्तिं, न इत्थिं, न पुरिसं ओलोकेन्तो, न उद्धं उल्लोकेन्तो, न अधो ओलोकेन्तो, न दिसाविदिसं पेक्खमानो गच्छति, अयं वुच्चति आरक्खगोचरो।

कतमो **उपनिबन्धगोचरो**? चत्तारो सत्तिपट्ठाना यत्थ चित्तं उपनिबन्धति। वुत्तं हेतं भगवता—"को च, भिक्खवे, भिक्खुनो गोचरो सको पेत्तिको विसयो? यदिदं चत्तारो सतिपट्ठाना" (सं० ४-१२७) ति, अयं वुच्चति उपनिबन्धगोचरो। इति इमिना च आचारेन इमिना च गोचरेन उपेतो...पे०...समन्नागतो। तेन पि वुच्चति—आचारगोचरसम्पन्नो ति।

अणुमत्तेसु वज्जेसु भयदस्सावी ति। अणुप्पमाणेसु असञ्चिच्च आपन्नसेखिय-अकुसलचित्तुप्पादादिभेदेसु वज्जेसु भयदस्सनसीलो। **समादाय सिक्खति सिक्खापदेसू** ति। यं किञ्चि सिक्खापदेसु सिक्खितब्बं, तं सब्बं सम्मा आदाय सिक्खति।

एत्थ च "पातिमोक्खसंवरसंवुतो" ति एतावता च पुग्गलाधिट्ठानाय देसनाय **पातिमोक्खसंवरसीलं** दस्सितं। "आचारगोचरसम्पन्नो" ति आदि पन सब्बं यथापटिपन्नस्स तं सीलं सम्पज्जति, तं पटिपत्तिं दस्सेतुं वुत्तं ति वेदितब्बं॥

(ख) इन्द्रियसंवरसीलं

३०. यं पनेतं तदनन्तरं "सो चक्खुना रूपं दिस्वा" ति आदिना नयेन दस्सितं इन्द्रियसंवरसीलं, तत्थ— **सो** ति। सो पातिमोक्खसंवरसीले ठितो भिक्खु। **चक्खुना रूपं दिस्वा** ति। कारणवसेन चक्खू ति लद्धवोहारेन रूपदस्सनसमत्थेन चक्खुविञ्ञाणेन रूपं दिस्वा। पोराणा पनाहु—"चक्खु रूपं न पस्सति, अचित्तकत्ता; चित्तं न पस्सति, अचक्खुकत्ता;

होकर चलता है, मार्ग में न हाथी, न घोड़े, न रथ, न पैदल चलने वालों को, न स्त्री न पुरुष को, न ऊपर न नीचे, न इधर, न उधर (व्यर्थ) देखते हुए चलता है—यह 'आरक्षगोचर' कहलाता है।

'उपनिबन्धगोचर' क्या होता है? वे चार स्मृतिप्रस्थान, जहाँ चित्त उपनिबद्ध होता है। भगवान् ने कहा भी है— "भिक्षुओ! भिक्षु का कौन सा गोचर उसका पैतृक उत्तराधिकार होता है? यही जो ये चार स्मृति-प्रस्थान हैं।"—यह उपनिबन्धगोचर कहलाता है। यों, इस आचार व इस गोचर से युक्त....पूर्ववत्....समन्वागत ही 'आचारगोचरसम्पन्न' कहलाता है।

अणुमात्र (अल्पतम) दोषों में भी भय देखने वाला—प्रातिमोक्ष के छोटे छोटे नियमों का अज्ञान में हुए उल्लङ्घन एवं अल्पमात्र अकुशलचित्तोत्पाद जैसे वर्जित दोषों के करने में भी भय मानने वाला। **शिक्षापदों का ग्रहण कर उनका अभ्यास करता है**—शिक्षापदों में जो कुछ भी सीखने योग्य है उस सबको यथार्थतः ग्रहण कर अभ्यास करता है।

यहाँ यह 'प्रातिमोक्षसंवर संयुक्त' तक व्यक्ति (पुद्गल) पर आधृत देशना द्वारा **प्रातिमोक्ष संवरशील** कहा गया। 'आचारगोचरसम्पन्न' आदि (शब्दों से) जो सब कहा गया है वह, यथाप्रतिपन्न का जो शील पूर्ण होता है, उसके मार्ग (प्रतिपत्ति) का प्रदर्शन करने के लिये कहा गया है— ऐसा समझना चाहिये।

(ख) इन्द्रियसंवरशील

३०. उसके बाद यह जो ऊपर "चक्षु से रूप देखकर" "आदि प्रकार से पालि-पाठ द्वारा इन्द्रियसंवर कहा गया है उसका व्याख्यान इस तरह है—**सो**— वह प्रातिमोक्षसंवरशील साधनारत भिक्षु। **चक्खुना रूपं दिस्वा**— यह एक बोलने का ढंग है, अन्यथा वस्तुतः रूपदर्शन मे समर्थ तो चक्षु का विज्ञान है। इसीलिये प्राचीन (पौराण) विद्वान् कहते हैं—"चित्त से सम्बद्ध न होने पर चक्षुरिन्द्रिय

द्वारारम्मणसङ्घट्टे पन चक्खुपसादवत्थुकेन चित्तेन पस्सति। ईदिसी पनेसा 'धनुना विज्झती' ति आदिसु विय ससम्भारकथा नाम होति। तस्मा 'चक्खुविञ्ञाणेन रूपं दिस्वा' ति अयमेवेत्थ अत्थो" ति।

न निमित्तग्गाही ति। इत्थिपुरिसनिमित्तं वा सुभनिमित्तादिकं वा किलेसवत्थुभूतं निमित्तं न गण्हाति, दिट्ठमत्ते येव सण्ठाति।

नानुब्यञ्जनग्गाही ति। किलेसानं अनु अनु ब्यञ्जनतो पाकटभावकरणतो अनुब्यञ्जनं ति लद्धवोहारं हत्थपादसितहसितकथितआलोकितविलोकितादिभेदं आकारं न गण्हाति, यं तत्थ भूतं, तदेव गण्हाति, चेतियपब्बतवासी **महातिस्सत्थेरो** विय।

थेरं किर चेतियपब्बता अनुराधपुरं पिण्डचारत्थाय आगच्छन्तं अञ्ञतरा कुलसुण्हा सामिकेन सद्धिं भण्डित्वा सुमण्डितपसाधिता देवकञ्ञा विय कालस्सेव अनुराधपुरतो निक्खमित्वा ञातिघरं गच्छन्ती अन्तरामग्गे दिस्वा विपल्लत्थचित्ता महाहसितं हसि। थेरो 'किमेतं' ति ओलोकेन्तो तस्सा दन्तट्ठिके असुभसञ्ञं पटिलभित्वा अरहत्तं पापुणि। तेन वुत्तं—

"तस्सा दन्तट्ठिकं दिस्वा पुब्बसञ्ञं अनुस्सरि।
तत्थेव सो ठितो थेरो अरहत्तं अपापुणी" ति॥

सामिको पि खो पनस्सा अनुमग्गं गच्छन्तो थेरं दिस्वा "किञ्चि, भन्ते, इत्थिं पस्सथा?" ति पुच्छि। तं थेरो आह—

रूप को नहीं देख पाती; अकेला चित्त भी रूप का साक्षात्कार नहीं कर पाता; क्योंकि वहाँ तब चक्षुरिन्द्रिय नहीं है। यहाँ वास्तविकता यह है कि पुरुष का चक्षु आदि छह द्वार एवं रूप आदि छह आलम्बनों का संसर्ग होने पर चक्षुःप्रसादमय चित्त से ही कुछ देखता है। यह 'चक्षु से रूप देखकर' कहना तो ऐसे ही है जैसे हम लोक में बोलते रहते हैं—"धनुष् से मारता है"। जबकि वहाँ उस मारणक्रिया का साधन तीर है, धनुष् नहीं। अतः यहाँ 'चक्खुना रूपं दिस्वा' का यही अर्थ समझना चाहिये कि चक्षुर्विज्ञान से रूप को देखकर।"

न निमित्तग्गाही— वह 'स्त्री' या 'पुरुष' निमित्त को या शुभादि निमित्तों को (जैसे 'यह स्त्री है', 'यह पुरुष है', 'यह सुन्दर है' आदि रूप में दृश्य विषयों को) केवल उन्हें (वास्तविक स्वरूप में) देखकर ही रह जाता है, उनकी तरफ आकृष्ट नहीं होता।

नानुव्यञ्जनग्गाही— अनुव्यञ्जनग्राही नहीं होता। क्लेशों का अनुगामी होने से या उन्हें प्रकट करने से 'अनुव्यञ्जन' संज्ञा से व्यवहृत हस्तपादादि का सञ्चालन, हँसना–मुस्कराना, बोलना, अवलोकन (आगे देखना) विलोकन (पीछे देखना) आदि आकारों को ग्रहण नहीं करता। जो यथार्थ है उसी का ग्रहण करता है; जैसे चैत्यपर्वतवासी महातिष्य स्थविर ने किया था।

इस **स्थविर की कथा** यह है— स्थविर के चैत्य पर्वत से उतरकर, भिक्षाहेतु अनुराधपुर जाते समय, कोई कुलवधू, जो अपने पति से गृहकलह कर देवकन्या की तरह सज–धज कर बहुत प्रातः ही अनुराधपुर से निकल अपने मातृगृह जा रही थी, मार्ग के बीच उस स्थविर को देख, दूषितचित्त (काममुग्ध) हो, जोर से हँसी। स्थविर ने 'यह क्या है?'—इस प्रकार देखते हुए उसके दाँतों की अस्थियों में अशुभसंज्ञा को ग्रहण कर अर्हत्त्व पा लिया। इसीलिये कहा गया है—

"उसके दाँतों की अस्थियाँ देखकर स्वयं द्वारा अधिष्ठान की गयी पहले वाली (अशुभ) संज्ञा का अनुसरण कर उस स्थविर ने वहाँ खड़े–खडे ही अर्हत्त्व प्राप्त कर लिया।"

"नाभिजानामि इत्थी वा, पुरिसो वा इतो गतो।
अपि च अट्ठिसङ्घातो, गच्छतेस महापथे" ति॥

यत्वाधिकरणमेनं ति आदिम्हि यङ्कारणा यस्स चक्खुन्द्रियासंवरस्स हेतु एतं पुग्गलं सतिकवाटेन चक्खुन्द्रियं असंवुतं अपिहितचक्खुद्वारं हुत्वा विहरन्तं एते अभिज्झादयो धम्मा अन्वास्सवेय्युं, अनुबन्धेय्युं। **तस्स संवराय पटिज्जती** ति। तस्स चक्खुन्द्रियस्स सतिकवाटेन पिदहनत्थाय पटिपज्जति। एवं पटिपज्जन्तो येव च रक्खति चक्खुन्द्रियं, चक्खुन्द्रिये संवरं आपज्जती ति पि वुच्चति। तत्थ किञ्चापि चक्खुन्द्रिये संवरो वा असंवरो वा नत्थि। न हि चक्खुपसादं निस्साय सति वा मुट्ठसच्चं वा उप्पज्जति। अपि च यदा रूपारम्मणं चक्खुस्स आपाथं आगच्छति, तदा भवङ्गे द्विक्खत्तुं उप्पज्जित्वा निरुद्धे, किरियमनोधातु आवज्जनकिच्चं साधयमाना उप्पज्जित्वा निरुज्झति। ततो चक्खुविञ्ञाणं दस्सनकिच्चं, ततो विपाकमनोधातु सम्पटिच्छनकिच्चं, ततो विपाकाहेतुकमनोविञ्ञाणधातु सन्तीरणकिच्चं, ततो किरियाहेतुक-मनोविञ्ञाणधातु वोट्ठपनकिच्चं साधयमाना उप्पज्जित्वा निरुज्झति, तदनन्तरं जवनं जवति।

उसके पीछे-पीछे आता हुआ उसका पति, स्थविर को देखकर, उनसे पूछने लगा—"क्या, भन्ते! आपने किसी स्त्री को इधर आगे जाते देखा है?"

स्थविर बोले— "मैं नहीं जानता कि इधर कोई स्त्री या पुरुष संज्ञक कुछ गया है। हाँ इतना जानता हूँ कि एक अस्थिकङ्काल अभी आगे-आगे गया है।"

यत्वाधिकरणमेनं— आदि पालिपाठ में जिस कारण या जिस चक्षुरिन्द्रिय के असंयमरूप हेतु से इस पुद्गल को स्मृतिरूपी कपाट से चक्षुरिन्द्रिय के बन्द किये विना 'खुले इन्द्रिय-द्वार वाला' होकर साधना करते हुए को लोभ आदि धर्म सता सकते हैं, उसके पीछे लग सकते हैं।

तस्स संवराय पटिपज्जति— उस चक्षुरिन्द्रिय को स्मृतिरूपी कपाट से बन्द करने के लिये तत्पर होता है। एवं इस प्रकार तत्पर रहते हुए ही वह चक्षुरिन्द्रिय की रक्षा करता है, उसका संवर करता है—इसलिये भी ऐसा कहा जाता है।

वस्तुतः चक्षुरिन्द्रिय का संवर या असंवर नहीं होता; क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय के आश्रय से न तो स्मृति उत्पन्न होती है, न विस्मृति (मुट्ठसच्च)। इसके विपरीत, जब रूपालम्बन चक्षु के सम्पर्क में आता है तब भवङ्गचित्त (स्वाभाविक या निरालम्बन परिशुद्ध या प्रभास्वरचित्त) के दो बार उत्पन्न होकर निरुद्ध हो जाने पर क्रियामनोधातु[1] आवर्जन (आलम्बनविषयक कल्पना) कृत्य का सम्पादन करती हुई उत्पन्न होकर निरुद्ध हो जाती है। तदनन्तर चक्षुर्विज्ञान[2] दर्शनकृत्य करता हुआ, पुनः विपाकमनोधातु[3] सम्प्रत्येषण (सपटिच्छन) का कार्य करती हुई, तदनन्तर विपाकाहेतुक मनोविज्ञानधातु[4] सन्तीरण कृत्य करती हुई, ततश्च क्रियाहेतुक मनोविज्ञानधातु[5] व्यवस्थापन कृत्य सम्पन्न करती हुई उत्पन्न होकर निरुद्ध हो जाती है। तत्पश्चात् जवनचित्त[6] जवन करता है।

---

१. उस उस कार्य को सिद्ध करने के लिये प्रवर्तनमात्र 'क्रिया' कहलाता है। स्वभाव से शून्य, निर्जीव-सा मन ही 'मनोधातु' है।

२. चक्षु से किसी रूपालम्बन को देखकर जानना ही चक्षुर्विज्ञान है।

३. रूपाद्यालम्बन का सम्प्रत्येषण ही विपाकमनोधातु है।

४. स्वीकृत आलम्बन की यथातथ मीमांसा करना सन्तीरण कहलाता है, वही विपाकाहेतुक मनोविज्ञान धातु भी कही जाती है। ५. उसी आलम्बन का सम्यक्तया विचार ही 'व्यवस्थापनचित्त' कहलाता है।

६. उन उन कृत्यों को पूर्ण करते हुए एक या अनेक बार, छोडने के समान आलम्बन मे पुनः पुनः उत्पन्न होने वाला चित्त 'जवनचित्त' कहलाता है।

तत्रापि नेव भवङ्गसमये, न आवज्जनादीनं अञ्ञतरसमये संवरो वा असंवरो वा अत्थि। जवनक्खणे पन सचे दुस्सील्यं वा मुट्ठसच्चं वा अञ्ञाणं वा अक्खन्ति वा कोसज्जं वा उप्पज्जति, असंवरो होति। एवं होन्तो पन सो 'चक्खुन्द्रिये असंवरो' ति वुच्चति।

कस्मा? यस्मा तस्मिं सति द्वारं पि अगुत्तं होति, भवङ्गं पि, आवज्जनादीनि पि वीथिचित्तानि। यथा किं? यथा नगरे चतूसु द्वारेसु असंवुतेसु किञ्चापि अन्तोघरद्वार-कोट्ठकगब्भादयो सुसंवुता होन्ति, तथा पि अन्तोनगरे सब्बं भण्डं अरक्खितं अगोपितमेव होति। नगरद्वारेन हि पविसित्वा चोरा यदिच्छन्ति तं करेय्युं, एवमेव जवने दुस्सील्यादीसु उप्पन्नेसु तस्मिं असंवरे सति द्वारं पि अगुत्तं होति, भवङ्गं पि, आवज्जनादीनि पि वीथिचित्तानि।

तस्मिं पन सीलादीसु उप्पन्नेसु द्वारं पि गुत्तं होति, भवङ्गं पि आवज्जनादीनि पि वीथिचित्तानि। यथा किं? यथा नगरद्वारेसु सुसंवुतेसु किञ्चापि अन्तोघरादयो असंवुता होन्ति, तथा पि अन्तोनगरे सब्बं भण्डं सुरक्खितं सुगोपितमेव होति। नगरद्वारेसु हि पिहितेसु चोरानं पवेसो नत्थि, एवमेव जवने सीलादीसु उप्पन्नेसु द्वारं पि गुत्तं होति, भवङ्गं पि आवज्जनादीनि पि वीथिचित्तानि। तस्मा जवनक्खणे उप्पज्जमानो पि 'चक्खुन्द्रिये संवरो' ति वुत्तो।

सोतेन सद्दं सुत्वा ति आदीसु पि एसेव नयो। एवमिदं सङ्खेपतो रूपादीसु किलेसानु-बन्धनिमित्तादिग्गाहपरिवज्जनलक्खणं **इन्द्रियसंवरसीलं** ति वेदितब्बं॥

वहाँ भी न भवङ्ग के समय, न आवर्जन आदि में से किसी एक के समय संवर या असंवर होता है। जवनक्षण में ही यदि दौःशील्य, विस्मृति, अज्ञान, अक्षान्ति (अरुचि) या आलस्य (कौसीद्य) उत्पन्न होते हैं तो 'असंवर' होता है। ऐसा होने पर 'चक्षुरिन्द्रिय में असंवर' कहलाता है।

क्यों? इसलिये कि उस असंवर के होने पर द्वार भी अरक्षित होता है, भवङ्ग भी, आवर्जन आदि वीथिचित्त भी। कैसे? जैसे नगर के चारों (मुख्य) द्वारों के बन्द न रहने पर, फिर भले ही घरों के द्वार, प्रकोष्ठ, कमरे आदि पूरी तरह बन्द हों तो भी नगर में सभी वस्तुएँ अरक्षित या खुली हुई ही कहलाती हैं; क्योंकि चोर नगर के खुले द्वारों से प्रविष्ट होकर नगर के किसी भी घर में जाकर जो चाहे कर सकता है; इसी तरह, जवन में दौःशील्य आदि के उत्पन्न होने पर, उसमें असंवर होने से चक्षुर्द्वार भी अरक्षित होता है, भवाङ्ग भी, आवर्जन आदि वीथिचित्त भी।

हाँ, उस समय जवन में शील आदि के उत्पन्न होने पर, द्वार भी गुप्त हो जाता है, भवाङ्ग, आवर्जन और वीथिचित्त भी। कैसे? जैसे नगर के चारो द्वारों के भलीभाँति रहने पर, फिर भले ही नगर के अन्तवर्ती घर सर्वथा खुले ही क्यों न पड़े रहें उन घरों का सभी सामान सुरक्षित व गुप्त ही रहता है। नगर द्वारों के बन्द रहने पर, चोरों का प्रवेश नहीं हो पाता; इसी तरह जवन में शीलादि के उत्पन्न होने पर द्वार भी गुप्त रहता है, भवाङ्ग आवर्जन आदि वीथिचित्त भी। यो, यद्यपि यह (संवर) जवन के क्षण में उत्पन्न होता है, तथापि 'चक्षुरिन्द्रियसंवर' ही कहलाता है।

सोतेन सद्दं सुत्वा— (श्रोत्र से शब्द सुनकर) इस पालि—पाठ का भी उपरिवर्णित '**चक्खुना रूपं दिस्वा**' के व्याख्यान में वर्णित शैली से ही सङ्गमन कर लेना चाहिये। इस प्रकार, संक्षेप में— रूपादि में क्लेशानुबन्धी निमित्त आदि के ग्रहण या वर्जन जिसका लक्षण है— ऐसे **इन्द्रियसंवरशील** को जानना चाहिये।।

(ग) आजीवपारिसुद्धिसीलं

३१. इदानि इन्द्रियसंवरसीलानन्तरं वुत्ते आजीवपारिसुद्धिसीले आजीवहेतु पञ्ञत्तानं **छन्नं सिक्खापदानं** ति यानि तानि १. "आजीवहेतु आजीवकारणा पापिच्छो इच्छापकतो असन्तं अभूतं उत्तरिमनुस्सधम्मं उल्लपति, आपत्ति पाराजिकस्स; २. आजीवहेतु आजीवकारणा सञ्चरित्तं समापज्जति, आपत्ति सङ्घादिसेसस्स; ३. आजीवहेतु आजीवकारणा 'यो ते विहारे वसति, सो भिक्खु अरहा' ति भणति, पटिविजानन्तस्स आपत्ति थुल्लच्चयस्स; ४. आजीवहेतु आजीवकारणा भिक्खु पणीतभोजनानि अगिलानो अत्तनो अत्थाय विञ्ञापेत्वा भुञ्जति, आपत्ति पाचित्तियस्स; ५. आजीवहेतु आजीवकारणा भिक्खुनी पणीतभोजनानि अगिलानो अत्तनो अत्थाय विञ्ञापेत्वा भुञ्जति, आपत्ति पाटिदेसनियस्स, ६. आजीवहेतु आजीवकारणा सूपं वा ओदनं वा अगिलानो अत्तनो अत्थाय विञ्ञापेत्वा भुञ्जति, आपत्ति दुक्कटस्सा" (वि० ५-१८१) ति; एवं पञ्ञत्तानि छ सिक्खापदानि, इमेसं छन्नं सिक्खापदानं।

कुहना ति आदीसु अयं पाळि—"तत्थ कतमा **कुहना**? लाभसक्कारसिलोकस-न्निस्सितस्स पापिच्छस्स इच्छापकतस्स या पच्चयपटिसेवनसङ्खातेन वा सामन्तजप्पितेन वा इरियापथस्स वा अट्ठपना, ठपना, सण्ठपना, भाकुटिका, भाकुटियं, कुहना, कुहायना, कुहितत्तं—अयं वुच्चति कुहना।

(ग) आजीवपारिशुद्धिशील

३१. अब 'इन्द्रियसंवरशील' के बाद कहे 'आजीविकापरिशुद्धिशील' में आजीविका के निमित्त प्रज्ञप्त छह शिक्षापदों का (व्याख्यान किया जा रहा है)। वे (क्रमशः) ये हैं— १. आजीविका (जीवनयापन) के लिये या आजीविका के कारण पापमय इच्छा रखने वाला, यथेच्छ आचरण करने वाला, अपने में अविद्यमान व अयथार्थ लोकोत्तर मनुष्यधर्म (परा मानवीय स्थिति) होने का दावा (उद्घोष) करता है उसे 'पाराजिक' आपत्ति होती है (वि०पि० १-४)। २. जो आजीविका के लिये सञ्चरित्त (स्त्री का सन्देश पुरुष के पास या पुरुष का सन्देश स्त्री के पास पहुँचाना) करता है उसे 'सङ्घादिशेष' की आपत्ति होती है।(वि०पि० २-५)। ३. जो आजीविका के लिये (गृहस्थों से खुशामद के रूप में यह कहता है कि 'जो भिक्षु तुम्हारे (बनवाये) विहार में रहता है वह अर्हत् ही (हो जाता) है।' और गृहस्थों द्वारा इसकी इस बात पर विश्वास कर लिये जाने पर उस (भिक्षु) को 'स्थूल अत्यय' की आपत्ति होती है। ४. जो भिक्षु आजीविका के लिये अच्छे-अच्छे स्वादिष्ट रुचिकर भोजन अपने लिये गृहस्थों से कहकर बनवावे और खावे उसे 'पाचित्तिय' आपत्ति होती है।(वि०पि० ५, १४, ३)। ५. जो भिक्षुणी आजीविका के लिये, रुग्ण न होने पर भी अपने लिये गृहस्थों से कह कर सुन्दर भोजन बनवाकर खाये उसे 'प्रतिदेशनीय आपत्ति' होती है।(वि० पि० ५-१)। जो आजीविका के लिये स्वस्थ होते हुए भी अपने लिए गृहस्थों से कहकर सूप (दाल) या ओदन (भात) बनवा कर खाये उसे 'दुष्कृत' (दुक्कट) आपत्ति होती है (वि० ५-१८१)। पालि में ये छह शिक्षापद प्रज्ञप्त हैं। **इन छह शिक्षापदों के** कहने का यही तात्पर्य है।

उक्त पालिपाठ में आये 'कुहना' आदि विशिष्ट शब्दों के ज्ञान के लिये पालि में अन्यत्र वर्णित इन विशिष्ट शब्दों के व्याख्यान को ध्यान में रखना चाहिये। जैसे—

"वहाँ (उस प्रसङ्ग में) '**कुहना**' से क्या तात्पर्य है? लाभ, सत्कार, श्लोक (यश) के प्रलोभन में पड़े, पापमय इच्छा वाले, यथेच्छाचारी (भिक्षु) की जो प्रत्यय (विहित आवश्यक सामग्री) की निषेध-सम्बन्धी या दूसरों (अर्हतों) के समान अपने को भी बताने के लिये (परोक्षकथन हेतु) अङ्गसञ्चालन

तत्थ कतमा **लपना**? लाभसक्कारसिलोकसन्निस्सितस्स पापिच्छस्स इच्छापकतस्स या परेसं आलपना, लपना, सल्लपना, उल्लपना, समुल्लपना, उन्नहना, समनुन्नहना, उक्काचना, समुक्काचना, अनुप्पियभाणिता, चाटुकम्यता, मुग्गसूप्यता, पारिभट्यता—अयं वुच्चति लपना।

तत्थ कतमा **नेमित्तिकता**? लाभसक्कारसिलोकसन्निस्सितस्स पापिच्छस्स इच्छापकतस्स यं परेसं निमित्तं, निमित्तकम्मं, ओभासो, ओभासकम्मं, सामन्तजप्पा, परिकथा—अयं वुच्चति नेमित्तिकता।

तत्थ कतमा निप्पेसिकता? लाभसक्कारसिलोकसन्निस्सितस्स पापिच्छस्स इच्छापकतस्स या परेसं अक्कोसना, वम्भना, गरहना, उक्खेपना, समुक्खेपना, खिपना, सङ्खिपना, पापना, सम्पापना, अवण्णहारिका, परपिट्ठिमंसिकता—अयं वुच्चति निप्पेसिकता।

तत्थ कतमा **लाभेन लाभं निजिगिंसनता**? लाभसक्कारसिलोकसन्निस्सितो पापिच्छो इच्छापकतो इतो लद्धं आमिसं अमुत्र हरति, अमुत्र वा लद्धं आमिसं इध आहरति, या एवरूपा आमिसेन आमिसस्स एट्ठि, गवेट्ठि, परियेट्ठि, एसना, गवेसना, परियेसना—अयं वुच्चति लाभेन लाभं निजिगिंसनता" (अभि० २-४१९) ति।

में विकृति, अस्थिरता, कृत्रिमता लाना या भृकुटि चढ़ाना या टेढ़ी करना, ठगना, ढोंग करना या ऐसा ही अन्य किसी अङ्गसञ्चालन से प्रकटित भाव—यही 'कुहना' कहलाता है।

वहाँ **'लपना'** क्या है? लाभ सत्कार या यश पाने के प्रलोभन...पूर्ववत्....जो दूसरों के प्रति व्यङ्ग्य (छेड़–छाड़) करना, किसी विषय में पूछने पर विषयान्तर की बात प्रारम्भ कर देना, बात को कुछ बढ़ा–चढ़ा कर कहना, (लपना), बात को सब तरफ से बढ़ा–चढ़ा कहना (समुल्लपना), दूसरों को बातों में चढ़ाकर उनमें फँसाना (उन्नहना), सब तरह से बातों में घेर कर फँसाना (समुन्नहना), बढ़ा–चढ़ा कर (अपने या दूसरों के) गुणों का वर्णन करना (उक्काचना), पुनः पुनः सब तरह से बढ़ा–चढ़ा कर गुणों का वर्णन (समुक्काचना), बोली जाने वाली बातों को सत्य या धर्म के अनुरूप न समझते हुए भी दूसरों के प्रति (खुशामद के लिये) प्रिय बातों को बोलना (अनुप्रियभाणिता), चापलूसी करना (चाटुकम्यता), झूठ–सच बोलना (मुग्गसूप्यता=मुद्गसूप्यता), स्वार्थसिद्धि के लिये सेवा–टहल करना (पारिभट्यता)—इसे ही लपना (वाचालता) कहते हैं।

वहाँ **'नैमित्तिकता'** क्या है? लाभ–सत्कार....जो दूसरों के प्रति बातचीत में अपने लिये चीवर आदि का आभास देना, संकेत करना, बात को दूसरों के लिये कही जाने वाली सी (गोल–मोल=परोक्ष) करके अपने लिये कहना, स्वार्थपूर्ति कराने हेतु बात को घुमा फिराकर कहना (परिकथा)—यही 'नैमित्तिकता' कहलाती है।

"वहाँ **'निष्पेषिकता'** क्या है? लाभ–सत्कार....जो दूसरों के प्रति आक्रोश (डाँट–फटकार), उनपर हावी होना (वम्भना), उन पर दोषारोपण करना (गर्हणा), बात करते हुए को बार–बार रोकना (समुत्क्षेपण), उसकी हँसी उड़ाना (क्षेपण), उसका बहुत अधिक परिहास करना (संक्षेपण), निन्दा (पापना), सब तरफ से निन्दा करना (सम्पापना), मिथ्या आरोपों से बदनाम करना (अवण्णहारिका), पीठ पीछे मिथ्या आरोप (बदनामी) लगाना (परपिट्ठिमंसिकता)—वह 'निष्पेषिकता' कहलाती है।

वहाँ 'एक लाभ से दूसरा लाभ खोजना' (**लाभेन लाभं निजिगिंसनता**) क्या है? लाभ–सत्कार.. के लिये यह जो यहाँ मिले (चार प्रत्ययों के) लाभ को वहाँ ले जाता है वहाँ मिले लाभ को यहाँ ले आता है, या इसी प्रकार से वस्तु की खोज (इष्टि), गवेषणा, पर्यन्वेषण (बार–बार खोजना=परीष्टि), चाहना (एषणा), खोजना (गवेषणा), बार–बार खोजना (पर्येषणा) है—यही 'एक लाभ से दूसरे लाभ को खोजना' कहलाता है।"

इमिस्सा पन पाळिया एवं अत्थो वेदितब्बो। कुहननिद्देसे ताव **लाभसक्कारसिलोकसन्निस्सितस्सा** ति। लाभं च सक्कारं च कित्तिसद्दं च सन्निस्सितस्स, पत्थयन्तस्सा ति अत्थो। **पापिच्छस्सा** ति। असन्तगुणदीपनकामस्स। **इच्छापकतस्सा** ति। इच्छाय अपकतस्स, उपद्दुतस्सा ति अत्थो।

इतो परं यस्मा पच्चयपटिसेवनसामन्तजप्पनइरियापथसन्निस्सितवसेन **महानिद्देसे** तिविधं कुहनवत्थु आगतं, तस्मा तिविधं पेतं दस्सेतुं **पच्चयपटिसेवनसङ्खातेन वा** ति एवमादि आरद्धं। तत्थ चीवरादीहि निमन्तितस्स, तदत्थिकस्सेव सतो पापिच्छतं निस्साय पटिक्खिपनेन, ते च गहपतिके अत्तनि, सुप्पतिट्ठितसद्धे ञत्वा पुन तेसं 'अहो, अय्यो अप्पिच्छो न किञ्चि पटिग्गण्हितुं इच्छति, सुलद्धं वत नो अस्स सचे अप्पमत्तकं पि किञ्चि पटिग्गण्हेय्या' ति नानाविधेहि उपायेहि पणीतानि चीवरादीनि उपनेन्तानं तदनुग्गहकामतं येव आविकत्वा पटिग्गहणेन च ततो पभुति अपि सकटभारेहि उपनामनहेतुभूतं विम्हापनं पच्चयपटिसेवनसङ्खातं कुहनवत्थू ति वेदितब्बं।

वुत्तं हेतं **महानिद्देसे**—

"कतमं पच्चयपटिसेवनसङ्खातं कुहनवत्थु? इध गहपतिका भिक्खुं निमन्तेन्ति चीवर-पिण्डपात-सेनासन-गिलानपच्चयभेसज्जपरिक्खारेहि। सो पापिच्छो इच्छापकतो अत्थिको चीवर ....पे०.... परिक्खारानं भिय्योकम्यतं उपादाय चीवरं पच्चक्खाति, पिण्डपातं

इस पालिपाठ का और भी अधिक स्पष्ट अर्थ यों जानना चाहिये—'कुहना' के निर्देश (व्याख्यान) में जो **लाभसक्कारसन्निस्सितस्स** समस्त पद आया है उसका स्पष्टार्थ यह है—लाभ-सत्कार-श्लोक (यश, कीर्तिशब्द) की ओर झुकाव रखने वाले का या उन्हें चाहने वाले का। **पापिच्छस्स** का अर्थ है—जो गुण स्वयं में नहीं है उनका भी अपने में दिखावा करना चाहने वाले का। **इच्छापकतस्स** का अर्थ है—इच्छा के शिकार का या इच्छाओं से त्रस्त (उपद्रुत) का।

इसके आगे, क्योंकि **महानिद्देस** (त्रिपिटकके अन्तर्गत एक ग्रन्थ) में प्रत्ययप्रतिसेवन, सामन्तजल्पन[1] एवं ईर्यापथ के रूप में— त्रिविध कुहनवस्तु वर्णित हैं अतः इन तीनों का ही परिगणन करने के लिये **पच्चयपटिसेवनसङ्खात** आदि पदों से वर्णन प्रारम्भ किया गया है। वहाँ किसी भिक्षु को चीवर आदि के ग्रहण के लिये निमन्त्रित किया जाता है, वहाँ वह भिक्षु वस्तुतः उस चीवर को पाना चाहते हुए भी अधिक पाने की बुरी इच्छा (नियत) से उस चीवर को अस्वीकार कर देता है, बाद में उन गृहपतियों को अपने प्रति अटल श्रद्धा रखने वाला जानकर और उनके (इस प्रकार कहने या सोचने पर—) 'अरे! हमारे ये आर्य तो अत्यन्त अल्पेच्छ हैं, कुछ भी स्वीकार करना नहीं चाहते; यदि वे अल्पमात्र भी कुछ ले लें तो हम अपना अहोभाग्य समझें; इस प्रकार अनेक उपायों से सुन्दर-सुन्दर चीवर आदि लाने पर, उन पर अनुग्रह का भाव दिखाते हुए, उन्हें ले लेता है। फिर एक बार लेने के बाद तो उसका क्या कहना है! तब से उसके द्वारा गाड़ी भर वस्तुएँ ले जाने का कारण बना उसका वह विस्मयकारक पाषण्ड ही यहाँ 'प्रत्ययप्रतिसेवन कुहन वस्तु' के रूप में जानना चाहिये।

महानिद्देस ग्रन्थ में यह कहा गया है—

"प्रत्ययप्रतिसेवन नामक कुहन वस्तु क्या है? यहाँ कोई गृहपति किसी भिक्षु को चीवर, पिण्डपात, शयनासन, ग्लानप्रत्यय (पथ्य), चिकित्सार्थ औषध (भैषज्यपरिष्कार) स्वीकार करने के

---

१. अपने आप को लोकोत्तर सिद्धि प्राप्त अर्हतों के समान घोषित करना 'सामन्त-जल्पन' कहलाता है।

पच्चक्खाति, सेनासनं पच्चक्खाति, गिलानपच्चयभेसज्जपरिक्खारं पच्चक्खाति। सो एवमाह— 'किं समणस्स महग्घेन चीवरेन? एतं सारुप्पं यं समणो सुसाना वा सङ्कारकूटा वा पापणिका वा नन्तकानि उच्चिनित्वा सङ्घाटिं कत्वा धारेय्य। किं समणस्स महग्घेन पिण्डपातेन? एतं सारुप्पं यं समणो उञ्छाचरियाय पिण्डियालोपेन जीविकं कप्पेय्य। किं समणस्स महग्घेन सेनासनेन? एतं सारुप्पं यं समणो रुक्खमूलिको वा अस्स, अब्भोकासिको वा। किं समणस्स महग्घेन गिलानपच्चय-भेसज्जपरिक्खारेन? एतं सारुप्पं यं समणो पूतिमुत्तेन वा हरीटकीखण्डेन वा ओसधं करेय्या' ति। तदुपादाय लूखं चीवरं धारेति, लूखं पिण्डपातं परिभुञ्जति, लूखं सेनासनं पटिसेवति, लूखं गिनापच्चयभेसज्जपरिक्खारं पटिसेवति। तमेनं गहपतिका एवं जानन्ति—'अयं समणो अप्पिच्छो सन्तुट्ठो पविवित्तो असंसट्ठो आरद्धविरियो धुतवादो' ति। भिय्यो भिय्यो निमन्तेन्ति चीवर ....पे०.... परिक्खारेहि। सो एवं आह— 'तिण्णं सम्मुखीभावा सद्धो कुलपुत्तो बहुं पुञ्ञं पसवति, सद्धाय सम्मुखीभावा सद्धो कुलपुत्तो बहुं पुञ्ञं पसवति, देय्यधम्मस्स....पे०.... दक्खिणेय्यानं सम्मुखीभावा सद्धो कुलपुत्तो बहुं पुञ्ञं पसवति। तुम्हाकं चेवायं सद्धा अत्थि, देय्यधम्मो च संविज्जति, अहं च पटिग्गाहको; सचेहं न पटिग्गहेस्सामि, एवं तुम्हे पुञ्ञेन परिबाहिरा भविस्सथ, न मय्हं इमिना अत्थो, अपि च तुम्हाकं येव अनुकम्पाय पटिग्गण्हामी' ति। तदुपादाय बहुं पि

लिये निमन्त्रित करे। वह अशुभ का सङ्कल्पक, इच्छाचारी भिक्षु चीवर....परिष्कार को मन से चाहते हुए भी अधिक से अधिक प्राप्ति की इच्छा से, चीवर का ग्रहण करना, पिण्डपात.... शयनासन....ग्लानप्रत्यय.... भैषज्यपरिष्कार को ग्रहण करना अस्वीकार कर देता है। और वह यों कहता है— 'श्रमण को ऐसे महार्घ (मूल्यवान्) चीवर से क्या प्रयोजन! उसे तो श्मशान या घूरे (कूड़े के ढेर) पर पड़े या बाजार में दुकान से बाहर फेंके हुए फटे पुराने कपड़ों को बीन कर, गुदड़ी (सङ्घाटि) बनाकर, धारण करना चाहिये। श्रमण को ऐसे महार्घ, उत्तम पिण्डपात से क्या प्रयोजन! उसे तो खेतों मे धान–कटाई के समय गिरे अन्न (उञ्छ) बीन–बीन कर, या गाँव में घर–घर घूमकर भिक्षा में प्राप्त ग्रास दो ग्रास रूप अन्न से अपना जीवन–निर्वाह करना चाहिये। उसे मूल्यवान् शयनासन की प्राप्ति से क्या लाभ! उसे तो किसी वृक्ष या खुले आकाश के नीचे ही रात बितानी चाहिये। इसी तरह उसे महँगे–महँगे पथ्य एवं भैषज्यपरिष्कार से क्या लेना–देना! उसे तो गोमूत्र (=पूतिमूत्र) या हर्रे के चूर्ण से ही अपने रोग की चिकित्सा कर लेनी चाहिये।' अपने इस कथन के अनुरूप ही वह भिक्षु गृहस्थों को दिखाने के लिये फटे–पुराने कपड़ों के कठोर शयनासन पर सोता है, एवं रुग्ण होने पर, रूखा–सूखा पथ्य एवं साधारण औषधियाँ सेवन करता है। तब वे गृहस्थजन उसके इस आचरण से प्रभावित हो, उसके विषय में यों सोचने लगते हैं— 'अरे! यह श्रमण तो अत्यन्त अल्पेच्छ, यथालाभसन्तुष्ट, संयमी एवं एकान्तवासी, कुशल के लिये उद्योगरत तथा त्यागी (अपरिग्रही) है।' यों उसके प्रति और भी श्रद्धालु होकर उसे बार–बार चीवर, पिण्डपात, शयनासन, पथ्य एवं ओषधि लेने के लिये निमन्त्रित करते हैं। तब वह उनसे कहता है— "तीन बातों के एक ही स्थान पर इकट्ठा मिल जाने पर श्रद्धालु कुलपुत्र को बहुत पुण्य अधिगत होता है, जैसे— १. श्रद्धा उपस्थित होने पर...२. दान का अवसर एवं ३. दान का उचित पात्र मिल जाने पर श्रद्धालु कुलपुत्र को बहुत पुण्य प्राप्त होता है। तुम में श्रद्धा है, दानयोग्य वस्तु और दान का अवसर भी उपस्थित है और मेरे जैसे उस दान का प्रतिग्राहक भी उपस्थित है, ऐसे में यदि मैं आप से उस देय वस्तु को न लूँ तो आप लोग इस पुण्यप्राप्ति से दूर ही रह जाओगे! यद्यपि मुझे इस वस्तु की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है, परन्तु तुम पर

चीवरं पटिग्गण्हाति, बहुं पि पिण्डपातं....पे०.... भेसज्जपरिक्खारं पटिग्गण्हाति। या एवरूपा भाकुटिका, भाकुटियं कुहना, कुहायना, कुहितत्तं—इदं वुच्चति पच्चयपटिसेवनसङ्खातं कुहनवत्थू" (खु० ४:१-१८८) ति।

पापिच्छस्सेव पन सतो उत्तरिमनुस्सधम्माधिगमपरिदीपनवाचाय तथा तथा विम्हापनं सामन्तजप्पनसङ्खातं कुहनवत्थू ति वेदितब्बं। यथाह—"कतमं सामन्तजप्पनसङ्खातं कुहनवत्थु? इधेकच्चो पापिच्छो इच्छापकतो सम्भावनाधिप्पायो—'एवं मं जनो सम्भावेस्सती' ति, अरियधम्मसन्निस्सितं वाचं भासति। 'यो एवरूपं चीवरं धारेति, सो समणो महेसक्खो' ति भणति। 'यो एवरूपं पत्तं, लोहथालकं, धम्मकरणं, परिस्सावनं, कुञ्चिकं, कायबन्धनं, उपाहनं धारेति, सो समणो महेसक्खो' ति भणति। 'यस्स एवरूपो उपज्झायो, आचरियो, समानुपज्झा-यको, समानाचरियको, मित्तो, सन्दिट्ठो, सम्भत्तो, सहायो....'। 'यो एवरूपे विहारे वसति अड्ढयोगे, पासादे, हम्मिये, गुहायं, लेणे, कुटिया, कूटागारे, अट्टे, माळे, उड्डण्डे, उपट्ठानसालायं, मण्डपे, रुक्खमूले वसति, सो समणो महेसक्खो' ति भणति। अथ वा कोरजिककोरजिको भाकुटिकभाकुटिको, कुहककुहको, लपकलपको,

---

अनुकम्पा कर मैं इस (देयवस्तु) को ले लेता हूँ।' इस तरह वह उनसे अपनी आवश्यकता से अधिक चीवर...भोजन...शयनासन...पथ्य...भैषज्यपरिष्कार ग्रहण करता है। इस प्रकार उस भिक्षु का यह शारीरिक अभिनय (भाकुटिका=मुँह के हाव-भाव से दूसरों को भ्रम में डालना), मुखविक्षेप (ढोंग रचना), विस्मय में डालना, विस्मयक्रिया, आश्चर्यचकित करना—'प्रत्ययप्रतिसेवनकुहनवस्तु' कहलाता है।'

किसी के द्वारा अशुभसङ्कल्प होते हुए भी अपने विषय में लोकोत्तर मनुष्यगुणों (उत्तरिमनुस्सधम्म) की प्राप्ति की डींग हाँकना, वैसी बातें करना, वैसा शारीरिक अभिनय करना ही 'सामन्तजल्पन' नामक कुहनवस्तु समझना चाहिये। जैसा कि '**महानिद्देस**' ग्रन्थ में आगे कहा गया है—

"सामन्तजल्पन नामक कुहनवस्तु क्या है? यहाँ कोई पापेच्छुक, स्वच्छन्दचारी, लोक में सम्मानप्राप्ति के उद्देश्य से यह सोचकर कि लोग इस तरह मेरे द्वारा कहे जाने से मेरा सम्मान करेंगे—अपने द्वारा आचरित आर्यधर्म के विषय में बढ़ा-चढ़ा कर बातें करता है। वह अपने पहने हुए चीवर की तरफ संकेत कर कहता है—'जो इस तरह चीवर धारण करता है वह श्रमण महान् आनुभाव (चमत्कार) वाला है; जो ऐसा पात्र रखता है, लोहे का कटोरा, जल छानने का भाजन (पात्र), कूए आदि से जल निकालने का बरतन (परिस्सावन), कुञ्जी, कमरबन्द (कायबन्ध) या जूते (उपानह) धारण करता है वह महान् चमत्कारी होता है; जिसके ऐसे उपाध्याय आचार्य हो, या उन उपाध्याय आचार्य से पढ़ने वाले सहपाठी हों, सहायक हों, परिचित हों, घनिष्ठ मित्र हों, साथी हों...., जो ऐसे विहार में रहकर साधना करता है, गरुड़ पङ्ख के समान घर (अड्ढयोग)[१] में...प्रासाद या हर्म्य (महल) में...गुफा में, पर्वतगह्वर (लेण) में, कुटिया में, कूटागार (शिखर वाले बड़े घर) में, अट्टालिका (अट्ट)[२] में, इकमंजिले मकान (माळ)[३] में, दीर्घशाला (उड्डण्ड) में, भिक्षुओं के लिये बनी उपस्थानशाला में, मण्डप में या वृक्षमूल के नीचे रहता है वह श्रमण महान् चमत्कारी होता है।' अथवा—वह गृहस्थ के सामने अपने शरीर व मुखाकृति के ऐसे हाव-भाव दिखाता है कि उनको ऐसा लगे कि यह श्रमण सांसारिक व्यवहार में (उसे आध्यात्मिक साधनों में विघ्नकारक समझकर) चिड़चिड़ा सा (कोरजिक), स्वमुखाकृति में नये नये हाव-भाव उत्पन्न करने वाला (भाकुटिक); अपने हावभावों से अत्यधिक

---

१. 'सुवण्णवङ्कसदनं अड्ढयोगो सियाथ च'— अभिधानप्प० ३६ पृ०।

२. 'अट्टो त्वट्टालको भवे'—अभिधानप्प०, पृष्ठ ३५।

३. 'एककूटयुतो माळो'—अभिधानप्प०, पृष्ठ ३६।

मुखसम्भाविको, अयं समणो इमासं एवरूपानं सन्नतानं विहारसमापत्तीनं लाभी ति एतादिसं गम्भीरं गूळ्हं निपुणं पटिच्छन्नं लोकुत्तरं सुञ्ञतापटिसंयुत्तं कथं कथेति। या एवरूपा भाकुटिका, भाकुटियं, कुहना, कुहायना, कुहिततं—इदं सामन्तजप्पनसङ्खातं कुहनवत्थू" (खु० ४:१-१८९) ति।

पापिच्छस्सेव पन सतो सम्भावनाधिप्पायकतेन इरियापथेन विम्हापनं इरियापथसन्निस्सितं कुहनवत्थू ति वेदितब्बं। यथाह—"कतमं इरियापथसङ्खातं कुहनवत्थु? इधेकच्चो पापिच्छो इच्छापकतो सम्भावनाधिप्पायो 'एवं मं जनो सम्भावेस्सती' ति गमनं सण्ठपेति, ठानं सण्ठपेति, निसज्जं सण्ठपेति, सयनं सण्ठपेति, पणिधाय गच्छति, पणिधाय तिट्ठति, पणिधाय निसीदति, पणिधाय सेय्यं कप्पेति, समाहितो विय गच्छति, समाहितो विय तिट्ठति, निसीदति, सेय्यं कप्पेति, आपाथकज्झायी च होति, या एवरूपा इरियापथस्स अट्ठपना, ठपना, सण्ठपना, भाकुटिका, भाकुटियं, कुहना, कुहायना, कुहिततं—इदं इरियापथसङ्खातं कुहनवत्थू" (खु० ४:१-१८९) इति।

तत्थ **पच्चयपटिसेवनसङ्खातेना** ति। पच्चयपटिसेवनं ति एवं सङ्खातेन, पच्चयपटिसेवनेन वा सङ्खातेन। **सामन्तजप्पितेना** ति। समीपभणितेन। **इरियापथस्स वा** ति। चतुइरियापथस्स। **अट्ठपना** ति। आदि ठपना, आदरेन वा ठपना। **ठपना** ति। ठपनाकारो।

विस्मय में डालने वाला (कुहक), अत्यधिक वाचाल (लपक=लफ्फेबाज), मुख के हाव-भाव मात्र से गम्भीर (मुखसम्भाविक), या ऐसी बातें करने वाला हो जिनसे ऐसा ज्ञात होने लगे कि मानो यह श्रमण गम्भीर, निपुण, प्रच्छन्न, लोकोत्तर, शून्यतासम्बद्ध निर्वाण तक पहुँच गया हो। यह जो उपर्युक्त मुखाकृति आदि में विस्मयकारक परिवर्तन ... है—यही 'सामन्तजल्पन' संज्ञक कुहनवस्तु कहलाता है।"

"वैसी ही अशुभ भावना (सङ्कल्प) रखने वाला पापेच्छु भिक्षु, लोक में अपना सम्मान बढ़ाने के उद्देश्य से, अपने ईर्यापथ (चाल-ढाल) में भी ऐसे-ऐसे विस्मयकारक परिवर्तन करता रहता है। इन परिवर्तनों को ही 'ईर्यापथसम्बन्धी कुहनवस्तु' समझना चाहिये। जैसे कि (वहीं महानिद्देस में) कहा है—"ईर्यापथसम्बन्धी कुहनवस्तु क्या है? यहाँ कोई पापेच्छु, स्वच्छन्दचारी, लोक में अपना सम्मान बढ़ाने के उद्देश्य से कि लोग मुझे और अधिक पूजा-सम्मान की दृष्टि से देखें, अपने ईर्यापथ में ऐसे ऐसे परिवर्तन करता है कि कुछ विशेष प्रकार से चलता है, विशेष प्रकार से चलते-चलते रुकता है, विशेष प्रकार से बैठता है, विशेष प्रकार के आसन लगाता है; सोता है; कुछ सोचता हुआ सा चलता है, सोचता हुआ सा ठहरता है, सोचता हुआ सा बैठता है, सोचता सा सोने का अभिनय करता है; (यह दिखाने के लिये कि लोग उसे समाहित समझें) समाधिस्थ (ध्यायी) सा चलता है, ठहरता है, बैठता है और सोता है। बीच रास्ते में जहाँ आने जाने वाले लोगों की दृष्टि पड़ती रहे ध्यान लगा कर बैठे हुए का सा अभिनय करता है—उसकी यह जो ऐसी चाल-ढाल है= उसका तौर तरीका है, अपने लिये लोगों को आश्चर्यचकित करने की प्रवृत्ति है— यही 'ईर्यापथसम्बन्धी कुहनवस्तु' कहलाती है।"

[ऊपर "तत्थ कतमा कुहना?" आदि पालिपाठ में (पृ० ३४-३५) आये कुछ विशेष शब्दों का व्याख्यान यों समझना चाहिये—]

वहाँ **पच्चयपटिसेवनसङ्खातेन**— 'प्रत्ययप्रतिसेवन' इस नाम या इस रूप से कहे जाने वाले से। **सामन्तजप्पितेन**—समीप (सम्मुख) कथन से। **इरियापथस्स**—चार ईर्यापथ (१. सोना, २. बैठना, ३. चलना एवं ४. खड़ा होना) का। **अट्ठपना**— आदि (प्रारम्भिक) स्थापना या आदर के साथ

सण्ठपना ति। अभिसङ्खरणा। पासादिकभावकरणं ति वुत्तं होति। **भाकुटिका** ति। पधानपुरिमट्ठितभावदस्सनेन भाकुटिकरणं। मुखसङ्कोचो ति वुत्तं होति। भाकुटिकरणं सीलमस्सा ति भाकुटिको, भाकुटिकस्स भावो **भाकुटियं**। **कुहना** ति। विम्हापना। कुहस्स आयना **कुहायना**। कुहितस्स भावो **कुहितत्तं** ति।

३१. लपनानिद्देसे **आलपना** ति। विहारं आगते मनुस्से दिस्वा "किमत्थाय भोन्तो आगता? किं भिक्खू निमन्तितं? यदि एवं, गच्छथ रे, अहं पच्छतो पत्तं गहेत्वा आगच्छामी" ति एवं आदितो व लपना। अथ वा अत्तानं उपनेत्वा "अहं तिस्सो, मयि राजा पसन्नो, मयि असुको च असुको च राजमहामत्तो पसन्नो" ति एवं अत्तुपनायिका लपना आलपना। **लपना** ति। पुट्ठस्स सतो वुत्तप्पकारमेव लपनं। **सल्लपना** ति। गहपतिकानं उक्कण्ठने भीतस्स ओकासं दत्वा दत्वा सुट्ठु लपना। **उल्लपना** ति। महाकुटुम्बिको महानाविको महादानपती ति एवं उद्धं कत्वा लपना। **समुल्लपना** ति। सब्बतोभागेन उद्धं कत्वा लपना।

उन्नहना ति। "उपासका पुब्बे ईदिसे काले नवदानं देथ, इदानि किं न देथा" ति एवं याव "दस्साम, भन्ते, ओकासं न लभामा" ति आदीनि वदन्ति, ताव उद्धं उद्धं नहना,

---

स्थापना। **ठपना**—स्थापना या स्थापना का ढंग (आकार)। **सण्ठपना** (संस्थापना)—अभिसंस्करण, अर्थात् अपने प्रति दूसरों का प्रेम (प्रसाद) भाव पैदा करना। **भाकुटिका**—अपना उत्कर्ष प्रकट करने हेतु भृकुटि या मुख से नानाविध हाव–भाव दिखाना जिसका शील (अभ्यास, प्रकृति या स्वरूप) हो उसे 'भाकुटिक' कहते हैं। 'मुख के हाव–भाव में तरह तरह के परिवर्तन करते रहना'– इस शब्द का सरल अर्थ है। **कुहना**—आश्चर्य (विस्मय) चकित करना। कुह (=ढोंगी) का आयना (=ढोंग) **कुहायना**; एवं जो ढोंग (कुह) किया गया हो उसका भाव **कुहितत्त** कहलाता है।

(उस पालिपाठ के) लपनानिर्देश में—**आलपना**। बिहार में आये मनुष्यों को देखकर उनके विना पूछे यह कहे—"आप लोग क्यों आये हैं? क्या भिक्षुओं को निमन्त्रित करना है? यदि ऐसा हो तो तुम चलो; मैं, आप लोगों के पीछे ही पीछे, पात्र लेकर आ रहा हूँ"—ऐसी बातें 'लपना' (वाचालता) कहलाती हैं। अथवा—उन आदमियों के सामने अन्य भिक्षुओं से अपनी उत्कर्षता दिखाता हुआ यह कहे—"मेरा नाम तिष्य है, (मेरी चर्या से) मुझ पर राजा भी प्रसन्न है, और राजा के अमुक अमुक उच्च पदाधिकारी भी प्रसन्न हैं।" यह किसी को अपनी ओर आकृष्ट करने वाली बातचीत 'आलपना' कहलाती है।

लपना— उन व्यक्तियों के पूछे जाने पर यदि कोई भिक्षु उनसे ऊपर कही जैसी ही बातें करे तो वह उसकी 'लपना' (वाचालता) कहलाती है।

सल्लपना— अपने प्रति गृहपतियों की उत्कण्ठा जागृत करने के लिये उनसे संवाद करते हुए, जान बूझकर बीच में रुकते रुकते बातें करना। **उल्लपना**— अपनी प्रशंसा में अपने विषय में गृहस्थों से कहना कि 'प्रवज्या लेने से पूर्व गृहस्थ में मेरा भी बहुत कुटुम्ब था', 'मैं बहुत बड़ा नाविक था' 'मैं दानदाताओं में श्रेष्ठ था', या उन गृहस्थों की प्रशंसा में यह कहना कि 'आप तो बहुत बड़े कुटुम्ब वाले हैं', 'आप बहुत बड़े नाविक हैं' या 'आप श्रेष्ठ दानपति हैं'। यों उत्कर्षताधायक बातें करना।

समुल्लपना— सब तरह से ऊपर उठाकर (बढ़ा–चढ़ाकर) बातें करना।

उन्नहना— स्वाभीष्ट वस्तु की प्राप्ति हेतु तदर्थ प्रोत्साहित करनेवाली बातों से दूसरों को वाग्जाल में फँसाना। जैसे—"ऐसा अवसर आने पर पहले तो उपासक लोग बहुत अग्रदान दिया करते

वेठना ति वुत्तं होति। अथ वा—उच्छुहत्थं दिस्वा "कुतो आभतं, उपासका" ति पुच्छति। उच्छुखेत्ततो, भन्ते" ति। "किं तत्थ उच्छु मधुरं" ति? "खादित्वा, भन्ते, जानितब्बं" ति।"न, उपासक, भिक्खुस्स 'उच्छु देथा' ति वत्तुं वट्टती" ति। या एवरूपा निब्बेठेन्तस्सा पि वेठनकथा, सा उन्नहना। सब्बतोभागेन पुनप्पुनं उन्नहना **समुन्नहना**।

उक्काचना ति। "एतं कुलं मं येव जानाति। सचे एत्थ देय्यधम्मो उप्पज्जति, मय्हमेव देती" ति एवं उक्खिपित्वा काचना उक्काचना। उद्दीपना ति वुत्तं होति। तेलकन्दरिकवत्थु चेत्थ वत्तब्बं। सब्बतोभागेन पन पुनप्पुनं उक्काचना **समुक्काचना**।

अनुप्पियभाणिता ति। सच्चानुरूपं वा धम्मानुरूपं वा अनपलोकेत्वा पुनप्पुनं पियभणनमेव। **चाटुकम्यता** ति। नीचवुत्तिता अत्तानं हेट्ठतो हेट्ठतो ठपेत्वा वत्तनं। **मुग्गसूप्यता** ति। मुग्गसूपसदिसता। यथा हि मुग्गेसु पच्चमानेसु कोचिदेव न पच्चति, अवसेसा पच्चन्ति, एवं यस्स पुग्गलस्स वचने किञ्चिदेव सच्चं होति, सेसं अलीकं, अयं पुग्गलो मुग्गसूप्यो ति वुच्चति, तस्स भावो मुग्गसूप्यता। **पारिभट्यता** ति। पारिभट्यभावो। यो हि कुलदारके धाति विय सयं अङ्केन वा खन्धेन वा परिभटति, धारेती ति अत्थो, तस्स परिभट्टस्स कम्मं पारिभट्यं, पारिभट्यस्स भावो पारिभट्यता ति।

नेमित्तिकतानिद्देसे **निमित्तं** ति यं किञ्चि परेसं पच्चयदानसञ्ञोजनकं कायवचीकम्मं। **निमित्तकम्मं** ति। खादनीयं गहेत्वा गच्छन्ते दिस्वा "किं खादनीयं लभित्था" ति आदिना

थे अब वे क्यों नहीं देते?"— इस प्रकार कहते हुए जब तक उपासक यह न कह दे कि "देंगे, भन्ते! हम भी देंगे! इधर हम अन्य कार्यों में बहुत व्यस्त थे, अतः दान के लिये अवसर नहीं मिल रहा था" तब तक उपासक को बातों में फँसाये रखना अथवा किसी उपासक के हाथ में ईख (इक्षु) देखकर भिक्षु उससे पूछे—"उपासक! आप किधर से आ रहे हैं?" उपासक उत्तर में कहे—"ईख के खेत से, भन्ते!" तब वह पूछे—"क्या उस खेत का ईख मीठा है?" "भन्ते! यह तो आपको इसे खाने से ही ज्ञात होगा।" "उपासक! भिक्षु के लिये यह कहना उचित नहीं है कि मुझे चूसने के लिये कुछ ईख दो!" इस तरह जो स्पष्ट होते हुए मनोभाव को उलझाने वाला संवाद है, वह **'उन्नहना'** कहलाता है। यही संवाद यदि और भी सब तरफ से उलझाने वाली बातों से किया जाय तो उसे **समुन्नहना** कहते हैं।

उक्काचना— "यह कुल (परिवार) तो मुझे ही जानता है, यहाँ से यदि कुछ दान किया जाता है तो मुझको ही किया जाता है"—इस तरह देय वस्तु की प्राप्ति के लिये परोक्ष संकेत—**'उत्काचना'** कहलाता है। यहाँ **तेलकन्दरिकवत्थु** का दृष्टान्त देना चाहिये। और फिर यही संकेत सब तरफ से घेरते हुए कुछ अधिक ही किया जाय तो उसे समुक्काचना कहते हैं।

अनुप्पियभाणिता— बात को सत्य या धर्म के अनुरूप न देखकर (न होने पर) भी संवादी से बार बार प्रिय ही बोलना। **चाटुकम्यता** चाटुकारिता। **हीनवृत्ति** संवादी से अपने को बार बार नीचा दिखाते हुए उससे उसकी प्रशंसात्मक बातें करना। **मुग्गसूप्यता**—मूँग की दाल के समान। जैसे मूँगों को पकाते समय उसमें से कुछ ही मूँग पकें, बाकी कच्चे रह जाँय; उसी तरह किसी की बात में कुछ ही सच्चाई हो, अधिकतर झूठ हो, वह पुद्गल 'मुग्गसूप्य' कहलाता है, मुग्गसूप्य का भाव (होना) हुआ मुग्गसूप्यता। **पारिभट्यता**—परिभट्यता (सेवा-टहल) का होना। जो भिक्षु किसी के परिवार के बच्चों को गोद में या कन्धों पर लिये रहता है, घुमाता रहता है, उनके सेवक का कार्य करता है—यह सेवावृत्ति (सेवकाई) ही पारिभट्यता (परिभृत्यता) है।

उक्त पालिपाठ के नैमित्तिकतानिर्देश में—**निमित्त कहते हैं** दूसरों से प्रत्यय के दान की प्राप्ति

नयेन निमित्तकरणं। **ओभासो** ति। पच्चयपटिसंयुत्तकथा। **ओभासकम्मं** ति। वच्छपालके दिस्वा "किं इमे वच्छा खीरगोवच्छा, उदाहु तक्कगोवच्छा" ति पुच्छित्वा "खीरगोवच्छा भन्ते" ति वुत्ते "न खीरगोवच्छा यदि खीरगोवच्छा सियं, भिक्खू पि खीरं लभेय्युं" ति एवमादिना नयेन तेसं दारकानं मातापितूनं निवेदेत्वा खीरदापनादिकं ओभासकरणं। **सामन्तजप्पा** ति। समीपं कत्वा जप्पनं। कुलूपकभिक्खुवत्थु चेत्थ वत्तब्बं।

कुलूपको किर भिक्खु भुञ्जितुकामो गेहं पविसित्वा निसीदि। तं दिस्वा अदातुकामा घरणी "तण्डुला नत्थी" ति भणन्ती तण्डुले आहरितुकामा विय पटिविस्सकघरं गता। भिक्खु पि अन्तोगब्भं पविसित्वा ओलोकेन्तो कवाटकोणे इच्छुं, भाजने गुळं, पिटके लोणमच्छफाले, कुम्भियं तण्डुले, घटे घतं दिस्वा निक्खमित्वा निसीदि। घरणी "तण्डुले नालत्थं" ति आगता। भिक्खु "उपासिके, अज्ज भिक्खा न सम्पज्जिस्सती ति पटिकच्चेव निमित्तं अद्दसं" ति आह। "किं भन्ते ति"? "कवाटकोणे निक्खित्तं उच्छु विय सप्पं अद्दसं, 'तं पहरिस्सामी' ति ओलोकेन्तो भाजने ठपितं गुळपिण्डं विय पासाणं, लेड्डुकेन पहटेन सप्पेन कतं पिटके निक्खित्तलोणमच्छफालसदिसं फणं, तस्स तं लेड्डुं डंसितुकामस्स कुम्भिया तण्डुलसदिसे दन्ते, अथस्स कुपितस्स घटे पक्खित्तघतसदिसं मुखतो निक्खमन्तं

हेतु की गयी काय या वाणी की क्रियाओं के संकेत को। **निमित्तकम्मं**— संकेत करना। किसी भोज्य पदार्थ को लेकर जाते हुए को देखकर 'क्या कुछ खाने योग्य पाया है?' आदि प्रकार से संकेत करना। **ओभासो**— प्रत्ययसम्बन्धी बातें करना। **ओभासकम्मं** (बच्चे ले जाते हुए) ग्वाले को देखकर उससे 'क्या ये बच्चे दूध पीने वाले हैं या छाछ (तक्र)?'— ऐसा पूछे जाने पर, उसके द्वारा 'दूध पीने वाले बच्चे हैं, भन्ते!' ऐसा कहे जाने पर, 'नहीं, ये दूध तो नहीं पीते, यदि दूध पीते तो भिक्षु भी दूध पाते'—आदि प्रकार की बातों से उन बच्चों के माता–पिताओं के कान में बात डलवाकर भिक्षुओं को दूध दिलाने का संकेत करना। **सामन्तजप्पा** (सामन्तजल्पन)—समीप (सम्मुख) करके संवाद करना। यहाँ **कुलूपकभिक्खु** का संवाद कहना चाहिये। वह संवाद यों है—

"कोई कुलोपग (परिवारों में जाकर वहाँ बैठकर भोजन ग्रहण करने वाला) भिक्षु भोजन करने की इच्छा से किसी गृहस्थ के घर में जाकर बैठ गया। उसे देखकर उस घर की गृहिणी, उसे कुछ न देने की इच्छा से 'चावल नहीं है'—कहती हुई और ऐसा भाव दिखाती हुई सी कि मानों दूसरे के घर से चावल माँगने जा रही है—अपने किसी पड़ौसी (प्रतिवेशी) के घर चली गयी। पीछे से, वह भिक्षु भी उस घर में भोज्य पदार्थ खोजता हुआ अन्दर कमरे में घुस गया। वहाँ वह किवाड़ों के पीछे ईख, एक पात्र में गुड़, एक छावड़ी (पिटक) में नमक मिले मछली के टुकड़े, एक घड़े में चावल, एक कुम्भी में घृत देखकर वापस आकर अपने स्थान पर बैठ गया। उधर वह गृहिणी भी 'पड़ौसी से चावल नहीं मिला' कहती हुई लौट आयी। भिक्षु भी 'उपासिके! मुझे आज कुछ भी भिक्षा नहीं मिलेगी—यह मैंने आज प्रातः ही शकुन देख लिया था'—ऐसे बोला। उपासिका ने पूछा—'क्या शकुन देखा था, भन्ते?' 'मैंने किवाड़ों के कोने में ईख की तरह सीधे खड़े साँप को देखकर 'उस पर प्रहार करूँगा' यह सोचकर उसको मारने का साधन खोजते हुये पात्र में रखी गुड़ की भेली की तरह पत्थर का टुकड़ा (देखा), उससे प्रहार करने पर क्रुद्ध सर्प ने छावड़ी में रखे नमक मिले मत्स्यखण्ड की तरह अपना फन फैलाया और उस पर फेंके गये पत्थर को काटने के लिये अपने दाँत निकाले, वे दाँत ऐसे लग रहे थे मानों घड़े में रखे चावल के दाने हों और तब उस क्रुद्ध सर्प के मुख से विषमिश्रित

विसमिस्सकं खेळं'' ति। सा ''न सक्का मुण्डकं वञ्चेतुं'' ति उच्छुं दत्वा ओदनं पचित्वा घतगुळमच्छेहि सद्धिं सब्बं अदासी ति। एवं समीपं कत्वा जप्पनं सामन्तजप्पा ति वेदितब्बं।

परिकथा ति। यथा तं लभति तस्स परिवत्तेत्वा कथनं ति।

निप्पेसिकतानिद्देसे—**अक्कोसना** ति। दसहि अक्कोसवत्थूहि अक्कोसनं। **वम्भना** ति। परिभवित्वा कथनं। **गरहणा** ति। 'अस्सद्धो अप्पसन्नो' ति आदिना नयेन दोसापोपना। **उक्खेपना** ति। 'मा एतं एत्थ कथेथा' ति वाचाय उक्खिपनं। सब्बतोभागेन सवत्थुकं सहेतुकं कत्वा उक्खेपना **समुक्खेपना**। अथ वा अदेन्तं दिस्वा 'अहो दानपती' ति एवं उक्खिपनं **उक्खेपना**। 'महादानपती' ति एवं सुट्ठु उक्खेपना **समुक्खेपना**। **खिपना** ति। किं इमस्स जीवितं बीजभोजिनो ति एवं उप्पण्डना। **संखिपना** ति। 'किं इमं अदायको ति भणथ, या निच्चकालं सब्बेसं पि नत्थी ति वचनं देती' ति सुट्ठुतरं उप्पण्डना। **पापना** ति। अदायकत्तस्स अवण्णस्स वा पापनं। सब्बतोभागेन पापना **सम्पापना**। **अवण्णहारिका** ति। 'एवं मे अवण्णभया पि दस्सती' ति गेहतो गेहं, गामतो गामं, जनपदतो जनपदं अवण्णहरणं। **परपिट्ठिमंसिकता** ति। पुरतो मधुरं भणित्वा परम्मुखे अवण्णभासिता। एसा हि अभिमुखं ओलोकेतुं असक्कोन्तस्स परम्मुखानं पिट्ठिमंसखादनमिव होति, तस्मा परपिट्ठिमंसिकता ति वुत्ता। **अयं वुच्चति निप्पेसिकता** ति। अयं यस्मा वेळुपेसिका विय

चिकनी लार ऐसे बहने लगी मानो घड़े में रखा घी बह रहा हो। यह सुनकर उस गृहिणी ने समझ लिया कि इस भिक्षु को धोखा देना शक्य नहीं है। तब उसने भिक्षु को चूसने के लिये ईख देकर (कुछ ही समय में) भात पकाकर उसे घृत गुड़ मिश्रित मत्स्यखण्डों के साथ खान के लिये दिया। इस तरह किसी वस्तु का सामीप्य (बहाना=व्याज) बनाकर कहना 'सामन्तजप्प' समझना चाहिये।

परिकथा— जिस बात को जैसे देखा हो, उससे उलटकर उसको कहना।

उक्त पालिपाठ के निप्पेसिकतानिर्देश में— **अक्कोसना** दशविध आक्रोश-वस्तुओं से संवादी को कोसना (आक्रोशन)। (द्र०—सं. नि०अ०क० १,११,१४) **वम्भना**— हावी होना, दूसरे का परिभव करते हुए (नीचा दिखाते हुए) बोलना। **गरहणा** (गर्हणा)—'यह (त्रिरत्न के प्रति) अश्रद्धालु है', 'यह अप्रसन्न (चिड़चिड़ा) रहता है' इत्यादि प्रकार से दोषारोपण (निन्दा) करना। **उक्खेपना**— 'इसको यहाँ ऐसा मत कहो—इस प्रकार वाणी से उत्क्षेपण (बात करने से रोकना)। **समुक्खेपना**— सब तरफ से कारण (हेतु) दरसाते हुए बात करने से रोकना। अथवा—अदाता (लोभी, कञ्जूस) के प्रति 'यह तो महादानपति है' ऐसी वाणी (शब्दावली) का प्रयोग कर उत्क्षेपण करना ही 'समुत्क्षेपण' कहलाता है। **खिपना**— 'अरे! इस बीजभोगी का भी कोई जीवन है!' इस प्रकार उपहास करना। **संखिपना**—'अरे! इसको अदायक (कुछ भी न देनेवाला) क्यों कह रहे हो, यह तो प्रत्येक याचक को—'नहीं है, कुछ नहीं दूँगा' ऐसा वचन देता रहता है''—ऐसी बातों से स्पष्टतः उपहास करना। **पापना**—'अदायकत्व' आदि शब्दों से अकीर्ति या निन्दा का पात्र बनाना। **सम्पापना**— सब तरफ से निन्दा का पात्र बनाना। **अवण्णहारिका**— 'इस प्रकार इसकी निन्दा करने से भी यह मुझे कुछ दे देगा'—यों सोचकर इस घर से उस घर में, इस गाँव से उस गाँव में, इस जनपद से उस जनपद में किसी की निन्दा करते फिरना। **परपिट्ठिमंसिकता** सामने मीठी—मीठी बातें करके पीठ पीछे निन्दा करना। यह दुर्गुण दूसरे की पीठ, जिसे वह सामने से देखने में असमर्थ है, का मांस खाने के समान है, इसलिये इसको 'परपिट्ठिमंसिकता' कहते हैं। **अयं वुच्चति निप्पेसिकता**—क्योंकि जैसे बाँस का बना परिमार्जक (लकड़ी का टुकड़ा)

अब्भङ्गं, परस्स गुणं निप्पेसेति निपुञ्छति, यस्मा वा गन्धजातं निपिसित्वा गन्धमग्गना विय परगुणे निपिसित्वा विचुण्णेत्वा एसा लाभमग्गना होति, तस्मा निप्पेसिकता ति वुच्चती ति।

लाभेन लाभं निजिगिंसनतानिद्देसे—**निजिगिंसनता इतो लद्धं** ति। इमम्हा गेहा लद्धं। **अमुत्रा** ति। अमुकम्हि गेहे। **एट्ठी** ति। इच्छना। **गवेट्ठी** ति। मग्गना। **परियेट्ठी** ति। पुनप्पुनं मग्गना। आदितो पट्ठाय लद्धं लद्धं भिक्खं तत्र तत्र कुलदारकानं दत्वा अन्ते खीरयागुं लभित्वा गतभिक्खुवत्थु चेत्थ कथेतब्बं। **एसना** ति आदीनि एट्ठी-आदीनमेव वेवचनानि। तस्मा **एट्ठी** ति एसना, गवेट्ठी ति गवेसना, **परियेट्ठी** ति परियेसना—इच्चेवमेत्थयोजना वेदितब्बा। अयं कुहनादीनं अत्थो।

इदानि **एवमादीनं च पापधम्मानं** ति। एत्थ आदिसद्देन "यथा वा पनेके भोन्तो समणब्राह्मणा सद्धादेय्यानि भोजनानि भुञ्जित्वा ते एवरूपाय तिरच्छानविज्जाय मिच्छाजीवेन जीविकं कप्पेन्ति। सेय्यथीदं—अङ्गं, निमित्तं, उप्पातं, सुपिनं, लक्खणं, मूसिकच्छिन्नं, अग्गिहोमं, दब्बिहोमं" (दी०१.१-१२)ति आदिना नयेन **ब्रह्मजाले** वुत्तानं अनेकेसं पापधम्मानं गहणं वेदितब्बं।

इति ख्वायं इमेसं आजीवहेतु पञ्ञत्तानं छन्नं सिक्खापदानं वीतिक्कमवसेन, इमेसं च "कुहना, लपना, नेमित्तिकता, निप्पेसिकता, लाभेन लाभं निजिगिंसनता' ति एवमादीनं

अभ्यङ्ग (उबटन) आदि को पोंछ डालता है, उसी तरह यह (दुर्गुण) भी दूसरे गुणों को पोंछ डालता है, निष्पिष्ट कर डालता है; या फिर क्योंकि जैसे सुगन्धित द्रव्य को पीस कर सुगन्ध खोजी जाती है, वैसे ही यह दूसरों के गुणों को पीसकर, चूर्ण कर अपना लाभ खोजती है, अतः 'निष्पिष्टक' कही जाती है।

लाभ से लाभ खोजने के निर्देश में **निजिगिंसनता इतो लद्धं**— इस घर से प्राप्त। **अमुत्र**— अमुक घर में। **एट्ठि**— इच्छा (इष्टि)। **गवेट्ठि**— मार्गणा (खोजना=गवेषणा)। **परिएट्ठि**— बार-बार खोजना (पर्येषण)। (भिक्षाचर्या के) आरम्भ से प्राप्त भिक्षा को वहाँ वहाँ मिलते जाते परिवारों के बच्चों को देते हुए, अन्त में भिक्षा में मिले क्षीर (मिश्रत अन्न) व यवागू को प्राप्त कर खाने का दृष्टान्त पीछे आयी भिक्षु-कथा की तरह विस्तार से कहना चाहिये। यहाँ (इस प्रसङ्ग में) **एसना** आदि शब्द 'एट्ठि' आदि के ही पर्याय (समानार्थक) समझने चाहिये। इस लिये 'एट्ठि' को एषणा, 'गवेट्ठि' को गवेषणा (खोज), 'परियेट्ठि' को पर्येषण (बार-बार खोजना)—यों इस तरह यहाँ शब्दयोजना कर लेनी चाहिये।

अब **एवमादीनं च पापधम्मानं** यहाँ आये 'आदि' शब्द से **दीघनिकाय** के **ब्रह्मजालसुत्त** में परिगणित उन अनेक पाप-धर्मों का भी संग्रहण कर लेना चाहिये। जैसे वहाँ कहा है—

"यहाँ समाज में प्रतिष्ठित कुछ श्रमण-ब्राह्मण भी गृहस्थ जनों द्वारा श्रद्धा से प्रदत्त भोजन खाकर ऐसी टेढ़ी-मेढ़ी (तिर्यक् योनि कोटि की) दुरूह विद्याओं का सहारा लेते हुए मिथ्या आजीविकाओं से अपना जीवन निर्वाह करते हैं। जैसे—हाथ आदि अङ्ग देखकर भविष्य बताना, (ज्योतिष=ग्रहगणित), उत्पात (दैवी या प्राकृतिक घटनाओं के शकुन-अपशकुन), स्वप्न का फल बताना, सामुद्रिकशास्त्र के लक्षण, चूहों द्वारा कुतरे गये कपड़े देखकर उनका शुभाशुभ फल बताना, किस प्रकार के काष्ठद्रव्य से हवन करने पर यह फल होता है'—(अग्निहवन) आदि बताना, 'किस करछुल (दर्वी) से कौन हवन कैसा फलदायक होता है' (दर्वी-होम) बताना।"

इस प्रकार आजीविका के लिये प्रज्ञप्त इन छह शिक्षापदों का व्यतिक्रम करना, 'कुहन, लपन, नैमित्तिकता, लाभ से लाभ को खोजना आदि प्रकार के अकुशल धर्मों से की गयी जो मिथ्या

पापधम्मानं वसेन पवत्तो मिच्छाजीवो, या तस्मा सब्बप्पकारा पि मिच्छाजीवा विरति, इदं आजीवपारिसुद्धिसीलं। तत्रायं वचनत्थो—एतं आगम्म जीवन्ती ति आजीवो। को सो? पच्चयपरियेसनवायामो। पारिसुद्धी ति परिसुद्धता। आजीवस्स पारिसुद्धि **आजीवपारिसुद्धि**।

(घ) पच्चयसन्निस्सितसीलं

३२. यं पनेतं तदनन्तरं पच्चयसन्निस्सितसीलं वुत्तं, तत्थ **पटिसङ्खा योनिसो** ति। उपायेन पथेन पटिसङ्खाय। ञत्वा, पच्चवेक्खित्वा ति अत्थो। एत्थ च 'सीतस्स पटिघाताया' ति आदिना नयेन वुत्तपच्चवेक्खणमेव "योनिसो पटिसङ्खा" ति वेदितब्बं।

तत्थ **चीवरं** ति। अन्तरवासकादीसु यं किञ्चि। **पटिसेवती** ति। परिभुञ्जति, निवासेति वा, पारुपति वा। **यावदेवा** ति। पयोजनावधिपरिच्छेदननियमवचनं। एत्तकमेव हि योगिनो चीवरपटिसेवने पयोजनं यदिदं सीतस्स पटिघाताया ति आदि, न इतो भिय्यो। **सीतस्सा** ति। अज्झत्तधातुक्खोभवसेन वा बहिद्धाउतुपरिणामनवसेन वा उप्पन्नस्स यस्स कस्सचि सीतस्स। **पटिघाताया** ति। पटिहननत्थं। यथा सरीरे आबाधं न उप्पादेति, एवं तस्स

आजीविका है', उन सभी तरह की मिथ्या आजीविकाओं से जो विरति है—यह 'आजीवपारिशुद्धिशील' है। 'आजीवपरिशुद्धिशील' शब्द का सरल अर्थ यह है—जिसके सहारे जीते हैं वह कहलाता है 'आजीव'। वह क्या है? चीवर आदि ढूँढ़ने का प्रयास। अर्थात् प्रत्ययपर्येषणव्यायाम (प्रयत्न)। 'पारिशुद्धि' कहते हैं परिशुद्धता को। यों यह आजीव की परिशुद्धि ही 'आजीवपारिशुद्धि' कहलाती है।

(घ) प्रत्ययसन्निश्रित शील

३२. इसके पश्चात् जो यह प्रत्ययसन्निश्रित शील कहा गया है वहाँ (इस प्रसङ्ग के पालिपाठ[१] में आये) **पटिसङ्खा योनिसो** का अर्थ है—उपाय से, पथ (शास्त्रोक्त विधि) से एवं प्रतिसङ्ख्यान (ठीक-ठीक गणना) से; जानकर, प्रत्यवेक्षण कर। यहाँ 'योनिसो पटिसङ्खाय' का अर्थ "शीत के प्रतिघात (नाश) के लिये" आदि पालि-पाठ में कथित विधि से प्रत्यवेक्षण करना योनिशः प्रतिसङ्ख्यान है—ऐसा समझना चाहिये।

वहाँ चीवरं अन्तरवासक (चीवर के नीचे पहनने का छोटा वस्त्र=अण्डर वीयर) आदि में जो कोई भी वस्त्र। **पटिसेवति**—उपभोग करता है, पहनता है, ओढ़ता है। **यावदेव** (केवल)। यह शब्द प्रयोजन (आवश्यकता) की अवधि (सीमा) के परिच्छेदक नियम को द्योतित करता है। अर्थात् योगावचर के चीवर आदि धारण करने का इतना ही प्रयोजन है कि जितने मात्र से उसके शरीर को लगने वाले शीत (ठण्ढ) आदि दूर रह सके, इसे अधिक नहीं। **सीतस्स**—शरीर के आन्तरिक धातुक्षोभ (ज्वर आदि) के कारण या ऋतुपरिणामादिजन्य बाह्य धातुक्षोभ से उत्पन्न जिस किसी तरह

---

१. वह पालि-पाठ इस प्रकार है— "इध, भिक्खवे, भिक्खु (क) पटिसङ्खा योनिसो चीवरं पटिसेवति, यावदेव सीतस्स पटिघाताय, उण्हस्स पटिघाताय, डंसमकसवातातपसिरिंसपसम्फस्सानं पटिघाताय, यावदेव हिरिकोपीनपटिच्छादनत्थं।

(ख) पटिसङ्खा योनिसो पिण्डपातं पटिसेवति, नेव दवाय, न मदाय, न मण्डनाय, न विभूसनाय, यावदेव इमस्स कायस्स ठितिया यापनाय, विहिंसूपरतिया, ब्रह्मचरियानुग्गहाय, इति पुराणं च वेदनं पटिहङ्खामि, नवं च वेदनं न उप्पादेस्सामि, यात्रा च मे भविस्ससति, अनवज्जता च फासु विहारो चाति।

(ग) पटिसङ्खा योनिसो सेनासनं पटिसेवति, यावदेव सीतस्स पटिघाताय, उण्हस्स पटिघाताय, डंसमकसवातातपसिरिंसपसम्फस्सानं पटिघाताय, यावदेव उतुपरिस्सयविनोदनपटिसल्लानारामत्थं।

(घ) पटिसङ्खा योनिसो गिलानपच्चयभेसज्जपरिक्खारं पटिसेवति, यावदेव उप्पन्नानं वेय्याबाधिकानं वेदनानं पटिघाताय, अब्यापज्झपरमताया' ति।" (म०नि० १, २.१०; बौद्ध०भा०सं०)

विनोदनत्थं। सीतब्भाहते हि सरीरे विक्खित्तचित्तो योनिसो पदहितुं न सक्कोति, तस्मा 'सीतस्स पटिघाताय चीवरं पटिसेवितब्बं' ति भगवा अनुञ्ञासि। एस नयो सब्बत्थ। केवलं हेत्थ **उण्हस्सा** ति अग्गिसन्तापस्स। तस्स वनदाहादीसु सम्भवो वेदितब्बो। **डंसमकसवातातपसरीपसम्फस्सानं** ति। एत्थ पन डंसा ति डंसनमक्खिका, अन्धमक्खिका ति पि वुच्चन्ति। **मकसा** मकसा एव। **वाता** ति। सरज-अरजादिभेदा। **आतपो** ति। सूरियातपो। **सरीसपा** ति। ये केचि सरन्ता गच्छन्ति दीघजातिका सप्पादयो, तेसं दट्ठसम्फस्सो च फुट्ठसम्फस्सो चा ति दुविधो सम्फस्सो, सो पि चीवरं पारुपित्वा निसिन्नं न बाधति, तस्मा तादिसेसु ठानेसु तेसं पटिघातत्थाय पटिसेवति। **यावदेवा** ति। पुन एतस्स वचनं नियतपयोजनावधिपरिच्छददस्सनत्थं। हिरिकोपीनपटिच्छादनं हि नियतपयोजनं, इतरानि कदाचि कदाचि होन्ति। तत्थ **हिरिकोपीनं** ति तं तं सम्बाधट्ठानं। यस्मिं यस्मिं हि अङ्गे विवरियमाने हिरी कुप्पति विनस्सति, तं तं हिरिं कोपनतो हिरिकोपीनं ति वुच्चति। तस्स च हिरिकोपीनस्स पटिच्छादनत्थं ति **हिरिकोपीनपटिच्छादनत्थं**। हिरिकोपीनं पटिच्छादनत्थं ति पि पाठो।

पिण्डपातं ति। यं किञ्चि आहारं। यो हि कोचि आहारो भिक्खुनो पिण्डोल्येन पत्ते पतितत्ता पिण्डपातो ति वुच्चति। पिण्डानं वा पातो पिण्डपातो, तत्थ तत्थं लद्धानं भिक्खानं

के शीत का। **पटिघाताय**— प्रतिहनन (नाश=दूरीकरण) के लिये। जिस विधि से शरीर में किसी प्रकार की बाधा (रोग) उत्पन्न न हो, या (उत्पन्न हो जाय तो) उसके विनाश के लिये। शरीर के शीत से आक्रान्त होने पर व्यथित विक्षिप्तचित्त हो जाने के कारण कार्य का सम्पादन भलीभाँति नहीं कर पाता। अतः भगवान् अनुज्ञा देते हैं—"शीत से बचने के लिये चीवर का उपयोग करना चाहिये।" यही विधि (नय) इस प्रकरण में सर्वत्र समझनी चाहिये। अतः केवल यहाँ (कुछ अतिरिक्त विशिष्ट शब्दों का ही व्याख्यान कर रहे हैं)—**उण्हस्स** अग्नितap (जलन) का। उसे वन—दाह आदि के समय सम्भव जानना चाहिये। (किसी किसी दावाग्नि का सन्ताप शरीर को चीवर से आच्छन्न कर मिटाया जा सकता है—यह अभिप्राय है।) **डंसमकसवातातपसरीसपसम्फस्सानं** यहाँ 'डंस' का अर्थ है डँसने वाली मक्खी। इसे लोकव्यवहार में 'अन्धमक्खी' कहते हैं। **मकस** का अर्थ है मच्छर (=मशक)। **वात**— आँधी। यह धूलभरी व विना धूल की—यों दो प्रकार की होती है। **आतप**—धूप, सूर्य का ताप (गरमी)। **सरीसप**— रेंगने वाले और लम्बी आयु वाले सर्प आदि। उनका डँसना दो तरह से होता है—दाँतों द्वारा काटने से या उनके शरीर—संस्पर्श से भी। यह चीवर ओढ़ने या धारण करने से कष्ट नहीं देता; अतः वैसे स्थानों पर (जहाँ सर्प आदि का बाहुल्य हो) योगावचर चीवर धारण कर इस संस्पर्श से अपना त्राण करता है। **यावदेव**— केवल। इस शब्द का पुनः प्रयोग (चीवरधारण की) अवधि द्योतित करने के लिये है। (वस्तुतः) गुप्ताङ्गों का आच्छादन इसका निश्चित प्रयोजन है। अन्य प्रयोजन तो कभी—कभी (विशेष अवसरों) के लिये हैं। वहाँ **हिरिकोपीन** का अर्थ है—गुप्ताङ्ग (शिश्न, गुदा) आदि वह वह लज्जा—स्थान। अर्थात् जिस—जिस अङ्ग के अनावृत (खुले रहने पर) लज्जा (ह्री) बाधित होती हो, विनष्ट होती हो, वह वह अङ्ग, लज्जाबाधक होने के कारण, 'हिरिकोपीन' कहलाता है। यहाँ उस 'हिरिकोपीन के प्रतिच्छादन' के अर्थ में 'हिरिकोपीन—पटिच्छादनत्थं' इस समस्त पद का प्रयोग हुआ है। कोई—कोई यहाँ 'हिरिकोपीन को प्रतिच्छादन के लिये' ऐसा द्वितीयासमासप्रयुक्त पाठ भी मानते हैं।

पिण्डपातं— १. जो कुछ भी आहार वह 'पिण्डपात' कहलाता है। २. भिक्षुओं को भिक्षा के लिये विचरते समय (=पिण्डोल्य) पात्र में गिरने के कारण भी यह 'पिण्डपात' कहलाता है। अथवा—

सन्निपातो समूहो ति वुत्तं होति। **नेव दवाया** ति। न गामदारकादयो विय दवत्थं, कीळानिमित्तं ति वुत्तं होति। **न मदाया** ति। न मुट्ठिकमल्लादयो विय मदत्थं, बलमदनिमित्तं पोरिसमदनिमित्तं चा ति वुत्तं होति। **न मण्डनाया** ति। न अन्तेपुरिकवेसियादयो विय मण्डनत्थं, अङ्गपच्चङ्गानं पीणनभावनिमित्तं ति वुत्तं होति। **न विभूसनाया** ति। न नटनच्चकादयो विय विभूसनत्थं, पसन्नच्छविवण्णतानिमित्तं ति वुत्तं होति। एत्थ च 'नेव दवाया' ति एतं मोहूपनिस्सयप्पहानत्थं वुत्तं। 'न मदाया' ति एतं दोसूपनिस्सयप्पहानत्थं। 'न मण्डनाय न विभूसनाया' ति एतं रागूपनिस्सयप्पहानत्थं। 'नेव दवाय न मण्डनाया' ति चेतं अत्तनो संयोजनुप्पत्तिपटिसेधनत्थं। 'न मण्डनाय न विभूसनाया' ति एतं परस्स पि संयोजनुप्पत्तिपटिसेधनत्थं। चतूहि पि चेतेहि अयोनिसो पटिपत्तिया कामसुखल्लिकानुयोगस्स च पहानं वुत्तं ति वेदितब्बं।

यावदेवा ति वुत्तत्थमेव। **इमस्स कायस्सा** ति। एतस्स चतुमहाभूतिकस्स रूपकायस्स। **ठितिया** ति। पबन्धट्ठितत्थं। **यापनाया** ति। पवत्तिया अविच्छेदत्थं, चिरकालट्ठितत्थं वा। घरूपत्थम्भमिव हि जिण्णघरसामिको, अक्खब्भञ्जनमिव च साकटिको कायस्स ठितत्थं यापनत्थं चेस पिण्डपातं पटिसेवति, न दवमदमण्डनविभूसनत्थं। अपि च ठिती ति जीवितिन्द्रियस्सेतं अधिवचनं। तस्मा इमस्स कायस्स ठितिया यापनाया ति एत्तावता एतस्स कायस्स जीवितिन्द्रियपवत्तापनत्थं ति पि वुत्तं होती ति वेदितब्बं। **विहिंसूपरतिया**

---

३. पिण्डों (ग्रास दो ग्रास मात्र अन्न) का पात 'पिण्डपात' कहलाता है। इसका अर्थ हुआ—'वहाँ-वहाँ प्राप्त भिक्षा का सन्निपात=समूह'। **नेव दवाय का अर्थ है**—ग्रामबालकों की तरह क्रीड़ा (=दव) के लिये नहीं। **न मदाय का अर्थ है**—पहलवानों की तरह शरीर का मद (शक्ति) बढ़ाने के लिये नहीं। शास्त्र में 'मद' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है— १. बलमद और २. पौरुषमद। इस प्रसङ्ग में इन दोनों मदों का ही ग्रहण ग्रन्थकारसम्मत है। **न मण्डनाय**— न अन्तःपुर में रहने वाली स्त्रियों की तरह शारीरिक शोभा (छवि=मण्डल) बढ़ाने के लिये, ताकि शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग और अधिक सुन्दर (प्रीणन भाव वाले) लगें। **न विभूसनाय** न नट या नर्तकों (नाचनेवालों) की तरह शरीर को विभूषित करने हेतु शरीर की शोभा (प्रसन्न छवि) बढ़ाने के लिये।

अथ च—यहाँ 'नेव दवाय'—यह पद मोहसम्बन्धी उपनिश्रय के प्रहाण, 'न मदाय'—यह पद द्वेषसम्बन्धी उपनिश्रय....एवं 'न मण्डनाय, न विभूसनाय'—यह पद मोहसम्बन्धी उपनिश्रय के प्रहाण हेतु कहा गया है। 'नेव दवाय न मदाय' यह पदसमूह स्वकीय संयोजनों (बन्धनों) के उत्पाद का प्रतिषेध करने के लिये, और 'न मण्डनाय न विभूसनाय' यह पदसमूह परकीय संयोजनोत्पाद के प्रतिषेध के लिये प्रयुक्त हुए हैं। और इन चारों से मिलकर, अयथार्थ प्रतिपत्ति (ज्ञान) एवं कामसुखल्लिकानुयोग का प्रहाण बताया गया है— ऐसा जानना चाहिये।

यावदेव— इसका पूर्वोक्त ही अर्थ है। **इमस्स कायस्स**— इस चार महाभूतों से निष्पन्न रूपकाय का। **ठितिया**— निरन्तर स्थित रहने के लिये। **यापनाय**— जीवनप्रवाह को अविच्छिन्न बनाये रखने के लिये। या चिरकाल तक स्थित रहने के लिये। जीर्णगृह के स्वामी के घर में खम्भा (थम्भ=स्तम्भ) लगाने की तरह, या गाड़ीवान की गाड़ी के धुरे में तेल लगाने की तरह इस काया की स्थिति या निर्वाह के लिये पिण्डपात का सेवन करता है; क्रीड़ा, मद, मण्डन का अलङ्करण के लिये नहीं। अपितु यहाँ 'स्थिति' शब्द जीवितेन्द्रिय के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इसलिये उपर्युक्त इतने व्याख्यान के सहारे, 'इमस्स कायस्स ठितिया, यापनाय' का अर्थ 'जीवितेन्द्रिय के प्रवर्तन को बनाये रखने के लिये'—यह भी

ति। विहिंसा नाम जिघच्छा आबाधट्ठेन; तस्सा उपरमत्थं पेस पिण्डपातं पटिसेवति, वणालेपनमिव उण्हसीतादीसु तप्पटिकारं विय च। **ब्रह्मचरियानुग्गहाया** ति। सकलसासनब्रह्मचरियस्स च मग्गब्रह्मचरियस्स च अनुग्गहत्थं। अयं हि पिण्डपातपटिसेवन-पच्चया कायबलं निस्साय सिक्खत्तयानुयोगवसेन भवकन्तारनित्थरणत्थं पटिपज्जन्तो ब्रह्मचरियानुग्गहाय पटिसेवति, कन्तारनित्थरणत्थिका पुत्तमंसं विय, नदीनित्थरणत्थिका कुल्लं विय, समुद्दनित्थरणत्थिका नावमिव च।

इति पुराणं च वेदनं पटिहङ्खामि नवं च वेदनं न उप्पादेस्सामी ति। एवं इमिना पिण्डपातपटिसेवनेन पुराणं च जिघच्छावेदनं पटिहङ्खामि, नवं च वेदनं अपरिमितभोजनपच्चयं आहरहत्थक-अलंसाटक-तत्रवट्टक-काकमासक-भुत्तवमितकब्राह्मणानं अञ्ञतरो विय न उप्पादेस्सामी ति पि पटिसेवति, भेसज्जमिव गिलानो। अथ वा—या अधुना असप्पाया-परिमित-भोजनं निस्साय पुराणकम्मपच्चयवसेन उप्पज्जनतो पुराणवेदना ति वुच्चति, सप्पाय-परिमितभोजनेन तस्सा पच्चयं विनासेन्तो तं पुराणं च वेदनं पटिहङ्खामि। या चायं अधुना कतं अयुत्तपरिभोगकम्मूपचयं निस्साय आयतिं उप्पज्जनतो नववेदना ति वुच्चति, युत्तपरिभोगवसेन तस्सा मूलं अनिब्बत्तेन्तो तं नवं च वेदनं न उप्पादेस्सामी ति एवं पेत्थ

समझना चाहिये। **विहिंसूपरतिया**— यहाँ 'विहिंसा' का अर्थ है रोग। रोग से बचने के लिये भी। वह पिण्डपात का उपभोग करता है घाव (व्रण) पर मरहम के लेपन के समान एवं सर्दी–गर्मी आदि होने पर उनके प्रतीकार के समान। **ब्रह्मचरियानुग्गहाय**— समस्त बुद्धशासन में (निहित) ब्रह्मचर्य एवं मार्ग के रूप में ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिये। वह पिण्डपात–सेवन के फलस्वरूप प्राप्त शरीर–बल के सहारे (अधिशील, अधिचित्त, अधिप्रज्ञ–इस) शिक्षात्रय की पूर्ति में लगे रहने से, भवकान्तार को पार करने में सन्नद्ध रहते हुए, ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिये सेवन करता है; जैसे रेगिस्तान पार करने का इच्छुक व्यक्ति भूख मिटाने के लिये अपने पुत्र के मांस को भी खाने का या नदी के पार जाने का इच्छुक किसी बेड़े का या समुद्रपारगमनेच्छु किसी बड़ी नौका का सहारा लेता है।

इति पुरा०। च वेदनं पटिहङ्खामि नवं च वेदनं उप्पादेस्सामि— 'यों इस पिण्डपातप्रतिसेवन से पुरानी जिघत्सावेदना (भूख के अनुभव) को निवृत्त करूँगा और इस पिण्डपात के अधिक प्रतिसेवन से होने वाले किसी नये रोग को पैदा नहीं होने दूँगा' यह सोचकर पिण्डपात का सेवन करता है, जैसे कोई रोगी पथ्य या औषध का अल्प या उचित मात्रा में ही उपयोग करता हो।

यहाँ पिण्डपात के अतिसेवन से होने वाले कुछ रोग, जो कि सामान्यतः उस समय के भोजनभट्ट ब्राह्मणों में हुआ करते थे, आचार्य ने यों गिनाये हैं, जैसे—१. **आहरहत्थक** (अधिक भोजन के कारण दूसरों के हाथ का सहारा लेकर उठना); २. **अलंसाटक** (अतिभोजन के कारण, धोती ढीली होने पर पुनः बाँधने में असमर्थ होना); ३. **तत्रवट्टक** (अति भोजन से उठने में असमर्थ हो उसी जगह लेट जाना); ४. **काकमांसक** (अतिभोजन से श्वास लेने में असमर्थ ऐसे मुँह खोल कर सोना कि उसके खुले मुँह में कौआ भी अपनी चौंच डालकर उसके गले से खाया अन्न निकाल ले) एवं ५. **भुत्तवमितक** (जो अधिक खाकर मुख में रखने में असमर्थ हो और वहीं वमन कर दे)।

अथवा, इस वाक्य का अर्थ यों कीजिये— 'पूर्व कर्म के कारण (प्रत्यय) वश एवं इस समय **अनुचित व अत्यधिक** भोजन के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने से जो पुरानी वेदना कही जाती है, उचित परिमित भोजन से उस पुरानी वेदना के प्रत्यय का विनाश करते हुए 'उस पुरानी वेदना को दूर करूँगा'; एवं 'जो इस समय किये गये अयुक्त परिभोग–कर्म के फलस्वरूप आगे उत्पन्न होने से नयी

अत्थो दट्ठब्बो। एत्तावता युत्तपरिभोगसङ्गहो, अत्तकिलमथानुयोगप्पहानं, धम्मिकसुखा-परिच्चागो च दीपितो होती ति वेदितब्बो।

यात्रा च मे भविस्सती ति। परिमितपरिभोगेन जीवितिन्द्रियुपच्छेदकस्स इरियापथ-भञ्जकस्स वा परिस्सयस्स अभावतो चिरकालगमनसङ्खाता यात्रा च मे भविस्सति इमस्स पच्चयात्तवुत्तिनो कायस्सा ति पि पटिसेवति, याप्यरोगी विय तप्पच्चयं। **अनवज्जता च फासुविहारो चा** ति। अयुत्तपरियेसनपटिग्गहणपरिभोगपरिवज्जनेन अनवज्जता, परिमित-परिभोगेन फासुविहारो। असप्पायापरिमितपरिभोगपच्चया अरति-तन्दी-विजम्भिता-विञ्ञुगरहादिदोसाभावेन वा अनवज्जता, सप्पायपरिमितभोजनपच्चया कायबलसम्भवेन फासुविहारो। यावदत्थउद-रावदेहकभोजनपरिवज्जनेन वा सेय्यसुखपस्ससुखमिद्धसुखानं पहानतो अनवज्जता, चतुपञ्चा-लोपमत्तऊनभोजनेन चतुइरियापथयोग्यभावपटिपादनतो फासुविहारो च मे भविस्सती ति पि पटिसेवति। वुत्तं पि हेतं—

"चत्तारो पञ्च आलोपे अभुत्वा उदकं पिवे।
अलं फासुविहाराय पहितत्तस्स भिक्खुनो" ति॥ (खु० २-३६६)

एत्तावता च पयोजनपरिग्गहो, मज्झिमा च पटिपदा दीपिता होती ति वेदितब्बा।

सेनासनं ति। सेनं च आसनं च। यत्थ यत्थ हि सेति विहारे वा अड्ढयोगादिम्हि वा,

---

वेदना कही जाती है, युक्त परिभोग से उसके मूल को ही न उत्पन्न होने देकर उस नयी वेदना को भी उत्पन्न न करूँगा'।

यहाँ तक (के व्याख्यान) से युक्त (उचित) परिभोग का संग्रह, आत्मक्लमथानुयोगप्रहाण एवं धार्मिक सुख का अपरित्याग—यह सब व्याख्यात हुआ—ऐसा समझना चाहिये।

यात्रा च मे भविस्सति— 'परिमित (उचित) परिभोग से जीवितेन्द्रिय का उपच्छेद (मृत्यु) या ईर्यापथ को बाधित करने वाले उपद्रव (परिश्रय) के अभाव से चिरकाल तक चलते रहना (=गमन या जीते रहना) कहलाने वाली मेरी जीवनयात्रा होती रहेगी' ऐसा सोचकर पिण्डपात का सेवन करता है; जैसे गम्भीर रोगी औषध का सेवन करता हो।

अनवज्जता च फासुविहारो च— अयुक्त के पर्येषण एवं परिभोग का त्याग करने से अनवद्यता; परिमित परिभोग करने से सुखविहार। अथवा—अनुचित, अपरिमित परिभोग के प्रत्यय से (उत्पन्न) शरीरबल से उद्भूत उदासी, तन्द्रा, जम्हाई—इन विद्वन्निन्दित दोषों के अभाव से अनवद्यता; एवं उचित परिमित भोजन के प्रत्यय से उत्पन्न शरीरबल के उत्पाद से सुखविहार। अथवा—जितना हो सके उतना ठूँस-ठूँस कर भोजन करने के परिवर्जन से शय्यासुख, पार्श्वसुख (आलस्य वा खाट पर पड़े रहना), मृद्ध (तन्द्रायुक्त आलस्य) सुख के प्रहाण से अनवद्यता; ('जितनी भूख हो उससे) चार-पाँच ग्रास भोजन कम कर शरीर को चारों ईर्यापथों के अनुकूल बनाने से मेरी साधना सुखपूर्वक होती रहेगी'—यह (सोचकर) भी सेवन करता है। त्रिपिटक में यह भी कहा है—

("भोजन में) चार-पाँच ग्रास कम खाकर (उसके स्थान पर) जल पी ले—यही उस निर्वाणहेतु प्रयासरत भिक्षु की सुखपूर्विका साधना में पर्याप्त (सहायक) होगा।"

इतने व्याख्यान से प्रयोजन का प्रतिग्रह एवं मध्यमा प्रतिपदा का व्याख्यान हुआ—यह जानना चाहिये।।

सेनासनं— शयन और आसन। भिक्षु जहाँ जहाँ शयनक्रिया करे, फिर भले ही वह विहार हो

तं सेनं। यत्थ यत्थ आसति निसीदति, तं आसनं। तं एकतो कत्वा सेनासनं ति वुच्चति। **उतुपरिस्सयविनोदनपटिसल्लानारामत्थं** ति। परिसहनट्ठेन उतु येव उतुपरिस्सयो। उतुपरिस्सयस्स विनोदनत्थं च पटिसल्लानारामत्थं च। यो सरीराबाधचित्तविक्खेपकरो असप्पायो उतु सेनासनपटिसेवनेन विनोदेतब्बो होति, तस्स विनोदनत्थं एकीभावसुखत्थं चा ति वुत्तं होति। कामं च सीतपटिघातादिना व उतुपरिस्सयविनोदं वुत्तमेव। यथा पन चीवरपटिसेवने हिरिकोपीनपटिच्छादनं नियतपयोजनं, इतरानि कदाचि कदाचि भवन्तो ति वुत्तं, एवमिधापि नियतं उतुपरिस्सयविनोदनं सन्धाय इदं वुत्तं ति वेदितब्बं।

अथ वा—अयं वुत्तप्पकारो उतु उतु येव। परिस्सयो पन दुविधो—पाकटपरिस्सयो च, पटिच्छन्नपरिस्सयो च। तत्थ पाकटपरिस्सयो सीहब्यग्घादयो, पटिच्छन्नपरिस्सयो रागदोसादयो। ते यत्थ अपरिगुत्तिया च असप्पायरूपदस्सनादिना च आबाधं न करोन्ति, तं सेनासनं एवं जानित्वा पच्चवेक्खित्वा पटिसेवन्तो भिक्खु पटिसङ्खा योनिसो सेनासनं उतुपरिस्सयविनोदनत्थं पटिसेवती ति वेदितब्बो।

गिलानपच्चयभेसज्जपरिक्खारं ति। एत्थ रोगस्स पटिअयनट्ठेन पच्चयो, पच्चनीकगमनट्ठेना ति अत्थो। यस्स कस्सचि सप्पायस्सेतं अधिवचनं। भिसक्कस्स कम्मं तेन अनुञ्ञातत्ता ति भेसज्जं। गिलानपच्चयो व भेसज्जं गिलानपच्चयभेसज्जं। यं किञ्चि

या अङ्कयोग आदि हो वह 'शयन' कहलाता है। जहाँ–जहाँ भी वह आसीन होता है बैठता है वह 'आसन' कहलाता है। वे दोनों मिल कर 'शयनासन' कहे जाते हैं। **उतुपरिस्सयविनोदन–पटिसल्लानारामत्थं**— ऋतु ही ऋतुपरिश्रय है। ऋतु के परिश्रय (=उपद्रव) को दूर हटाने एवं चित्त को सुखपूर्वक एकाग्र करने (पटिसल्लान) के लिये। जो शरीर में रोग तथा चित्त का विक्षेप कर विघ्न होते हैं उन्हें ऋतु, शयन आसन आदि के उचित सेवन से दूर करना चाहिये। इस (ऋतुपरिश्रय) को निष्प्रभाव करने के लिये तथा एकाग्रता–सुख की प्राप्ति के लिये इस शब्दसमूह का प्रयोग किया गया है। यद्यपि साधारणतः शीतप्रतिघातादि के रूप में ऋतुपरिश्रय को निष्प्रभाव करना पहले भी व्याख्यानप्रसङ्ग में कहा जा चुका है, किन्तु जैसे चीवर के उपयोगसम्बन्धी व्याख्यान में ही कौपीनाच्छादन को चीवर का नियत प्रयोजन बताया गया है, बाकी प्रयोजन तो कादाचित्क ही कहे गये हैं; उसी प्रकार इस व्याख्यानप्रसङ्ग में भी नियत ऋतुपरिश्रय का दूरीकरण (शयनासन में) बताने के लिये यह कहा गया है—ऐसा जानना चाहिये।

अथवा यों भी व्याख्यान किया जा सकता है—ऋतु का व्याख्यान तो साधारणतः जो होता है वही है। हाँ, उसका परिश्रय दो प्रकार का है— १. प्रकटपरिश्रय और २. प्रच्छन्नपरिश्रय। उनमें, सिंह व्याघ्रादि प्रकटपरिश्रय के रूप में देखे जाते हैं और राग–द्वेष आदि प्रच्छन्नपरिश्रय के रूप में। वे जहाँ छिपकर न रहने व अयुक्त रूपदर्शन आदि के कारण बाधा न पहुँचाते हों (क्योंकि व्याघ्रादि तो छिपकर न रहने एवं राग–द्वषादि अयुक्त रूपदर्शन से ही बाधा पहुँचाते हैं)। उस शयन–आसन को यों जानकर, सोच–विचार कर सेवन करने वाला भिक्षु ऋतुपरिश्रय को निष्प्रभाव करने के लिये प्रज्ञा से सम्यक्तया जानकर शयनासन का उपयोग करता है—इस प्रकार समझना चाहिये।

गिलानप्पच्चयभेसज्जपरिक्खारं— यहाँ रोग के प्रत्ययन (विपक्ष) अर्थ में 'प्रत्यय' का प्रयोग है। इसका अर्थ है— (रोग के) विरुद्ध होना। जो कुछ भी (रोग के विरुद्ध) युक्त है, पथ्य (सप्पाय) है, अनुकूल है—उसका यह अधिवचन (पर्याय) है। इसके द्वारा भिषक् (वैद्य) का चिकित्साकर्म अनुज्ञात

गिलानस्स सप्पायं भिसक्ककम्मं तेलमधुफाणितादी ति वुत्तं होति। परिक्खारो ति पन "सत्तहि नगरपरिक्खारेहि सुपरिक्खतं होति" (अं०३-२३४)ति आदीसु परिक्खारो वुच्चति। "रथो सीलपरिक्खारेहि झानक्खो चक्कवीरियो"(सं०४-७)ति आदीसु अलङ्कारो। "ये च खो इमे पब्बजितेन जीवितपरिक्खारा समुदानेतब्बा" (म०१-१४१)ति आदीसु सम्भारो। इध पन सम्भारो पि परिवारो पि वट्टति तं हि गिलानपच्चयभेसज्जं जीवितस्स परिवारो पि होति, जीवितनासकाबाधुप्पत्तिया अन्तरं अदत्वा रक्खणतो सम्भारो पि। यथा चिरं पवत्तति, एवमस्स कारणभावतो, तस्मा परिक्खारो ति वुच्चति। एवं गिलानपच्चयभेसज्जं च तं परिक्खारो चा ति गिलानपच्चयभेसज्जपरिक्खारो, तं गिलानपच्चयभेसज्जपरिक्खारं। गिलानस्स यं किञ्चि सप्पायं भिसक्कानुञ्ञातं तेलमधुफाणितादिजीवितपरिक्खारं ति वुत्तं होति।

उप्पन्नानं ति। जातानं भूतानं निब्बत्तानं। **वेय्याबाधिकानं** ति। एत्थ ब्याबाधो ति धातुक्खोभो, तं समुट्ठाना च कुट्ठगण्डपिळकादयो। ब्याबाधतो उप्पन्नता वेय्याबाधिका। **वेदनानं** ति। दुक्खवेदना अकुसलविपाकवेदना, तासं वेय्याबाधिकानं वेदनानं। **अब्याबज्झपरमताया** ति। निद्दुक्खपरमताय। याव तं दुक्खं सब्बं पहीनं होति तावा ति अत्थो।

होता है, अतः यह भैषज्य है। ग्लान (रोगी) का प्रत्यय (पथ्य) ही 'भैषज्य' है, अतः यह 'ग्लानप्रत्ययभैषज्य' है। रोगी की जो कुछ भी पथ्यानुकूल ओषधियाँ हैं जैसे तैल, मधु, घृत, फाणित (=फेन से उत्पन्न वस्तु। घृत भी दूध के फेन से निकलता है, अतः 'फाणित' कहलाता है)—सभी 'भैषज्य' कहलाती हैं। परिष्कार—यह शब्द त्रिपिटक में स्थान-स्थान पर कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। जैसे—"सात नगर-परिष्कारों[1] से सुपरिष्कृत होता है" (अ०नि० ३-२३४) आदि स्थानों में 'परिष्कार' शब्द परिवार (खाई से घिरे रहना) अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। "आर्यमार्गरूपी रथ शीलपरिष्कार से सम्पन्न है, ध्यान भावना इसकी धुरी एवं उस भावना की प्राप्ति के लिये उद्योग (वीर्य) करना उसका चक्र है"—यहाँ परिष्कार शब्द अलङ्कार (आभूषण) अर्थ में प्रयुक्त है।"प्रव्रजित के द्वारा ये जीवनपरिष्कार (जीवनसाधन) जुटाने योग्य है"—यहाँ 'परिष्कार' शब्द 'साधन'-अर्थ में प्रयुक्त है। परन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग में इस शब्द का 'सम्भार' (संग्रह) या 'परिवार' अर्थ ही उचित है; क्योंकि वह ग्लानप्रत्ययभैषज्य जीवन का साधन भी होता है और जीवन-नाशक रोगों की उत्पत्ति के लिये अवसर न देते हुए, रक्षा करने से 'सम्भार' भी होता है। चिरकाल तक चलते रहने का कारण होने से 'परिष्कार' कहा जाता है। यों, वह ग्लानप्रत्ययभैषज्य भी है और परिष्कार भी, अतः यह हुआ 'ग्लानप्रत्ययभैषज्यपरिष्कार'। उसको वैद्यों द्वारा अनुज्ञात तैल, मधु, घृत आदि जो कुछ भी औषध हैं उन्हें 'जीवन-परिष्कार' कहा गया है।

उप्पन्नानं— जन्मे हुओं का , प्रादुर्भूत हुओं का, निर्वृत्त हुओं का। **वेय्याबाधिकानं** यहाँ व्याबाधा का अर्थ है शरीरगत धातुक्षोभ एवं उत्पन्न कुष्ठरोग, गलगण्ड या व्रण आदि विकार। व्याबाधा से उत्पन्न हुआ 'वैयाबाधिक' कहलाता है। **वेदनानं** दुःखात्मक वेदना या अकुशल-विपाक वेदना का। **अब्यावज्झपरमताय**— दुःखरहित होने के लिये। अर्थात् जब तक वह रोगनिमित्तक दुःख सर्वात्मकतया निर्मूल न हो तब तक के लिये (—यह अर्थ) समझना चाहिये।

---

१. अट्ठकथा में ये सात 'नगरपरिष्कार' बताये गये हैं; जैसे— (१) एसिका (इन्द्रकील), (२) खाई, (३) विस्तृत मार्ग, (४) विशाल आयुधभाण्डागार, (५) सेना, (६) चतुर द्वारपाल और (७) ऊँची व चौड़ी चहारदीवारी। परन्तु अं० नि० (७. ७. ३) में इस गणना में कुछ भिन्नता दिखायी देती है; जैसे—(१) किवाड़, (२) खाई, (३) नींव, (४) चहारदीवारी (प्राकार), (५) इन्द्रकील, (६) चौखट एवं (७) चहारदीवारी का द्विगुण या त्रिगुण विस्तार।

एवमिदं सङ्खेपतो पटिसङ्खा योनिसो पच्चयपरिभोगलक्खणं पच्चयसन्निस्सितसीलं **वेदितब्बं**। वचनत्थो पनेत्थ—चीवरादयो हि यस्मा ते पटिच्च निस्साय परिभुञ्जमाना पाणिनो अयन्ति पवत्तन्ति, तस्मा पच्चया ति वुच्चन्ति। ते पच्चये सन्निस्सितं ति **पच्चयसन्निस्सितं**॥

चतुपारिसुद्धिसम्पादनविधि

१. पातिमोक्खसंवरसुद्धिसम्पादनविधि

३३. एवमेतस्मिं चतुब्बिधे सीले सद्धाय **पातिमोक्खसंवरो** सम्पादेतब्बो। **सद्धासाधनो** हि सो, सावकविसयातीतत्ता सिक्खापदपञ्ञत्तिया। सिक्खापदपञ्ञत्तियाचनपटिक्खेपो चेत्थ निदस्सनं। तस्मा यथा पञ्ञत्तं सिक्खापदं अनवसेसं सद्धाय समादियित्वा जीविते पि अपेक्खं अकरोन्तेन साधुकं सम्पादेतब्बं। वुत्तं पि हेतं—

"किकी व अण्डं चमरी व वालधिं, पियं व पुत्तं नयनं व एककं।
तथेव सीलं अनुरक्खमानका सुपेसला होथ सदा सागरवा" ति॥

अपरं पि वुत्तं—"(सेय्यथापि महासमुद्दो ठितधम्मो नातिवकामति) एवमेव खो, **पहाराद**, यं मया सावकानं सिक्खापदं पञ्ञत्तं, तं मम सावका जीवितहेतु पि नातिक्कमन्ती" (अं० नि० ३-३०९) ति। इमस्मिं च पनत्थे अटवियं चोरेहि बद्धथेरानं वत्थूनि वेदितब्बानि।

महावत्तनिअटवियं किर थेरं चोरा काळवल्लीहि बन्धित्वा निपज्जपेसुं। थेरो यथानिपन्नो

यों, संक्षेप में यह प्रतिसङ्ख्यान (सूक्ष्म विश्लेषण) से भली-भाँति समझकर प्रत्ययपरिभोग वाले प्रत्ययसन्निश्रित शील को जानना चाहिये। उक्त वाक्यावलि का सरलार्थ यह है—क्योंकि उनके प्रत्यय (कारण) से परिभोग करते हुए प्राणी चलते हैं, अपने जीवन में गति लाते हैं, अतः चीवर आदि 'प्रत्यय' कहे जाते हैं। उन प्रत्ययों से सन्निश्रित (सम्बद्ध) शील 'प्रत्ययसन्निश्रित' कहलाता है।

चार परिशुद्धिसम्पादनविधियाँ

(१) प्रतिमोक्षसंवरशुद्धिसम्पादनविधि

३३. यों, इस उपर्युक्त चतुर्विध शील में श्रद्धा द्वारा **प्रातिमोक्षसंवर** पूर्ण करना चाहिये; क्योंकि उस शील की प्राप्ति में श्रद्धा ही साधन (सहारा) है। नये शिक्षापदों की प्रज्ञप्ति (रचना, व उसका दूसरों को उपदेश) श्रावक के अधिकार से बाहर की बात है। इसमें (विनयपिटक—पाराजिक खण्ड में आयी) आयुष्मान् सारिपुत्र द्वारा भगवान् से नये शिक्षापदों की प्रज्ञप्ति की याचना पर भगवान् द्वारा उसका निषेध बतलाने वाली कथा ही प्रमाण (निदर्शन) है। इसलिये (भगवान् द्वारा) जैसे भी शिक्षापद (साधनाविधि) प्रज्ञप्त हैं उन पर पूर्ण श्रद्धा रखते हुए, अपने जीवन को भी दाव पर लगा कर, उनको पूर्ण करने का प्रयास करना चाहिये। क्योंकि कहा भी है—

"जैसे टिटहरी (पक्षी) अपने अण्डे की, चमरी (जाति की गौ) अपनी पूँछ की, माता (अपने इकलौते) पुत्र की, काणा (अपनी बची) एक आँख की रक्षा करता है; वैसे ही तुम अपने शील की रक्षा करते हुए (उसके प्रति) प्रेम और गौरव रखने वाले बनो।।

और (अङ्गुत्तरनिकाय ३-३०९ में) भी कहा है— ("जैसे महासमुद्र अपने स्थान पर स्थित रहता हुआ अपने तट को कभी नहीं लाँघता,) उसी तरह प्रह्लाद! मैंने अपने श्रावकों के लिये जो शिक्षापद प्रज्ञप्त किये हैं, उन्हें वे अपने जीवन पर सङ्कट आने पर भी, अतिक्रान्त नहीं करते"। इस प्रसङ्ग को प्रमाणित करने के लिये (त्रिपिटक में आयी) वन में चौरों द्वारा शृङ्खलाबद्ध भिक्षुओं की कथाएँ प्रस्तुत करनी चाहियें। (जैसे—)

व सत्त दिवसानि वड्ढेत्वा अनागामिफलं पापुणित्वा तत्थेव कालं कत्वा ब्रह्मलोके निब्बत्ति।

अपरं पि थेरं तम्बपण्णिदीपे पूतिलताय बन्धित्वा निपज्जापेसुं। सो वनदाहे आगच्छन्ते वल्लिं अच्छिन्दित्वा व विपस्सनं पट्ठपेत्वा समसीसी हुत्वा परिनिब्बायि। दीघभाणक**अभयत्थेरो** पञ्चहि भिक्खुसतेहि सद्धिं आगच्छन्तो दिस्वा थेरस्स सरीरं झापेत्वा चेतियं कारापेसि। तस्मा अञ्ञो पि सद्धो कुलपुत्तो—

पातिमोक्खं विसोधेन्तो अप्पेव जीवितं जहे।
पञ्ञत्तं लोकनाथेन न भिन्दे सीलसंवरं॥

२. इन्द्रियसंवरसुद्धिसम्पादनविधि

३४. यथा च पातिमोक्खसंवरो सद्धाय, एवं सतिया **इन्द्रियसंवरो** सम्पादेतब्बो। **सतिसाधनो** हि सो, सतिया अधिट्ठितानं इन्द्रियानं अभिज्झादीहि अनन्वास्सवनीयतो। तस्मा "वरं, भिक्खवे, तत्ताय अयोसलाकाय आदित्ताय सम्पज्जलिताय सजोतिभूताय चक्खुन्द्रियं सम्पलिमट्ठं, न त्वेव चक्खुविञ्ञेय्येसु रूपेसु अनुब्यञ्जनसो निमित्तग्गाहो" (सं० ३-१५२) ति आदिना नयेन आदित्तपरियायं समनुस्सरित्वा रूपादिसु विसयेसु

---

(१) महावर्तनी अटवी (विन्ध्याटवी या हिमालय के पार्श्वस्थित किसी पर्वत की उपत्यका के वनप्रदेश) में कालवल्ली (कोई विशेष लता) से बाँध कर स्थविर को लिटा दिया। स्थविर ने उसी अवस्था में (लेटे ही लेटे) सात ही दिनों में विपश्यना बढ़ाकर अनागामिफल प्राप्त करते हुए वहीं स्वशरीर त्याग कर ब्रह्मलोक में अवतार लिया।

(२) एक अन्य स्थविर को भी चौरों ने पूतिलता (गिलोय बेल) से बाँधकर वहीं पटक दिया। बाद में उस स्थविर ने, वन में आग लग जाने पर लता को विना तोड़े ही (क्योंकि हरी लता को तोड़ना शिक्षापदों में पाचित्तिय दोष माना गया है) विपश्यना कर के जीवितसमसीसी ('या तो मेरी मृत्यु ही होगी या इस सङ्कल्प को ही पूरा करूँगा'— ऐसे दृढ़ निश्चयी होकर निर्वाण प्राप्त कर लिया। दीर्घभाणक (दीघनिकाय को कण्ठतः सुनाने वाले) अभय—स्थविर ने, पाँच सौ भिक्षुओं के साथ आते हुए, उस निर्वाणप्राप्त भिक्षु को उस अवस्था में देखकर उसके शरीर का संस्कार करते हुए उस पर चैत्य बनवा दिया। अतः अन्य श्रद्धावान् कुलपुत्र को भी—

प्रातिमोक्ष (भिक्षुनियमों) का, जैसा कि भगवान् ने उन्हें प्रज्ञप्त किया है, विशुद्ध हृदय से पालन करते हुए, भले ही इस कर्त्तव्यपूर्ति में उसके प्राण ही क्यों न चले जाँय, शीलसंवर का उल्लङ्घन कदापि नहीं करना चाहिये॥

(२) इन्द्रियसंवरशुद्धिसम्पादनविधि

३४. जैसे प्रातिमोक्षसंवरशील का पालन स्मृति के सहारे होता है वैसे ही इन्द्रियसंवरशील का पालन भी स्मृति के सहारे सम्पन्न करना चाहिये; क्योंकि उस संवर की रक्षा में स्मृति का ही सहारा है। अतः स्मृति से अधिष्ठित होने के कारण (उस योगावचर की) इन्द्रियाँ अभिध्यादि दुर्गुणों से प्रोत्साहित नहीं होतीं। अतः "भिक्षुओ! भले ही कोई गर्म, जलती, धधकती, चमकती लोहे की शलाकाओं से चक्षुरिन्द्रिय को फोड़ डाले, परन्तु चक्षुर्विज्ञेय रूपसम्बन्धी विषयों में अनुव्यञ्जन (आकार, बनावट) के अनुसार निमित्त का ग्रहण करना कथमपि अच्छा नहीं" इत्यादि त्रिपिटिकोक्त कथन से आदित्यपर्यायसूत्र का स्मरण कर, रूपादि विषयों में चक्षुर्द्वार आदि से उत्पन्न विज्ञान का लोभ आदि को प्रोत्साहित करने वाले निमित्त आदि के ग्रहण को निरन्तर बनी रहने वाली स्मृति से रोकते हुए इस इन्द्रियसंवर को करना चाहिये। इसके, इस प्रकार न पालन करने पर, पूर्वोक्त

चक्खुद्वारादिपवत्तस्स विञ्ञाणस्स अभिज्झादीहि अन्वास्सवनीयं निमित्तादिग्गाहं असम्मुट्ठाय सतिया निसेधेन्तेन एस साधुकं सम्पादेतब्बो। एवं असम्पादिते हि एतस्मिं पातिमोक्खसंवरसीलं पि अनद्धनियं होति अचिरट्ठितिकं, असंविहितसाखापरिवारमिव सस्सं। हञ्ञते चायं किलेसचोरेहि, विवटद्वारो विय गामो परस्सहारीहि। चित्तं चस्स रागो समतिविज्झति, दुच्छन्नमगारं वुट्ठि विय। वुत्तं पि हेतं—

"रूपेसु सद्देसु अथो रसेसु गन्धेसु फस्सेसु च रक्ख इन्द्रियं।
एते हि द्वारा विवटा अरक्खिता हनन्ति गामं व परस्सहारिनो"॥

"यथा अगारं दुच्छन्नं वुट्ठि समतिविज्झति।
एवं अभावितं चित्तं रागो समतिविज्झती" ति॥ (खु० १-१३)

सम्पादिते पन तस्मिं पातिमोक्खसंवरसीलं पि अद्धनियं होति चिरट्ठितिकं, सुसंविहितसाखापरिवारमिव सस्सं। न हञ्ञते चायं किलेसचोरेहि, सुसंवुतद्वारो विय गामो परस्सहारीहि। न चस्स चित्तं रागो समतिविज्झति, सुच्छन्नमगारं वुट्ठि विय। वुत्तं पि चेतं—

"रूपेसु सद्देसु अथो रसेसु गन्धेसु फस्सेसु च रक्ख इन्द्रियं।
एते हि द्वारा पिहिता सुसंवुता न हन्ति गामं व परस्सहारिनो"॥

"यथा अगारं सुच्छन्नं वुट्ठि न समतिविज्झति।
एवं सुभावितं चित्तं रागो न समतिविज्झती" ति॥ (खु० १-१४)

अयं पन अतिउक्कट्ठदेसना। चित्तं नामेतं लहुपरिवत्तं, तस्मा उप्पन्नं रागं असुभमनसि-

---

प्रातिमोक्षसंवरशील भी बहुत समय तक साथ न देने वाला या बहुत समय स्थिर न रहने वाला हो जाता है, जैसे कि कटीले शाखा-समूहों के अवरोध से न घेरी हुई धान (शस्य) की खेती। अन्त में यह क्लेशरूपी चोरों से मार डाला जाता है, जैसे खुले द्वारों वाला ग्राम लुटेरों द्वारा लूट लिया जाता है। उस अवस्था में राग इसके चित्त में प्रविष्ट हो जाता है; जैसे ठीक से न छाये हुए घर में वर्षा का जल घुस जाता है। (त्रिपिटक में) कहा भी है—

"रूप, शब्द, रस, गन्ध एवं स्पर्श के विषयों में अपनी इन्द्रियों को सुरक्षित रखें; क्योंकि ये खुले इन्द्रियद्वार अरक्षित साधक को वैसे ही मार देते हैं जैसे खुले द्वारों वाले ग्राम को लुटेरे लूट ले जाते हैं।

"जैसे ठीक से न छायी हुई छत वाले घर में वर्षा का जल विना किसी अवरोध के प्रविष्ट हो जाता है, उसी तरह साधनाभ्यास में आलसी भिक्षु के चित्त में राग आदि अकुशल धर्म प्रविष्ट हो जाते हैं।

फिर, इस (इन्द्रियसंवर) का पालन किये जाने पर वह प्रातिमोक्षसंवर दूर तक साथ देने वाला (अद्धनिय) तथा चिरकालस्थायी होता है; जैसे कँटीली झाड़ियों से घेरी हुई धान की खेती। यह साधक क्लेशरूपी चोरों से नहीं मारा जाता। इसके इस शुद्ध चित्त में राग भी नहीं प्रविष्ट हो पाता, जैसे सञ्छन्न घर में वर्षा का जल। कहा भी है—

"रूप के....पूर्ववत्....बचाओ। इन इन्द्रियद्वारों के बन्द होने पर विषय साधक को उसी तरह नहीं मार पाते, जैसे पिहितद्वार (बन्द दरवाजों वाले) ग्राम को लुटेरे नहीं लूट पाते।"

"जिस तरह सम्यगाच्छादित घर में वर्षा का जल नहीं प्रविष्ट हो पाता, उसी तरह जिसके इन्द्रियद्वार संवृत हैं उसके भावित चित्त में राग नहीं घुस पाता।" (खु० १-१४)

कारेन विनोदेत्वा इन्द्रियसंवरो सम्पादेतब्बो, अधुनापब्बजितेन **वङ्गीसत्थेरेन** विय। थेरस्स किर अधुनापब्बजितस्स पिण्डाय चरतो एकं इत्थिं दिस्वा रागो उप्पज्जि। ततो आनन्दत्थेरं आह—

"कामरागेन डय्हामि चित्तं मे परिडय्हति।
साधु निब्बापनं ब्रूहि अनुकम्पाय, गोतमा" ति॥

थेरो आह—

"सञ्ञाय विपरियेसा चित्तं ते परिडय्हति।
निमित्तं परिवज्जेहि सुभं रागूपसंहितं।
असुभाय चित्तं भावेहि एकग्गं सुसमाहितं॥
सङ्खारे परतो पस्स दुक्खतो नो च अत्ततो।
निब्बापेहि महारागं मा डय्हित्थो पुनप्पुनं"॥ ति॥ (सं० १-१८८)

थेरो रागं विनोदेत्वा पिण्डाय चरि।

अपि च—इन्द्रियसंवरपूरकेन भिक्खुना कुरण्डकमहालेणवासिना **चित्तगुत्तत्थेरेन** विय चोरकमहाविहारवासिना **महामित्तत्थेरेन** विय च भवितब्बं। कुरण्डकमहालेणे किर सत्तन्नं बुद्धानं अभिनिक्खमनचित्तकम्मं मनोरमं अहोसि, सम्बहुला भिक्खू सेनासनचारिकं आहिण्डन्ता चित्तकम्मं दिस्वा "मनोरमं, भन्ते, चित्तकम्मं" ति आहंसु। थेरो आह— "अतिरेकसट्ठि मे, आवुसो, वस्सानि लेणे वसन्तस्स 'चित्तकम्मं अत्थी' ति पि न जानामि,

---

इधर यह देशना (बुद्धोपदेश) अत्युत्कृष्ट है, उधर वह चित्त जल्दी-जल्दी परिवर्तित होने वाला है। अतः उत्पन्न राग को अशुभ-चिन्तनपद्धति से दूर कर कुछ ही समय पूर्व प्रव्रजित **वङ्गीस** स्थविर के समान इन्द्रियसंवर शील का पालन करना चाहिये। उस नवप्रव्रजित भिक्षु को भिक्षा करने जाते समय किसी स्त्री के प्रति कामराग उत्पन्न हो गया। उसने आनन्दस्थविर से पूछा—

"हे गौतम[1]! मैं कामराग (रूपी अग्नि) से जला जा रहा हूँ। इस अग्नि के शमन (निर्वापण) का कोई उपाय बतलाइये?"

(आनन्द) स्थविर ने कहा—

"संज्ञा के विपर्यय (विपरीत संज्ञा) से तुम्हारा चित्त रागाग्नि से जल रहा है। तुम उस राग की ओर प्रवृत करने वाले शुभ (स्त्री-सौन्दर्य) निमित्त का त्याग कर दो; (अपितु) चित्त को एकाग्र व सुसमाहित कर इस अशुभ की भावना करो। संस्कारों को परतः (प्रतीत्य) समुत्पन्न अत एव अनित्य समझते हुए इन्हें दुःखमय एवं अनात्म के रूप में समझो। इस तरह इस कामराग की अतिशयता को समाप्त कर डालो। इससे बार-बार जलो नहीं।"

यों, आनन्दस्थविर की सत्प्रेरणा से उस स्थविर ने अपने कामराग को समाप्त कर पुनः भिक्षाटन प्रारम्भ किया।

अपि च, इस इन्द्रियसंवर के पूरक को कुरण्डकमहालेणवासी भिक्षु **चित्रगुप्तस्थविर** या चोरकमहाविहारवासी **महामित्रस्थविर** की तरह आचरण वाला होना चाहिये।

(१) कुरण्डकमहालेण में सात बुद्धों के संसार-(गृह-) त्याग की चित्र-रचना अतिमनोहर थी। कभी बहुत से भिक्षु, शयनासन की खोज में घूमते हुए वहाँ आये। उन्होंने वहाँ उस चित्रकर्म को

---

१. यह आनन्द को गोत्र-नाम से सम्बोधन है।

अज्ज दानि चक्खुमन्ते निस्साय ञातं" ति। थेरेन किर एत्तकं अद्धानं वसन्तेन चक्खुं उम्मीलेत्वा लेणं न उल्लोकितपुब्बं। लेणद्वारे चस्स महानागरुक्खो पि अहोसि। सो पि थेरेन उद्धं न उल्लोकितपुब्बो। अनुसंवच्छरं भूमियं केसरनिपातं दिस्वा वस्स पुप्फितभावं जानाति।

राजा थेरस्स गुणसम्पत्तिं सुत्वा वन्दितुकामो तिक्खत्तुं पेसेत्वा अनागच्छन्ते थेरे तस्मिं गामे तरुणपुत्तानं इत्थीनं थने बन्धापेत्वा लञ्छापेसि "ताव दारका थञ्ञं मा लभिंसु, याव थेरो न आगच्छती" ति। थेरो दारकानं अनुकम्पाय महागामं अगमासि। राजा सुत्वा— "गच्छथ, भणे, थेरं पवेसेथ, सीलानि गण्हिस्सामी" ति अन्तेपुरं अभिहरापत्वा वन्दित्वा भोजेत्वा—"अज्ज, भन्ते, ओकासो नत्थि, स्वे सीलानि गण्हिस्सामी" ति थेरस्स पत्तं गहेत्वा थोकं अनुगन्त्वा देविया सद्धिं वन्दित्वा निवत्ति। थेरो राजा वा वन्दतु देवी वा, "सुखी होतु, महाराजा ति" वदति। एवं सत्त दिवसा गता। भिक्खू आहंसु—"किं, भन्ते, तुम्हे रञ्ञे पि वन्दमाने देविया पि वन्दमानाय, 'सुखी होतु, महाराज' इच्चेव वदथा" ति। थेरो "नाहं, आवुसो, राजा ति वा देवी ति वा ववत्थानं करोमी" ति वत्वा सत्ताहातिकम्मे "थेरस्स इध वासो दुक्खो" ति रञ्ञा विस्सज्जितो कुरण्डकमहालेणं गन्त्वा रत्तिभागे चङ्कमं आरुहि। नागरुक्खे अधिवत्था देवता दण्डदीपिकं गहेत्वा अट्ठासि। अथस्स कम्मट्ठानं

देखकर स्थविर से कहा—"भन्ते! यह चित्ररचना तो बहुत सुन्दर बनी है।" स्थविर बोले—"आयुष्मानो! मुझे इस लेण में रहते आज साठ वर्ष से अधिक हो गये। मैं अब तक नहीं जान पाया कि यहाँ दीवालों पर कोई चित्ररचना भी है। आज आप जैसे चक्षुष्मानों के कारण मैं यह जान पाया हूँ।" स्थविर ने इतने समय से वहाँ रहते हुए भी आँखें खोल कर उस लेण को ऊपर-नीचे से नहीं देखा था। इस गुफा के द्वार पर एक नागकेसर (प्रपुन्नाग) का विशाल वृक्ष था। उसे भी स्थविर ने कभी ऊपर से नीचे तक पूरा नहीं देखा था। वे प्रतिवर्ष (ऋतु आने पर) भूमि पर गिरी उसके फूलों की केसर देखकर इस वृक्ष का पुष्पित होना भर ही जान पाते थे।

राजा ने इस स्थविर का जनता में फैला यशःशब्द सुनकर, उनको सम्मान करने हेतु निमन्त्रण दिया, दूत भेजने पर भी जब स्थविर नहीं आये तो राजा ने उस ग्राम की दूध पीते बच्चों वाली सभी स्त्रियों के स्तन बँधवा दिये कि "जब तक स्थविर यहाँ आकर हमें दर्शन नहीं देंगे तब तक कोई बच्चा दूध नहीं पी सकेगा।" तब स्थविर उन बच्चों पर अनुग्रह करके महाग्राम (राजधानी) पहुँचे। राजा ने स्थविर का आगमन सुनकर, अपने अधीनस्थ लोगों को आदेश दिया—"जाओ! स्थविर को सम्मानपूर्वक अन्दर लाओ; मैं उनसे सदाचार की दीक्षा लूँगा।" यों राजा ने स्थविर को अन्तःपुर में बुलाकर उनका यथोचित प्रणाम-वन्दना-सम्मान कर भोजन करा कर, यह कहा—"भन्ते! आज अब समय नहीं है, कल मैं आप से शील की दीक्षा लूँगा।" वह स्थविर का पात्र सम्मान-प्रदर्शनार्थ हाथ में ले अपनी रानी के साथ कुछ दूर जाकर वहाँ स्थविर को प्रणाम कर वापस लौट आया। स्थविर ने भी "राजा ने प्रणाम किया या रानी ने'—यह विना ही देखे 'महाराज! सुखी रहें'—यह आशीर्वाद दिया। यों, सात दिन बीत गये। तब साथ के भिक्षुओं ने स्थविर से पूछा—"भन्ते, आप राजा या रानी—दोनों में से किसी के द्वारा प्रणाम करने पर दोनों को ही 'महाराज! सुखी रहें' यही आशीर्वाद क्यों देते हैं?" स्थविर ने कहा—"आयुष्मानो! राजा या रानी में मैं कोई भेद (व्यवस्थापन=विवेक) नहीं कर पाता।" स्थविर के ऐसा कहे जाने पर, सप्ताह भर समय बीतने पर, राजा ने सोचकर कि "स्थविर को यहाँ रहना कष्टकर लग रहा है" उनकी ससम्मान विदाई कर दी। स्थविर पुनः कुरण्डक महालेण जाकर रात्रि के समय चंक्रमण करने लगे। उस नागकेशर का अधिवासी देवता हाथ में मशाल

अतिपरिसुद्धं पाकटं अहोसि। थेरो "किं नु मे अज्ज कम्मट्ठानं अतिविय पकासती" ति अत्तमनो मज्झिमयामसमनन्तरं सकलं पब्बतं उन्नादयन्तो अरहत्तं पापुणि।

तस्मा अञ्ञो पि अत्तत्थकामो कुलपुत्तो—

मक्कटो व अरञ्ञम्हि वने भन्तमिगो विय।
बालो विय च उत्रस्तो न भवे लोललोचनो॥
अधो खिपेय्य चक्खूनि युगमत्तदसो सिया।
वनमक्कटलोलस्स न चित्तस्स वसं वजे"॥

महामित्तत्थेरस्सापि मातु विसगण्डकरोगो उप्पज्जि, धीता पिस्सा भिक्खुनीसु पब्बजिता होति। सा तं आह—"गच्छ, अय्ये, भातु सन्तिकं गन्त्वा मम अफासुकभावं आरोचेत्वा भेसज्जं आहरा" ति। सा गन्त्वा आरोचेसि। थेरो—"नाहं मूलभेसज्जादीनि संहरित्वा भेसज्जं पचितुं जानामि, अपि च ते भेसज्जं आचिक्खिस्सं—'अहं यतो पब्बजितो, ततो पट्ठाय न मया लोभसहगतेन चित्तेन इन्द्रियानि भिन्दित्वा विसभागरूपं ओलोकितपुब्बं, इमिना सच्चवचनेन मातुया मे फासु होतु', गच्छ इदं वत्वा उपासिकाय सरीरं परिमज्जा" ति। सा गन्त्वा इममत्थं आरोचेत्वा तथा अकासि। उपासिकाय तं खणं येव गण्डो फेणपिण्डो विय विलीयित्वा अन्तरधायि, सा उट्ठहित्वा "सचे सम्मासम्बुद्धो धरेय्य, कस्मा मम पुत्तसदिसस्स भिक्खुनो जालविचित्रेन हत्थेन सीसं न परामसेय्या" ति अत्तमनवाचं निच्छारेसि। तस्मा—

(दण्डदीपिका) लेकर उनके सामने खड़ा हो गया। तभी उनका कर्मस्थान (ध्यान का विषय) अत्यधिक रूप में प्रकाशित हुआ। स्थविर ने सोचा—"आज मेरा यह कर्मस्थान अन्य दिन की अपेक्षा अधिक क्यों प्रकाशित हो रहा है?" यों सोचते हुए उन्होंने प्रसन्न मन से रात्रि के मध्यम प्रहर में अर्हत्त्व प्राप्त कर लिया। अतः दूसरे स्वहितचिन्तक कुलपुत्र को भी—

जङ्गल में बन्दर के समान, या वन में बहके मृग की तरह, या बाल (मूर्ख) की तरह भयभीत व चञ्चल नेत्रों वाला नहीं होना चाहिये।। १।।

साधक आँखों को नीचा रख, मार्ग में मात्र चार हाथ की दूरी तक देखने वाला हो। वह वनवासी चञ्चल बन्दर की तरह अपने चित्त की चञ्चलता के फन्दे में न फँसे।। २।।

महामित्रस्थविर की माता को विषव्रण (जहरवाद फोड़ा) रोग हो गया था इसकी धीता (पुत्री) भी पहले ही भिक्षुणियों में प्रव्रजित हो चुकी थी। उस माता ने अपनी पुत्री से कहा—"आर्या! तूँ जा और अपने भाई के पास जाकर मेरे इस रोग की चर्चा कर उससे इसकी औषध ले आ।" पुत्री ने जाकर स्थविर को सब कुछ बताया। स्थविर ने कहा—"मैं जड़ी-बूटियाँ इकट्ठाकर उन्हें कूट-पीसकर ओषधि बनाना नहीं जानता। फिर भी मैं तुम्हें उस रोग की ओषधि बता देता हूँ—'मैं जब से प्रव्रजित हुआ हूँ तब से आज तक मैंने लोभसहगत चित्त से अपनी इन्द्रियों का सम्बन्ध-विच्छेद कर कुछ भी विसभाग (विसदृश) रूप को (जिसे देखने से कामराग उत्पन्न होता है) कभी नहीं देखा—मेरे इस वचन को कह कर माता के शरीर पर अपना हाथ मसल देना।" उस पुत्री ने वापस जाकर उक्त वचन कहकर, जैसा स्थविर ने बताया था वैसे ही किया। उपासिका (माता) का वह विषव्रण उसी समय जल के बुलबुले की तरह फूट कर कुछ ही क्षण में ठीक हो गया। तब उसने उठकर अपने आनन्दमय हृदयोद्गार इस प्रकार प्रकट किये—"यदि आज सम्यक्सम्बुद्ध होते तो वे क्या मेरे पुत्रसमान इस भिक्षु के शिर को उत्कृष्ट रेखाजाल से अलंकृत अपने हाथ से नहीं सहलाते।"

कुलपुत्तमानी अञ्ञो पि पब्बजित्वान सासने।
मित्तत्थेरो व तिट्ठेय्य वरे इन्द्रियसंवरे॥

(३) आजीवपारिसुद्धिसम्पादनविधि

३५. यथा पन इन्द्रियसंवरो सतिया, तथा वीरियेन **आजीवपारिसुद्धि** सम्पादेतब्बा। **वीरियसाधना** हि सा, सम्मारद्धवीरियस्स मिच्छाजीवप्पहानसम्भवतो। तस्मा अनेसनं अप्पटिरूपं पहाय वीरियेन पिण्डपातचरियादीहि सम्माएसनाहि एसा सम्पादेतब्बा, परिसुद्धुप्पादे येव पच्चये पटिसेवमानेन अपरिसुद्धुप्पादे आसीविसे विय परिवज्जयता। तत्थ अपरिग्गहितधुतङ्गस्स सङ्घतो, गणतो, धम्मदेसनादीहि चस्स गुणेहि पसन्नानं गिहीनं सन्तिका उप्पन्ना पच्चया परिसुद्धुप्पादा नाम। पिण्डपातचरियादीहि पन अतिपरिसुद्धुप्पादा येव। परिग्गहीतधुतङ्गस्स पिण्डपात-चरियादीहि धुतगुणे चस्स पसन्नानं सन्तिका धुतङ्ग-नियमानुलोमेन उप्पन्ना परिसुद्धुप्पादा नाम। एकव्याधिवूपसमत्थं चस्स पूतिहरीटकीचतुमधुरेसु उप्पन्नेसु "चतुमधुरं अञ्ञे पि सब्रह्मचारिनो परिभुञ्जिस्सन्ती" ति चिन्तेत्वा हरीटकीखण्डमेव परिभुञ्जमानस्स धुतङ्गसमादानं पतिरूपं होति। एस हि "उत्तमअरियवंसिको भिक्खू" ति वुच्चति।

ये पनेते चीवरादयो पच्चया, तेसु यस्स कस्सचि भिक्खुनो आजीवं परिसोधेन्तस्स चीवरे च पिण्डपाते च निमित्तोभासपरिकथाविञ्ञत्तियो न वट्टन्ति। सेनासने पन अपरिग्गहितधुतङ्गस्स निमित्तोभासपरिकथा वट्टन्ति।

इसलिये–

अपने में कुलपुत्र (श्रेष्ठकुलोत्पत्ति) का अभिमान करने वाले किसी दूसरे व्यक्ति को भी बुद्ध-धर्म में दीक्षा लेकर महामित्र स्थविर के समान इन्द्रियसंवर में सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये।।

(३) आजीवपारिशुद्धिशीलसम्पादनविधि

३५. जैसे इन्द्रियसंवर सम्यक्स्मृति के सहारे भावित किया जाता है, ऐसे ही वीर्य के सहारे **आजीवपरिशुद्धि** की भी भावना (साधना) करनी चाहिये। वह आजीवपरिशुद्धि **वीर्यसाधना** वाली है; क्योंकि जिसने भलीभाँति वीर्य (=उद्योग) का सहारा ले लिया है, उसी से उसकी मिथ्या (गलत) आजीविका का प्रहाण सम्भव है। अतः अनुचित अन्वेषण का त्याग कर, पिण्डपातचर्या आदि सम्यग्गेषणाओं से इस वीर्य की साधना करनी चाहिये; परिशुद्धरूप से उत्पन्न (प्राप्त) प्रत्ययों का ही उपभोग (=प्रतिसेवन) करने से एवं अपरिशुद्धरूप से उत्पन्न (प्रत्ययों) को सर्प (आशीविष) के समान छोड़ कर। उनमें, धुताङ्ग न धारण किये हुए भिक्षु के सङ्घ से, गण से धर्मदेशना आदि गुणों के कारण इससे प्रसन्न गृहस्थों के पास से उत्पन्न (प्राप्त) प्रत्यय 'परिशुद्ध उत्पाद' कहलाते हैं। भिक्षाटन आदि से प्राप्त प्रत्यय तो अतिपरिशुद्ध हैं ही। (उधर) धुताङ्ग ग्रहण किये हुए भिक्षु के भिक्षाटन आदि से एवं उसके गुणों से प्रसन्न गृहस्थों से धुताङ्ग नियमानुकूल प्राप्त प्रत्यय भी 'परिशुद्ध उत्पाद' ही कहे जाते हैं। यदि किसी एक रोग के शमन हेतु वह (उपर्युक्त भिक्षु) गोमूत्र में भिगोयी हर्रे (पूतिहरीतकी) व चार मधुर द्रव्य (१.घी, २. मक्खन, ३. मधु एवं ४. शर्करा) प्राप्त होने पर, 'ये चार मधुर तो मेरे अन्य सब्रह्मचारी खा लेंगे'–यह सोचकर हर्रे का टुकड़ा ही खाता है तो उसका वह कार्य धुताङ्ग-ग्रहण के अनुकूल ही होता है। लोक में उसकी 'यह उत्तम आर्यवंश का भिक्षु है'–ऐसी यशोगाथा फैलने लगती है।

जो ये चीवर आदि प्रत्यय हैं उनमें चीवर व पिण्डपात के विषय में आजीवपरिशुद्धि करने

तत्थ **निमित्तं** नाम सेनासनत्थं भूमिपरिकम्मादीनि करोन्तस्स "किं भन्ते करियति, को कारापेती" ति गिहीहि वुत्ते "न कोची" ति पटिवचनं, यं वा पनञ्ञं पि एवरूपं निमित्तकम्मं। **ओभासो** नाम "उपासका, तुम्हे कुहिं वसथा" ति? "पासादे, भन्ते" ति। "भिक्खूनं पन उपासका पासादो न वट्टती" ति वचनं, यं वा पनञ्ञं पि एवरूपं ओभासकम्मं। **परिकथा** नाम "भिक्खुसङ्घस्स सेनासनं सम्बाधं" ति वचनं, या वा पनञ्ञा पि एवरूपा परियायकथा। भेसज्जे सब्बं पि वट्टति। तथा उप्पन्नं पन भेसज्जं रोगे वूपसन्ते परिभुञ्जितुं वट्टति, न वट्टती ति?

तत्थ **विनयधरा** "भगवता द्वारं दिन्नं, तस्मा वट्टती" ति वदन्ति। **सुत्तन्तिका** पन—"किञ्चापि आपत्ति न होति आजीवं पन कोपेति, तस्मा न वट्टति" इच्चेव वदन्ति।

यो पन भगवता अनुञ्ञाता पि निमित्तोभासपरिकथाविञ्ञत्तियो अकरोन्तो अप्पिच्छतादिगुणे येव निस्साय जीवितक्खये पि पच्चुपट्ठिते अञ्ञत्रेव ओभासादीहि उप्पन्नपच्चये पटिसेवति, एस "परमसल्लेखवुत्ती" ति वुच्चति, सेय्यथा पि थेरो **सारिपुत्तो**।

३६. सो किरायस्मा एकस्मिं समये पविवेकं ब्रूहयमानो महामोग्गल्लानत्थेरेन सद्धिं अञ्ञतरस्मिं अरञ्ञे विहरति, अथस्स एकस्मिं दिवसे उदरवाताबाधो उप्पज्जित्वा अतिदुक्खं जनेसि। महामोग्गल्लानत्थेरो सायन्हसमये तस्सायस्मतो उपट्ठानं गतो। थेरं निपन्नं दिस्वा तं

वाले भिक्षु को निमित्त, अवभास, परिकथा एवं विज्ञप्ति विहित नहीं हैं; किन्तु शयनासन के विषय में, जिसने धुताङ्ग का ग्रहण न किया हो ऐसे भिक्षु को निमित्त, अवभास एवं परिकथा विहित हैं।

वहाँ **निमित्त** कहलाता है—शयनासन के लिये भूमि ठीक–ठाक कराने वाले भिक्षु का, 'भन्ते! क्या करवा रहे हैं?' या 'यह कौन करवा रहा है?'—गृहस्थों द्वारा ऐसा पूछने पर 'कोई नहीं'—ऐसा उत्तर; या ऐसा ही कोई दूसरा निमित्त कर्म। **अवभास** (व्यङ्ग्य मारना) कहलाता है—"उपासको! तुम कहाँ रहते हो?", "भन्ते! प्रासाद में।" "पर, उपासको! रहने के लिये भिक्षुओं को प्रासाद कहाँ मिले!"— इस तरह का, या अन्य ऐसा ही अवभास कर्म। **परिकथा**— "भिक्षुसङ्घ को शयनासन की परेशानी है"— ऐसे वचन को या इसी तरह के अन्य कथन को 'परिकथा' कहते हैं। किन्तु औषध के सम्बन्ध में सब कुछ विहित है।

यहाँ प्रश्न यह है कि औषध प्राप्त होने पर, रोग के शान्त होने पर भी, उसका उपयोग करना उचित है? वहाँ **विनयधर** (विनय को प्रमाण मानने वाले) भिक्षुओं द्वारा यह समाधान किया गया है— "भगवान् ने छूट (=अवकाश, द्वार) दे रखी है, इसलिये उसका उपयोग शास्त्रानुमोदित ही है।"

परन्तु यहाँ **सौत्रान्तिक** (सूत्र को प्रमाण मानने वाले) भिक्षु कहते हैं— 'यद्यपि आपत्ति तो कुछ नहीं प्रमाणित होती, परन्तु आजीविका दूषित (कुपित) हो जाती है, अतः विहित (शास्त्रानुमोदित) नहीं है।"

और जो भगवान् द्वारा (शयनासन, भैषज्य आदि के सम्बन्ध में) अनुज्ञात निमित्त, अवभास, परिकथा आदि भी न करते हुए, अल्पेच्छुकता आदि गुणों के कारण, प्राणों पर सङ्कट आने पर भी, अवभास आदि से उत्पन्न प्रत्ययों से भिन्न प्रत्ययों का ही सेवन करता है वह 'परमसल्लेखवृत्ति' (कठोर तपस्वी) कहलाता है, जैसे कि स्थविर सारिपुत्र।

३६. एक समय वे (स्थविर सारिपुत्र) प्रविवेक (गण छोड़कर एकान्त में रहने के सुख) में वृद्धि हेतु महामोग्गल्लान स्थविर के साथ किसी जङ्गल में साधना कर रहे थे। एक दिन उनके पेट में वातव्याधि रोग उभर आया, उन्हें बहुत पीड़ा होने लगी। सायङ्काल महामोग्गल्लान आयुष्मान् सारिपुत्र

पवत्तिं पुच्छित्वा "पुब्बे ते, आवुसो, केन फासु होती" ति पुच्छि। थेरो आह—"गिहकाले मे, आवुसो, माता सप्पिमधुसक्करादीहि योजेत्वा असम्भिन्नखीरपायासं अदासि, तेन मे फासूँ ति। सो पि आयस्मा "होतु, आवुसो, सचे मय्हं वा तुम्हं वा पुञ्ञं अत्थि, अप्पेव नाम स्वे लभिस्सामा" ति आह।

इमं पन नेसं कथासल्लापं चङ्कमनकोटियं रुक्खे अधिवत्था देवता सुत्वा "अय्यस्स पायासं उप्पादेस्सामी" ति तावदेव थेरस्स उपट्ठाककुलं गन्त्वा जेट्ठपुत्तस्स सरीरं आविसित्वा पीळं जनेसि। अथस्स तिकिच्छानिमित्तं सन्निपतिते ञातके आह—"सचे स्वे थेरस्स एवरूपं नाम पायासं पटियादेथ मुञ्चिस्सामी" ति। ते "तया अवुत्ते पि मयं थेरानं निबद्धं भिक्खं देमा" ति वत्वा दुतियदिवसे तथारूपं पायासं पटियादियिंसु।

महामोग्गल्लानत्थेरो पातो व आगन्त्वा "आवुसो, याव अहं पिण्डाय चरित्वा आगच्छामि, ताव इधेव होही" ति वत्वा गामं पाविसि। ते मनुस्सा पच्चुग्गन्त्वा थेरस्स पत्तं गहेत्वा वुत्तप्पकारस्स पायासस्स पूरेत्वा अदंसु। थेरो गमनाकारं दस्सेसि। ते "भुञ्जथ, भन्ते, तुम्हे, अपरं पि दस्सामा" ति थेरं भोजेत्वा पुन पत्तपूरं अदंसु। थेरो गन्त्वा "हन्दावुसो सारिपुत्त, परिभुञ्जा" ति उपनामेसि। थेरो पि तं दिस्वा "अतिमनापो पायासो, कथं नु खो उप्पन्नो" ति चिन्तेन्तो तस्स उप्पत्तिमूलं दिस्वा आह—"आवुसो मोग्गल्लान, अपरिभोगारहो पिण्डपातो" ति। सो पायस्मा "मादिसेन नाम आभतं पिण्डपातं न परिभुञ्जती" ति चित्तं पि अनुप्पादेत्वा एकवचनेनेव पत्तं मुखवट्टियं गहेत्वा एकमन्ते निक्कुज्जेसि। पायासस्स सह

को देखने गये। स्थविर को रुग्ण देख उनके शरीर की दशा पूछने लगे। सारिपुत्र ने कहा—"आयुष्मन्! गृहस्थाश्रम में रहते समय भी कभी यह रोग मुझे उभरा था। उस समय मेरी माता ने मुझे घी-मधु-शर्करा मिलाकर दी थी, उससे मैं स्वस्थ हो गया था।" आयुष्मान् मोग्गल्लान ने कहा—"ठीक है, आयुष्मन्! यदि तुम्हारे या मेरे भाग्य में होगा तो कल यह औषध-द्रव्य हम पा ही लेंगे।"

इनकी इस बातचीत को वहीं पास में खड़े वृक्ष का अधिवासी देवता सुन रहा था। सुनकर उसने सोचा—"आर्य के लिये खीर की व्यवस्था करूँगा।" (ऐसा सोचकर) उसी ने स्थविर के सेवककुल में जाकर ज्येष्ठ पुत्र के शरीर में प्रवेश कर उसे पीड़ित कर उत्पात मचाया और उसकी चिकित्सा के लिये एकत्र हुए सम्बन्धियों से उसने कहा—"यदि कल स्थविर के लिये ऐसी खीर बना दो तो इसे छोड़ दूँगा।" उन्होंने "आपके आदेश विना भी हम तो स्थविरों को नित्य बँधी हुई भिक्षा देते हैं"—इस तरह कह कर दूसरे दिन खीर बनवायी।

उधर महामोग्गल्लान स्थविर ने प्रातः ही आकर—"आयुष्मन्! जब तक मैं न जाऊँ तब तक तुम यहीं रहना"—यह कहकर वे ग्राम में प्रविष्ट हुए। उन मनुष्यों ने आगे बढ़कर स्थविर से पात्र लेकर इसमें खीर भर कर उनको वापस दे दिया। स्थविर चलने को उद्यत हुए। उन्होंने "भन्ते! आप खाइये; (ले जाने के लिये) और भी दे देंगे।" ऐसा कहकर स्थविर को खिला कर पुनः पात्र भर कर दे दिया। स्थविर ने वापस जाकर सारिपुत्र से कहा—"आयुष्मन् सारिपुत्र! खीर लाया हूँ, इसे खाओ!" स्थविर सारिपुत्र ने वह खीर देखकर कहा—"खीर तो बहुत अच्छी दिखायी दे रही है, कहाँ प्राप्त हुई?" यों पूछते हुए, स्वयं ही दिव्य दृष्टि से देखकर समग्र प्रकरण को मूलतः (आदि से) समझते हुए पुनः बोले—"आयुष्मन् मोग्गल्लान! यह भिक्षा तो खाने योग्य नहीं है"। "आयुष्मान् मोग्गल्लान ने मेरे जैसे द्वारा लायी गयी भिक्षा को भी खाने योग्य नहीं समझा" यों सोचकर उस खीर की तरफ से चित्त हटाकर एक ही बार (प्रयास) में पात्र को मुँह की तरफ पकड़ कर एक तरफ ओंधा कर दिया। उस

भूमियं पतिट्ठाना थेरस्स आबाधो अन्तरधायि, ततो पट्ठाय पञ्चचत्तालीस वस्सानि न पुन उप्पज्जि। ततो महामोग्गल्लानं आह—"आवुसो, वचीविञ्ञत्तिं निस्साय उप्पन्नो पायासो अन्तेसु निक्खमित्वा भूमियं चरन्तेसु पि परिभुञ्जितुं अयुत्तरूपो" ति। इमं च उदानं उदानेसि—

"वचीविञ्ञत्तिविप्फारा उप्पन्नं मधुपायसं।
सचे भुत्तो भवेय्याहं साजीवो गरहितो मम॥
यदि पि मे अन्तगुणं निक्खमित्वा बहि चरे।
नेव भिन्देय्यमाजीवं चजमानो पि जीवितं॥
आराधेमि सकं चित्तं विवज्जेमि अनेसनं।
नाहं बुद्धप्पटिकुट्ठं काहामि च अनेसनं" ति॥

चिरगुम्बवासिकअम्बखादकमहातिस्सत्थेरवत्थु पि चेत्थ कथेतब्बं।

एवं सब्बथा पि—

अनेसनाय चित्तं पि अजनेत्वा विचक्खणो।
आजीवं परिसोधेय्य सद्धापब्बजितो यती ति॥

(४) पच्चयसन्निस्सितसीलसम्पादनविधि

३७. यथा च वीरियेन आजीवपारिसुद्धि, तथा **पच्चयसन्निस्सितसीलं** पञ्ञाय सम्पादेतब्बं। **पञ्ञासाधनं** हि तं, पञ्ञवतो पच्चयेसु आदीनवानिसंसदस्सनसमत्थभावतो।

खीर का जमीन पर गिरना था कि सारिपुत्र का वह रोग पूर्णतः निवृत्त हो गया। इतना ही नहीं, उसके बाद पैंतालीस[1] (या चालीस?) वर्ष तक फिर कभी नहीं उठा। तत्पश्चात् सारिपुत्र ने महामोग्गलान स्थविर से कहा—"आयुष्मन्! वाचिक विज्ञप्ति (कहकर बनवाने) के कारण प्राप्त खीर को, (अधिक भूख लगने के कारण) आँतों का (शरीर से बाहर) निकलकर भूमिपात हो जाने पर भी, खाना उचित (विहित) नहीं"—और साथ ही यह गाथा उद्गार भी प्रकट किया—

"वाचिक विज्ञप्ति (किसी भी तरह कह कर या कहलवा कर) के कारण प्राप्त मधुर खीर को यदि मैंने खा लिया होता तो मेरी यह परिशुद्ध आजीविका निन्दित हो गयी होती।।

"चाहे मेरी आँते (अधिक भूख के कारण) शरीर से बाहर निकल पड़ें तो भी मैं आजीव (के नियमों को) नहीं तोडूँगा। भले ही फिर मेरे प्राण ही क्यों न चले जायें।।

"मैं अपने चित्त को वश (निग्रह) में रखता हूँ। अन्वेषण का त्याग करता हूँ। मैं भगवान् द्वारा निन्दित अन्वेषण को (तो) कभी नहीं करूँगा।।"

यहाँ चिरगुम्बवासी, केवल आम खा कर जीवन-यापन करने वाले, **महातिष्य** स्थविर के जीवनवृत्तान्त की कथा भी कहनी चाहिये। यों सभी प्रकार से—

धर्म में श्रद्धा रखकर प्रव्रजित, मतिमान् (विचक्षण) एवं संयत भिक्षु को, अन्वेषण से चित्त को सर्वथा हटाकर, आजीवपरिशुद्धि का सतत ध्यान रखना चाहिये।।

(४) प्रत्ययसन्निश्रितसम्पादनविधि

३७. और जैसे वीर्य के सहारे आजीवपरिशुद्धि की भावना बतायी गयी, वैसे ही

---

१. इतिहास हमें बताता है कि सम्बोधिप्राप्ति के बाद भगवान् बुद्ध ने स्वयं ही पैंतालीस वर्ष जीवन-लीला की। सारिपुत्र तो भगवान् के शिष्य थे और उनसे पूर्व ही परिनिर्वृत्त हो चुके थे। अतः यहाँ यह 'पैतालीस वर्ष' शब्द प्रामाणिक नहीं है। यह अधिक सम्भव है कि लिपिक-प्रमाद से यहाँ किसी अन्य सङ्ख्याङ्क के स्थान पर प्रयुक्त शब्द में 'पञ्च' जुड़ गया हो।—अनु०।

तस्मा पहाय पच्चयगेधं धम्मेन समेन उप्पन्ने पच्चये यथावुत्तेन विधिना पञ्ञाय पच्चवेक्खित्वा परिभुञ्जन्तेन सम्पादेतब्बं।

तत्थ दुविधं पच्चवेक्खणं—पच्चयानं पटिलाभकाले च, परिभोगकाले च। पटिलाभकाले पि हि धातुवसेन वा पटिक्कूलवसेन वा पच्चवेक्खित्वा ठपितानि चीवरादीनि ततो उत्तरि परिभुञ्जन्तस्स अनवज्जो व परिभोगो, परिभोगकाले पि। तत्रायं सन्निट्ठानकरो विनिच्छयो—

चत्तारो हि परिभोगा—थेय्यपरिभोगो, इणपरिभोगो, दायज्जपरिभोगो, सामिपरिभोगो ति। तत्र सङ्घमज्झे पि निसीदित्वा परिभुञ्जन्तस्स दुस्सीलस्स परिभोगो **थेय्यपरिभोगो** नाम। सीलवतो अपच्चवेक्खित्वा परिभोगो **इणपरिभोगो** नाम। तस्मा चीवरं परिभोगे परिभोगे पच्चवेक्खितब्बं, पिण्डपातो आलोपे आलोपे, तथा असक्कोन्तेन पुरेभत्त-पच्छाभत्त-पुरिमयाम-मज्झिमयामपुच्छिमयामेसु। सचस्स अपच्चवेक्खतो व अरुणं उग्गच्छति, इणपरिभोगट्ठाने तिट्ठति। सेनासनं पि परिभोगे परिभोगे पच्चवेक्खितब्बं। भेसज्जस्स पटिग्गहणे पि परिभोगे पि सतिपच्चयता व वट्टति। एवं सन्ते पि पटिग्गहणे सतिं कत्वा परिभोगे अकरोन्तस्सेव आपत्ति, पटिग्गहणे पन सतिं अकत्वा परिभोगे करोन्तस्स अनापत्ति।

चतुब्बिधा हि सुद्धि—देसनासुद्धि, संवरसुद्धि, परियेट्ठिसुद्धि, पच्चवेक्खणसुद्धी ति।

प्रत्ययसन्निश्रितशील को प्रज्ञा के सहारे भावित करना चाहिये। उसका साधन प्रज्ञा है; क्योंकि प्रज्ञावान् ही प्रत्ययों की सदोषता या निर्दोषता का सम्यक्तया प्रत्यवेक्षण करने में समर्थ है। इसलिये प्रत्ययों को यथोक्त ('सर्दी-गर्मी से बचने के लिये आदि प्रकार से पूर्वोक्त') विधि से प्रज्ञा की सहायता से प्रत्यवेक्षण कर परिभोग करते हुए सम्पन्न करना चाहिये।

इस प्रसङ्ग में, यह प्रत्यवेक्षण दो प्रकार है— १. प्रत्ययों के प्रतिलाभकाल में एवं २. उनके परिभोगकाल में। प्रतिलाभ-(प्राप्ति-) काल में भी धातुमनस्कार (प्रत्यय और उसका उपभोक्ता—दोनों ही धातुमात्र हैं) के रूप में 'ये सब चीवर आदि स्वयं घृणास्पद नहीं है, अपितु इस पूतिकाय के संसर्ग से वैसे हो जाते हैं'—इस प्रतिकूल मनस्कार के साथ प्रत्यवेक्षण कर रखे गये चीवर आदि का बाद में परिभोग करनेवाले का परिभोग भी निर्दोष होता है। और परिभोगकाल में भी यही प्रत्यवेक्षण करे। (वस्तुतः) परिभोगकाल में प्रत्यवेक्षण करने से ही परिभोग निर्दोष होता है। वहाँ (उस प्रसङ्ग में) शास्त्रसम्मत असन्दिग्ध (सुनिश्चित) निर्णय यह है—

परिभोग चार होते हैं— १. स्तेयपरिभोग, २. ऋणपरिभोग, ३. दायादपरिभोग एवं ४. स्वामि-परिभोग। इनमें, १. सङ्घ के बीच बैठकर भी दुःशीलतया परिभोग को **'स्तेयपरिभोग'** कहते हैं; २. शीलवान् का प्रत्यवेक्षण के विना किया गया परिभोग **'ऋणपरिभोग'** कहलाता है। अतः (क) चीवर को जब जब पहने-ओढ़े तब तब प्रत्यवेक्षण करना चाहिये। एवं (ख) भिक्षा के एक-एक ग्रास पर भी। ऐसा न कर सकने वाले को दोपहर के भोजन से पूर्व तथा भोजन के बाद प्रथम मध्यम एवं अन्तिम याम में प्रत्यवेक्षण करना चाहिये। यदि उसके प्रत्यवेक्षण के विना ही सूर्योदय हो जाय तो वह ऋणपरिभोगी हो जाता है। (ग) शयनासन का भी जब जब परिभोग करे तब तब प्रत्यवेक्षण करना चाहिये। (घ) भैषज्य के प्रतिग्रहण एवं परिभोग में भी स्मृति-प्रत्ययता (प्रत्ययविषयक स्मृति बनाये रखना) उचित है। एवं प्रतिग्रहण के समय में स्मृति का प्रयोग स्मरण करके परिभोग के समय वैसा न करने वाला दोषभाक् होता है; किन्तु प्रतिग्रहणकाल में स्मृति न करके भी परिभोगकाल में स्मृति का प्रयोग करने वालों को दोष नहीं लगता।

तत्थ **देसनासुद्धि** नाम पातिमोक्खसंवरसीलं। तं हि देसनाय सुज्झनतो देसनासुद्धी ति वुच्चति। **संवरसुद्धि** नाम इन्द्रियसंवरसीलं। तं हि "न पुन एवं करिस्सामी" ति चित्ताधिट्ठानसंवरेनेव सुज्झनतो संवरसुद्धी ति वुच्चति। **परियेट्ठिसुद्धि** नाम आजीवपारिसुद्धिसीलं। तं हि अनेसनं पहाय धम्मेन समेन पच्चये उप्पादेन्तस्स परियेसनाय सुद्धत्ता परियेट्ठिसुद्धी ति वुच्चति। **पच्चवेक्खणसुद्धि** नाम पच्चयसन्निस्सितसीलं। तं हि वुत्तप्पकारेन पच्चवेक्खणेन सुज्झनतो पच्चवेक्खणसुद्धी ति वुच्चति। तेन वुत्तं—"पटिग्गहणे पन सतिं अकत्वा परिभोगे करोन्तस्स अनापत्ती" ति।

सत्तन्नं सेक्खानं पच्चयपरिभोगो **दायज्जपरिभोगो** नाम। ते हि भगवतो पुत्ता, तस्मा पितुसन्तकानं पच्चयानं दायादा हुत्वा ते पच्चये परिभुञ्जन्ति। किं पनेते भगवतो पच्चये परिभुञ्जन्ति, उदाहु गिहीनं पच्चये परिभुञ्जन्ती ति? गिहीहि दिन्ना पि भगवता अनुञ्ञातत्ता भगवतो सन्तका होन्ति, तस्मा भगवतो पच्चये परिभुञ्जन्ती ति वेदितब्बा। **धम्मदायादसुत्तं** (म० १-१८) चेत्थ साधकं। खीणासवानं परिभोगो **सामिपरिभोगो** नाम। ते हि तण्हाय दासब्यं अतीतत्ता सामिनो हुत्वा परिभुञ्जन्ति।

इमेसु परिभोगेसु सामिपरिभोगो च दायज्जपरिभोगो च सब्बेसं वट्टति। इणपरिभोगो न वट्टति। थेय्यपरिभोगे कथा येव नत्थि। यो पनायं सीलवतो पच्चवेक्खितपरिभोगो, सो

(प्रकरणवश, 'परिभोग' के व्याख्यान के मध्य में ही, **शुद्धि** का भेद बता रहे हैं–) शुद्धि चार प्रकार की होती हैं– १. देशनाशुद्धि, २. संवरशुद्धि, ३. पर्येषण=(परीष्टि–) **शुद्धि** एवं ४. प्रत्यवेक्षणशुद्धि। इनमें पूर्ववर्णित (पृष्ठ ५२) प्रातिमोक्षसंवर शील ही **देशनाशुद्धि** कहलाता है। इन्द्रियसंवरशील को **संवरशुद्धि** कहते हैं। वह 'पुनः ऐसा नहीं करूँगा'–इस तरह का चित्त का अधिष्ठान (सङ्कल्प) कर संवर से परिशुद्ध होने के कारण 'संवरशुद्धि' कही जाती है। **परीष्टिशुद्धि** आजीवपरिशुद्धि शील है। वह अन्वेषण को त्यागकर धर्मानुकूल प्रत्ययोत्पाद करने वाले के पर्येषण से शुद्धि के कारण 'परीष्टिशुद्धि' कहलाती है। तथा प्रत्ययसन्निश्रित शील को **प्रत्यवेक्षणशुद्धि** कहते हैं। वह उक्त प्रकार के प्रत्यवेक्षण से शुद्धि के कारण 'प्रत्यवेक्षणशुद्धि' कहलाती है। इसीलिये कहा गया है–"प्रतिग्रहणकाल में स्मृति न करके भी परिभोगकाल में स्मृति करने वाले को दोष नहीं होता।"

(यों शुद्धि का व्याख्यान पूर्ण हुआ, अब पुनः प्रसङ्गागत अवशिष्ट परिभोगों का व्याख्यान कर रहे हैं–)

३. सात शैक्ष्यों (४ मार्ग प्राप्त एवं ३ फल प्राप्त) का प्रत्ययपरिभोग **दायादपरिभोग है**। वे भगवान् के पुत्र हैं, अतः पिता के पास रहने वाले प्रत्ययों (सम्पत्ति) का, दायाद (उत्तराधिकारी) होकर ही, उपभोग करते हैं। किन्तु (प्रश्न उठता है–) क्या वे भगवान् के प्रत्ययों का परिभोग करते हैं?, या गृहस्थों के प्रत्ययों का? (उत्तर है–) गृहस्थों द्वारा दिये होने पर भी भगवान् द्वारा स्वीकार कर लिये जाने से वे प्रत्यय भगवान् के ही कहलाते हैं। इसलिये 'वे भगवान् के प्रत्ययों का परिभोग करते हैं'– ऐसा न समझना चाहिये। **धम्मदायादसुत्त** (म०नि० १–१८) का प्रकरण हमारे इस कथन में प्रमाण (साधक) है! ४. क्षीणास्रवों का परिभोग **स्वामिपरिभोग है**। वे तृष्णा की दासता से मुक्त (अतिक्रान्त) होकर, स्वामी बनकर उन प्रत्ययों का परिभोग करते हैं।

इन परिभोगों में दायादपरिभोग व स्वामिपरिभोग सभी के लिये विहित है। **ऋणपरिभोग** सबके लिये विहित नहीं है। स्तेयपरिभोग की तो बात ही नहीं! (हाँ, एक बात है–) शीलवान् का जो

इणपरिभोगस्स पच्चनीकत्ता आणण्यपरिभोगो वा होति, दायज्जपरिभोगे येव वा सङ्गहं गच्छति। सीलवा पि हि इमाय सिक्खाय समन्नागतत्ता सेक्खो त्वेव सङ्ख्यं गच्छति। इमेसु पन परिभोगेसु यस्मा सामिपरिभोगो अग्गो, तस्मा तं पत्थयमानेन भिक्खुना वुत्तप्पकाराय पच्चवेक्खणाय पच्चवेक्खित्वा परिभुञ्जन्तेन पच्चयसन्निस्सितसीलं सम्पादेतब्बं। एवं करोन्तो हि किच्चकारी होति। वुत्तं पि चेतं—

"पिण्डं विहारं सयनासनं च आपं च सङ्घाटिरजप्पवाहनं।
सुत्वान धम्मं सुगतेन देसितं सङ्खाय सेवे वरपञ्ञसावको॥
तस्मा हि पिण्डे सयनासने च आपे च सङ्घाटिरजप्पवाहने।
एतेसु धम्मेसु अनूपलित्तो भिक्खु यथा पोक्खरे वारिबिन्दु॥"

(खु० १-३२६)

कालेन लद्धा परतो अनुग्गहा खज्जेसु भोज्जेसु च सायनेसु च।
मत्तं स जञ्ञा सततं उपट्ठितो वणस्स आलेपनरूहने यथा॥
"कन्तारे पुत्तमंसं व अक्खस्सब्भञ्जनं यथा।
एवं आहारे आहारं यापनत्थममुच्छितो" ति॥

इमस्स च पच्चयसन्निस्सितसीलस्स परिपूरकारिताय भागिनेय्यसङ्घरक्खित-सामणेरस्स वत्थु कथेतब्बं। सो हि सम्मा पच्चवेक्खित्वा परिभुञ्जि। यथाह—

प्रत्यवेक्षित परिभोग है, वह ऋणपरिभोग का विरोधी (प्रत्यनीक) होने से या तो ऋणरहित परिभोग होता है या दायादपरिभोग में ही संगृहीत हो जाता है। शीलवान् भी इस शिक्षा से समन्वागत होने के कारण 'शैक्ष्य' ही कहा जाता है। क्योंकि इन चारों परिभोगों में स्वामिपरिभोग श्रेष्ठ है, अतः उस की कामना वाले भिक्षु को उसे उक्त प्रकार के प्रत्यवेक्षण से प्रत्यवेक्षित करके परिभोग करते हुए प्रत्ययसन्निश्रित शील का सम्पादन करना चाहिये। ऐसा करने वाला ही 'कृत्यकारी' होता है। (त्रिपिटक में) कहा भी है—

"पिण्डपात (भोजन), विहार (साधनास्थल), शयनासन, जल एवं सङ्घाटि आदि से धूल झाड़ते समय श्रेष्ठ प्रज्ञावान् श्रावक सुगत (बुद्ध) द्वारा उपदिष्ट धर्म को स्मरण कर या सुन कर तदनुसार प्रत्यवेक्षण के साथ परिभोग करे।

"ऐसा करने से भोजनादि (उपर्युक्त) धर्मों में, भिक्षु उसी तरह लिप्त (आसक्त) नहीं हो पाता, जैसे पद्मपत्र पर जलबिन्दु।" (खु०१-३२६)

"दूसरों की कृपा से समय पर मिले खाद्य एवं भोज्य पदार्थ तथा शयनासन में सर्वदा उपस्थितस्मृति एवं प्रत्यवेक्षक रहते हुए उनका शास्त्रविहित मात्रा में उपभोग जाने रखना चाहिये; जैसे कि व्रण का लेपन (मरहम लगाना) आदि जानना आवश्यक होता है।"जैसे कभी कभी सब सुविधाओं से शून्य निर्जन अरण्य प्रदेश (कान्तार) में पुत्र का मांस तक खाने की स्थिति आ जाती है या गाड़ी के पहिये की धुरी में तैल डालना पड़ता है; इसी तरह आहारकाल में प्रमादरहित एवं अमूर्च्छित (अमुग्ध) होकर जीवनयापन के लिये आहार का उपभोग करे।"

और इस प्रत्यसन्निश्रितशील की पूर्ति में उत्साहवर्धक भागिनेय **सङ्घरक्षित** श्रामणेर की (त्रिपिटक में आयी) कथा का दृष्टान्त देना चाहिये। वह श्रामणेर सम्यक्प्रत्यवेक्षणानन्तर आहार का परिभोग करता था। जैसा कि कहा गया है—

"उपज्झायो मं भुञ्जमानं सालिकूटं सुनिब्बुतं।
'मा हेव त्वं सामणेर जिव्हं झापेसि असञ्ञतो'॥
उपज्झायस्स वचो सुत्वा संवेगमलभिं तदा।
एकासने निसीदित्वा अरहत्तं अपापुणिं॥
सोहं परिपुण्णसङ्कप्पो चन्दो पन्नरसो यथा।
सब्बासवपरिक्खीणो नत्थि दानि पुनब्भवो" ति॥
तस्मा अञ्ञो पि दुक्खस्स पत्थयन्तो परिक्खयं।
योनिसो पच्चवेक्खित्वा पटिसेवेथ पच्चये ति॥

एवं पातिमोक्खसंवरसीलादिवसेन चतुब्बिधं॥

पठमसीलपञ्चकं

(१) परियन्तपारिसुद्धिसीलं

३८. पञ्चविधकोट्ठासस्स पठमपञ्चके अनुपसम्पन्नसीलादिवसेन अत्थो वेदितब्बो। वुत्तं हेतं **पटिसम्भिदायं**—

"कतमं परियन्तपारिसुद्धिसीलं? अनुपसम्पन्नानं परियन्तसिक्खापदानं, इदं परियन्तपारिसुद्धिसीलं। कतमं अपरियन्तपारिसुद्धिसीलं? उपसम्पन्नानं अपरियन्तसिक्खापदानं, इदं अपरियन्तपारिसुद्धिसीलं। कतमं परिपुण्णपारिसुद्धिसीलं? पुथुज्जनकल्याणकानं कुसलधम्मे युत्तानं सेक्खपरियन्ते परिपूरकारीनं काये च जीविते च अनपेक्खानं परिच्चत्तजीवितानं, इदं परिपुण्णपारिसुद्धिसीलं। कतमं अपरामट्ठपारिसुद्धिसीलं? सत्तन्नं सेक्खानं, इदं अपरामट्ठ-

---

"मेरे उपाध्याय ने मुझको, शालि धान का ठीक तरह से सिद्ध, ठण्ढा भात (सालिकूट) खाते देखकर, कहा—'श्रामणेर! कहीं ऐसा न हो कि तुम असंयत होकर यह भात खाते समय अपनी जीभ जला बैठो।'

"उपाध्याय के ये वचन सुनकर मुझे उसी समय ऐसा सन्देह (व्यग्रता या वैराग्य) उत्पन्न हुआ। और मैंने एक ही आसन में बैठे-बैठे अर्हत्त्व प्राप्त कर लिया।

"वह मै (अब) पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान परिपूर्णसङ्कल्प हूँ। मेरे सभी आश्रव क्षीण हो चुके है, अब मेरा पुनर्जन्म नहीं होगा।"

अतः अपने दुःखों का अन्त चाहने वाले अन्य भिक्षु को भी सम्यक्प्रत्यवेक्षण कर के ही प्रत्ययों का प्रतिसेवन (उपभोग) करना चाहिये।।

यों, प्रातिमोक्षसंवर आदि भेद के कारण शील चार प्रकार का होता है।।

प्रथम शीलपञ्चक

(१) पर्यन्तपरिशुद्धशील— ३८. शील का पाँच प्रकार से विभाजन करते समय प्रथम पञ्चक में अनुपसम्पन्न शील आदि के अनुसार अर्थ समझना चाहिये। **पटिसम्भिदामग्ग** में कहा भी है—

"(१) यह पर्यन्तपरिशुद्धि शील कौन सा है? अनुपसम्पन्नों (जिन्होंने उपसम्पदा ग्रहण नहीं की है) के लिये पर्यन्त शिक्षापदों (के उपदेश) का शील ही 'पर्यन्तपरिशुद्धिशील' कहलाता है। (२) अपर्यन्तपरिशुद्धिशील क्या है? कल्याणकर्मो के सङ्कल्पक (सच्चरित्र), कुशल धर्मो के सग्रहेच्छु एवं काय तथा जीवन की अपेक्षा (परवाह) न रखते हुए उसके त्याग तक भी सन्नद्ध पृथग्जनों द्वारा शैक्ष्यपर्यन्त पूर्ण किया जाने वाला शील परिपूर्णपरिशुद्धिशील है। (३) अपरामृष्टपरिशुद्धिशील क्या है?

पारिसुद्धिसीलं। कतमं पटिप्पस्सद्धिपारिसुद्धिसीलं? तथागतसावकानं खीणासवानं पच्चेकबुद्धानं तथागतानं अरहन्तानं सम्मासम्बुद्धानं, इदं पटिप्पस्सद्धिपारिसुद्धिसीलं" ति (खु० ५-४७)।

तत्थ अनुपसम्पन्नानं सीलं गणनवसेन सपरियन्तत्ता **परियन्तपारिसुद्धिसीलं** ति वेदितब्बं। उपसम्पन्नानं—

नव कोटिसहस्सानि असीति सतकोटिया।
पञ्ञास सतसहस्सानि छत्तिंसा च पुनापरे॥
एते संवरविनया सम्बुद्धेन पकासिता।
पेय्यालमुखेन निद्दिट्ठा सिक्खा विनयसंवरे ति॥

(२) अपरियन्तपारिसुद्धिसीलं

३९. एवं गणनवसेन सपरियन्तं पि अनवसेसवसेन समादानभावं च लाभयसञातिअङ्गजीवितवसेन अदिट्ठपरियन्तभावं च सन्धाय **अपरियन्तपारिसुद्धिसीलं** ति वुत्तं, चिरगुम्बवासिकअम्बखादकमहातिस्सत्थेरस्स सीलमिव। तथा हि सो आयस्मा—

"धनं चजे अङ्गवरस्स हेतु अङ्गं चजे जीवितं रक्खमानो।
अङ्गं धनं जीवितं चापि सब्बं चजे नरो धम्ममनुस्सरन्तो" ति॥

इमं सप्पुरिसानुस्सतिं अविजहन्तो जीवितसंसये पि सिक्खापदं अवीतिक्कम्म तदेव अपरियन्तपारिसुद्धिसीलं निस्साय उपासकस्स पिट्ठिगतो व अरहत्तं पापुणि। यथाह—

"न पिता न पि ते माता न ञाति न पि बन्धवो।

सात शैक्ष्यों का शील अपरामृष्टपरिशुद्धि शील है। (४) प्रतिप्रश्रब्धिपरिशुद्धिशील क्या है? तथागत के क्षीणास्रव शिष्यों का, प्रत्येकबुद्धों का, तथागत अर्हत् सम्यक्सम्बुद्धों का शील प्रतिप्रश्रब्धिपरिशुद्धिशील है।

इनमें, अनुपसम्पन्नों के शील को गणना में परिमित (पर्यन्त) होने से **पर्यन्तपरिशुद्धिशील** कहते हैं।"

उपसम्पन्नों के—नौ हजार करोड़, अस्सी सौ करोड़, पाच लाख, और छत्तीस—इतने संवर सम्यक्सम्बुद्ध द्वारा प्रकाशित किये गये हैं। जो पेय्याल (पूर्ववत्) के माध्यम से विनयविभाग में निर्दिष्ट हैं॥

(२) अपर्यन्तपरिशुद्धिशील— ३९. इस प्रकार गणनावशात् सपर्यन्तशील को भी ग्रहण करने एवं लाभ-यश-ज्ञाति-अङ्ग-जीवन (प्राण) के रूप में अदृष्टपर्यन्त (जिसकी सीमा न आँकी जा सके) होने के कारण **अपर्यन्तपरिशुद्धि शील** कहा गया है। इसके उदाहरण में चिरगुम्बवासी आम्रखादक **महातिष्य** स्थविर का शीलपालन कहा जा सकता है। जैसा कि उस आयुष्मान् ने—

"अपने श्रेष्ठ अङ्ग की रक्षा हेतु धन का मोह नहीं करना चाहिये। अपने प्राणों की रक्षा में अपने एक अङ्ग के नाश की भी परवाह नहीं करना चाहिये।"—

इस अभियुक्तोक्ति (सत्पुरुषानुस्मृति) का परित्याग करते हुए, प्राण जाने का सन्देह होने पर भी शिक्षापदों का उल्लङ्घन न कर उसी अपर्यन्तपरिशुद्धिशील के आधार पर, उपासक द्वारा अपनी पीठ फेरते ही अर्हत्त्व प्राप्त कर लिया। जैसा कि कहा है—

"यहाँ न तो कोई तेरा पिता है, न तेरी माता, न तेरा सम्बन्धी है, न कोई बन्धु-बान्धव;

करोतेतादिसं किच्चं सीलवन्तस्स कारणा॥
संवेगं जनयित्वान सम्मसित्वान योनिसो।
तस्स पिट्ठिगतो सन्तो अरहत्तं अपापुणी'' ति॥

(३) परिपुण्णपारिसुद्धिसीलं

४०. पुथुज्जनकल्याणकानं सीलं उपसम्पदतो पट्ठाय सुधोतजातिमणि विय सुपरिकम्मकतसुवण्णं विय च अतिपरिसुद्धत्ता चित्तुप्पादमत्तकेन पि मलेन विरहितं अरहत्तस्सेव पदट्ठानं होति, तस्मा **परिपुण्णपारिसुद्धी** ति वुच्चति, **महासङ्घरक्खित**भागिनेय्य-**सङ्घरक्खितत्थेरानं** विय।

महासङ्घरक्खितत्थेरं किर अतिक्कन्तसट्ठिवस्सं मरणमञ्चे निपन्नं भिक्खुसङ्घो लोकुत्तराधिगमं पुच्छि। थेरो—''नत्थि मे लोकुत्तरधम्मो'' ति आह। अथस्स उपट्ठाको दहरभिक्खु आह—''भन्ते, तुम्हे परिनिब्बुता ति समन्ता द्वादसयोजना मनुस्सा सन्निपतिता तुम्हाकं पुथुज्जनकालकिरियाय महाजनस्स विप्पटिसारो भविस्सती'' ति। ''आवुसो, अहं मेत्तेय्यं भगवन्तं पस्सिस्सामी ति न विपस्सनं पट्ठपेसिं। तेन हि मं निसीदापेत्वा ओकासं करोही'' ति। सो थेरं निसीदापेत्वा बहि निक्खन्तो। थेरो तस्स सह निक्खमना व अरहत्तं पत्वा अच्छरिकाय सञ्ञं अदासि। सङ्घो सन्निपतित्वा आह—''भन्ते, एवरूपे मरणकाले लोकुत्तरधम्मं निब्बत्तेन्ता दुक्करं करित्था'' ति। ''नावुसो, एतं दुक्करं, अपि च वो दुक्करं आचिक्खिस्सामि—'अहं आवुसो, पब्बजितकालतो पट्ठाय असतिया अञ्ञाणपकतं कम्मं नाम न पस्सामी''' ति।

केवल शीलवान् होने के कारण तुमने ऐसा दुष्कर कार्य कर डाला। और अपने में संवेग (वैराग्य) पैदा कर, धर्मों का सूक्ष्म विश्लेषण कर उसके पीठ फेरते-फेरते ही तुमने अर्हत्त्व प्राप्त कर लिया।''

(३) परिपूर्णपारिशुद्धिशील

४०. कल्याणकर्मेच्छुक पृथग्जनों का शील, उपसम्पदा ग्रहण करने के समय से (=पट्ठाय) आगे भी, अच्छी तरह धोयी उच्च जाति की मणि के समान, या भलाभाँति तपाये गये सुवर्ण के समान, अतिपरिशुद्धि होने से अकुशल चित्तोत्पादमात्र द्वारा भी उत्पन्न होने वाले, मूल से रहित अर्हत्त्व का ही कारण (पदस्थान) होता है। इसलिये यह **परिपूर्णपरिशुद्धि** शील कहा जाता है। इसमें **महासङ्घरक्षित** एवं भागिनेय **सङ्घरक्षित** स्थविरों का उदाहरण देना चाहिये।

महासङ्घरक्षित स्थविर से, जो कि साठ वर्ष पार कर चुके थे और मृत्युशैय्या पर लेटे हुए थे, भिक्षुसङ्घ ने उनकी लोकोत्तरधर्म की अधिगति के विषय में पूछा स्थविर ने कहा—'मुझे अभी लोकात्तर धर्म (अर्हत्त्व) प्राप्त नहीं हुआ है।'' तब उनके सेवक (उपट्ठाक) तरुण भिक्षु ने कहा—''भन्ते! आपको परिनिर्वृत जानकर चारों ओर के द्वादश योजन से दर्शनार्थी श्रद्धालु जन एकत्र हुए हैं। आप के इस पृथग्जनसदृश देहपात से बहुत लोगों को निराश होगी!'' (स्थविर ने कहा—) ''आयुष्मन्! मैं तो मैत्रेय भगवान् के दर्शन करने की प्रतीक्षा में था, इसीलिये मैंने विपश्यना नहीं की। (अब तुम ऐसा करो कि) मुझे सहारा देकर बैठा दो और कुछ देर मुझे एकान्त दे दो।'' वह तरुण भिक्षु स्थविर को बैठा कर बाहर निकल गया। स्थविर ने उसके निकलने के साथ ही अर्हत्त्व प्राप्त कर चुटकी (=अक्षरा) बजा कर संकेत किया। सङ्घ ने एकत्र होकर स्थविर से कहा—''भन्ते! इस प्रकार मरण-काल उपस्थित होने पर आपने लोकोत्तर धर्म प्राप्त कर अत्यन्त दुष्कर कार्य किया!'' नहीं, आयुष्मानो! यह क्या दुष्कर है! अपितु मैं आपको अपना दुष्कर कार्य बताऊँ कि आयुष्मानो! मैंने प्रव्रज्या के दिन से लेकर

भागिनेय्यो पिस्स पञ्ञासवस्सकाले एवमेव अरहत्तं पापुणी ति।

"अप्पस्सुतो पि चे होति सीलेसु असमाहितो।
उभयेन नं गरहन्ति सीलतो च सुतेन च॥
अप्पस्सुतो पि चे होति सीलेसु सुसमाहितो।
सीलको नं पसंसन्ति तस्सं सम्पज्जते सुतं॥
बहुस्सुतो पि चे होति सीलेसु असमाहितो।
सीलतो नं गरहन्ति नास्स सम्पज्जते सुतं॥
बहुस्सुतो पि चे होति सीलेसु सुसमाहितो।
उभयेन नं पसंसन्ति सीलेन च सुतेन च॥
बहुस्सुतं धम्मधरं सपञ्ञं बुद्धसावकं।
नेक्खं जम्बोनदस्सेव को तं निन्दितुमरहति।
देवा पि नं पसंसन्ति ब्रह्मुना पि पसंसितो" ति॥ (अं० २-९)

(४) अपरामट्ठपारिसुद्धिसीलं

४१. सेक्खानं पन सीलं दिट्ठिवसेन अपरामट्ठत्ता, पुथुज्जनानं वा पन रागवसेन अपामट्ठसीलं **अपरामट्ठपारिसुद्धी** ति वेदितब्बं, कुटुम्बियपुत्ततिस्सत्थेरस्स सीलं विय। सो हि आयस्मा तथारूपं सीलं निस्साय अरहत्ते पतिट्ठातुकामो वेरिके आह—

'उभो पादानि भिन्दित्वा सञ्ञपेस्सामि वो अहं।

आज तक कभी भी स्वयं को स्मृतिरहित रख, अज्ञानपूर्वक कोई प्रमाद (विनयपालन में कमी) करते नहीं पाया।"

इनके भागिनेय (सङ्घरक्षित स्थविर) ने भी पचास वर्ष की अवस्था में इसी तरह अर्हत्त्व पा लिया था।

"यदि किसी ने धर्मोपदेश का अल्प श्रवण ही किया है और अपने शीलाचार में असंयमी भी है तो वह शील और श्रुत—दोनों ही दृष्टियों से जनता द्वारा गर्हित समझा जाता है।।

"यदि वह अल्पश्रुत होने पर भी संयम में तो तत्पर ही रहता हो तो उसके इस शील के कारण उसकी सभी प्रशंसा करते हैं, यों उसका वह अल्प धर्म—श्रवण भी सम्पन्न (सफल) हो जाता है।।

इसके विपरीत, यदि कोई बहुश्रुत हो परन्तु उसका अपनी इन्द्रियों पर संयम न हो, तो इस शील के अभाव के कारण जनता में वह निन्दा का पात्र ही रहता है। और उसकी बहुश्रुतता भी तब उसके किसी उपयोग में नहीं आती।।

"हाँ, कोई बहुश्रुत भी हो और दृढ़ इन्द्रियसंयमी भी हो तो उसकी, इस बहुश्रुतता व समाहितता—दोनों के कारण, समाज में अत्यधिक प्रशंसा होती है।।

(४) अपरामृष्टपरिशुद्धिशील

४१. शैक्ष्यों का शील (—दृष्टि) मिथ्यादृष्टि से अपरामृष्ट होने के कारण एवं पृथग्जनों का शील राग से अपरामृष्ट शील **अपरामृष्ट परिशुद्ध** जानना चाहिये; जैसे कौटुम्बिकपुत्र **तिष्य** स्थविर का था। उस आयुष्मान् ने अपने उस प्रकार के शील के आधार पर अर्हत्त्व में प्रतिष्ठित होने की इच्छा से अपने विरोधियों को कहा था—

अट्टियामि हरायामि सरागमरणं अहं" ति॥
"एवाहं चिन्तयित्वा सम्मसित्वान योनिसो।
सम्पत्ते अरुणुग्गम्हि अरहत्तं अपापुणिं"॥ ति॥
(दी० टु०—२-३३९)

अञ्ञतरो पि महाथेरो बाळ्हगिलानो सहत्था आहारं पि परिभुञ्जितुं असक्कोन्तो सके मुत्तकरीसे पलिपन्नो सम्परिवत्तति, तं दिस्वा अञ्ञतरो दहरो—"अहो, दुक्खा जीवितसङ्खारा" ति आह। तमेनं महाथेरो आह—"अहं, आवुसो, इदानि मिय्यमानो सग्गसम्पत्तिं लभिस्सामि, नत्थि मे एत्थ संसयो, इमं पन सीलं भिन्दित्वा लद्धसम्पत्ति नाम सिक्खं पच्चक्खाय पटिलद्धगिहिभावसदिसी" ति वत्वा "सीलेनेव सद्धिं मरिस्सामी" ति तत्थेव निपन्नो तमेव रोगं सम्मसन्तो अरहत्तं पत्वा भिक्खुसङ्घस्स इमाहि गाथाहि ब्याकासि—

"फुट्ठस्स मे अञ्ञतरेन ब्याधिना रोगेन बाळ्हं दुखितस्स रुप्पतो।
परिसुस्सति खिप्पमिदं कळेवरं पुप्फं यथा पंसुनि आतपे कतं॥
अजञ्ञं जञ्ञसङ्खातं असुचिं सुचिसम्मतं।
नानाकुणपपरिपूरं जञ्ञरूपं अपस्सतो॥
धिरत्थु मं आतुरं पूतिकायं दुग्गन्धियं असुचिं ब्याधिधम्मं।
यत्थप्पमत्ता अधिमुच्छिता पजा हापेन्ति मग्गं सुगतूपपत्तिया" ति॥

"अपने दोनों पैरों को तोड़कर मैं उन लोगों के पास प्रतिभू (जमानत) के रूप में रखता हूँ। मैं (राग का क्षय किये विना) अपना रागसहित देहपात (मरण) नहीं चाहता; क्योंकि इसमें मुझे लज्जा व घृणा का अनुभव हो रहा है।"

"मैंने यह सोचते हुए भलीभाँति मनन करते हुए, सूर्योदय के साथ ही अर्हत्त्व प्राप्त कर लिया।।"

एक अन्य महास्थविर भी, जो कि अत्यधिक रोग के कारण भोजन करने में भी असमर्थ हो गये थे, अपने मल-मूत्र में लिपटे, शयनासन पर किसी तरह करवट बदलते रहते थे। उन्हें देखकर दूसरे किसी भिक्षु के मुख से निकल पड़ा—"अरे! ये जीवनसंस्कार कितने दुःखद हैं"। उसको इन महास्थविर ने कहा—"आयुष्मन्! मैं यदि अभी मर जाऊँ तो मुझे स्वर्ग-सुख तो मिल ही जायगा—इसमें सन्देह नहीं, परन्तु इस शील को भङ्ग कर प्राप्त सम्पत्ति (भिक्षुत्व-) शिक्षा को त्याग कर गृहस्थ हो जाने के समान है अतः मैं तो शील के साथ ही अपना देहपात करूँगा।"— ऐसा कहकर उन्होंने वहीं लेटे लेटे उसी रोग के विषय में मनन करते हुए अर्हत्त्व प्राप्त कर वहाँ उपस्थित भिक्षुसङ्घ से ये गाथाएँ कहीं—

"मुझे एक रोग होने पर, उस रोग से अतिशय दुःखित एवं पीड़ित मेरा यह शरीर पड़ा पड़ा सूख रहा है, जैसे धूप या धूल में पड़ा फूल सूख जाता है।।

("यह शरीर) जिसे लोग मनोहर (सुन्दर) कहते हैं, पर वस्तुतः वह मनोहर नहीं है; उसे लोग 'पवित्र' कहते हैं, पर वस्तुतः वह पवित्र नहीं है; क्योंकि यह तो तरह-तरह के मलों से भरा पड़ा है। (केवल) यथार्थ को न देख पाने वालों के लिये ही यह मनोहर या पवित्र हो सकता है।।

"मेरे इस व्याधिग्रस्त, दुर्गन्धमय, अपवित्र स्वभावतः सतत रोगों का शिकार होने वाले (व्याधिधर्मा) अपवित्र शरीर को धिक्कार (धिरत्थु) है, जिसके विषय में प्रमत्त (अधिमूर्च्छित) होकर लोग सुगति-प्राप्ति का मार्ग छोड़ बैठते हैं।।"

(५) पटिपस्सद्धिपारिसुद्धिसीलं

४२. अरहन्तादीनं पन सीलं सब्बदरथप्पटिपस्सद्धिया परिसुद्धत्ता **पटिपस्सद्धिपारिसुद्धी** ति वेदितब्बं। एवं परियन्तपारिसुद्धिआदिवसेन पञ्चविधं॥

दुतियसीलपञ्चकं

(पहानसीलादिवसेन)

४३. दुतियपञ्चके पाणातिपातादीनं पहानादिवसेन अत्थो वेदितब्बो। वुत्तं हेतं **पटिसम्भिदायं**—

"पञ्च सीलानि—पाणातिपातस्स पहानं सीलं, वेरमणी सीलं, चेतना सीलं, संवरो सीलं, अवीतिक्कमो सीलं। अदिन्नादानस्स, कामेसु मिच्छाचारस्स, मुसावादस्स, पिसुणाय वाचाय, फरुसाय वाचाय, सम्फप्पलापस्स, अभिज्झाय, व्यापादस्स, मिच्छादिट्ठिया, नेक्खम्मेन कामच्छन्दस्स, अव्यापादेन व्यापादस्स, आलोकसञ्ञाय थीनमिद्धस्स, अविक्खेपेन उद्धच्चस्स, धम्मववत्थानेन विचिकिच्छाय, ञाणेन अविज्जाय, पामोज्जेन अरतिया, पठमेन झानेन नीवरणानं, दुतियेन झानेन वितक्कविचारानं, ततियेन झानेन पीतिया, चतुत्थेन झानेन सुखदुक्खानं, आकासानञ्चायतनसमापत्तिया रूपसञ्ञाय पटिघसञ्ञाय नानत्तसञ्ञाय, विञ्ञाणञ्चायतनसमापत्तिया आकासानञ्चायतनसञ्ञाय, आकिञ्चञ्ञायतनसमापत्तिया विञ्ञाणञ्चायतनसञ्ञाय, नेवसञ्ञानासञ्ञायतनसमापत्तिया आकिञ्चञ्ञायतनसञ्ञाय, अनिच्चानुपस्सनाय निच्चसञ्ञाय, दुक्खानुपस्सनाय सुखसञ्ञाय, अनत्तानुपस्सनाय अत्तसञ्ञाय, निब्बिदानुपस्सनाय नन्दिया, विरागानुपस्सनाय रागस्स, निरोधानुपस्सनाय

---

(५) प्रतिप्रश्रब्धिपरिशुद्धिशील

४२. अर्हत् आदि का शील, सभी दुःखों की शान्ति हो जाने के कारण, सर्वथा परिशुद्ध होने से **प्रतिप्रश्रब्धि** (शान्ति) **परिशुद्धिशील** समझना चाहिये।

यों, पर्यन्तपरिशुद्धि आदि से शील पाँच प्रकार का भी होता है।।

द्वितीय शीलपञ्चक

४३. शील के इस द्वितीय पञ्चक–विभाजन में प्राणातिपात आदि के प्रहाणादि भेद से शील का विभाजन समझना चाहिये। जैसे कि **पटिसम्भिदामग्ग** में कहा गया है—

"शील पाँच होते हैं— १. प्राणातिपात का प्रहाणशील, २. प्राणातिपात से विरमणि (विराम) शील, ३. चेतनाशील, ४. संवरशील एवं ५. अव्यतिक्रम (अनुलङ्घन) शील। चोरी, व्यभिचार, असत्यभाषण, चुगली, कठोर वचन, वाचालता, लोभ, प्रतिहिंसा, मिथ्यादृष्टि, नैष्कर्म्य से कामभोगों की इच्छा का, अव्यापाद से व्यापाद, स्फूर्ति (आलोकसंज्ञा) से स्त्यान (शारीरिक आलस्य) व मृद्ध (मानसिक आलस्य), चित्त की एकाग्रता से औद्धत्य, धर्म–सम्बन्धी विचार–विमर्श से विचिकित्सा (सन्देह), ज्ञान से अविद्या, प्रामोद्य (प्रसन्नता) से उदासी (अरति), प्रथम ध्यान से कामच्छन्द आदि छह नीवरण, द्वितीय ध्यान से वितर्क–विचार, तृतीय ध्यान से प्रीति, चतुर्थ ध्यान से सुख–दुःख, आकाशनन्त्यायतन की भावना से रूपसंज्ञा प्रतिघसंज्ञा नानात्वसंज्ञा, विज्ञानानन्त्यायतन की भावना से रूपसंज्ञा प्रतिघसंज्ञा नानात्वसंज्ञा, विज्ञानानन्त्यायतन की भावना से आकाशनन्त्यायतनसंज्ञा, आकिञ्चन्यायतन की भावना से विज्ञानानन्त्यायतनसंज्ञा, नैवसंज्ञानासंज्ञायतन की भावना से आकिञ्चन्यायतनसंज्ञा, अनित्यानुपश्यना से नित्यसंज्ञा, दुःखानुपश्यना (दुःख के अवलोकन=समीक्षण) से सुखसंज्ञा, अनात्मानुपश्यना से

समुदयस्स, पटिनिस्सग्गानुपस्सनाय आदानस्स, खयानुपस्सनाय घनसञ्ञाय, वयानुपस्सनाय आयूहनस्स, विपरिणामानुपस्सनाय धुवसञ्ञाय, अनिमित्तानुपस्सनाय निमित्तस्स, अप्पणिहितानुपस्सनाय पणिधिया, सुञ्ञतानुपस्सनाय अभिनिवेसस्स, अधिपञ्ञाधम्म-विपस्सनाय सारादानाभिनिवेसस्स, यथाभूतञाणदस्सनेन सम्मोहाभिनिवेसस्स, आदीन-वानुपस्सनाय आलयाभिनिवेसस्स, पटिसङ्खानुपस्सनाय अप्पटिसङ्खाय, विवट्टानुपस्सनाय सञ्ञोगाभिनिवेसस्स, सोतापत्तिमग्गेन दिट्ठेकट्ठानं किलेसानं, सकदागामिमग्गेन ओळारिकानं किलेसानं, अनागमिमग्गेन अणुसहगतानं किलेसानं, अरहत्तमग्गेन सब्बकिलेसानं पहानं सीलं, वेरमणी.... चेतना.... संवरो.... अवीतिक्कमो सीलं।

एवरूपानि सीलानि चित्तस्स अविप्पटिसाराय संवत्तन्ति, पामोज्जाय, पीतिया, पस्सद्धिया, सोमनस्साय, आसेवनाय, भावनाय, बहुलीकम्माय, अलङ्काराय, परिक्खाराय, परिवाराय, पारिपूरिया, एकन्तनिब्बिदाय, विरागाय, निरोधाय, उपसमाय, अभिञ्ञाय, सम्बोधाय, निब्बानाय संवत्तन्ती" (खु० ५-५१) ति।

४४. एत्थ च पहानं ति कोचि धम्मो नाम नत्थि अञ्ञत्र वुत्तप्पकारानं पाणातिपातादीनं अनुप्पादमत्ततो। यस्मा पन तं तं पहानं तस्स तस्स कुसलधम्मस्स पतिट्ठानट्ठेन उपधारणं होति, विकम्पाभावकरणेन च समाधानं, तस्मा पुब्बे वुत्तेनेव (१३ पिट्ठे) उपधारण-समाधानसङ्खातेन सीलनट्ठेन सीलं ति वुत्तं। इतरे चत्तारो धम्मा ततो ततो वेरमणिवसेन, तस्स तस्स संवरवसेन, तदुभयसम्पयुत्तचेतनावसेन, तं तं अवीतिक्कमन्तस्स अवीतिक्कमनवसेन

आत्मसंज्ञा, निर्वेदानुपश्यना से नन्दी (आसक्ति), वैराग्यानुपश्यना से राग, निरोधानुपश्यना से समुदय (जन्म), प्रतिनिसर्गानुपश्यना से आदान, क्षयानुपश्यना से घन (एकत्व) संज्ञा, व्यय (नाश) की अनुपश्यना से आयूहन (राशिकरण), विपरिणाम (विनाश) की अनुपश्यना से ध्रुवसंज्ञा, अनिमित्तानुपश्यना से निमित्त, अप्रणिहितानुपश्यना से प्रणिधि (निश्चय), शून्यतानुपश्यना से अभिनिवेश (धर्मात्मदृष्टि), अधिप्रज्ञधर्मपश्यना से सार-ग्रहण के अभिनिवेश, यथाभूतज्ञानदर्शन से सम्मोहाभिनिवेश, आदीनव (दोष) की अनुपश्यना से आलय-(तृष्णा-) अभिनिवेश, प्रतिसङ्ख्या-(प्रज्ञा-) अनुपश्यना से आलय-(तृष्णा-) अभिनिवेश, प्रतिसङ्ख्या-(प्रज्ञा-) अनुपश्यना से अप्रतिसङ्ख्या, विवर्त (निर्वाण) अनुपश्यना से संयोजनाभिनिवेश, स्रोतआपत्ति मार्ग से दृष्टिजन्य क्लेशों, सकृदागामी मार्ग से स्थूल क्लेशों, अनागामी मार्ग से सूक्ष्म क्लेशों, अर्हत्त्व मार्गो से सभी स्थूल-सूक्ष्म क्लेशों का प्रहाण प्रहाणशील कहलाता है। विरमणि... चेतना... संवर... अव्यतिक्रमशील कहलाता है।

"ऐसे शील चित्त को अपश्चात्ताप (अविप्रतिसार) प्रामोद्य, प्रीति, प्रश्रब्धि (शान्ति), सौमनस्य, आसेवन, भावना, बहुलीकरण (आधिक्य) अलङ्कार (शोभा), परिष्कार, परिवार, परिपूर्ति, ऐकान्तिक वैराग्य, ग्लानि (उपेक्षा) निरोध, उपशय, अभिज्ञा, सम्बोधि एवं निर्वाण के निकट पहुँचाने वाले होते हैं।'

४४. यहाँ 'प्रहाण' उक्त प्रकार के प्राणातिपात आदि के अनुत्पाद के अतिरिक्त कोई अन्य धर्म नहीं है ; क्योंकि विभिन्न (व्यक्तिश: एक-एक) प्रहाण उस उस कुशल धर्म के आधार (प्रतिष्ठान) के अर्थ में 'धारण करने वाला' होता है; एवं कम्पनाभाव (स्थिरता) के कारण 'समाधान' है; अत: पूर्वोक्त (पृष्ठ १३) प्रकार से ही उपधारण-समाधानरूपी शीलन अर्थ में शील कहा गया है।

अन्य विरमणि आदि चार धर्म उस उस के विरमण व उस-उस के संवर में, उन दोनों से

च चेतसो पवत्तिसब्भावं सन्धाय वुत्ता। सीलट्ठो पन तेसं पुब्बे पकासितो येवा ति। एवं पहानसीलादिवसेन पञ्चविधं॥

एत्तावता च किं सीलं? केनट्ठेन सीलं? कानस्स लक्खण-रस-पच्चुपट्ठान-पदट्ठानानि? किमानिसंसं सीलं? कतिविधं चेतं सीलं?—ति इमेसं पञ्हानं विस्सज्जनं निट्ठितं॥

(६) सीलस्स सङ्किलेसो

४५. यं पन वुत्तं "**को चस्स सङ्किलेसो? किं वोदानं?**" ति। तत्र वदाम— खण्डादिभावो सीलस्स सङ्किलेसो, अखण्डादिभावो वोदानं। सो पन खण्डादिभावो लाभयसादिहेतुकेन भेदेन च, सत्तविधमेथुनसंयोगेन च सङ्गहितो। तथा हि यस्स सत्तसु आपत्तिक्खन्धेसु आदिम्हि वा अन्ते वा सिक्खापदं भिन्नं होति, तस्स सीलं परियन्ते छिन्नसाटको विय **खण्डं** नाम होति। यस्स पन वेमज्झे भिन्नं, तस्स मज्झे छिद्दसाटको विय **छिद्दं** नाम होति। यस्स पटिपाटिया द्वे तीणि भिन्नानि, तस्स पिट्ठिया वा कुच्छिया वा उट्ठितेन विसभागवण्णेन काळरत्तादीनं अञ्ञतरसरीरवण्णा गावो विय **सबलं** नाम होति। यस्स अन्तरन्तरा भिन्नानि, तस्स अन्तरन्तरा विसभागवण्णबिन्दुविचित्रा गावी विय **कम्मासं** नाम होति। एव ताव लाभादिहेतुकेन भेदेन खण्डादिभावो होति।

४६. एवं सत्तविधमेथुनसंयोगवसेन। वुत्तं हि भगवता—

सम्पृक्त चेतना एवं उस उस का व्यतिक्रम न करने वाले के अव्यतिक्रम के रूप में चित्त की प्रवृत्ति की सत्ता का उल्लेख करते हैं। उनके पहले, शीलवान् का अर्थ बताया ही जा चुका है। यों, प्रहाणशील आदि भेद से भी शील पाँच प्रकार का होता है।।

इतने व्याख्यान से, शील क्या है? किस अर्थ में शील है? इस शील के लक्षण, रस, प्रत्युपस्थान एवं पदस्थान क्या है? शील का माहात्म्य क्या है? शील के प्रकार (भेद) कितने हैं?— इन सभी (पाँच) प्रश्नों का उचित, विस्तृत एवं शास्त्रानुकूल उत्तर दे दिया गया।

(६) शील का संक्लेश

४५. उनमें अब एक प्रश्न अनुत्तरित रह गया— इस शील का संक्लेश एवं व्यवदान (शुद्धि) क्या है? इसके विषय में हमारा कहना है—

शील का खण्डित हो जाना शील का संक्लेश है और खण्डित न हो पाना (अखण्ड रहना) शील का व्यवदान (शुद्धि) है। (१) लाभ-यश आदि के कारण हुए खण्डन में और (२) सात प्रकार के मैथुन-संयोग में इस खण्डन भाव का संग्रह विद्वानों द्वारा किया गया है। जिसका शिक्षापद सात आपत्तिस्कन्धों में से प्रारम्भ या अन्त में खण्डित हो जाता है, उसका शील, किनारे पर फटे कपड़े की भाँति, **खण्ड** (विभक्त) हो जाता है। और जिसका शिक्षापद मध्य में खण्डित हो जाता है उसका शील मध्य में छिद्रित हुए कपड़े की भाँति **छिद्र** (छिद्रित) कहा जाता है। जिसका शिक्षापद परिपाटी (क्रम) से दो या तीन बार खण्डित हो चुका है उसके शील को पीठ या पेट पर काली चितकबरी चित्तियों वाली गौ की तरह **शबल** (चितकबरा) कहते हैं। जिसका शिक्षापद रुक-रुक कर खण्डित होता रहता है उसके शील को इधर उधर चित्तियों के कारण चित्र विचित्र गौ के समान **कल्माष** (अधिक काला रंग मिले हुए या चित्तकबरे रंग वाला) कहते हैं। इस प्रकार लाभ आदि के कारण खण्डित होने से 'खण्डित होना' आदि कहलाता है।

"इध, ब्राह्मण, एकच्चो समणो वा ब्राह्मणो वा सम्मा ब्रह्मचारी पटिजानमानो न हेव खो मातुगामेन सद्धिं द्वयन्द्वयसमापत्तिं समापज्जति, अपि च खो मातुगामस्स उच्छादनं परिमद्दनं न्हापनं सम्बाहनं सादियति, सो तदस्सादेति, तं निकामेति, तेन च वित्तिं आपज्जति। इदं पि खो, ब्राह्मण, ब्रह्मचरियस्स खण्डं पि छिद्दं पि सबलं पि कम्मासं पि। अयं वुच्चति, ब्राह्मण, अपरिसुद्धं ब्रह्मचरियं चरति संयुत्तो मेथुनेन संयोगेन, न परिमुच्चति जातिया, जराय, मरणेन....पे०.... न परिमुच्चति दुक्खस्मा ति वदामि। (१)

"पुन च परं, ब्राह्मण इधेकच्चो समणो वा ....पे०.... पटिजानमानो न हेव खो मातुगामेन सद्धिं द्वयन्द्वयसमापत्तिं समापज्जति। न पि मातुगामस्स उच्छादनं ....पे०.... सादियति। अपि च खो मातुगामेन सद्धिं सञ्जग्घति सङ्कीळति सङ्केलायति, सो तदस्सादेति ....पे०.... न परिमुच्चति दुक्खस्मा ति वदामि। (२)

"पुन च परं, ब्राह्मण इधेकच्चो समणो वा ....पे०.... न हेव खो मातुगामेन सद्धिं द्वयन्द्वयसमापत्तिं समापज्जति। न पि मातुगामस्स उच्छादनं....पे०.... सादियति। न पि मातुगामेन सद्धिं सञ्जग्घति संकीळति सङ्केलायति। अपि च खो मातुगामस्स चक्खुना चक्खु उपनिज्झायति पेक्खति, सो तदस्सादेति ....पे०....न परिमुच्चति दुक्खस्मा ति वदामि। (३)

"पुन च परं, ब्राह्मण, इधेकच्चो समणो वा ....पे०.... न हेव खो मातुगामेन.... न पि मातुगामस्स.... न पि मातुगामेन.... न पि मातुगामस्स ....पे०....पेक्खति। अपि च खो मातुगामस्स सद्दं सुणाति तिरोकुट्टा वा तिरोपाकारा वा हसन्तिया वा भणन्तिया वा गायन्तिया वा रोदन्तिया वा, सो तदस्सादेति ....पे०.... दुक्खस्मा ति वदामि। (४)

---

४६. इसी तरह अधोलिखित सात प्रकार के मैथुन–संयोग के भेद से भी शील का खण्डितभाव कहा गया है। (अङ्गुत्तरनिकाय में) कहा भी है–

"ब्राह्मण! यहाँ कोई श्रमण या ब्राह्मण पूर्ण रूप से ब्रह्मचारी होने का दावा करता हुआ किसी स्त्री के साथ सम्भोग (जोड़ा खाना=द्वयन्द्वयसमापत्ति) तो नहीं करता, परन्तु स्त्रियों से उबटन लगवाने, मालिश (परिमर्दन) व स्नान करवाने या शरीर दबवाने (सम्बाहन) का काम कराता है, वह उसमें रस लेता है, उसको चाहता है और उसमें सन्तोष का अनुभव करता है। ब्राह्मण! उसका यह कार्य उसके ब्रह्मचर्य का खण्ड भी है, छिद्र भी है, शबल भी है और कल्माष भी। ब्राह्मण! इसी को कहा जाता है कि वह अपरिशुद्ध ब्रह्मचर्य का आचरण कर रहा है, मैथुन के संयोग से युक्त है। ऐसा पुरुष जाति, बुढ़ापा, मृत्यु एवं दुःख से कभी छुटकारा नहीं पाता– ऐसा मैं कहता हूँ। (१)

"और फिर ब्राह्मण! यद्यपि यहाँ कोई श्रमण–ब्राह्मण....पूर्ववत्....दावा करता हुआ किसी स्त्री के साथ सम्भोग नहीं करता, न किसी स्त्री से उबटन....काम करवाता है, अपितु स्त्री के साथ हास–परिहास करता है, क्रीड़ा करता है, मनोरञ्जन करता है, उसके क्रिया–कलाप में रस लेता है....वह दुःख से छुटकारा नहीं पा सकता–ऐसा मेरा मानना है। (२)

"और फिर, ब्राह्मण! यद्यपि यहाँ कोई श्रमण–ब्राह्मण....पूर्ववत्....न रस लेता है, फिर भी वह स्त्रियों की ओर आँख से आँख मिलाकर देखता है, बार–बार देखता है उसमें आस्वाद (रस) लेता है....दुःख से नहीं छूटता–ऐसा मेरा कहना है। (३)

"और फिर ब्राह्मण! यद्यपि यहाँ कोई श्रमण ब्राह्मण....पूर्ववत्....आस्वाद नहीं लेता है; फिर भी दीवाल के पीछे (आड़) से या चहारदीवारी की ओट से स्त्रियों के हँसने, बोलने, गाने या रोने के

"पुन च परं, ब्राह्मण, इधेकच्चो समणो वा....पे०.... न हेव खो मातुगामेन। न पि मातुगामस्स ....न पि मातुगामेन.... न पि मातुगामस्स ....पे०....रोदन्तिया वा। अपि च खो यानिस्स तानि पुब्बे मातुगामेन सद्धिं हसितलपितकीळितानि, तानि अनुस्सरति, सो तदस्सादेति ....पे०....दुक्खस्मा ति वदामि। (५)

"पुन च परं, ब्राह्मण, इधेकच्चो समणो वा....पे०.... न हेव खो मातुगामेन....पे०....न पि मातुगामस्स....पे०.... न पि यानिस्स तानि पुब्बे मातुगामेन सद्धिं हसितलपितकीळितानि, तानि अनुस्सरति। अपि च खो पस्सति गहपतिं वा गहपतिपुत्तं वा पञ्चहि कामगुणेहि समप्पितं समङ्गीभूतं परिचारयमानं, सो तदस्सादेति ....पे०....दुक्खस्मा ति वदामि। (६)

"पुन च परं, ब्राह्मण, इधेकच्चो समणो वा....पे०.... न हेव खो मातुगामेन....पे०....न पि पस्सति गहपतिं वा गहपतिपुत्तं वा ....पे०....परिचारयमानं। अपि च खो अञ्ञतरं देवनिकायं पणिधाय ब्रह्मचरियं चरति— 'इमिनाहं सीलेन वा वतेन वा तपेन वा ब्रह्मचरियेन वा देवो वा भविस्सामि देवञ्ञतरो वा' ति। सो तदस्सादेति, तं निकामेति, तेन च वित्तिं आपज्जति। इदं पि खो, ब्राह्मण, ब्रह्मचरियस्स खण्डं पि छिद्दं पि सबलं पि कम्मासं पी" (अं० ३-१९४) ति।(७)

एवं लाभादिहेतुकेन भेदेन च सत्तविधमेथुनसंयोगेन च खण्डादिभावो सङ्गहितो ति वेदितब्बो॥

(७) सीलस्स वोदानं

४७. अखण्डादिभावो पन सब्बसो सिक्खापदानं अभेदेन, भिन्नानं च सप्पटिकम्मानं

शब्द सुनता है, वैसे शब्द सुनने में रस लेता है...दुःख से छुटकारा नहीं पाता—ऐसी मेरी मान्यता है। (४)

"और फिर, ब्राह्मण! यद्यपि यहाँ कोई श्रमण या ब्राह्मण....न स्त्री के साथ...न स्त्री से....न स्त्री का....रोने का शब्द सुनता है; किन्तु स्त्रियों के साथ पूर्वकृत हास परिहास, आलाप और क्रीड़ा को स्मरण करता है, स्मरण कर उसमें रस लेता है....दुःख से नहीं छूट पाता—ऐसा मैं कहता हूँ। (५)

"और फिर, ब्राह्मण! यद्यपि यहाँ कोई श्रमण....न तो स्त्री के साथ....न स्त्री से....न स्त्री का....न स्त्रियों के साथ....स्मरण करता है, अपितु वह पञ्च कामगुणों के प्रति समर्पित, तल्लीन व उनका व्यवहार (उपभोग) करने वाले गृहपति या उसके पुत्र को देखता है, उसके व्यवहार में रस लेता है...दुःख से छुटकारा नहीं पाता—ऐसा मैं कहता हूँ। (६)

"और फिर ब्राह्मण! यद्यपि यहाँ कोई श्रमण या ब्राह्मण....न तो स्त्री के साथ....न व्यवहार करने वाले गृहपति या उसके पुत्र को ही देखता है, फिर भी वह चातुर्महाराजिक आदि किसी देवनिकाय (देवसमूह) की प्राप्ति का सङ्कल्प कर ब्रह्मचर्य धारण करता है कि 'मैं इस शील, व्रत, तप या ब्रह्मचर्य के प्रभाव से देवता हो जाऊँ।' वह उसमें आस्वाद लेता है, उसे चाहता है, उसमें सन्तोष का अनुभव करता है। ब्राह्मण! यह (उसके) ब्रह्मचर्य का खण्डित होना भी है छिद्रित होना भी है, शबलित होना भी है और कल्माषित होना भी। (७)

यों उस शील के लाभ आदि भेद से तथा सप्तविध मैथुन के संयोग-भेद से खण्ड, छिद्र, शबल, कल्माष आदि भेद (संक्लेश) संगृहीत होते हैं—वह जानना चाहिये।।

७. शीलव्यवदान

४७. उस शील का अखण्डतादिभाव—सर्वतः शिक्षापदों का खण्डन न होने के रूप में;

पटिकम्मकरणेन, सत्तविधमथुनसंयोगाभावेन च, अपराय च कोधो उपनाहो मक्खो पळासो इस्सा मच्छरियं माया साठेय्यं थम्भो सारम्भो मानो अतिमानो मदो पमादो–ति आदीनं पापधम्मानं अनुप्पत्तिया, अप्पिच्छता–सन्तुट्ठिता–सल्लेखतादीनं च गुणानं उप्पत्तिया सङ्गहितो।

यानि हि सीलानि लाभादीनं पि अत्थाय अभिन्नानि, पमाददोसेन वा भिन्नानि पि पटिकम्मकतानि, मेथुनसंयोगेहि वा कोधूपनाहादीहि वा पापधम्मेहि अनुपहतानि, तानि सब्बसो **अखण्डानि अच्छिद्दानि असबलानि अकम्मासानी** ति वुच्चन्ति। तानि येव भुजिस्सभावकरणतो **च भुजिस्सानि,** विञ्ञूहि पसत्थत्ता **विञ्ञुपसत्थानि,** तण्हादिट्ठीहि अपरामट्ठत्ता **अपरामट्ठानि,** उपचारसमाधिं वा अप्पनासमाधिं **वा संवत्तयन्ती** ति **समाधिसंवत्तनिकानि** च होन्ति। तस्मा नेसं एस अखण्डादिभावो **'वोदानं'** ति वेदितब्बो।

४८. तं पनेतं वोदानं द्वीहाकारेहि सम्पज्जति—सीलविपत्तिया च आदीनवदस्सनेन, सीलसम्पत्तिया च आनिसंसदस्सनेन। तत्थ "पञ्चिमे, भिक्खवे, आदीनवा दुस्सीलस्स सीलविपत्तिया" (दी० २-६९) ति एवमादिसुत्तनयेन सीलविपत्तिया आदीनवो दट्ठब्बो।

अपि च दुस्सीलो पुग्गलो दुस्सील्यहेतु अमनापो होति देवमनुस्सानं, अननुसासनीयो सब्रह्मचारीनं, दुक्खितो दुस्सील्यगरहासु, विप्पटिसारी सीलवतं पसंसासु, ताय च पन दुस्सील्यताय साणसाटको विय दुब्बण्णो होति। ये खो पनस्स दिट्ठानुगतिं आपज्जन्ति, तेसं दीघरत्तं अपायदुक्खावहनतो दुक्खसम्फस्सो। येसं देय्यधम्मं पटिगण्हाति, तेसं न

प्रतिकर्म (सुधार या संशोधन) किये जाने योग्य खण्डित शिक्षापदों का सुधार करने के रूप में; उपर्युक्त सप्तविध मैथुनसंयोग के अभाव से; और अन्य पापधर्मों, जैसे—क्रोध, उपनाह (बद्ध वैर), म्रक्ष (दूसरों को नीचा एवं अपने को उच्च दिखाने का भाव), प्रदाश (ईर्ष्यायुक्त द्वेष) ईर्ष्या, मात्सर्य, माया, शाठ्य, स्तम्भ, हिंसा, मान, अतिमान, मद–प्रमाद आदि दोषों की अनुत्पत्ति के रूप में; एवं अल्पेच्छता, सन्तोष एवं कठोर तपस्या आदि गुणों की उत्पत्ति के रूप में संगृहीत है।

जो शील लाभ–आदि के लिये भी खण्डित नहीं किये जाते, या प्रमादवश भङ्ग होने पर जिनका प्रतिकर्म (प्रायश्चित) कर लिया जाता है; अथवा जो शील मैथुनसंयोग या क्रोध–उपनाह आदि अकुशल धर्मों से उपहत (खण्डित) नहीं है, वे सभी **अनुपहत, अच्छिद्र** तथा **अशबल,** या **अकल्माष** कहलाते हैं। वे ही (तृष्णा के) दासत्व भाव से मुक्त कराने वाले अतः **भुजिष्य;** विद्वानों द्वारा प्रशंसाप्राप्त हैं अतः **विद्वत्प्रशस्त;** तृष्णादृष्टि से बद्ध नहीं है अतः **अपरामृष्ट;** एवं उपचार समाधि या अर्पणा समाधि को प्राप्त कराने वाले हैं अतः **समाधिसंवर्तनिक हैं।** यों, उन शीलों का यह अखण्डादि भाव ही उसकी 'विशुद्धि' है।

४८. फिर वह शीलविशुद्धि दो प्रकार से सम्पन्न होती है— १. शीलविपत्ति अर्थात् शील का खण्डित होना आदि के दोष–दर्शन से एवं २. शीलसम्पत्ति (शीलसंग्रह) के माहात्म्य–दर्शन से। इनमें "भिक्षुओ! दुःशील की शील–विपत्ति में पाँच दोष हैं"— (दी० २-६९) इत्यादि सूत्रवचनों के अनुसार शीलविपत्ति में दोष देखना चाहिये।

और फिर, दुःशील पुद्गल १. स्वयं दुःशील हाने के कारण, देवताओं और मनुष्यों के लिये दुर्दर्शन (अमनाप=घृणास्पद) होता है; २. अपने सब्रह्मचारियों के लिये वह अनुशासनीय नहीं रह जाता; ३. लोक में अपने उस दुराचार की निन्दा के कारण दुःखी रहता है; (उसके विपरीत) ४. लोक में शीलवानों की प्रशंसा से पछताता रहता है; ५. और वह अपनी उस दुःशीलता के कारण सन के

महप्फलकरणतो अप्पग्घो। अनेकवस्सगणिकगूथकूपो विय दुब्बिसोधनो। छवालातमिव उभतो परिबाहिरो। भिक्खुभावं पटिजानन्तो पि अभिक्खु येव गोगणं अनुबन्धगद्रभो विय, सततुब्बिग्गो सब्बवेरिकपुरिसो विय, असंवासारहो मतकळेवरं विय। सुतादिगुणयुत्तो पि सब्रह्मचारीनं अपूजारहो सुसानग्गि विय ब्राह्मणानं। अभब्बो विसेसाधिगमे अन्धो विय रूपदस्सने। निरासो सद्धम्मे चण्डालकुमारको विय रज्जे। 'सुखितोस्मी' ति मञ्ञमानो पि दुक्खितो व अग्गिक्खन्धपरियाये वुत्तदुक्खभागिताय।

४९. दुस्सीलानं हि पञ्चकामगुणपरिभोगवन्दनमाननादिसुखस्सादगधितचित्तानं तप्पच्चयं अनुस्सरणमत्तेनापि हदयसन्तापं जनयित्वा उण्हलोहितुग्गारप्पवत्तनसमत्थं अतिकटुकं दुक्खं दस्सेन्तो सब्बाकारेन पच्चक्खकम्मविपाको भगवा आह—

"पस्सथ नो तुम्हे, भिक्खवे, अमुं महन्तं अग्गिक्खन्धं आदित्तं सम्पज्जलितं सजोतिभूतं" ति? "एवं, भन्ते" ति। "तं किं मञ्ञथ, भिक्खवे, कतमं नु खो परं यं अमुं महन्तं अग्गिक्खन्धं आदित्तं सम्पज्जलितं सजोतिभूतं आलिङ्गेत्वा उपनिसीदेय्य वा उपनिपज्जेय्य वा, यं खत्तियकञ्ञं वा ब्राह्मणकञ्ञं वा गहपतिकञ्ञं वा मुदुतलुनहत्थपादं आलिङ्गेत्वा उपनिसीदेय्य वा उपनिपज्जेय्य वा" ति? "एतदेव, भन्ते, वरं यं खत्तियकञ्ञं वा....पे०....उपनिपज्जेय्य वा। दुक्खं हेतं, भन्ते, यं अमुं महन्तं अग्गिक्खन्धं.... पे०....

वस्त्रों की तरह दुर्वर्ण हो जाता है। जो लोग इस दुराचारी का अनुसरण करते हैं वे चिरकाल तक अपाय–दुर्गति–योनियों में दुःख भोगते हुए दुःख के भागी होते हैं। वह जिनका दान ग्रहण करता है उनका वह अपात्र को दान, अल्पफल होने के कारण, लोक में अल्पपूजार्ह ही हो पाता है; अनेक वर्षों से भरते जा रहे मलकूप की तरह उसका शोधन (सफाई) दुष्कर होता है। चिता की जलने से बची लकड़ी के समान वह दोनों ओर (श्रामण्यफल एवं सांसारिक सुख) से निरर्थक हो जाता है; वह भिक्षु होने का दावा करता हुआ भी वस्तुतः अभिक्षु ही है। वह तो ऐसा ही है जैसे गायों के बीच गधा चल रहा हो। वह सबसे वैर रखने के कारण सदैव उद्विग्न रहता है। उसे कोई भी अपने पास बैठा कर उसी तरह प्रसन्न नहीं होता जैसे कोई शव को अपने पास रख कर प्रसन्न नहीं होता। श्रुत आदि गुणों से युक्त होता हुआ भी वह अपने सब्रह्मचारियों में उसी तरह सम्मानास्पद नहीं हो पाता जैसे ब्राह्मणों के लिये श्मशान की अग्नि। वह विशेष (मार्ग–फल) की प्राप्ति में असमर्थ एवं रूपदर्शन की वास्तविकता पहचानने में अन्धे के समान है। सद्धर्म की प्राप्ति में वह उसी तरह असफल या अयोग्य होता है जैसे कोई चाण्डालपुत्र कहीं का राज्य पाने में अयोग्य होता है। वह दुःशील 'मैं सुखी हूँ'–ऐसा मानते हुए भी वस्तुतः दुःखी ही रहता है; क्योंकि वह **अग्निस्कन्धपर्यायसूत्र** (अं० नि० ३–२५१) में कथित दुःखों का भागी रहता है।

४९. भगवान् ने पाँच कामगुणों के परिभोग, वन्दन, मान आदि का सुखों के आस्वाद में लुब्ध चित्तवाले इन दुःशीलों के अनुस्मरणमात्र से हृदय में सन्ताप के उत्पादक, उष्ण रक्त का वमन करा देने में समर्थ एवं अतितीव्र पीड़ादायक दुःखों का प्रत्यक्ष कर्मविपाक यों दिखाया है—

"भिक्षुओ! देख रहे हो इस जलते लपलपाते चमकते अग्निपुञ्ज को?" "हाँ, भन्ते!" "तो क्या मानते हो, भिक्षुओ! इस जलते लपलपाते चमकते महान् अग्निपुञ्ज को आलिङ्गन में लेकर बैठना या लेटना अच्छा है या किसी अति सुकोमल हाथ पैर वाली क्षत्रिय, ब्राह्मण या गृहपति की कन्या को आलिङ्गनबद्ध कर बैठना या लेटना अच्छा है?" "भन्ते! महान् अग्निपुञ्ज को आलिङ्गनबद्ध करने की अपेक्षा तो यही अच्छा होगा कि हम किसी... गृहपति कन्या को आलिङ्गनबद्ध कर बैठे या लेटे रहें;

उपनिपज्जेय्य वा'' ति। ''आरोचयामि वो, भिक्खवे, पटिवेदयामि वो, भिक्खवे, यथा एतदेव तस्स वरं दुस्सीलस्स पापधम्मस्स असुचिसङ्कस्सरसमाचारस्स पटिच्छन्नकम्मन्तस्स अस्समणस्स समणपटिञ्ञस्स अब्रह्मचारिस्स ब्रह्मचारिपटिञ्ञस्स अन्तोपूतिकस्स अवस्सुतस्स कसम्बुजातस्स यं अमुं महन्तं अग्गिक्खन्धं ....पे०....उपनिपज्जेय्य वा। तं किस्स हेतु? ततो निदानं हि सो, भिक्खवे, मरणं वा निगच्छेय्य मरणमत्तं वा दुक्खं, न त्वेव तप्पच्चया कायस्स भेदा परं मरणा अपायं दुग्गतिं विनिपातं निरयं उपपज्जेय्या'' ति (अं० नि० ३-२५१)।

एवं अग्गिक्खन्धूपमाय इत्थिपटिबद्धपञ्चकामगुणपरिभोगपच्चयं दुक्खं दस्सेत्वा एतेनेव उपायेन—

(क) ''तं किं मञ्ञथ, भिक्खवे, कतमं नु खो वरं यं बलवा पुरिसो दळ्हाय वाळरज्जुया उभो जङ्घा वेठेत्वा घंसेय्य, सा छविं छिन्देय्य, छविं छेत्वा चम्मं छिन्देय्य, चम्मं छेत्वा मंसं छिन्देय्य, मसं छेत्वा न्हारुं छिन्देय्य, न्हारुं छेत्वा अट्ठिं छिन्देय्य, अट्ठिं छेत्वा अट्ठिमिञ्जं आहच्च तिट्ठेय्य? यं वा खत्तियमहासालानं वा ब्राह्मणमहासालानं वा गहपतिमहासालानं वा **अभिवादनं** सादियेय्या ति च?

(ख)''तं कि मञ्ञथ, भिक्खवे, कतमं नु खो वरं यं बलवा पुरिसो तिण्हाय सत्तिया तेलधोताय पच्चोरस्मिं पहरेय्य? यं वा खत्तियमहासालानं वा ब्राह्मणमहासालानं वा गहपतिमहासालानं वा **अञ्जलिकम्मं** सादियेय्या ति च?

क्योंकि इस महान् अग्निपुञ्ज को आलिङ्गनबद्ध कर बैठना तो अत्यन्त पीड़ाकर हो जायगा।'' ''भिक्षुओ! मैं तुम से कहता हूँ, तुम्हें बताता हूँ कि उस दुःशील, पापी, अपवित्र मल की राशि के सदृश, सन्दिग्ध प्रच्छन्न कर्मयुक्त, अश्रमण होते हुए भी श्रमणभाव का दावा करने वाले, अब्रह्मचारी होते हुए भी ब्रह्मचारित्व का दावा करने वाले, आभ्यन्तर (मानसिक) अपवित्रता से पूर्ण, मिथ्याश्रुत (अवश्रुत) अर्थात् गुरुमुख से सुने हुए को उलट देने वाले, कूड़े की राशि के सदृश व्यक्ति के लिये तो यही अधिक अच्छा होगा कि वह ऐसा जीवन जीने की अपेक्षा उस अग्निपुञ्ज को आलिङ्गनबद्ध कर बैठे या लेट जाय। वह क्यों? वह इसलिये भिक्षुओ! कि वह अग्निपुञ्ज को आलिङ्गनबद्ध करने के कारण मर सकता है या मरणतुल्य कष्ट पा सकता है; परन्तु इस कारण मरने के बाद उसका पतन, उसकी दुर्गति या उसका किन्हीं नरकयोनियों में जन्म तो नहीं होगा!''

इस प्रकार, इस अग्निपुञ्ज की उपमा द्वारा स्त्रियों से सम्पृक्त पाँच कामगुणों के परिभोग से होने वाले दुःख का वर्णन कर भगवान् ने इससे आगे उसी उपाय (पद्धति) से सात दृष्टान्तों से सप्तविध दुःखों का और भी विस्तृत वर्णन किया है—

(क) ''तो क्या मानते हो, भिक्षुओ! कौन सी बात तुम्हें अच्छी लगती है कि (१) कोई बलवान् पुरुष सुदृढ़, घोड़े की पूँछ के बालों से बनी रस्सी से किसी के दोनों पैरों की दोनों जाँघों को बँधवा कर इतना रगड़े कि वह रस्सी उसकी जाँघों की ऊपरी त्वचा को काट दे, उसे काट कर भीतरी त्वचा को भी काट कर माँस को भी काट डाले, मांस को काट कर स्नायुओं (मोटी नसों) को भी काट डाले, यों वह स्नायुओं को काट कर क्रमशः अस्थि को काटती हुई मज्जा पर जाकर रुके; या (२) यह अच्छा लगता है—कोई क्षत्रिय महासार (जिसके कोष में सौ करोड़ की सम्पत्ति हो—(द्र० अभि० प्प० ३३७-३९), ब्राह्मण महासार या गृहपति महासार तुम्हें अभिवादन करे?''

(ख) ''तो क्या मानते हो, भिक्षुओ! (१) क्या यह अच्छा है कि—कोई बलवान् पुरुष तैल से

(ग) "तं किं मञ्ञथ, भिक्खवे, कतमं नु खो वरं यं बलवा पुरसो तत्तेन **अयोपट्टेन** आदित्तेन सम्पज्जलितेन सजोतिभूतेन कायं सम्पलिवेठेय्य, यं वा खत्तियमहासालानं वा ब्राह्मणमहासालानं वा गहपतिमहासालानं वा सद्धादेय्यं **चीवरं** परिभुञ्जेय्या ति च ?

(घ) "तं किं मञ्ञथ, भिक्खवे, कतमं नु खो वरं यं बलवा पुरिसो तत्तेन अयोसङ्कुना आदित्तेन सम्पज्जलितेन सजोतिभूतेन मुखं विवरित्वा तत्तं **लोहगुळं** आदित्तं सम्पज्जलितं सजोतिभूतं मुखे पक्खिपेय्य, तं तस्स ओट्ठं पि डहेय्य, मुखं पि, जिव्हं पि, कण्ठं पि, उदरं पि डहेय्य, अन्तं पि, अन्तगुणं पि आदाय अधोभागं निक्खमेय्य, यं वा खत्तिय··· ब्राह्मण··· गहपतिमहासालानं वा सद्धादेय्यं **पिण्डपातं** परिभुञ्जेय्या ति च ?

(ङ) "तं किं मञ्ञथ, भिक्खवे, कतमं नु खो वरं यं बलवा पुरिसो सीसे वा गहेत्वा खन्धे वा गहेत्वा तत्तं अयोमञ्चं वा अयोपीठं वा आदित्तं सम्पज्जलितं सजोतिभूतं अभिनिसीदापेय्य वा अभिनिपज्जापेय्य वा, यं वा खत्तिय··· ब्राह्मण··· गहपतिमहासालानं वा सद्धादेय्यं **मञ्चपीठं** परिभुञ्जेय्या ति च ?

(च) "तं किं मञ्ञथ, भिक्खवे, कतमं नु खो वरं यं बलवा पुरिसो उद्धपादं अधोसिरं गहेत्वा तत्ताय **अयोकुम्भिया** पक्खिपेय्य आदित्ताय सम्पज्जलिताय सजोतिभूताय, सो तत्थ फेणुद्देहकं पच्चमानो सकिं पि उद्धं गच्छेय्य, सकिं पि अधो गच्छेय्य, सकिं पि तिरियं गच्छेय्य, यं वा खत्तिय.... ब्राह्मण.... गहपतिमहासालानं वा सद्धादेय्यं **विहारं** परिभुञ्जेय्या ?" (अं० नि० ३-२५२) ति च।

भीगी तीखी छुरी से ठीक छाती पर प्रहार करे या (२) यह अच्छा है कि किसी क्षत्रिय, ब्राह्मण या गृहपति महासार के द्वारा हाथ जोड़कर किये गये प्रणाम को स्वीकार करे?"

(ग) "तो क्या मानते हो, भिक्षुओ! कि (१) क्या यह अच्छा है कि किसी बलवान् पुरुष के द्वारा जलते लपलपाते चमकते लोहे के पत्र द्वारा शरीर को परिवेष्टित करवाया जाय (२) या यह अच्छा है कि किसी क्षत्रिय ब्राह्मण या गृहपति महासार द्वारा प्रदत्त चीवर से वह शरीर ढका जाय?"

(घ) तो क्या मानते हो, भिक्षुओ! कि (१) क्या यह अच्छा है—कोई बलवान् पुरुष तपती, जलती, लपलपाती, चमकती लोहे की सँड़सी से मुँह खोल कर उसमें तपता, जलता, लपलपाता, चमकता लोहे का गोला डाले तब वह उसका ओठ भी, मुख भी, कण्ठ भी, उदर भी जलाये और वह बड़ी आँतों व छोटी आँतों को लेकर नीचे से निकले; या (२) यह अच्छा है कि किसी क्षत्रिय, ब्राह्मण या गृहपति महासार द्वारा श्रद्धाप्रदत्त पिण्डपात का परिभोग किया जाय?"

(ङ) तो क्या मानते हो, भिक्षुओ! इनमें कौन सी बात तुम्हें अच्छी लगती है—(१) क्या कोई बलवान् पुरुष शिर या कन्धा पकड़ कर तपते लपलपाते जलते लोहे की चारपाई या चौकी पर बैठाये; लिटाये? या (२) किसी क्षत्रिय ब्राह्मण या गृहपति महासार द्वारा श्रद्धापूर्वक प्रदत्त चारपाई या चौकी (मञ्चपीठ) का उपभोग करे?"

(च) "तो क्या मानते हो, भिक्षुओ! तुम्हें क्या अच्छा लगता है कि (१) कोई बलवान् पुरुष किसी को ऊपर पैर और नीचा सिर (यों उलटा लटका) कर तपती जलंती, लपलपाती लौह-कुम्भी (लोहे के बड़े कटाह) में डाल दे और वह वहाँ झाग छोड़कर पकते हुए कभी ऊपर, कभी नीचे या कभी तिरछे उलट-पुलट होता रहे? या (२) फिर किसी क्षत्रिय... ब्राह्मण या गृहपति महासार द्वारा निर्मापित विहार का (स्वसाधनाहेतु) उपभोग करे?"

५०. इमाहि वालरज्जु-तिण्हसत्ति-अयोपट्ट-अयोगुळ-अयोमञ्च-अयोपीठ-अयोकुम्भीउपमाहि अभिवादनअञ्जलिकम्मचीवरपिण्डपातमञ्चपीठविहारपरिभोगपच्चयं दुक्खं दस्सेसि।

तस्मा—

अग्गिक्खन्धालिङ्गन- दुक्खादिकदुक्खकटुकफलं।
अविजहतो कामसुखं सुखं कुतो भिन्नसीलस्स॥ १॥
अभिवादनसादने किं नाम सुखं विपन्नसीलस्स!
दळ्हवाळरज्जुघंसन- दुक्खाधिकदुक्खभागिस्स ॥ २॥
सद्धानं अञ्जलिकम्मसादने किं सुखं असीलस्स!
सत्तिप्पहारदुक्खाधिमत्तदुक्खस्स यं हेतु ॥ ३॥
चीवरपरिभोगसुखं किं नाम असंयतस्स येन चिरं!
अनुभवितब्बो निरये जलितअयोपट्टसम्फस्सो ॥ ४॥
मधुरो पि पिण्डपातो हलाहलविसूपमो असीलस्स।
आदित्ता गिलितब्बा अयोगुळा येन चिररत्तं ॥ ५॥
सुखसम्मतो पि दुक्खो असीलिनो मञ्चपीठपरिभोगो।
यं बाधिस्सन्ति चिरं जलितअयोमञ्च-पीठानि ॥ ६॥

---

५०. यों, भगवान् ने इन १. बालों की रस्सी, २. तीक्ष्ण छुरी (शक्ति), ३. तपते चपटे लोहे का पत्र, ४. तपते लोहे का गोला, ५. अग्नि से तपती लोहे की चारपाई या तख्ता, ६. तपते लोहे का कटाह— इन छह उपमाओं से अभिवादन, करबद्ध प्रणाम, चीवर, पिण्डपात, शयनासन (चौकी, चारपाई), विहार के परिभोग की अपेक्षा द्वारा दुःखों का विशद वर्णन किया है।

इसलिये—

जो अग्निपुञ्ज के आलिङ्गन से समुद्भूत दुःख से भी अपेक्षाकृत अधिक कष्टदायक एवं कटु फल देने वाले काम-सुख को नहीं त्यागता, ऐसे खण्डितशील पुद्गल को सुख कहाँ! ॥ १॥

सुदृढ रस्सी के बन्धन-घर्षण से जन्य दुःख से भी अधिक दुःख भोगने वाले विपन्नशील (विनष्ट शील वाले) व्यक्ति को क्षत्रिय ब्राह्मणादि द्वारा कृत अभिवादन में क्या सुख मिल सकता है! ॥२॥

श्रद्धालुओं का साञ्जलि प्रणाम स्वीकार करने में खण्डितशील व्यक्ति को क्या सुख मिलेगा, जब कि उसका खण्डित शील ही उस शक्तिप्रहार से होने वाले दुःख से भी अधिक दुःख का उत्पादक है ! ॥ ३॥

उस शीलरहित असंयमी के लिये चीवरपरिभोग का क्या सुख मिलेगा जब कि उसे, उस असंयम के कारण नरक में जाकर, जलते लौहपत्र का स्पर्श सहन करना पड़ता है! ॥ ४॥

उस शीलरहित के लिये मधुर भिक्षान्न भी हलाहल विष के समान है, जिसके (शीलराहित्य के) कारण उसे दीर्घकाल तक जलता हुआ अयोगोलक (लोहे का गोला) मुख में रखना पड़ता है॥ ५॥

अत्यधिक सुखपरिभोग की उपस्थिति भी उस अशीलवान् के लिये दुःखेन लभ्य ही कही जानी चाहिये, क्योंकि उसे तो अपने किये पापों का फल भोगने के लिये लोहे की बनी चारपाई का उपभोग करना है!॥ ६॥

दुस्सीलस्स विहारे सद्धादेय्यम्हि का निवासरति!
जालतेसु निवसितब्बं येन **अयोकुम्भिमज्झेसु** ॥ ७ ॥
सङ्कस्सरसमाचारो कसम्बुजातो अवस्सुतो पापो।
अन्तोपूती ति च यं निन्दन्तो आह लोकगरु ॥ ८ ॥
धी जीवितं असञ्ञतस्स तस्स समणजनवेसधारिस्स।
अस्समणस्स उपहतं खतमत्तानं वहन्तस्स ॥ ९ ॥
गूथं विय कुणपं विय मण्डनकामा विवज्जयन्तीध।
यं नाम सीलवन्तो सन्तो किं जीवितं तस्स ॥ १० ॥
सब्बभयेहि अमुत्तो मुत्तो सब्बेहि अधिगमसुखेहि।
सुपिहितसग्गद्वारो अपायमग्गं समारूळ्हो ॥ ११ ॥
करुणाय वत्थुभूतो कारुणिकजनस्स नाम को अञ्ञो।
दुस्सीलसमो दुस्सीलताय इति बहुविधा दोसा ति ॥ १२ ॥

एवमादिना पच्चवेक्खणेन सीलविपत्तियं आदीनवदस्सनं, वुत्तप्पकारविपरीततो सीलसम्पत्तिया आनिसंसदस्सनं च वेदितब्बं ॥

५१. अपि च—

तस्स पासादिकं होति पत्तचीवरधारणं।
पब्बज्जा सफला तस्स यस्स सीलं सुनिम्मलं ॥ १ ॥

दु:शील की श्रद्धा से बनवाये विहारों में भी क्या आसक्ति हो पायगी जब कि उसे स्वकृत पापों के फलस्वरूप लोहे के बने कड़ाहों की ही तीव्र तपन सहनी है!।। ७।।

जिस (दु:शील) की निन्दा में लोकगुरु भगवान् ने स्वश्रीमुख से स्वयं कहा है कि वह पापी तो (जनमानस में) सन्दिग्ध जीवन बिताने वाला, कूड़े–कर्कट के समान (त्याज्य), श्रुत के विरुद्ध आचरणकर्ता एवं हृदय से अशुचि (कलुषित) अतएव लोकनिन्दित ही माना जाना चाहिये।। ८।।

उसके जीवन को धिक्कार है; क्योंकि असंयमी होने से वह श्रमण–वेषधारी होकर भी श्रमण भाव से दूर है। वह (अपने दुष्कर्मों से) अपने ही जीवन की जड़ खोद रहा है!।। ९।।

जिसको समाज में अपना यश चाहने वाले शीलवान् जन गूथ (मल) व सड़े मुर्दे की तरह अपने पास भी नहीं फटकने देते, उसे दूर से ही भगा देते हैं, ऐसे दु:शील के जीवन से क्या लाभ!" ।।१०।।

(दु:शील तो) सर्व प्रकार के भय से घिरा हुआ (अमुक्त) तथा सभी मार्ग–फल– प्राप्ति–सुखों से दूर है, वञ्चित है और जिसके लिये स्वर्ग का द्वार सदा के लिये बन्द हो चुका है तथा वह अपाय (नरक–) मार्ग पर जाने के लिये अपने कदम बढ़ा चुका है।। ११।।

(भला बताइये!) करुणावानों की करुणा का पात्र ऐसे दु:शीलों के अतिरिक्त किसे कहा जा सकता है जिसमें दु:शीलता के कारण अनेक प्रकार के दोष घर कर गये हैं! ।। १२।।

इस प्रकार प्रत्यवेक्षण से, शील के क्षय में दोष–दर्शन एवं इसके विपरीत शीलसम्पत्ति के माहात्म्यदर्शन को समझना चाहिये।

५१. (शील–सम्पत्ति के माहात्म्य में) और भी कहा गया है–

जिस भिक्षु का शील स्वच्छ (प्रासादिक=सभी जनों को प्रसन्न करने वाला) है उसका पात्र–चीवर धारण करना एवं प्रव्रज्या (भिक्षुभाव) ग्रहण करना सफल है।। १।।

अत्तानुवादादिभयं सुद्धसीलस्स भिक्खुनो।
अन्धकारं विय रविं हदयं नावगाहति ॥ २ ॥
सीलसम्पत्तिया भिक्खु सोभमानो तपोवने।
पभासम्पत्तिया चन्दो गगने विय सोभति ॥ ३ ॥
कायगन्धो पि पामोज्जं सीलवन्तस्स भिक्खुनो।
करोति अपि देवानं सीलगन्धे कथा व का ॥ ४ ॥
सब्बेसं गन्धजातानं सम्पत्तिं अभिभुय्यति।
अविघाती दिसा सब्बा सीलगन्धो पवायति ॥ ५ ॥
अप्पका पि कता कारा सीलवन्ते महप्फला।
होन्ती ति सीलवा होति पूजासक्कारभाजनं ॥ ६ ॥
सीलवन्तं न बाधन्ति आसवा दिट्ठधम्मिका।
सम्परायिकदुक्खानं मूलं खणति सीलवा ॥ ७ ॥
या मनुस्सेसु सम्पत्ति या च देवेसु सम्पदा।
न सा सम्पन्नसीलस्स इच्छतो होति दुल्लभा ॥ ८ ॥
अच्चन्तसन्ता पन या अयं निब्बानसम्पदा।
मनो सम्पन्नसीलस्स तमेव अनुधावति ॥ ९ ॥
सब्बसम्पत्तिमूलम्हि सीलम्हि इति पण्डितो।
अनेकाकारवोकारं आनिसंसं विभावये ति ॥ १० ॥

शुद्धशील भिक्षु के मन में स्वनिन्दा आदि का भय वैसे ही नहीं रहता जैसे सूर्य के प्रकाश में अन्धकार ॥ २ ॥

स्व-शीलसम्पत्ति के कारण भिक्षु तपोवन में वैसे ही शोभित होता है, जैसे आकाश में अपनी प्रभा-सम्पत्ति से चन्द्रमा शोभित होता है ॥ ३ ॥

शीलवान् भिक्षु के शरीर की सुगन्ध ही देवताओं को आह्लादित कर देती है, फिर उसके शील की गन्ध का तो कहना ही क्या! ॥ ४ ॥

इस शील की गन्ध सभी प्रकार की गन्धों को अभिभूत करती (दबाती) हुई सभी दिशाओं में अबाध रूप से प्रवाहित होती रहती है ॥ ५ ॥

'शीलवान् के प्रति किया गया अल्पमात्र भी उपकार महान् फलदायी होता है'—ऐसा जानकर सज्जनों द्वारा वह पूजा और सम्मान का पात्र बन जाता है ॥ ६ ॥

शीलवान् को लौकिक आस्रव (चित्तविकार) पीड़ित नहीं करते। और वह स्वधर्मसाधना से पारलौकिक दुःखों को तो समूल ही नष्ट कर डालता है ॥ ७ ॥

मनुष्यों या देवताओं के अधीन जो भी सम्पत्ति है वह शीलवान् को, इच्छा करने पर, कुछ भी दुर्लभ नहीं होती ॥ ८ ॥

इतने पर भी, शीलसम्पन्न भिक्षु का मन तो अत्यन्त शान्त निर्वाण पद की ओर ही दौड़ता है ॥ ९ ॥

यों, सर्वसम्पत्तिमूलक इस शील के विषय में पण्डित (बुद्धिमान्) जनों को इसके अनेकविध महात्म्य या गुण के विषय में सम्यक्तया ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये ॥ १० ॥

एवं हि विभावयतो सीलविपत्तितो उब्बिज्जित्वा सीलसम्पत्तिनिन्नं मानसं होति। तस्मा यथावुत्तं इमं सीलविपत्तिया आदीनवं इमं च सीलसम्पत्तिया आनिसंसं दिस्वा सब्बादरेन सीलं वोदापेतब्बं ति॥

५२. एत्तावता च 'सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो' ति इमिस्सा गाथाय सीलसमाधि-पञ्ञामुखेन देसिते विसुद्धिमग्गे सीलं ताव परिदीपितं होति।

इति साधुजनपामोज्जत्थाय कते विसुद्धिमग्गे
सीलनिद्देसो नाम पठमो परिच्छेदो॥



इस प्रकार चिन्तन–मनन (विभावना=) करने वालों का मन शीलविपत्ति की ओर से उदासीन होकर शीलसम्पत्ति की प्राप्ति की तरफ झुका रहता है। अतः यथाकथित शीलविपत्ति के दोष तथा इस शीलसम्पत्ति का माहात्म्य देखकर सर्वथा आदर के साथ स्वकीय शील को परिशुद्ध करना चाहिये॥

५२. यहाँ तक **'सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो'** इस गाथा के सहारे, शील समाधि एवं प्रज्ञा के भेद से उपदिष्ट इस विशुद्धिमार्ग ग्रन्थ में शील का विवरण साङ्गोपाङ्ग (परिदीपित) हुआ।

साधुजनों के प्रमोदहेतु रचित इस विशुद्धिमार्ग (ग्रन्थ) में
शीलनिर्देश नामक प्रथम परिच्छेद समाप्त॥



२. धुतङ्गनिद्देसो

(दुतियो परिच्छेदो)

१. इदानि येहि अप्पिच्छतासन्तुट्ठितादीहि गुणेहि वुत्तप्पकारस्स सीलस्स वोदानं होति, ते गुणे सम्पादेतुं यस्मा समादिन्नसीलेन योगिना धुतङ्गसमादानं कातब्बं। एवं हिस्स अप्पिच्छतासन्तुट्ठितासल्लेखपविवेकापचयविरियारम्भसुभरतादिगुणसलिलविक्खालितमलं सीलं चेव सुपरिसुद्धं भविस्सति, वतानि च सम्पज्जिस्सन्ति। इति अनवज्जसीलब्बतगुण-परिसुद्धसब्बसमाचारो पोराणे अरियवंसत्तये पतिट्ठाय चतुत्थस्स भावनारामतासङ्खातस्स अरियवंसस्स अधिगमारहो भविस्सति, तस्मा धुतङ्गकथं आरभिस्साम।

तेरस धुतङ्गानि

२. भगवता हि परिच्चत्तलोकामिसानं काये च जीविते च अनपेक्खानं अनुलोमपटिपदं येव आराधेतुकामानं कुलपुत्तानं तेरस धुतङ्गानि अनुञ्ञातानि। सेय्यथीदं—१. पंसुकूलिकङ्गं, २. तेचीवरिकङ्गं, ३. पिण्डपातिकङ्गं, ४. सपदानचारिकङ्गं, ५. एकासनिकङ्गं, ६. पत्तपिण्डिकङ्गं, ७. खलुपच्छाभत्तिकङ्गं, ८. आरञ्ञिकङ्गं, ९. रुक्खमूलिकङ्गं, १०. अब्भोकासिकङ्गं, ११. सोसानिकङ्गं, १२. यथासन्थतिकङ्गं, १३. नेसज्जिकङ्गं ति।

तेसं अत्थादितो विनिच्छयो

तत्थ—

अत्थतो लक्खणादीहि समादानविधानतो।

धुताङ्गनिर्देश

(द्वितीय परिच्छेद)

धुताङ्गकथा–प्रयोजन

१. अब मैं धुताङ्ग–कथा का आरम्भ करूँगा; क्योंकि जिन अल्पेच्छुता, सन्तोष आदि गुणों द्वारा प्रथम शीलनिर्देश में उक्त प्रकार के शील की विशुद्धि (=व्यवदान) होती है, उन गुणों की प्राप्ति के लिये शील का पालन करने वाले योगावचर को इन धुताङ्गों का धारण करना अत्यावश्यक है। यों, इस योगावचर के अल्पेच्छुता, सन्तोष, विवेक, क्लेशक्षय, कुशल के लिये उद्योग एवं अल्प आवश्यकताओं (=सुभरता) वाला होना आदि गुणरूपी जल से प्रक्षालित शील भी परिशुद्ध होगा एवं व्रत भी पूर्ण होंगे। इस तरह जब उस योगी का आचरण, अभिनन्दनीय शीलव्रतरूपी गुणो द्वारा शुद्ध हो जायगा, तब वह प्राचीन योगियों द्वारा परिपालित आर्यवंशत्रय (१. चीवर, २. पिण्डपात एवं ३. शयनासन से सन्तोष) में प्रतिष्ठित होकर चतुर्थ 'भावनारामता' नामक आर्यवंश की प्राप्ति के योग्य होगा। अतः योगावचर भिक्षु को इन सब धुताङ्गों का ज्ञान कराने के लिये यहाँ धुताङ्गवर्णन आवश्यक है।

तेरह धुताङ्गों का नाम

२. भगवान् ने लाभ–सत्कार आदि लौकिक भोग (लोक–आमिष) के त्यागी, शरीर और जीवन के प्रति निरपेक्ष (बेपरवाह) एवं अनुलोम प्रतिपदा (=विपश्यना) को ही पूर्ण करने के इच्छुक कुलपुत्रों के हितार्थ तेरह (१३) धुताङ्गों का विधान किया है। वे तेरह धुताङ्ग ये हैं–

१. पांशुकूलिकाङ्ग, २. त्रैचीवरिकाङ्ग, ३. पिण्डपातिकाङ्ग, ४. सापदानचारिकाङ्ग, ५. ऐकासनिकाङ्ग, ६. पात्रपिण्डिकाङ्ग, ७. खलुपश्चाद्भक्तिकाङ्ग, ८. आरण्यिकाङ्ग, ९. वृक्षमूलिकाङ्ग, १०. आभ्यवकाशिकाङ्ग, ११. श्माशानिकाङ्ग, १२. याथासंस्थितिकाङ्ग एवं १३. नैषद्यिकाङ्ग।

पभेदतो भेदतो च तस्स तस्सानिसंसतो॥ १॥
कुसलत्तिकतो चेव धुतादीनं विभागतो।
समासब्यासतो चापि विञ्ञातब्बो विनिच्छयो॥ २॥

३. तत्थ **अत्थतो** ति ताव—पथिक-सुसान-संकारकूटादीनं यत्थ कत्थचि पंसूनं उपरि ठितत्ता अब्भुग्गतट्ठेन तेसु तेसु पंसुकूलमिवा ति पंसुकूलं। अथ वा पंसु विय कुच्छितभावं उलती ति पंसुकूलं, कुच्छितभावं गच्छती ति वुत्तं होति। एवं लद्धनिब्बचनस्स पंसुकूलस्स धारणं पंसुकूलं, तं सीलमस्सा ति **पंसुकूलिको**। पंसुकूलिकस्स अङ्गं **पंसुकूलिकङ्गं**। अङ्गं ति कारणं वुच्चति। तस्मा येन समादानेन सो पंसुकूलिको होति, तस्सेतं अधिवचनं ते वेदितब्बं। (१)

एतेनेव नयेन सङ्घाटि-उत्तरासङ्ग-अन्तरवासकसङ्खातं तिचीवरं सीलमस्सा ति **तेचीवरिको**। तेचीवरिकस्स अङ्गं **तेचीवरिकङ्गं**। (२)

भिक्खासङ्खातानं पन आमिसपिण्डानं पातो ति पिण्डपातो, परेहि दिन्नानं पिण्डानं पत्ते निपतनं ति वुत्तं होति। तं पिण्डपातं उञ्छति तं तं कुलं उपसङ्कमन्तो गवेसती ति **पिण्डपातिको**। पिण्डाय वा पतितुं वतमेतस्सा ति पिण्डपाती। पतितुं ति चरितुं। पिण्डपाती एव पिण्डपातिको। पिण्डपातिकस्स अङ्गं **पिण्डपातिकङ्गं**। (३)

दानं वुच्चति अवखण्डनं, अपेतं दानतो ति अपदानं, अनवखण्डनं ति अत्थो। सह

धुताङ्गों का अर्थ आदि से विनिश्चय

इन धुताङ्गों का— १. अर्थ, २. लक्षण आदि, ३. ग्रहण (सम्पादन) करने के विधान, ४. उनके प्रभेद, ५. भेद (=भङ्ग), उस उसके माहात्म्यबोधन, ६. कुशलत्रिक के माध्यम, ७. धुत-आदि के विभाग एवं ८. संक्षेप या विस्तार से भी विनिश्चय(=निर्णय) जानना चाहिये।।

३. उनमें, **अर्थ से विनिश्चय** इस प्रकार है— (क) पथ, श्मशान, कूड़े के ढेर, जहाँ-कहीं धूल में पड़ा हुआ, उनके बीच धूल (=पांशु) के किनारे (=कूल) के समान, ऊपर उठा उठा सा—इन अर्थों में 'पांशुकूल' है। अथवा (ख) पांशु के समान कुत्सित भाव को प्राप्त, या कुत्सित भाव की ओर जाता है—इसलिये भी 'पांशुकूल' है। ऐसे निर्वचन (=अभिप्राय) वाले पांशुकूल को धारण करना ही 'पांशुकूल' कहलाता है। वह (पांशुकूल) इस भिक्षु का शील है, अतः वह भिक्षु '**पांशुकूलिक**' कहलाता है। इस पांशुकूल को धारण करने से वह 'पांशुकूलिक' बनता है उसी में यह शब्द अभिप्रेत है— ऐसा जानना चाहिये। (१)

इस प्रकार १. सङ्घाटी, २. उत्तरासङ्ग एवं ३. अन्तर्वासक नामक तीन चीवर धारण करने का भी एक शील होता है, इस शील को धारण करने वाला भिक्षु **त्रैचीवरिक** कहलाता है। इस त्रैचीवरिक का अङ्ग (कारण) हुआ— **त्रैचीवरिकाङ्ग** (तेचीवरिकङ्ग)। (२)

(क) 'भिक्षा' नामक अन्न के पिण्डों का गिरना (=पात) 'पिण्डपात' अर्थात् दूसरों के दिये हुए अन्नपिण्डों का पात्र में गिरना कहलाता है। जो भिक्षु उस पिण्डपात को यहाँ-वहाँ से, इधर-उधर से एकत्र करता है, इस-उस परिवार में जाकर उसे खोजता है अतः वह **पिण्डपातिक** है। (ख) अथवा—पिण्ड के लिये पतन करना जिसका व्रत है वह 'पिण्डपातिक' है। यहाँ 'पतन' का अर्थ है—चरना (=विचरण करना)। ऐसा पिण्डपात करने वाला ही 'पिण्डपातिक' कहलाता है। इस पिण्डपातिक का अङ्ग कहलाया—**पिण्डपातिकाङ्ग** (पिण्डपातिकङ्ग)। (३)

अपदानेन सपदानं, अवखण्डनरहितं, अनुघरं ति वुत्तं होति। सपदानं चरितुं इदमस्स सीलं ति सपदानचारी, सपदानचारी एव **सपदानचारिको**। तस्स अङ्गं **सपदानचारिकङ्गं**। (४)

एकासने भोजनं एकासनं, तं सीलमस्सा ति **एकासनिको**। तस्स अङ्गं **एकासनिकङ्गं**। (५)

दुतियभाजनस्स पटिक्खित्तत्ता केवलं एकस्मिं येव पत्ते पिण्डो पत्तपिण्डो। इदानि पत्तपिण्डगहणे पत्तपिण्डसञ्ञं कत्वा पत्तपिण्डो सीलमस्सा ति **पत्तपिण्डको**। तस्स अङ्गं **पत्तपिण्डकङ्गं**। (६)

'खलू' ति पटिसेधनत्थे निपातो। पवारितेन सता पच्छा लद्धं भत्तं पच्छाभत्तं नाम, तस्स पच्छाभत्तस्स भोजनं पच्छाभत्तभोजनं, तस्मिं पच्छाभत्तभोजने पच्छाभत्तसञ्ञं कत्वा पच्छाभत्तं सीलमस्सा ति **पच्छाभत्तिको**। न पच्छाभत्तिको **खलुपच्छभत्तिको**। समादानवसेन पटिक्खित्तातिरित्तभोजनस्सेतं नामं।

अट्ठकथायं पन वुत्तं—'**खलू**' ति एको सकुणो, सो मुखेन फलं गहेत्वा तस्मिं प-तिते पुन अञ्ञं न खादति,तादिसो अयं ति खलुपच्छाभत्तिको। तस्स अङ्गं **खलुपच्छाभत्तिकङ्गं**। (७)

अरञ्ञे निवासो सीलमस्सा ति **आरञ्ञिको**। तस्स अङ्गं **आरञ्ञिकङ्गं**। (८)

'दान' का अर्थ है—अपने से पृथक् करना (अवखण्डन), या काटना। दान से रहित होना=अपदान, अर्थात् अनवखण्डन (=अन्तर-रहितता)। अपदानसहित हुआ—सापदान; अर्थात् अवखण्डनरहित। यों (भिक्षाहेतु) प्रत्येक घर सापदान विचरण करना जिस भिक्षु का शील हो वह **सापदानचारिक** कहलाता है और उसका अङ्ग कहलाया— **सापदानचारिकाङ्ग** (सपदानचारिकङ्ग)। (४)

एक आसन पर रहते हुए भोजन कर्म को 'एकासन' कहते हैं। वह एक आसन का भोजन जिस भिक्षु का शील है, वह भिक्षु **ऐकासनिक** (एकासनिक) कहलाता है। उसका अङ्ग हुआ **ऐकासनिकाङ्ग** (एकासनिकङ्ग)। (५)

द्वितीय पात्र के परित्याग से, केवल एक ही पात्र में पड़ा हुआ पिण्ड (ग्रास-दो ग्रास भोजन) 'पात्रपिण्ड' कहलाता है। अब पात्रपिण्ड-ग्रहण को पात्रपिण्ड नाम देकर, पात्रपिण्ड है शील जिसका वह हुआ पात्रपिण्डिक। उसका अङ्ग (व्रत) **पात्रपिण्डिकाङ्ग** (पत्तपिण्डकङ्ग) कहा जाता है। (६)

'खलु' इस निपात पद का अर्थ है—प्रतिषेध। (भोजनकर्ता द्वारा) निषेध कर देने के बाद मिले भात=भक्त (अर्थात् भोज्य पदार्थ) को 'पच्छाभत्त' कहते हैं। उस पच्छाभत्त के भोजन को 'पच्छाभत्त' नाम देकर, क्योंकि पच्छाभत्त उस भिक्षु का शील है, इसलिये वह भिक्षु '**पच्छाभत्तिक**' कहलाया। एक बार भोजन-ग्रहण के पश्चात् अतिरिक्त (दुबारा) भोजन को अस्वीकार कर देने वाले साधक का यह (पच्छाभत्तिक शब्द) पर्याय है।

किन्तु **अट्ठकथा** में लिखा है—'खलु' एक पक्षी का नाम है। वह मुख में फल लेकर, उसके गिर जाने के बाद, पुनः दूसरा (फल) नहीं खाता; उसी के समान यह पच्छाभत्तिक भिक्षु है। उसके अङ्ग को ही **खलुपच्छाभत्तिकङ्ग** (खलुपश्चाद्भक्तिकाङ्ग) कहलाते हैं।। (७)

अरण्य (जङ्गल) के एकान्त प्रदेश में रहना ही जिसका स्वभाव बन गया हो वह **आरण्यक** (आरञ्ञिक) कहलाता है। उसका अङ्ग हुआ——**आरञ्ञिकङ्ग** (आरण्यकाङ्ग)। (८)

रुक्खमूले निवासो रुक्खमूलं, तं सीलमस्सा ति **रुक्खमूलिको**। रुक्खमूलिकस्स अङ्गं **रुक्खमूलिकङ्गं**। (९)

अब्भोकासिक-सोसानिकङ्गेसु पि एसेव नयो। (१०-११)

यदेव सन्थतं यथासन्थतं, 'इदं तुय्हं पापुणाती' ति एवं पठमं उद्दिट्ठसेनासनस्सेतं अधिवचनं। तस्मिं यथासन्थते विहरितुं सीलमस्सा ति **यथासन्थतिको**। तस्स अङ्गं **यथासन्थतिकङ्गं**। (१२)

सयन पटिक्खिपित्वा निसज्जाय विहरितुं सीलमस्सा ति **नेसज्जिको**। तस्स अङ्गं **नेसज्जिकङ्गं**। (१३)

४. सब्बानेव पनेतानि तेन तेन समादानेन धुतकिलेसत्ता धुतस्स भिक्खुनो अङ्गानि, किलेसधुननतो वा धुतं ति लद्धवोहारं ञाणं अङ्गमेतेसं ति **धुतङ्गानि**। अथ वा धुतानि च तानि पटिपक्खनिद्धुननतो अङ्गानि च पटिपत्तिया ति पि **धुतङ्गानि**।

एवं तावेत्थ अत्थतो विञ्ञातब्बो विनिच्छयो॥

५. सब्बानेव पनेतानि समादानचेतनालक्खणानि। वुत्तं पि चेतं—"यो समादियति, सो पुग्गलो। येन समादियति, चित्तचेतसिका एते धम्मा। या समादानचेतना, तं धुतङ्गं। यं

वृक्षमूल में निवास को ही संक्षेप में (उत्तरपदलोपी समास कर) 'वृक्षमूल' (रुक्खमूल) कहते है। वृक्षमूल जिसका शील हो वह 'वृक्षमूलिक' कहलाता है। और उस वृक्षमूलिक का अङ्ग हुआ **वृक्षमूलिकाङ्ग** (रुक्खमूलिकङ्ग)। (९)

आभ्यवकाशिकाङ्ग (अब्भोकासिकङ्ग) एवं **श्माशानिकाङ्ग** शब्दों के व्याख्यान मे भी यही विधि अपनायी जानी चाहिये। अर्थात् खुले आकाश के नीचे ही (कभी भी किसी वृक्षमूल के नीचे या गुहा व विहार आदि मे) रहने वाले साधक के व्रत को **आभ्यवकाशिकाङ्ग** कहते है। (१०)

इसी तरह श्मशान (मुर्दा जलाने के स्थान) में ही रहने वाले साधक के व्रत को **श्माशानिकाङ्ग** (सोसानिकङ्ग) कहते हैं। (११)

जो भी पहली बार बिछा दिया गया हो या जैसा बिछा दिया गया हो, वह हुआ **यथाश्रन्थत** (यथासन्थत)। 'यह आप के लिये है'— इस प्रकार प्रथम उद्देश्य कर दिये गये शयनासन का यह यथासस्थित शब्द पर्याय है। उस यथासस्थित पर बैठना ही जिसका व्रत हो—वह **याथासंस्थितिकाङ्ग** कहलाता है (यथासन्थितिकङ्ग)। (१२)

शयन का परित्याग कर, बैठे ही बैठे सब क्रियाएँ करना जिसका व्रत हो वह कहलाता है— **नैषधिक**। उसका व्रत हुआ— **नैषधिकाङ्ग** (नेसज्जिकङ्ग)।। (१३)

४ ये सभी (उपर्युक्त) व्रत (क) इनको धारण करने के फलस्वरूप क्लेशो को नष्ट (धुत) कर देने वाले परिशुद्ध (धुत) भिक्षु के अङ्ग है—इसलिये, (ख) या क्लेशो को नष्ट कर देने के कारण 'धुत' कहा जाने वाला ज्ञान इनका अङ्ग है—इसलिये, (ग) अथवा वे धुत है, क्योकि वे विपक्ष (क्लेशादि प्रतिपक्ष) को **धुन** डालते है, एव (घ) वे अङ्ग है, क्योकि वे मार्ग है—इसलिये वे सभी **धुताङ्ग** कहलाते है।

यो, यहाँ उन सभी का अर्थों से विनिश्चय जानना चाहिये।।

५ **ग्रहण** (समादान) करने की चेतना इन सभी का **लक्षण** है। (अट्ठकथा मे) यह कहा भी गया है— "जो ग्रहण करता है वह 'पुद्गल' है। जिससे ग्रहण करता है वे 'चित्तचैतसिक धर्म' है। जो ग्रहण की गयी चेतना है वह 'धुताङ्ग' है। जिसे त्यागता है वह 'वस्तु' है"।

पटिक्खिपति, तं वत्थू'' ति। सब्बानेव च लोलुप्पविद्धंसनरसानि, निल्लोलुप्पभाव-पच्चुपट्ठानानि, अप्पिच्छतादिअरियधम्मपदट्ठानानि।

एवमेत्थ लक्खणादीहि वेदितब्बो विनिच्छयो॥

समासव्यासतो वण्णना

६. **समादानविधानतो** ति आदीसु पन पञ्चसु सब्बानेव धुतङ्गानि, धरमाने भगवति भगवतो व सन्तिके समादातब्बानि। परिनिब्बुते, महासावकस्स सन्तिके। तस्मिं असति खीणासवस्स, अनागामिस्स, सकदागामिस्स, सोतापन्नस्स, तिपिटकस्स, द्विपिटकस्स, एकपिटकस्स, एकसङ्गीतिकस्स, अट्ठकथाचरियस्स। तस्मिं असति धुतङ्गधरस्स, तस्मिं पि असति चेतियङ्गणं सम्मज्जित्वा उक्कुटिकं निसीदित्वा सम्मासम्बुद्धस्स सन्तिके वदन्तेन विय समादातब्बानि। अपि च सयं पि समादातुं वट्टति एव।

एत्थ च चेतियपब्बते द्वे भातिकत्थेरानं जेट्ठकभातु धुतङ्गप्पिच्छताय वत्थु कथेतब्बं।

अयं ताव साधारणकथा॥

इदानि एकेकस्स समादान-विधान-प्पभेद-भेदानिसंसे वण्णयिस्साम—

१. पंसुकूलिकङ्गकथा

७. (क) पंसुकूलिकङ्गं ताव ''गहपतिदानचीवरं पटिक्खिपामि'', ''पंसुकूलिङ्गं समादियामी'' ति इमेसु द्वीसु वचनेसु अञ्ञतरेन समादिन्नं होति। इदं तावेत्थ **समादानं**।

इन सभी का **रस**—लोलुपता (लोभ, वासना) का नाश है।

प्रत्युपस्थान— लोलुपता से रहित होना है।

पदस्थान— अल्पेच्छता आदि आर्य (श्रेष्ठ धर्म) इनके पदस्थान हैं।

यों, यहाँ लक्षणादि से विनिश्चय जानना चाहिये।।

६. **समादानविधानतो**— ऊपर गाथा में कहे 'ग्रहण करने का विधान' आदि (१. समादान, २. विधान, ३. **प्रभेद**, ४. भेद एवं ५. उस–उस का माहात्म्य) पाँचों में सभी धुताङ्ग भगवान् के जीवन–काल में, साक्षात् भगवान् से ही ग्रहण करने चाहिये। (उनके) परिनिर्वृत हो जाने पर महाश्रवक (भगवान् के प्रमुख शिष्य) से, उनके भी न होने पर, (क्रमशः) क्षीणास्रव, अनागामी, सकृदागामी, स्रोतआपन्न, त्रिपिटकधर, द्विपिटकधर, एकपिटकधर एकसङ्गीतिक (जिसे पाँच निकायो में से कोई एक निकाय कण्ठस्थ हो), अट्ठकथाचार्य (जिसे अट्ठकथा कण्ठस्थ हो) से ग्रहण करना चाहिये। उनके न होने पर धुताङ्गधारी से, उसके भी न होने पर किसी चैत्य का आँगन स्वच्छ कर, घुटनों के बल बैठकर, मानो भगवान् तथागत के सामने ही उपवेशन कर रहा हो, ग्रहण करना चाहिये। यों स्वयं भी ग्रहण किया जा सकता है। यहाँ चैत्यपर्वतवासी दो स्थविर–भ्राताओं में ज्येष्ठ स्थविर भ्राता की अल्पेच्छता–कथा[1] कहनी चाहिये।

---

१. एक स्थविर नैषधिकव्रतधारी थे, किन्तु यह बात कोई नहीं जानता था। एक दिन वे रात्रि में शयनहेतु बिछी चौकी पर बैठे हुए थे। तभी बिजली की चमक के सहारे उन्हें देखकर दूसरे भिक्षु ने पूछा—''क्या, भन्ते! आप नैषधिक हैं?'' स्थविर ने धुताङ्ग के प्रति अल्पेच्छता के कारण उसी क्षण लेटकर, कुछ समय बाद, पुनः धुताङ्ग धारण किया।—टीका।

(इस कथा का तात्पर्य **यह है** कि धुताङ्ग को, जहाँ तक बने पड़े, साधक द्वारा गोपनीय रखना चाहिये। इनका पालन करते हुए भी, इनका *व्यर्थ* जन–प्रचार न होने दें।—अनु० ।)

(ख) एवं समादिन्नधुतङ्गेन पन तेन सोसानिकं, पापणिकं, रथियचोळं, सङ्कारचोळं, सोत्थियं, न्हानचोळं, तित्थचोळं, गतपच्चागतं, अग्गिदड्ढं, गोखायितं, उपचिकाखायितं, उन्दुरखायितं, अन्तच्छिन्नं, दसाच्छिन्नं, धजाहटं, थूपचीवरं, समणचीवरं, आभिसेकिकं, इद्धिमयं, पन्थिकं, वाताहटं, देवदत्तियं, सामुद्दियं ति एतेसु, अञ्ञतरं चीवरं गहेत्वा फालेत्वा दुब्बलट्ठानं पहाय थिरट्ठानानि धोवित्वा चीवरं कत्वा पोराणं गहपतिचीवरं अपनेत्वा परिभुञ्जितब्बं।

तत्थ **सोसानिकं** ति सुसाने पतितकं। **पापणिकं** ति। आपणद्वारे पतितकं। **रथियचोळं** ति। पुञ्ञत्थिकेहि वातपानन्तरेन रथिकाय छड्डितं चोळकं। **सङ्कारचोळं** ति। सङ्कारट्ठाने छड्डितचोळकं। **सोत्थियं** ति। गब्भमलं पुञ्छित्वा छड्डितवत्थं। तिस्सामच्चमाता किर सतग्घनकेन वत्थेन गब्भमलं पुञ्छापेत्वा "पंसुकूलिका गणिहस्सन्ती" ति तालवेळिमग्गे छड्डापेसि। भिक्खू जिण्णकट्ठानत्थमेव गण्हन्ति। **न्हानचोळं** ति। यं भूतवेज्जेहि ससीसं न्हापिता कालकण्णिचोळं ति छड्डेत्वा गच्छन्ति। **तित्थचोळं** ति। न्हानतित्थे छड्डितपिलोतिका। **गतपच्चागतं** ति। यं मनुस्सा सुसानं गत्वा पच्चागता न्हत्वा छड्डेन्ति। **अग्गिदड्ढं** ति। अग्गिना दड्ढप्पदेसं। तं हि मनुस्सा छड्डेन्ति। **गोखायितादीनि** पाकटानेव। तादिसानि पि हि

यह उपर्युक्त सभी धुताङ्गों का संक्षिप्त व्याख्यान (समास–कथा) है। अब आगे क्रमशः एक–एक के ग्रहण, विधान, प्रभेद, भेद एवं माहात्म्य का वर्णन करेंगे।

१. पांशुकूलिकाङ्ग

७. **समादान**– (क) (इन धुताङ्गों में प्रथम) **पांसुकूलिकाङ्ग** इन दो वचनों (प्रतिज्ञाओं) में से किसी एक (वचन) द्वारा ग्रहण किया जाता है– १. 'गृहपतियों द्वारा किये गये चीवर का परित्याग करता हूँ' या २. 'पांसुकूलिक व्रत धारण करता हूँ'। यह वचन ग्रहण करना **समादान** है।

(ख) इस तरह जिसने धुताङ्ग ग्रहण किया है उसे श्माशानिक, आपणिक, रथिकचोल, सङ्कारचोल, स्वस्तिवस्त्र, स्नानवस्त्र, तीर्थवस्त्र, गतप्रत्यागत, अग्निदग्ध, गोखादित, उपचिकाखादित, उन्दुरकखादित, अन्तश्छिन्न, दशाछिन्न, ध्वजाहृत, स्तूपचीवर, श्रमणचीवर, आभिषेकिक, ऋद्धिमय, पान्थिक, वाताहृत, देवप्रदत्त, सामुद्रिक–इनमें से किसी भी एक वस्त्र को लेकर (इसका जीर्ण भाग) फाड़कर, पृथक् कर और मजबूत (काम में आने योग्य) भाग को साफकर, चीवर बनाकर, पुराने गृहपति द्वारा प्रदत्त चीवर को उतार कर (इस चीवर का) परिभोग करना चाहिये।

(अब आचार्य इन उपर्युक्त शब्दों की पदशः व्याख्या कर रहे हैं–)

वहाँ **श्माशानिक** का अर्थ है–श्मशान में पड़ा हुआ। **आपणिक**=दूकान के सामने नीचे सड़क पर फेंका हुआ। **रथिकचोल**=पुण्यार्थियों द्वारा खिड़की के रास्ते (मार्ग) पर फेंका हुआ। **सङ्कारचोल**=घूरे पर फेंका हुआ। **स्वस्तिवस्त्र**=(प्रसव के पश्चात्) गर्भ–मल को पोंछकर फेंका हुआ। तिष्य अमात्य की माता ने सौ कार्षापण के मूल्य वाले वस्त्र (=मूल्यवान् वस्त्र) से गर्भ–मल को पोंछवा कर, "पांशुकूलिक भिक्षु ग्रहण कर लेंगे" (–इस उद्देश्य से) तालवेणि (=महाग्राम=लंका की राजधानी, एवं अनुराधपुर में एक मार्ग का नाम)–मार्ग पर फेंकवा दिया। भिक्षुओं ने (उसे चीवरों के) फटे स्थानों की मरम्मत करने के लिये ले लिया। **स्नानवस्त्र** =ओझाओं (=भूत–वैद्यों) के द्वारा स्नान करवाये गये लोग जिस वस्त्र को "यह अभागा वस्त्र है"– ऐसा सोच छोड़कर चले जाते हैं। **तीर्थवस्त्र**=(घाट आदि) नहाने के स्थानों पर छोड़ दिये गये जीर्ण वस्त्र। **गतप्रत्यागत**=जिसे लोग श्मशान से वापस आकर स्नान करने के बाद छोड़ देते है। **अग्निदग्ध**=जिसके कुछ भाग अग्नि से जल गये हों, उसे लोग

मनुस्सा छड्डेन्ति। **धजाहटं** ति। नावं आरोहन्ता धजं बन्धित्वा ठपितं, तं द्विन्नं पि सेनानं गतकाले गहेतुं वट्टति। **थूपचीवरं** ति। वम्मिकं परिक्खिपित्वा बलिकम्मं कतं। **समणचीवरं** ति। भिक्खुसन्तकं। **आभिसेकिकं** ति। रञ्ञो अभिसेकट्ठाने छड्डितचीवरं। **इद्धिमयं** ति। एहिभिक्खुचीवरं। **पन्थिकं** ति। अन्तरामग्गे पतितकं। यं पन सामिकानं सतिसम्मोसेन पतितं, तं थोकं रक्खित्वा गहेतब्बं। **वाताहटं** ति। वातेन पहरित्वा दूरे पातितं। तं पन सामिके अपस्सन्तेन गहेतुं वट्टति। **देवदत्तियं** ति। यं अनुरुद्धत्थेरस्स विय देवताहि दिन्नकं। **सामुद्दियं** ति। समुद्दवीचीहि थले उस्सारितं।

८. यं पन 'सङ्घस्स देमा' ति दिन्नं चोळकभिक्खाय वा चरमानेहि लद्धं, न तं पंसुकूलं। भिक्खुदत्तिये पि यं वस्सग्गेन गाहेत्वा वा दीयति, सेनासनचीवरं वा होति, न तं पंसुकूलं। नो गाहापेत्वा दिन्नमेव पंसुकूलं। तत्रापि यं दायकेहि भिक्खुस्स पादमूले निक्खित्तं, तेन पन भिक्खुना पंसुकूलिकस्स हत्थे ठपेत्वा दिन्नं, तं **एकतोसुद्धिकं** नाम। यं भिक्खुनो हत्थे ठपेत्वा दिन्नं, तेन पन पादमूले ठपितं, तं पि एकतोसुद्धिकं। यं भिक्खुनो पि पादमूले ठपितं, तेनापि तथेव दिन्नं, तं **उभतोसुद्धिकं**। यं हत्थे ठपेत्वा लद्धं, हत्थेयेव ठपितं, तं **अनुक्कट्ठचीवरं** नाम। इति इमं पंसुकूलभेदं ञत्वा पंसुकूलिकेन चीवरं परिभुञ्जितब्बं ति इदमेत्थ **विधानं**।

छोड़ देते हैं। **ध्वजाहृत**=नाव पर सवार होने वाले ध्वज (=झंडा) बाँधकर सवार होते हैं, उसे उनके आँखों से ओझल हो जाने के बाद ग्रहण रहता है, उसे भी दोनों (पक्षों की) सेनाओं के चले जाने के बाद लिया जा सकता है। **स्तूपचीवर**=चैत्य को घेर कर बलिकर्म (हवन) के पास चढ़ाया हुआ। **श्रमण-चीवर** =भिक्षु से प्राप्त चीवर। **आभिषेकिक**=राजा के अभिषेक-स्थल पर छोड़ दिया गया वस्त्र। **ऋद्धिमय**='आओ भिक्षु'-चीवर[1]। **पान्थिक**=यात्रियों द्वारा यात्रा के बीच रास्ते में गिराया हुआ। किन्तु जो (उसके) स्वामी की असावधानी से गिर गया हो, उसे कुछ रुक कर लेना चाहिये। (यह सोचकर रुकना चाहिये कि सम्भवत: जिसका वस्त्र हो वह पुन: आकर ले जाय)। **वाताहृत**=हवा के द्वारा उड़कर दूर जाकर गिरा हुआ। उसे भी (उसके) स्वामी के न दिखायी देने पर लिया जा सकता है। **देवदत्त**=जो अनुरुद्ध स्थविर (को दिये गये) के समान, देवताओं द्वारा दिया गया हो। **सामुद्रिक**-समुद्र की लहरों द्वारा किनारे पर लगाया गया। (१)

८. **विधान**- किन्तु जो 'सङ्घ के लिये दे रहे हैं' इस प्रकार (कहकर) दिया गया है, या जो वस्त्र माँगते हुए चारिका करने से मिला है, वह 'पांशुकूल' नहीं है। भिक्षु द्वारा दिये गये में से भी, जो वर्षावास के अन्त में भिक्षु के द्वारा गृहस्थ से लेकर पांशुकूलिक को दिया जाता है, या जो शयनासन-चीवर (शयनासन=चौकी बनवाकर 'इस शयनासन का परिभोग करने वाले भिक्षु का शयनासन चीवर का भी उपभोग करें'-यह कहकर दिया गया चीवर) है, वह पांशुकूल नहीं है। ग्रहण न करके दिया गया चीवर ही पांशुकूल है। उसमें भी, जो दाता द्वारा भिक्षु के चरणों पर रख दिया गया है और फिर उसे भिक्षु द्वारा पांशुकूलिक के हाथ पर रख दिया गया है, वह एक ओर से शुद्ध है। जो (गृहस्थ द्वारा) भिक्षु के हाथ में रखकर दिया गया हो एवं उसके द्वारा पांशुकूलिक के चरणों पर रख दिया गया हो, वह भी एक ओर से शुद्ध है।

---

१. कभी-कभी जब भगवान् किसी प्रव्रज्येच्छु को 'आओ भिक्षु' कहकर प्रव्रज्या के लिये आमन्त्रित करते थे, तब इस शिष्य के पूर्वकृत पुण्यों के प्रभाव से उसके शरीर पर वस्त्र (=काषाय वस्त्र) आ जाते थे। भगवान् के ऋद्धिबल से इसके प्रकट होने के कारण इसे 'ऋद्धिमय' कहा गया है। (द्र०-विनय०, महावग्ग, ख० १)।

९. अयं पन **पभेदो**—तयो पंसुकीलिका, उक्कट्ठो मज्झिमो मुदू ति। तत्थ सोसानिकं येव गण्हन्तो **उक्कट्ठो** होति। 'पब्बजिता गण्हिस्सन्ती' ति ठपितकं गण्हन्तो **मज्झिमो**। पादमूले ठपेत्वा दिन्नकं गण्हन्तो **मुदू** ति।

१०. तेसु यस्स कस्सचि अत्तनो रुचिया गिहिदिन्नकं सादितक्खणे धुतङ्गं भिज्जति। अयमेत्थ **भेदो**।

११. अयं पना**निसंसो**—"पंसुकूलचीवरं निस्साय पब्बज्जा" (वि० ३-१००) ति वचनतो निस्सयानुरूपपटिपत्तिसब्भावो, पठमे अरियवंसे पतिट्ठानं, आरक्खदुक्खाभावो, अपरायत्तवुत्तिता, चोरभयेन अभयता, परिभोगतण्हाय अभावो, समणसारुप्पपरिक्खारता, "अप्पानि चेव सुलभानि च तानि च अनवज्जानी" (अं० नि० २-२९) ति भगवता संवण्णित-पच्चयता, पासादिकता, अप्पिच्छतादीनं फलनिप्फत्ति, सम्मापटिपत्तिया अनुब्रूहनं, पच्छिमाय जनताय दिट्ठानुगतिआपादनं ति।

मारसेनाविघाताय पंसुकूलधरो यति।
सन्नद्धकवचो युद्धे खत्तियो विय सोभति॥
पहाय कासिकादीनि वरवत्थानि धारितं।
यं लोकगरुना, को तं पंसुकूलं न धारये॥

जो भिक्षु के चरणों पर भी दिया गया है और उसके द्वारा उसी प्रकार दिया भी गया है वह दोनों ओर से शुद्ध है। जो हाथ पर रख कर दिया गया है और फिर हाथ पर ही रखा गया है, वह निम्न कोटि का (अनुत्कृष्ट) चीवर है। इस प्रकार पांशुकूलिक को पांशुकूल चीवर का यह भेद जानकर चीवर का परिभोग करना चाहिये—यही **विधान** है। (२)

९. **प्रभेद**— इस पांशुकूलिक के तीन प्रकार (प्रभेद) होते हैं—उत्कृष्ट, मध्यम एवं निम्न (=मृदु)। उनमें केवल श्मशानिक (वस्त्र) को ही ग्रहण करने वाला **उत्कृष्ट** होता है। 'प्रव्रजित (भिक्षु) ले लेंगे'—इस प्रकार सोचकर इस रखे गये को ग्रहण करने वाला **मध्यम** होता है। चरण पर रखकर दिये गये को ग्रहण करने वाला **निम्न** (मृदु) होता है। (३)

१०. **भेद**— गृहस्थ द्वारा दिये गये इनमें से किसी भी चीवर को अपनी रुचि से ग्रहण करने के क्षण में ही धुताङ्ग खण्डित हो जाता है। यही धुताङ्ग का **भेद** (=भङ्ग, नाश) कहलाता है।

११. **माहात्म्य** यह है— "पांशुकूल चीवर के आधार पर प्रव्रज्या है" इस देशना-वचन के अनुसार पांशुकूल का माहात्म्य इस प्रकार है— निःश्रय (१. भिक्षाटन, २. पांशुकूल चीवर, ३. वृक्षमूल के नीचे शयन एवं ४. रुग्णावस्था में गोमूत्रदिग्ध हर्रे) के अनुरूप प्रतिपत्ति का होना प्रथम आर्यवंश में (चीवर से सन्तोष का) प्रतिष्ठान, (अधिक वस्त्र होने पर उनकी) रक्षा करने के दुःख का अभाव, परिभोग-तृष्णा (अधिक होने पर 'किस किस को पहनूँ'—इस तृष्णा) का अभाव, श्रमण के अनुरूप परिष्कार (पहनावा) होना, "वे वस्त्र अल्प हैं किन्तु सुलभ और निर्दोष है"—इस प्रकार भगवान् द्वारा प्रशंसित होने के कारण प्रसन्नता, अल्पेच्छता (लोभराहित्य) आदि गुणों की पूर्णता, सम्यक् प्रतिपत्ति (ज्ञान) की वृद्धि, आगामी परम्परा (पीढ़ी) के लिये आदर्श होना।

आचार्य अब तीन गाथाओ के माध्यम से इन्ही धुताङ्गो का माहात्म्य (आनृशस्य) बता रहे है—

मार की सेना के नाश के लिये पांशुकूलधारी यति (भिक्षु) युद्ध में कवच धारण किये हुए, सन्नद्ध योद्धा के समान शोभित होता है।।

काशी के बने मूल्यवान् वस्त्र आदि को त्याग कर (स्वयं) लोकगुरु (भगवान्-बुद्ध) ने जिसे धारण किया, उस पांशुकूल को भला कौन धारण नहीं करेगा!।।

तस्मा हि अत्तनो भिक्खु पटिञ्ञं समनुस्सरं।
योगाचारानुकूलम्हि पंसुकूले रतो सिया॥ ति॥

अयं ताव पंसुकूलिङ्गे समादानविधानप्पभेदभेदानिसंसवण्णना॥

२. तेचीवरिकङ्गकथा

१२. तदनन्तरं पन **तेचीवरिकङ्गं** "चतुत्थकचीवरं पटिक्खिपामि", "तेचीवरिकङ्गं समादियामी" ति इमेसं अञ्ञतरवचनेन समादिन्नं होति।

१३. तेन पन तेचीवरिकेन चीवरदुस्सं लभित्वा याव अफासुकभावेन कातुं वा न सक्कोति, विचारकं वा न लभति, सूचिआदीसु वास्स किञ्चि न सम्पज्जति, ताव निक्खिपितब्बं। निक्खित्तपच्चया दोसो नत्थि। रजितकालतो पन पट्ठाय निक्खिपितुं न वट्टति, धुतङ्गचोरो नाम होति। इदमस्स **विधानं**।

१४. **पभेदतो** पन अयं पि तिविधो होति। तत्थ **उक्कट्ठेन** रजनकाले पठमं अन्तरवासकं वा उत्तरासङ्गं वा रजित्वा तं निवासेत्वा इतरं रजितब्बं। तं पारुपित्वा सङ्घाटि रजितब्बा। सङ्घाटिं पन निवासेतुं न वट्टति। इदमस्स गामन्तसेनासनं वत्तं। आरञ्ञके पन द्वे एकतो धोवित्वा रजितुं वट्टति। यथा पन किञ्चि दिस्वा सक्कोति कासावं आकड्ढित्वा उपरि कातुं, एवं आसन्ने ठाने निसीदितब्बं। **मज्झिमस्स** पन रजनसालायं रजनकासावं नाम होति, तं निवासेत्वा वा पारुपित्वा वा रजनकम्मं कातुं वट्टति। **मुदुकस्स** सभागभिक्खूनं चीवरानि निवासेत्वा वा पारुपित्वा वा रजनकम्मं कातुं वट्टति। तत्रट्ठकपच्चत्थरणं पि तस्स वट्टति, परिहरितुं पन न वट्टति। सभागभिक्खूनं चीवरम्पि अन्तरन्तरा परिभुञ्जितुं वट्टति।

इसलिये भिक्षु अपनी उपसम्पदा के समय 'हाँ, भन्ते!' कहकर की गयी प्रतिज्ञा का स्मरण करते हुए योगियों के आचार के अनुकूल पांशुकूल में रत रहे॥

इस प्रकार यह पांशुकूलिक के विषय में ग्रहण, विधान, प्रभेद, भेद एवं माहात्म्य का वर्णन समाप्त हुआ॥

२. त्रैचीवरिकाङ्ग

१२. तत्पश्चात् द्वितीय त्रैचीवरिकाङ्ग (नामक धुताङ्ग) 'चतुर्थ चीवर का परित्याग करता हूँ' या २. 'त्रैचीवरिकाङ्ग ग्रहण करता हूँ''— इनमें से किसी एक वचन के द्वारा **ग्रहण** किया जाता है।

१३. वह त्रैचीवरिक भिक्षु यदि चीवर के लिये कपड़ा पा जाय तो उसे तब तक रख सकता है, जब तक कि अस्वस्थता के कारण चीवर बनाने में असमर्थ हो, विचारक (सहायक भिक्षु या श्रामणेर) न मिले, या चीवर बनाने के साधन सुई आदि में से कुछ न मिले। इस प्रकार कपड़े को कुछ समय रख छोड़ने में भी दोष नहीं है। किन्तु कपड़ा रङ्ग जाने के बाद नहीं रखा जा सकता। रखने वाला 'धुताङ्गचौर' कहा जाता है। यह इसका **विधान** है।

१४. **प्रभेद** से यह भी तीन प्रकार का होता है। १. (क) उनमें जो उत्कृष्ट है उसे रँगते समय पहले अन्तर्वासक को या उत्तरासङ्ग को रंग कर, उसे पहन कर फिर दूसरे को रंगना चाहिये। उसे ओढकर सङ्घाटी रंगनी चाहिये। किन्तु सङ्घाटी को पहनना नहीं चाहिये। यह ग्राम के पास वाले शयनासन के लिये कहा गया है। (ख) (शयनासन) में दो को एक साथ धोकर रङ्गा जा सकता है। किन्तु (ऐसी स्थिति में) उसे (वस्त्रों के) समीप ही बैठना चाहिये, ताकि यदि कोई दिखायी पड़ जाय तो काषाय को खींचकर अपने ऊपर डाला जा सके। २. **मध्यम** के लिये (विधान है कि) रङ्गने के

धुतङ्गतेचीवरिकस्स पन चतुत्थं वत्तमानं अंसकासावमेव वट्टति। तं च खो वित्थारतो विदत्थि, दीघतो तिहत्थमेव वट्टति।

१५. इमेसं पन तिण्णं पि चतुत्थकचीवरं सादितक्खणे येव धुतङ्गं भिज्जति। अयमेत्थ भेदो।

१६. अयं पनानिसंसो—तेचीवरिको भिक्खु सन्तुट्ठो होति कायपरिहारिकेन चीवरेन, तेनस्स पक्खिनो विय समादायेव गमनं, अप्पसमारम्भता, वत्थसन्निधिपरिवज्जनं, सल्लहुकवुत्तिता, अतिरेकचीवरलोलुप्पप्पहानं कप्पिये मत्तकारिताय सल्लेखवुत्तिता, अप्पिच्छतादीनं फलनिप्फत्ती ति एवमादयो गुणा सम्पज्जन्ती ति।

अतिरेकवत्थतण्हं पहाय सन्निधिविवज्जितो धीरो।
सन्तोससुखरसञ्ञू तिचीवरधरो भवति योगी॥
तस्मा सपत्तचरणो पक्खी व सचीवरो व योगिवरो।
सुखमनुविचरितुकामो चीवरनियमे रतिं कयिरा॥ ति॥

अयं तेचीवरिकङ्गे समादानविधानप्पभेदभेदानिसंसवण्णना॥

३. पिण्डपातिकङ्गकथा

१७. पिण्डपातिकङ्गं पि "अतिरेकलाभं पटिक्खिपामि", "पिण्डपातिकङ्गं समादियामी" ति इमेसं अञ्ञतरवचनेन समादिन्नं होति।

स्थान में (एक) रङ्गने का काषाय (=वस्त्रों को रङ्गते समय पहनने के लिये रखा गया काषाय) होता है, उसे पहन या ओढ़कर रङ्गाई का कार्य किया जा सकता है ३. निम्न के लिये विधान है कि वह सब्रह्मचारी भिक्षुओं का चीवर पहन या ओढ़कर रंगाई का काम कर सकता है। वहाँ विस्तर पर पड़ा हुआ चादर भी उसके लिये विहित है, किन्तु उसे लेकर चल देना विहित नहीं है। साथी भिक्षुओं का चीवर भी समय का अन्तर रखते हुए प्रयुक्त करना चाहिये।

धुताङ्गधारी भिक्षु के लिये चौथे वस्त्र के रूप में केवल कन्धे पर धारण किया जाने वाला काषाय ही विहित है। उसे भी चौड़ाई में एक बालिश्त (विदत्थि) और लम्बाई में तीन हाथ का (मफलर की तरह) होना चाहिये।

१५. इन तीनों का धुताङ्ग भी चौथे चीवर को धारण करते ही भङ्ग हो जाता है। यह भेद है।

१६. इस त्रैचीवरिकाङ्ग का माहात्म्य यह है—त्रैचीवरिक भिक्षु शरीर की शीत आदि से रक्षा करने वाले चीवर मात्र से सन्तुष्ट होता है, इसलिये इस धुताङ्ग के पालन से उसमें—अपने पङ्खों के साथ पक्षी की तरह चीवर को साथ लेकर जाना, कम वस्तुओं को रखने वाला होना, अधिक वस्त्रों के साथ रखने की प्रवृत्ति का त्याग, भार–रहितता, अतिरिक्त चीवर के प्रति लोलुपता (राग या लोभ) का न होना, विहित में (भी) मात्रा का ध्यान रखने से उपेक्षावृत्ति, अल्पेच्छता आदि गुणों की प्राप्ति—आदि गुण पूर्णता प्राप्त करते हैं।

तीन चीवर धारण करने वाला योगी अतिरिक्त वस्त्र की तृष्णा (वासना) को त्यागकर, संग्रह से रहित हो, सन्तोष–सुख के रस को जानने वाला होता है।।

इसलिये अपने पङ्खों के साथ विचरण करने वाले पक्षी के समान शरीर पर पहने–ओढ़े चीवर के ही साथ सुखपूर्वक विचरण करने का इच्छुक वह योगी चीवर के नियमपालन के आग्रह में आनन्द का अनुभव करे।।

यह त्रैचीवरिकाङ्ग (के विषय) में ग्रहण, विधान, प्रभेद, भेद एवं माहात्म्य का वर्णन है।।

१८. तेन पन पिण्डपातिकेन सङ्घभत्तं, उद्देसभत्तं, निमन्तनभत्तं, सलाकभत्तं, पक्खिकं, उपोसथिकं, पाटिपदिकं, आगन्तुकभत्तं, गमिकभत्तं, गिलानभत्तं, गिलानुपट्ठाकभत्तं, विहारभत्तं, धुरभत्तं, वारभत्तं ति एतानि चुद्दस भत्तानि न सादितब्बानि। सचे पन "सङ्घभत्तं गण्हथा" ति आदिना नयेन अवत्वा "अम्हाकं गेहे सङ्घो भिक्खं गण्हाति, तुम्हे पि भिक्खं गण्हथा" ति वत्वा दिन्नानि होन्ति, तानि सादितुं वट्टन्ति। सङ्घतो निरामिससलाका पि विहारे पक्कभत्तं पि वट्टति येवा ति। इदमस्स **विधानं**।

१९. **पभेदतो** पन अयं पि तिविधो होति। तत्थ **उक्कट्ठो** पुरतो पि पच्छतो पि आहटभिक्खं गण्हति, बहिद्वारे ठत्वा पत्तं गण्हन्तानं पि देति, पटिक्कमनं आहरित्वा दिन्नभिक्खं पि गण्हाति, तं दिवसं पन निसीदित्वा भिक्खं न गण्हाति। **मज्झिमो** तं दिवसं निसीदित्वा पि गण्हाति, स्वातनाय पन नाधिवासेति। **मुदुको** स्वातनाय पि पुनदिवसाय पि भिक्खं अधिवासेति। ते उभो पि सेरिविहारसुखं न लभन्ति, उक्कट्ठो व लभति। एकस्मिं किर गामे अरियवंसो होति, उक्कट्ठो इतरे आह—"आयामावुसो, धम्मसवनाया" ति। तेसु एको 'एकेनम्हि, भन्ते, मनुस्सेन निसीदापितो' ति आह। अपरो 'मया, भन्ते, स्वातनाय एकस्स

---

३. पिण्डपातिकाङ्ग

१७. तृतीय पिण्डपातिकाङ्ग भी १. "अतिरिक्त लाभ को त्यागता हूँ", या २. "पिण्डपातिकाङ्ग का ग्रहण करता हूँ"—इनमें से किसी एक देशनावचन द्वारा **ग्रहण** किया जाता है।

१८. उस पिण्डपातिक को १. सङ्घ-भोजन (समष्टि भण्डारा), २. कुछ भिक्षुओं के उद्देश्य से दिया गया भोजन, ३. निमन्त्रण-भोजन (=निमन्त्रित कर दिया गया भोजन), ४. शलाका-भोजन (=निश्चित सङ्ख्या में शलाकाएँ सङ्घ में भेजकर उतने ही भिक्षुओं को निमन्त्रित करके दिया गया भोजन), ५. पाक्षिक (पखवारे का) भोजन, ६. उपोसथ का भोजन, ७. प्रतिपदा का भोजन, ८. आगन्तुक भोजन (=आगन्तुकों के लिये दिया गया भोजन), ९. पथिकों के लिये, १०. रोगी के लिये, ११. रोगी के परिचारक के लिये, १२. विहार में, १३. किसी प्रधान घर में, १४. ग्रामवासियों के द्वारा वार (=रवि, सोम आदि विशेष वार) के अनुसार दिया जाने वाला भोजन—यह चौदह (१४) प्रकार का भोजन नहीं ग्रहण करना चाहिये। किन्तु यदि "सङ्घ-भोजन ग्रहण कीजिये" आदि प्रकार से न कहकर "मेरे घर सङ्घ भोजन ग्रहण करता है, आप भी भिक्षा ग्रहण करें"—आदि प्रकार से कह कर दिया गया हो तो उन (भोजनों) को ग्रहण करना विहित है। सङ्घ द्वारा निरामिष शलाका (औषध आदि के लिये दी गयी शलाका) एवं विहार में पकाया गया भात भी विहित है। वह इसका **विधान है**।

१९. **प्रभेद** की दृष्टि से यह भी तीन प्रकार का होता है। इनमें, १. **उत्तम** व्रती सामने से या पीछे से भी लाई गयी भिक्षा को ग्रहण करता है, दरवाजे के बाहर खड़े रहकर पात्र ग्रहण करने वाले को भी भिक्षा के लिये पात्र देता है, आसनशाला में लाकर दी गयी भिक्षा भी ग्रहण करता है; किन्तु उस दिन प्रतीक्षा में बैठे रहकर भिक्षा नहीं ग्रहण करता। और २. **मध्यम** व्रती उस दिन बैठकर भी ग्रहण करता है, किन्तु अगे दिन के लिये नहीं स्वीकार करता। ३. **निम्न** (मृदुक) व्रती अगले दिन के लिये एवं उससे भी एक दिन आगे के लिये भिक्षा स्वीकार करता है। इन दोनों को ही स्वच्छन्द विहार का सुख नहीं मिल पाता, उत्कृष्ट व्रती ही उसे प्राप्त करता है।

एक ग्राम में 'आर्यवंश' (इस सूत्र का उपदेश) हो रहा था। उत्कृष्ट ने दूसरों से कहा—"आओ, आयुष्मानो! धर्मश्रवण करने के लिये चलें"। उनमें से एक ने कहा—"भन्ते, एक व्यक्ति के द्वारा मैं भिक्षा के लिये बैठाया गया हूँ।" दूसरे ने कहा—मैंने कल के लिये एक व्यक्ति की भिक्षा

भिक्खा अधिवासिता' ति। एवं ते उभो परिहीना। इतरो पातो व पिण्डाय चरित्वा गन्त्वा धम्मरसं पटिसंवेदेसि।

२०. इमेसं पन तिण्णं पि सङ्घभत्तादिअतिरेकलाभं सादितक्खणे व धुतङ्गं भिज्जति। अयमेत्थ **भेदो**।

२१. अयं पन**निसंसो**—"पिण्डियालोपभोजनं निस्साय पब्बज्जा" (वि०३-५५)ति वचनतो निस्सयानुरूपपटिपत्तिसब्भावो, दुतिये अरियवंसे पतिट्ठानं, अपरायत्तवुत्तिता, "अप्पानि चेव सुलभानि च तानि च अनवज्जानी" (अं० २-२९) ति भगवता संवण्णितपच्चयता, कोसज्जनिम्मद्दनता, परिसुद्धाजीवता, सेखियपटिपत्तिपूरणं, अपरपोसिता, परानुग्गहकिरिया, मानप्पहानं, रसतण्हानिवारणं, गणभोजन-परम्परभोजन-चारित्त-सिक्खापदेहि अनापत्तिता, अप्पिच्छतादीनं अनुलोमवुत्तिता, सम्मापटिपत्तिब्रूहनं, पच्छिमजनतानुकम्पनं ति।

पिण्डियालोपसन्तुट्ठो अपरायत्तजीविको।
पहीनाहारलोलुप्पो होति चातुद्दिसो यति॥
विनोदयति कोसज्जं आजीवस्स विसुज्झति।
तस्मा हि नातिमञ्ञेय्य भिक्खाचरियाय सुमेधसो॥

एवरूपस्स हि—

"पिण्डपातिकस्स भिक्खुनो अत्तभरस्स अनञ्ञपोसिनो।

स्वीकार की है।" इस प्रकार वे दोनों धर्मश्रवण से वञ्चित रह गये। परन्तु दूसरे (=उत्कृष्ट) ने कुछ प्रातः ही भिक्षाटन के लिये जाकर (बाद में) धर्मरस का आस्वादन किया।

२०. इन तीनों का ही धुताङ्ग सङ्घ-भोजन आदि अतिरिक्त लाभ का ग्रहण करते ही भङ्ग हो जाता है। ये **भेद** है।

२१. इस धुताङ्ग का **माहात्म्य** यह है—"पिण्ड पिण्ड करके मिले हुए ग्रास के भोजन पर प्रव्रज्या आधृत है" इस देशना-वचन के अनुसार माहात्म्य इस प्रकार है— निश्रय के अनुरूप प्रतिपत्ति का होना, दूसरे आर्यवंश (पिण्डपात्र में सन्तोष) में प्रतिष्ठित होना, दूसरे के प्रति निर्भरता का अभाव, "वे अल्प तो हैं, परन्तु सुलभ भी हैं एवं निर्दोष भी"— इस प्रकार भगवान् द्वारा प्रशसित होने के कारण, आलस्य का नाश, परिशुद्ध आजीविका का होना, शैक्ष्य प्रतिपत्ति की पूर्ति, किसी दूसरे के पालन-पोषण का उत्तरदायित्व वहन न करना, दूसरों पर अनुग्रह करना, मान का नाश, रस-तृष्णा (वासना) का निवारण, गण-भोजन, परम्परा-भोजन, चारित्र (विषयक) शिक्षापदों के उल्लंघन से होने वाली आपत्ति का न होना, अल्पेच्छता आदि के समनुरूप होना, सम्यक् प्रतिपत्ति की वृद्धि, आगामी परम्परा (पीढ़ी) पर अनुकम्पा।

पिण्ड पिण्ड ग्रास से सन्तुष्ट, स्वतन्त्र जीविका वाला, आहारविषयक लोलुपता (लोभ) से रहित यति (भिक्षु) चारों दिशाओं में निर्भय (बेखटक) होकर जाने वाला होता है।

(भिक्षाटन) आलस्य को दूर करता है, आजीविका की परिशुद्धि करता है। इसलिये मेधावी भिक्षु भिक्षाटन की अवहेलना कभी न करे।।

इस प्रकार के—

"दूसरें का भरण-पोषण न करने वाले, मन, वचन, कर्म तीनों में समानक्रिय पिण्डपातिक

देवापि पिहयन्ति तादिनो नो चे लाभसिलोकनिस्सितो"॥ ति॥

(खु० नि० १-९८)

अयं पिण्डपातिकङ्गे समादानविधानप्पभेदभेदानिसंसवण्णना॥

४. सपदानचारिकङ्गकथा

२२. **सपदानचारिकङ्गं** पि "लोलुप्पचारं पटिक्खिपामि", "सपदानचारिकङ्गं समादियामि" ति इमेसं अञ्ञतरवचनेन समादिन्नं होति।

२३. तेन पन सपदानचरिके गामद्वारे ठत्वा परिस्सयाभावो सल्लक्खेतब्बो। यस्सा घरद्वारे वा रच्छाय वा गामे वा किञ्चि न लभति, अगामसञ्ञं कत्वा गन्तब्बं। यत्थ किञ्चि लभति, तं पहाय गन्तुं न वट्टति। इमिना च भिक्खुना कालतरं पविसितब्बं, एवं हि अफासुकट्ठानं पहाय अञ्ञत्थ गन्तुं सक्खिस्सति। सचे पनस्स विहारे दानं देन्ता, अन्तरामग्गे वा आगच्छन्ता मनुस्सा पत्तं गहेत्वा पिण्डपातं देन्ति, वट्टति। इमिना च मग्गं गच्छन्तेनापि भिक्खाचारवेलायं सम्पत्तगामं अनतिक्कमित्वा चरितब्बमेव। तत्थ अलभित्वा वा थोकं लभित्वा वा गामपटिपाटिया चरितब्बं इदमस्स **विधानं**।

२४. **पभेदतो** पन अयं पि तिविधो होति। तत्थ **उक्कट्ठो** पुरतो आहटभिक्खं पि पच्छतो आहटभिक्खं पि पटिक्कमनं आहरित्वा दिय्यमानं पि न गण्हाति, पत्तद्वारे पन पत्तं विस्सज्जेति। इमस्मिं हि धुतङ्गे महाकस्सपत्थेरेन सदिसो नाम नत्थि। तस्स पि

भिक्षु के आचरण से देवता भी स्पृहा (ईर्ष्या) करते हैं, यदि वह अपने लाभ और प्रशंसा की ओर झुकने वाला न हो॥"

यह पिण्डपातिकाङ्ग के विषय में ग्रहण, विधान, प्रभेद, भेद एवं माहात्म्य का वर्णन है॥

४. सापदानचारिकाङ्ग

२२. चतुर्थ सापदानचारिकाङ्ग भी १. "लोलुप स्वभाव को त्यागता हूँ", या २. "सापदानचारिकाङ्ग का ग्रहण करता हूँ"—इनमें से किसी एक देशना—वचन द्वारा **ग्रहण** किया जाता है।

२३. उस सापदानचारिक को ग्राम के द्वार पर खड़े होकर विघ्न—बाधा (=परिश्रय; उद्धत साँड कुत्ते आदि या वेश्या शराबी आदि के उपद्रव) के न होने का विचार कर लेना चाहिये। जिस गली या गाँव में विघ्न—बाधा होती है, उसे छोड़कर अन्यत्र चारिका करना उचित है। जिस घर, गली या ग्राम में कुछ भी नहीं मिलता, उसे ग्राम न मानते हुए आगे बढ़ जाना चाहिये। हाँ, जहाँ कुछ मिलता हो, उसे छोड़कर (आगे) जाना उचित नहीं है। भिक्षु को समय रहते ही ग्राम में प्रवेश करना चाहिये। यों, वह असुविधाजनक स्थान छोड़कर दूसरी जगह भी जा सकेगा। यदि इस (भिक्षु) को विहार में दान देते हुए, या बीच रास्ते में आते हुए मनुष्य इसका पात्र लेकर पिण्डपात दे देते हैं, तो वह विहित है। इसे मार्ग में जाते हुए भी, भिक्षाटन के समय जो ग्राम मार्ग में पड़ जाय उसका अतिक्रमण न करते हुए चारिका करनी चाहिये। वहाँ कुछ भी न पाकर या अल्प सा पाकर ग्राम—परिपाटी (=ग्रामों में अन्तर डाले विना भिक्षाटन की परिपाटी) के अनुसार चारिका करनी चाहिये। यह इसका **विधान है**।

२४. **प्रभेद** से यह भी त्रिविध होता है। इनमें १. **उत्कृष्ट** व्रती सामने से आयी या पीछे से आयी या आसनशाला में लाकर दी गयी भिक्षा भी नहीं ग्रहण करता, किन्तु प्राप्त द्वार पर भिक्षा के लिये पात्र देता है। इस धुताङ्ग के पालकों में महाकाश्यप स्थविर के समान दूसरा कोई नहीं हुआ। २.

पत्तविस्सट्ठट्ठानमेव पञ्ञायति। **मज्झिमो** पुरतो वा पच्छतो वा आहटं पि पटिक्कमनं आहटं पि गण्हाति, पत्तद्वारे पि पत्तं विस्सज्जेति, न पन भिक्खं आगमयमानो निसीदति। एवं सो उक्कट्ठपिण्डपातिकस्स अनुलोमेति। **मुदुको** तं दिवसं निसीदित्वा आगमेति।

२५. इमेसं पन तिण्णं पि लोलुप्पचारे उप्पन्नसत्ते धुतङ्गं भिज्जति। अयमेत्थ **भेदो**।

२६. अयं पना**निसंसो**—कुलेसु निच्चनवकता, चन्दूपमता, कुलमच्छेरप्पहानं, समानुकम्पिता, कुलूपकादीनवाभावो, अव्हानानभिनन्दना, अभिहारेन अनत्थिकता, अप्पिच्छतादीनं अनुलोमवुत्तिता ति।

चन्दूपमो निच्चनवो कुलेसु अमच्छरी सब्बसमानुकम्पो।
कुलूपकादीनवविप्पमुत्तो होतीध भिक्खु सपदानचारो॥
लोलुप्पचारं च पहाय तस्मा ओक्खित्तचक्खु युगमत्तदस्सी।
आकङ्खमानो भुवि सेरिचारं चरेय्य धीरो सपदानचारं॥ ति॥

इयं सपदानचारिकङ्गे समादानविधानप्पभेदभेदानिसंसवण्णना॥

५. एकासनिकङ्गकथा

२७. **एकासनिकङ्गं** पि "नानासनभोजनं पटिक्खिपामि", "एकासनिकङ्गं समादियामी" ति इमेसं अञ्ञतरवचनेन समादिन्नं होति।

२८. तेन पन एकासनिकेन आसनसालायं निसीदन्तेन थेरासने अनिसीदित्वा 'इदं मय्हं पापुणिस्सती' ति पटिरूपं आसनं सल्लक्खेत्वा निसीदितब्बं। सचस्स विप्पकते भोजने

मध्यम व्रती सामने या पीछे से और आसन-शाला में लायी गयी (भिक्षा) भी ग्रहण करता है, प्राप्त द्वार पर पात्र भी दे देता है, किन्तु भिक्षा की प्रतीक्षा में बैठा नहीं रहता। इस प्रकार वह उत्कृष्ट पिण्डपातिक के समान ही होता है। ३. परन्तु **निम्न** व्रती उस दिन बैठकर प्रतीक्षा करता है।

२५. इन तीनों का भी धुताङ्ग, लोलुपता के उत्पन्न होते ही, भङ्ग हो जाता है। यह **भेद** है।

२६. इस धुताङ्ग का माहात्म्य यह है—कुलों में नित्य नया बना रहना, चन्द्रमा के समान होना, कुल-मात्सर्य (परिवार के प्रति मोह) का प्रहाण, सब पर मान अनुकम्पा रखना, कुलोपग के दोषों से रहित होना, बुलाये जाने का अभिनन्दन न करना, 'कोई भिक्षा लाकर दे'—ऐसी इच्छा न करना, अल्पेच्छता आदि के समनुरूप होना।

सापदानचारी भिक्षु चन्द्रमा के समान कुलों के लिये नित्य नया दिखायी देने वाला, मात्सर्य न करने वाला, सब पर समान अनुकम्पा रखने वाला एवं कुलोपग आदि के दोषों से मुक्त होता है।।

इसलिये लोलुपता को छोड़, आँखे नीची किये हुए, चार हाथ की दूरी तक ही देखने वाला, धीर भिक्षु पृथ्वी पर यथारुचि विचरण करने की इच्छा करता हुआ सापदानचारी बने।।

यह सापदानचारिकाङ्ग के विषय में ग्रहण, विधान, प्रभेद, भेद और माहात्म्य का वर्णन है ।।

५. ऐकासनिकाङ्ग

२७. पञ्चम ऐकासनिकाङ्ग व्रत भी— १. "अनेक आसनों पर भोजन का त्याग करता हूँ", २. "ऐकासनिकाङ्ग का ग्रहण करता हूँ", —इनमें से किसी एक देशना-वचन से **ग्रहण** किया जाता है।

२८. ऐकासनिकाङ्गव्रती भिक्षु को आसनशाला में बैठते समय स्थविर के आसन पर न बैठकर "यह मेरे लिये उपयुक्त है"— ऐसा विचारते हुए उपयुक्त आसन देखकर बैठना चाहिये। यदि

आचरियो वा उपज्झायो वा आगच्छति, उट्ठाय वत्तं कातुं वट्टति। तिपिटकचूळाभयत्थेरो पनाह—"आसनं वा रक्खेय्य भोजनं वा, अयं च विप्पकतभोजनो, तस्मा वत्तं करोतु, भोजनं पन मा भुञ्जतू" ति। इदमस्स **विधानं**।

२९. **पभेदतो** पन अयं पि तिविधो होति। तत्थ **उक्कट्ठो** अप्पं वा होतु बहु वा, यम्हि भोजने हत्थं ओतारेति, ततो अञ्ञं गण्हितुं न लभति। सचे पि मनुस्सा "थेरेन न किञ्चि भुत्तं" ति सप्पिआदीनि आहरन्ति, भेसज्जत्थमेव वट्टन्ति, न आहारत्थं। **मज्झिमो** याव पत्ते भत्तं न खीयति, ताव अञ्ञं गण्हितुं लभति। अयं हि भोजनपरियन्तिको नाम होति। **मुदुको** याव वासना न वुट्ठाति, ताव भुञ्जितुं लभति। सो हि उदकपरियन्तिको वा होति याव पत्तधोवनं न गण्हाति ताव भुञ्जनतो, आसनपरियन्तिको वा याव न वुट्ठाति ताव भुञ्जनतो।

३०. इमेसं पन तिण्णं पि नानासनभोजनं भुत्तक्खणे धुतङ्गं भिज्जति। अयमेत्थ **भेदो**।

३१. अयं पना**निसंसो**—अप्पाबाधता, अप्पातङ्कता, लहुट्ठानं, बलं, फासुविहारो, अनतिरित्तपच्चया अनापत्ति, रसतण्हाविनोदनं, अप्पिच्छतादीनं अनुलोमवुत्तिता ति।

एकासनभोजने रतं न यतिं भोजनपच्चया रुजा।
विसहन्ति, रसे अलोलुपो परिहापेति, न कम्ममत्तनो॥

भोजन समाप्त होने के पहले ही आचार्य या उपाध्याय आ जाँय तो उठकर (प्रणामादि) करणीय (कार्य को) करना चाहिये। किन्तु त्रिपिटक चूडाभय स्थविर ने कहा है— "या तो आसन पर बैठा रहकर भोजन समाप्त कर ले, या फिर (यदि भोजन छोड़कर करणीय करता है तो) भोजन दुबारा न करे। यह भोजन समाप्त नहीं कर सका, अतः करणीय करना हो तो करे, किन्तु फिर से भोजन न करे।" यह इसका **विधान** है।

२९. **प्रभेद** की दृष्टि से यह भी तीन प्रकार का होता है। इनमें, १. **उत्कृष्ट** व्रती जिस भोजन में हाथ लगा देता है, वह थोड़ा हो या बहुत, उसके अतिरिक्त नहीं ले सकता। यदि लोग 'स्थविर ने कुछ भी नहीं खाया' यह सोच घृत-आदि ले आवें तो उसे सोचना चाहिये कि वे घृतादि द्रव्य भैषज्य के लिये ही विहित हैं, आहार के लिये नहीं। २. **मध्यम** साधक जब तक पात्र में भोजन समाप्त नहीं होता, तब तक ले सकता है। ऐसे साधक को 'भोजनपर्यन्तक' कहा जाता है। ३. **निम्न** व्रती जब तक आसन से उठता नहीं, तब भोजन कर सकता है। वह जब तक पात्र को धो नहीं देता, तब तक भोजन करने से 'उदकपर्यन्तक' कहा जाता है, या जब तक आसन से नहीं उठता तब तक भोजन करने से 'आसनपर्यन्तक' कहलाता है।

३०. इन तीनों का धुताङ्ग भी, अनेक आसन से (कई बार) भोजन करते ही, भङ्ग हो जाता है। यह **भेद** है।

३१. इस व्रत का **माहात्म्य** यह है— (शरीर में वायुविकार आदि के कारण होने वाले) कष्ट का अल्प होना, रोग आदि का अल्प त्रास होना, हलकापन, बल, सुखपूर्वक विहार, अतिरिक्त (भोजन) के कारण होने वाली आपत्ति का न होना, रस-तृष्णा पर नियन्त्रण, अल्पेच्छता आदि के समनुरूप होना।

एकासन पर भोजनरत भिक्षु को भोजन के कारण (उत्पन्न होने वाले) रोग नहीं सताते। और वह रसास्वादन के विषय में लोभरहित हो अपने कार्य की हानि नहीं करता॥

इति फासुविहारकारणे सुचिसल्लेखरतूपसेविते।
जनयेथ विसुद्धमानसो रतिमेकासनभोजने यती॥ ति॥

अयं एकासनिकङ्गे समादानविधानप्पभेदभेदानिसंसवण्णना॥

६. पत्तपिण्डिकङ्गकथा

३२. **पत्तपिण्डिकङ्गं** पि "दुतियभाजनं पटिक्खिपामि", "पत्तपिण्डिकङ्गं समादियामी" ति इमेसं अञ्ञतरवचनेन समादिन्नं होति।

३३. तेन पन पत्तपिण्डिकेन यागुपानकाले भाजने ठपेत्वा व्यञ्जने लद्धे व्यञ्जनं वा पठमं खादितब्बं, यागु वा पातब्बा। सचे पन यागुयं पक्खिपति, पूतिमच्छकादिम्हि ब्यञ्जने पक्खित्ते यागु पटिकूला होति। अप्पटिकूलमेव च कत्वा परिभुञ्जितुं वट्टति। तस्मा तथारूपं ब्यञ्जनं सन्धाय इदं वुत्तं। यं पन मधुसक्करादिकं अप्पटिकूलं होति, तं पक्खिपितब्बं। गण्हन्तेन च पमाणयुत्तमेव गण्हितब्बं। आमकसाकं हत्थेन गहेत्वा खादितुं वट्टति। तथा पन अकत्वा पत्ते येव पक्खिपितब्बं। दुतियकभाजनस्स पन पटिक्खित्तत्ता अञ्ञं रुक्खपण्णं पि न वट्टती ति। इदमस्स **विधानं**।

३४. **पभेदतो** पन अयं पि तिविधो होति—तत्थ—१. उक्कट्ठस्स, अञ्ञत्र उच्छुखादन-काला, कचवरं पि छड्डेतुं न वट्टति, ओदनपिण्डमच्छमंसपूवे पि भिन्दित्वा खादितुं न वट्टति। २. **मज्झिमस्स** एकेन हत्थेन भिन्दित्वा खादितुं वट्टति, हत्थयोगी

इसलिये विशुद्धचित्त यति, सुखपूर्वक विहार के कारण एवं पवित्र उपेक्षा भावना में रति से सेवित एकासन-भोजन के प्रति रुझान (=रति) उत्पन्न करे।।

यह ऐकासनिकाङ्ग के विषय में ग्रहण, विधान, प्रभेद, भेद एवं माहात्म्य का वर्णन है।।

६. पात्रपिण्डिकाङ्ग

३२. **षष्ठ** पात्रपिण्डिकाङ्ग भी १. "द्वितीय पात्र (=भाजन) का त्याग करता हूँ" या २. "पात्रपिण्डिकाङ्ग का ग्रहण करता हूँ"— इनमें से किसी एक देशना-वचन **ग्रहण** किया जाता है।

३३. पात्र-पिण्डिक को यदि यवागू (=खिचड़ी जैसा पतला भात, जिसे पिया जा सके) पीते समय (किसी दूसरे) पात्र में रखकर व्यञ्जन (कढ़ी आदि) मिले तो उसे या तो पहले व्यञ्जन खा लेना चाहिये या यवागू पी लेनी चाहिये। यदि (उसी) यवागू में (व्यञ्जन) डाल देगा, तो सुखा कर या नमक आदि लगाकर रखी गयी अग्निसिद्ध (पकायी गयी) मछली (=पूतिमत्स्यक) आदि का व्यञ्जन (यवागू में) डाल देने पर यवागू प्रतिकूल (=हानिकारक) हो जायगी। उसे, प्रतिकूल न हो, इस प्रकार ही खाना उचित है। (ऐसी स्थिति में पात्र का प्रयोग आवश्यक हो जाता है!) इसलिये उस प्रकार के व्यञ्जन के बारे में यह कहा गया है। किन्तु जो मधु, शक्कर आदि प्रतिकूल नहीं हैं, उन्हें यवागू में ही डाल देना चाहिये। ग्रहण करते समय भी, मात्रा से ग्रहण करना चाहिये। हरी शाक-सब्जी को हाथ में लेकर ही खाना चाहिये। जब तक ऐसा न करे, पात्र में ही डाल देना चाहिये। द्वितीय पात्र को त्याग चुकने से, किसी अन्य वृक्ष का पत्ता भी (पात्र के रूप में) विहित नहीं है। यह इसका **विधान** है।

३४. **प्रभेद** से यह तीन प्रकार का होता है। उनमें, १. **उत्कृष्ट** व्रती के लिये तो ईख खाने को छोड़कर अन्य के छिलके आदि भी छोड़ना विहित नही है। चावल का ग्रास, मछली, मांस, पुआ भी तोड़कर खाना विहित नहीं है। २. **मध्यम** के लिये एक हाथ से तोडकर खाना विहित है। इसे

नामेसो। ३. **मुदुको** पन पत्तयोगी नाम होति, तस्स यं सक्का होति पत्ते पक्खिपितुं, सब्बं हत्थेन वा दन्तेहि वा भिन्दित्वा खादितुं वट्टति।

३५. इमेसं पन तिण्णं पि दुतियकभाजनं सादितक्खणे धुतङ्गं भिज्जति। अयमेत्थ **भेदो**।

३६. अयं पन**निसंसो**—नानारसतण्हाविनोदनं, अत्रिच्छताय पहानं, आहारे पयोजनमत्तदस्सिता, थालकादिपरिहरणखेदाभावो, अविक्खित्तभोजिता, अप्पिच्छतादीनं अनुलोमवुत्तिता ति।

नानाभाजनविक्खेपं हित्वा ओक्खित्तलोचनो।
खणन्तो विय मूलानि रसतण्हाय सुब्बतो॥
सरूपं विय सन्तुट्ठिं धारयन्तो सुमानसो।
परिभुञ्जेय्य आहारं को अञ्ञो पत्तपिण्डिका॥ ति॥

अयं पत्तपिण्डिकङ्गे समादानविधानप्पभेदभेदानिसंसवण्णना॥

७. खलुपच्छाभत्तिकङ्गकथा

३७. **खलुपच्छाभत्तिकङ्गं** पि "अतिरित्तभोजनं पटिक्खिपामि", "खलुपच्छाभत्तिकङ्गं समादियामी" ति इमेसं अञ्ञतरवचनेन समादिन्नं होति।

३८. तेन पन खलुपच्छाभत्तिकेन पवारेत्वा पुन भोजनं कप्पियं कारेत्वा न भुञ्जितब्बं। इदमस्स **विधानं**।

३९. **पभेदतो** पन अयं पि तिविधो होति। तत्थ—१. **उक्कट्ठो** यस्मा पठमपिण्डे

'हस्तयोगी' (करपात्र) कहते हैं। ३. **निम्न** को 'पात्रयोगी' कहते हैं। उसके लिये विधान है कि जो कुछ भी पात्र में डाला जा सकता है, उस सबको वह हाथ से तोड़कर या दाँत से काट कर खा सकता है।

३५. इन तीनों का धुताङ्ग दूसरे पात्र को ग्रहण करते ही भङ्ग हो जाता है। यह यहाँ **भेद**-विनिश्चय हुआ।

३६. इस व्रत का **माहात्म्य** यह है—अनेक प्रकार के रसों के आस्वादन की तृष्णा का उच्छेद, भोजन की अत्यधिक इच्छा का प्रहाण, आहार में शरीर-रक्षा आदि प्रयोजनमात्र को देखना, थाली आदि ढोने की परेशानी का अभाव, विक्षेपरहित होकर भोजन करना, अल्पेच्छता आदि के समनुरूप होना।

अनेक पात्रों के होने से उत्पन्न होने वाले विक्षेप का नाश कर, नीची दृष्टि एवं श्रेष्ठ व्रत को धारण किये हुए, रस-तृष्णा की जड़ को मानो खोदते हुए, अपने अनुरूप सन्तोष किये हुए पात्रपिण्डिक व्रती के अतिरिक्त और भला कौन (इस प्रकार) आहार का परिभोग करेगा!॥

यह पात्रपिण्डिकाङ्ग के विषय में ग्रहण, विधान, प्रभेद, भेद और माहात्म्य का वर्णन है॥

७. खलुपश्चाद्भक्तिकाङ्ग

३७. खलुपश्चाद्भक्तिकाङ्ग भी "१. अतिरिक्त भोजन का परित्याग करता हूँ, २ "खलुपश्चाद्भक्तिकाङ्ग का ग्रहण करता हूँ"—इनमें से किसी एक देशना-वचन से ग्रहण किया जाता है।

३८. उस खलुपश्चाद्भक्तिक साधक को भोजन कर चुकने के बाद (और लेने से) निषेध कर देने पर फिर से भोजन स्वीकार नहीं करना चाहिये। यह इसका **विधान** है।

पवारणा नाम नत्थि, तस्मिं पन अज्झोहरियमाने अञ्ञं पटिक्खिपितो होति, तस्मा एवं पवारितो पठमपिण्डं अज्झोहरित्वा दुतियपिण्डं न भुञ्जति। २. **मज्झिमो** यस्मिं भोजने पवारितो, तदेव भुञ्जति। ३. **मुदुको** पन याव आसना न वुट्ठाति ताव भुञ्जति।

४०. इमेसं पन तिण्णं पि पवारितानं कप्पियं कारापेत्वा भुत्तक्खणे धुतङ्गं भिज्जति। अयमेत्थ **भेदो**।

४१. अयं पन**ानिसंसो**—अनतिरित्तभोजनापत्तिया दूरीभावो, ओदरिकत्ताभावो, निरामिससन्निधिता, पुनपरियेसनाय अभावो, अप्पिच्छतादीनं अनुलोमवुत्तिता ति।

परियेसनाय खेदं न याति न करोति सन्निधिं धीरो।
ओदरिकत्तं पजहति खलुपच्छाभत्तिको योगी॥
तस्मा सुगतपसत्थं सन्तोसगुणादिवुड्ढिसञ्जननं।
दोसे विधुनितुकामो भजेय्य योगी धुतङ्गमिदं॥ ति॥

अयं खलुपच्छाभत्तिकङ्गे समादानविधानप्पभेदभेदानिसंसवण्णना॥

८. आरञ्ञिकङ्गकथा

४२. **आरञ्ञिकङ्गं पि** "गामन्तसेनासनं पटिक्खिपामि", "आरञ्ञिकङ्गं समादियामी" ति इमेसं अञ्ञतरवचनेन समादिन्नं होति।

४३. तेन पन आरञ्ञिकेन गामन्तसेनासनं पहाय अरञ्ञे अरुं उट्ठापेतब्बं। तत्थ

---

३९. **प्रभेद** से यह भी तीन प्रकार का होता है। उनमें, १. **उत्कृष्ट,** क्योंकि प्रथम ग्रास के विषय में हाथ खींचना (=प्रवारणा) (वैसे तो) नहीं होता है; किन्तु उसे खाते समय, यदि दूसरे (ग्रास) को देने न दे तो रोकना मान लिया जाता है; इसलिये प्रथम ग्रास को खाते समय यदि दूसरे को रोक दिया रहता है तो फिर से दूसरा ग्रास लेकर नहीं खाता। २. **मध्यम** जिस ग्रास के बाद निषेध कर चुका होता है, उसे ही खाता है। किन्तु ३. **निम्न** जब तक आसन से नहीं उठता तब तक खाता है।

४०. इन तीनों का भी धुताङ्ग, निषेध कर देने के बाद फिर से स्वीकार कर खाते ही, टूट जाता है। यह इसका **भेद है**।

४१. इस धुताङ्ग का यह **माहात्म्य** है—अतिरिक्त भोजन न करने के कारण आपत्ति से दूर रहना, उदरपूर्ति से अधिक न खाना, अन्न का संग्रह न करना, पुनः भोजन के लिये अन्वेषण का अभाव, अल्पेच्छता आदि के समनुरूप होना।

खलुपश्चाद्भक्तिक योगी भोजन के अन्वेषण का कष्ट नहीं उठाता, सञ्चय नहीं करता एवं पेटूपन (औदरिकत्व) का भी त्याग करता है ।।

इसलिये दोषों को नष्ट कर देने की इच्छा रखने वाले योगी को सुगत द्वारा प्रशंसित एवं सन्तोष आदि गुणों की वृद्धि करने वाले इस धुताङ्ग का पालन करना चाहिये।।

यह खलुपश्चाद्भक्तिक के विषय में विधान, प्रभेद, भेद एवं माहात्म्य ग्रहण का वर्णन है।।

८. आरण्यकाङ्ग

४२. अष्टम आरण्यकाङ्ग भी, १. "ग्राम के शयनासन का त्याग करता हूँ" २. "आरण्यकाङ्ग का ग्रहण करता हूँ"—इनमें से किसी एक देशनावचन से ग्रहण किया जाता है।

४३. उस आरण्यक को ग्राम के शयनासन का त्याग कर सूर्योदय के समय अरण्य में होना

सद्धिं उपचारेन गामो येव **गामन्तसेनासनं**। **गामो** नाम यो कोचि एककुटिको वा अनेककुटिको वा, परिक्खित्तो वा अपरिक्खित्तो वा, समनुस्सो वा अमनुस्सो वा, अन्तमसो अतिरेकचातुमास-निविट्ठो यो कोचि सत्थो पि।

गामूपचारो नाम परिक्खित्तस्स गामस्स सचे अनुराधपुरस्सेव द्वे इन्दखीला होन्ति, अब्भन्तरिमे इन्दखीले ठितस्स थाममज्झिमस्स पुरिसस्स लेड्डुपातो। तस्स लक्खणं—यथा तरुणमनुस्सा अत्तनो बलं दस्सेन्ता बाहं पसारेत्वा लेड्डुं खिपन्ति, एवं खित्तस्स लेड्डुस्स पतनट्ठानब्भन्तरं ति **विनयधरा**। **सुत्तन्तिका** पन काकनिवारणनियमेन खित्तस्सा ति वदन्ति। अपरिक्खित्तगामे यं सब्बपच्चन्तिमस्स घरस्स द्वारे ठितो मातुगामो भाजनेन उदकं छड्डेति, तस्स पतनट्ठानं घरूपचारो। ततो वुत्तनयेन एको लेड्डुपातो गामो, दुतियो गामूपचारो।

अरञ्ञं पन **विनय**परियाये ताव "ठपेत्वा गामं च गामूपचारं च सब्बमेतं अरञ्ञं" (वि० १-५७) ति वुत्तं। **अभिधम्म**परियाये—"निक्खमित्वा बहि इन्दखीला, सब्बमेतं अरञ्ञं" (अभि० २-३०२) ति वुत्तं। इमस्मिं पन **सुत्तन्तिक**परियाये "आरञ्ञकं नाम सेनासनं पञ्चधनुसतिकं पच्छिमं" ति इदं लक्खणं। तं आरोपितेन आचरियधनुना परिक्खित्तस्स गामस्स इन्दखीलतो अपरिक्खित्तस्स पठमलेड्डुपाततो पट्ठाय याव विहारपरिक्खेपा मिनित्वा ववत्थपेतब्बं।

सचे पन विहारो अपरिक्खित्तो होति, यं सब्बपठमं सेनासनं वा भत्तसाला वा

चाहिये। अपनी परिधि (=उपचार, सीमा) के साथ ग्राम ही 'ग्रामान्त-शयनासन' है। **ग्राम** उसे कहते हैं जो एक झोड़ी वाला हो या अनेक घरों वाला हो, घिरा हुआ हो या न घिरा हुआ, जनसङ्कुल हो या जनशून्य। यहाँ चार मास से अधिक समय से बसा हुआ सार्थ (=काफिला) भी ग्राम है।

ग्राम का **उपचार** (पास-पड़ोस) यह है—प्राकार से घिरे हुए ग्राम के, यदि अनुराधपुर के समान दो इन्द्रकील (=ग्राम के द्वार पर गड़े हुए दो मजबूत चौखट) हों, तो चौखट के भीतर खड़े मध्यम बल वाले पुरुष द्वारा फेंके हुए ढेले के गिरने के स्थान तक। उसका लक्षण है—

विनयधर के अनुसार जिस प्रकार युवक अपने बल का प्रदर्शन करते हुए बाँह को फैलाकर ढेला फेंकते हैं, उस प्रकार से फेंका गया ढेला जहाँ गिरे उस स्थान के भीतर उस गाँव की परिधि है; किन्तु **सौत्रान्तिक** कहते हैं कि कौवे को उड़ाने के लिये फेंके गये ढेले के गिरने के स्थान तक परिधि है। विना घिरे हुए ग्राम में, अन्तिम घर के द्वार पर खड़ी स्त्री बर्तन से जो पानी फेंकती है, वह जिस स्थान पर गिरता है वहाँ तक घर की परिधि है। उक्त प्रकार से फेंके गये ढेले के गिरने के स्थान के भीतर ग्राम है एवं दूसरे ढेले के गिरने की जगह के भीतर ग्राम का पास-पड़ोस (उपचार) है।

अरण्य—**विनय** की विधि के अनुसार—"ग्राम एवं ग्राम की परिधि छोड़कर, बाकी सब अरण्य है। **अभिधर्म** की विधि के अनुसार—"इन्द्र-कील के बाहर निकल कर, सब अरण्य है"। किन्तु **सूत्रान्त** की विधि के अनुसार—"आरण्यक शयनासन (ग्राम से) पाँच सौ धनुष (२००० हाथ की दूरी पर होता है"—यह लक्षण है। इस नाप की व्यवस्था (व्याख्या) इस प्रकार करनी चाहिये—घिरे हुए ग्राम के इन्द्रकील से आचार्य द्वारा चढ़ाये गये धनुष् से लेकर एवं विना घिरे हुए ग्राम के (विषय में) प्रथम ढेले के गिरने से लेकर विहार की चहारदीवारी तक।

यदि विहार में चहारदीवारी न हो, तो जो सर्वप्रथम शयनासन हो, या पाकशाला, सभागृह,

धुवसन्निपातट्ठानं वा बोधि वा चेतियं वा दूरे चे पि सेनासनतो होति, तं परिच्छेदं कत्वा मिनितब्बं ति **विनयट्ठकथासु** वुत्तं।

मज्झिमट्ठकथायं पन विहारस्स पि गामस्सेव उपचारं नीहरित्वा उभिन्नं लहुपातानं अन्तका मिनितब्बं ति वुत्तं। इदमेत्थ पमाणं। सचे पि आसन्ने गामो होति, विहारे ठितेहि मानुसकानं सद्दो सुय्यति, पब्बतनदीआदीहि पन अन्तरितत्ता न सक्का उजुं गन्तुं। यो तस्स पकतिमग्गो होति, सचे पि नावाय सञ्चरितब्बो, तेन मग्गेन पञ्चधनुसतिकं गहेतब्बं। यो पन आसन्नगामस्स अङ्गसम्पादनत्थं ततो ततो मग्गं पिदहति, अयं धुतङ्गचोरो होति।

सचे पन आरञ्ञिकस्स भिक्खुनो उपज्झायो वा आचरियो वा गिलानो होति, तेन अरञ्ञे सप्पायं अलभन्तेन, गामन्तसेनासनं नेत्वा उपट्ठातब्बो। कालस्सेव पन निक्खमित्वा अङ्गत्तट्ठाने अरुणं उट्ठापेतब्बं। सचे अरुणुट्ठानवेलायं तेसं आबाधो वड्ढति, तेसं येव किच्चं कातब्बं। न धुतङ्गसुद्धिकेन भवितब्बं ति। इदमस्स **विधानं**।

४४. **पभेदतो** पन अयं पि तिविधो होति। तत्थ—१. **उक्कट्ठेन** सब्बकालं अरञ्ञे अरुणं उट्ठापेतब्बं। २. **मज्झिमो** चत्तारो वस्सिके मासे गामन्ते वसितुं लभति। ३.**मुदुको** हेमन्तिके पि।

४५. इमेसं पन तिण्णं पि यथापरिच्छिन्ने काले अरञ्ञतो आगन्त्वा गामन्तसेनासने धम्मस्सवनं सुणन्तानं अरुणे उट्ठिते पि धुतङ्गं न भिज्जति। सुत्वा गच्छन्तानं अन्तरामग्गे उट्ठिते पि न भिज्जति। सचे पन उट्ठिते पि धम्मकथिके 'मुहुत्तं निपज्जित्वा गमिस्सामा' ति

बोधिवृक्ष या चैत्य हो, भले ही वह शयनासन से दूर ही हो तो भी, उसी को सीमा मानते हुए नापना चाहिये—ऐसा विनय की अट्ठकथाओं में कहा गया है। किन्तु मज्झिमनिकाय की अट्ठकथा में कहा है कि विहार एवं ग्राम की परिधियों को छोड़कर, जिस दूरी को नापना है वह दो ढेलों के गिरने के बीच की दूरी है। यह प्रमाण है।

भले ही ग्राम पास में हो और लोगों की बातचीत विहार में रहने वालों को सुनायी पड़े, फिर भी यदि नदी, पर्वत आदि बीच में पड़ जाने से सीधे रास्ते से जाना सम्भव न हो, तो पाँच सौ धनुष् की दूरी तक सड़क मार्ग से जाना चाहिये, चाहे भले ही पहले नाव से जाना पड़ता हो। किन्तु जो धुत अङ्ग सम्पादन के लिये जान–बूझकर ग्राम के मार्ग को जहाँ तहाँ पत्थर आदि से रोक देता है, वह 'धुताङ्गचौर' कहा जाता है।

यदि आरण्यक का उपाध्याय या आचार्य रुग्ण हो एवं अरण्य में उसे चिकित्सा न प्राप्त हो सके, तो भिक्षु को उसे ग्राम के शयनासन में ले जाकर सेवा करनी चाहिये। किन्तु समय रहते ही वहाँ से निकल कर अङ्गयुक्त स्थान (=अरण्य) में (ही) सूर्योदय के समय रहना चाहिये। यदि सूर्योदयकाल में रोग बढ़ जाता हो तो उन्हीं का कार्य करना चाहिये। उस समय धुताङ्ग की शुद्धि को नहीं देखना चाहिये। यह इसका **विधान** है।

४४. **प्रभेद** से यह भी तीन प्रकार का होता है। उनमें, १. **उत्कृष्ट** को सूर्योदय के समय सदा अरण्य में ही होना चाहिये। २. **मध्यम** व्रती वर्षा के चार महीने ग्राम में रह सकता है। ३. **निम्न** हेमन्त में ग्राम में रह सकता है।

४५. इन तीनों का भी धुताङ्ग, नियत समय पर अरण्य से आकर ग्राम के शयनासन में धर्मोपदेश सुनते हुए सूर्योदय हो जाने पर भी, भङ्ग नहीं होता। सुनकर जाते समय बीच रास्ते में

निद्दायन्तानं अरुणं उट्ठहति, अत्तनो वा रुचिया गामन्तसेनासने अरुणं उट्ठापेन्ति, धुतङ्गं भिज्जती ति अयमेत्थ **भेदो**।

४६. अयं पनानिसंसो—आरञ्ञिको भिक्खु अरञ्ञसञ्ञं मनसिकरोन्तो भब्बो अलद्धं वा समाधिं पटिलद्धुं, लद्धं वा रक्खितुं। सत्था पिस्स अत्तमनो होति। यथाह—"तेनाहं, नागित, तस्स भिक्खुनो अत्तमनो होमि अरञ्ञविहारेना" (अं० ३-८५) ति। पन्तसेनासनवासिनो चस्स असप्पायरूपादयो चित्तं न विक्खिपन्ति, विगतसन्तासो होति, जीवितनिकन्ति जहति, पविवेकसुखरसं अस्सादेति, पंसुकूलिकादिभावो पि चस्स पतिरूपो होती ति।

पविवित्तो असंसट्ठो पन्तसेनासने रतो।
आराधयन्तो नाथस्स वनवासेन मानसं॥
एको अरञ्ञे निवसं यं सुखं लभते यति।
रसं तस्स न विन्दन्ति अपि देवा सइन्दका॥
पंसुकूलं च एसो व कवचं विय धारयं।
अरञ्ञसङ्गामगतो अवसेसधुतायुधो॥
समत्थो न चिरस्सेव जेतुं मारं सवाहिनिं।
तस्मा अरञ्ञवासम्हि रतिं कयिराथ पण्डितो॥ ति॥

अयं आरञ्ञिकङ्गे समादानविधानप्पभेदभेदानिसंसवण्णना॥

९. रुक्खमूलिकङ्गकथा

४७. **रुक्खमूलिकङ्गं** पि "छन्नं पटिक्खिपामि", "रुक्खमूलिकङ्गं समादियामी" ति इमेसं अञ्ञतरवचनेन समादिन्नं होति।

सूर्योदय हो जाने पर भी भङ्ग नहीं होता। किन्तु यदि धर्मोपदेशक के उठ जाने पर भी "कुछ देर सो कर जाऊँगा" ऐसा सोचकर सोते हुए ही सूर्योदय हो जाय, या अपनी रुचि से ग्राम के शयनासन में रहते हुए सूर्योदय हो जाय, तो धुताङ्ग भङ्ग होता है। यह **भेद है**।

४६. और इस धुताङ्ग का यह माहात्म्य है—आरण्यक भिक्षु अरण्य-संज्ञा का मनस्कार (=मन में अरण्यवास का विचार) करते हुए अभी तक अप्राप्त समाधि को प्राप्त करने या प्राप्त की रक्षा करने में समर्थ होता है। शास्ता भी इससे प्रसन्न होते हैं। जैसा कि कहा गया है—"नागित, मैं उस भिक्षु के अरण्यविहार से प्रसन्न हूँ"। एकान्तशयनासनवासी इस भिक्षु के चित्त को अनुचित रूप आदि विक्षिप्त नहीं करते। यह चिन्तामुक्त रहता है, जिजीविषा को छोड़ देता है, प्रविवेक सुख के रस का आस्वादन करता है, पांशुकूल आदि स्थितियाँ भी उसके अनुरूप (अनुकूल) होती हैं।

सबसे पृथक्, सबसे असम्पृक्त (ग्राम से दूर), एकान्त शयनासन में रत, वनवास के कारण नाथ (=बुद्ध) के मन को प्रसन्न करता हुआ,

योगी अकेले अरण्य में निवास का जो सुख पाता है, उसके रस को इन्द्रसहित (समस्त) देवता भी नहीं अनुभव कर सकते।।

अरण्य-संग्राम (=अरण्य में रहते हुए, मार से संग्राम) के लिये गया हुआ योगी, पांशुकूल को कवच की तरह धारण करते हुए एवं शेष धुताङ्गों को आयुधों के रूप में धारण किये हुए, मार-सेना को जीतने में शीघ्र ही समर्थ होता है। इसलिये पण्डित (बुद्धिमान्) अरण्यवास में रति करे।।

यह आरण्यकाङ्ग के विषय में ग्रहण, विधान, प्रभेद, भेद एवं माहात्म्य का वर्णन है।।

४८. तेन पन रुक्खमूलिकेन सीमन्तरिकरुक्खं, चेतियरुक्खं, निय्यासरुक्खं, फलरुक्खं, वग्गुलिरुक्खं, सुसिररुक्खं, विहारमज्झे ठितरुक्खं ति इमे रुक्खे विवज्जेत्वा विहारपच्चन्ते ठितरुक्खो गहेतब्बो ति। इदमस्स **विधानं**।

४९. **पभेदतो** पन अयं पि तिविधो होति। तत्थ—१. **उक्कट्ठो** यथारुचितं रुक्खं गहेत्वा पटिजग्गापेतुं न लभति। पादेन पण्णसटं अपनेत्वा वसितब्बं। २. **मज्झिमो** तं ठानं सम्पत्तेहि येव पटिजग्गापेतुं लभति। ३. **मुदुकेन** आरामिकसमणुद्देसे पक्कोसित्वा सोधापेत्वा समं कारापेत्वा वालुकं ओकिरापेत्वा पाकारपरिक्खेपं कारापेत्वा द्वारं योजापेत्वा वसितब्बं। महदिवसे पन रुक्खमूलिकेन तत्थ अनिसीदित्वा अञ्ञत्थ पटिच्छन्ने ठाने निसीदितब्बं।

५०. इमेसं पन तिण्णं पि छन्ने वासं कप्पितक्खणे धुतङ्गं भिज्जति। जानित्वा छन्ने अरुणं उट्ठापितमत्ते ति **अङ्गुत्तरभाणका**। अयमेत्थ **भेदो**।

५१. अयं पन**आनिसंसो**—"रुक्खमूलसेनासनं निस्साय पब्बज्जा" (वि० ३-१००)ति वचनतो निस्सयानुरूपपटिपत्तिसब्भावो, "अप्पानि चेव सुलभानि च तानि च अनवज्जानी" (अ० नि० २-२९) ति भगवता संवण्णितपच्चयतया, अभिण्हं तरुपण्णविकारदस्सनेन अनिच्चसञ्ञासमुट्ठापनता, सेनासनमच्छेरकम्मारामतानं अभावो, देवताहि सहवासिता, अप्पिच्छतादीनं अनुलोमवुत्तिता ति।

वण्णितो बुद्धसेट्ठेन निस्सयो ति च भासितो।

---

९. वृक्षमूलिकाङ्ग

४७ वृक्षमूलिकाङ्ग भी, १ "छाये हुए घर का त्याग करता हूँ", २ "वृक्षमूलिकाङ्ग का ग्रहण करता हूँ"—इनमें से किसी एक देशनावचन के द्वारा ग्रहण किया जाता है।

४८ जिस वृक्षमूलिक व्रती को सीमा (=सङ्घ की सीमा) के समीप के वृक्ष, चैत्य वृक्ष, गोंद के वृक्ष, फलदार वृक्ष, जिस पर चमगादड़ रहते हों—ऐसे वृक्ष, कोटर (=छिद्र) वाले वृक्ष, विहार के बीच में उगे हुए वृक्ष—इन वृक्षों को छोड़कर, विहार के सीमावर्ती किसी स्थिर वृक्ष का ग्रहण करना चाहिये। यह इसका **विधान** है।

४९ **प्रभेद** से यह भी तीन प्रकार का होता है। इनमें १ **उत्कृष्ट** साधक यथारुचि वृक्ष का ग्रहण करने के बाद उस स्थान को साफ–सुथरा नहीं करवा सकता। उसे केवल पैर से सूखे पत्तों को हटाकर रहना चाहिये। २ **मध्यम** साधक वहाँ संयोगवश आये हुए लोगों से साफ सुथरा करवा सकता है। ३ **निम्न** साधक को विहार के श्रामणेरों को बुलाकर, साफ व बराबर करवाकर, बालू छिटवा कर, चहारदीवारी बनवाकर, उसमें दरवाजा लगवाकर रहना चाहिये। किन्तु उत्सव के दिन वृक्षमूलिक को वहाँ न बैठकर किसी दूसरी जगह आड में बैठना चाहिये।

५० इन तीनों का भी छत के नीचे निवास करते ही धुताङ्ग भङ्ग हो जाता है। **अङ्गोत्तरभाणक** कहते है—"जान–बूझकर छाये हुए स्थान मे सूर्योदय के समय रहने पर"। यह यहाँ **भेद** है।

५१ पुन अङ्ग का यह माहात्म्य है—"वृक्षमूल वाले शयनासन के सहारे प्रव्रज्या है" इस वचन के अनुसार निश्रय के अनुरूप प्रतिपत्ति का होना, "अल्प है, किन्तु सुलभ और निर्दोष है" इस प्रकार भगवान् द्वारा प्रशसित होने से, निरन्तर वृक्ष के पत्तों का विकार (=परिवर्तन) देखने से अनित्य सञ्ज्ञा का उदित होना, शयनासन के प्रति मात्सर्य का हान एव प्रतिक्षण काम मे लगे रहने की प्रवृत्ति (=कम्मारामता) का अभाव, देवताओ के साथ निवास, अल्पेच्छा आदि के समनुरूप होना।

एकान्तनिवास के लिये श्रेष्ठ बुद्ध द्वारा वर्णित और निश्रय बतलाये गये वृक्षमूल के समान दूसरा निवास कहाँ!।।

निवासो पविवित्तस्स रुक्खमूलसमो कुतो॥
आवासमच्छेरहरे देवतापरिपालिते।
पविवित्ते वसन्तो हि रुक्खमूलम्हि सुब्बतो॥
अभिरत्तानि नीलानि पण्डूनि पतितानि च।
पस्सन्तो तरुपण्णानि निच्चसञ्ञं पनूदति॥
तस्मा हि बुद्धदायज्जं भावनाभिरतालयं।
विवित्तं नातिमञ्ञेय्य रुक्खमूलं विचक्खणो॥ ति॥

अयं रुक्खमूलिकङ्गे समादानविधानप्पभेदभेदानिसंसवण्णना॥

१०. अब्भोकासिकङ्गकथा

५२. **अब्भोकासिकङ्गं** पि "छन्नं च रुक्खमूलं च पटिक्खिपामि", "अब्भोकासिकङ्गं समादियामी" (वि० ३-१००) ति इमेसं अञ्ञतरवचनेन समादिन्नं होति।

५३. तस्स पन अब्भोकासिकस्स धम्मस्सवनाय वा उपोसथत्थाय वा उपोसथागारं पविसितुं वट्टति, सचे पविट्ठस्स देवो वस्सति, देवे वस्समाने अनिक्खमित्वा वस्सूपरमे निक्खमितब्बं। भोजनसालं वा अग्गिसालं वा पविसित्वा वत्तं कातुं, भोजनसालाय थेरे भिक्खू भत्तेन आपुच्छितुं उद्दिसन्तेन वा उद्दिसापेन्तेन वा छन्नं पविसितुं, बहि दुन्निक्खित्तानि मञ्चपीठादीनि अन्तोपवेसेतुं च वट्टति। सचे मग्गं गच्छन्तेन वुड्ढतरानं परिक्खारो गहितो होति, देवे वस्सन्ते मग्गमज्झे ठितं सालं पविसितुं वट्टति। सचे न किञ्चि गहितं होति,

---

आवासविषयक मात्सर्य को हर लेने वाले, देवताओं द्वारा परिपालित, वृक्ष के नीचे, एकान्त में निवास करते हुए यह सुव्रत।

प्रारम्भ में लाल, फिर नीले (=नीलिमा लिये हुए हरे) एवं अन्त में सूखने से पीले पत्तों को गिरते हुए देखकर नित्यसंज्ञा का त्याग कर देता है।।

इसलिये बुद्ध से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त, भावनाओं में रत रहने वालों के घर के समान एकान्त वृक्षमूल की बुद्धिमान् भिक्षु उपेक्षा न करे।।

यह वृक्षमूलिकाङ्ग के विषय में ग्रहण, विधान, प्रभेद, भेद एवं माहात्म्य का वर्णन है!!

१०. आभ्यवकाशिकाङ्ग

५२. आभ्यवकाशिकाङ्ग (अब्भोकासिकङ्ग) भी १. "छत एवं वृक्षमूल का परित्याग करता हूँ", २. "आभ्यवकाशिकाङ्ग का ग्रहण करता हूँ"– इनमें से किसी एक देशनावचन से **ग्रहण** किया जाता है।

५३. (क) उस आभ्यवकाशिक के लिये, धर्मश्रवण–हेतु या उपोसथ के लिये उपोसथ–गृह मे प्रवेश करना विहित है। (ख) यदि प्रवेश करने के बाद वर्षा होने लगे तो वर्षा के समय बाहर न निकल कर वर्षा रुक जाने पर निकलना चाहिये। (ग) भोजनशाला या अग्निशाला में जाकर आवश्यक कार्य करने के लिये, भोजनशाला में जाकर स्थविर भिक्षुओं को भोजन हेतु पूछने के लिये या पढने और पढाने के लिये, बाहर रखी हुई चारपाई–चौकी आदि को भीतर रखने के लिये यदि (छाये हुए स्थान) के भीतर प्रवेश करना पड़े तो वह विहित है। (घ) यदि मार्ग मे जाते समय अपने से बड़े (भिक्षुओ) का सामान लिये हुए हो और वर्षा होने लगे, तो मध्य मार्ग मे (किसी) विश्रामशाला में प्रवेश करना विहित है। (ङ) यदि कुछ नहीं लिया हो

"सालाय ठस्सामी" ति वेगेन गन्तुं न वट्टति। पकतिगतिया गन्त्वा पविट्ठेन पन याव वस्सूपरमा ठत्वा गन्तब्बं ति। इदमस्स **विधानं**। **रुक्खमूलिकस्सापि** एसेव नयो।

५४. **पभेदतो** पन अयं पि तिविधो होति। तत्थ—१. **उक्कट्ठस्स** रुक्खं वा पब्बतं वा गेहं वा उपनिस्साय वसितुं न वट्टति। अब्भोकासे येव चीवरकुटिं कत्वा वसितब्बं। २. **मज्झिमस्स** रुक्खपब्बतगेहानि उपनिसाय अन्तो अप्पविसित्वा वसितुं वट्टति। ३. **मुदुकस्स** अच्छन्नमरियादं पब्भारं पि साखामण्डपो पि पीठपटो पि खेत्तरक्खकादीहि छड्डिता तत्रट्ठककुटिका पि वट्टती ति।

५५. इमेसं पन तिण्णं पि वासत्थाय छन्नं वा रुक्खमूलं वा पविट्ठक्खणे धुतङ्गं भिज्जति। जानित्वा तत्थ अरुणं उट्ठापितमत्ते ति **अङ्गुत्तरभाणका**। अयमेत्थ **भेदो**।

५६. अयं पना**निसंसो**—आवासपलिबोधुपच्छेदो, थीनमिद्धपनूदनं, "मिगा विय असङ्गचारिनो, अनिकेता विहरन्ति भिक्खवो" (सं० १-२००) ति पसंसाय अनुरूपता, निस्सङ्गता, चातुद्दिसता, अप्पिच्छतादीनं अनुलोमवुत्तिता ति।

अनगारियभावस्स अनुरूपे अदुल्लभे।
तारामणिवितानम्हि चन्ददीप्पभासिते॥
अब्भोकासे वसं भिक्खु मिगभूतेन चेतसा।
थीनमिद्धं विनोदेत्वा भावनारामतं सितो॥

तो "शाला में प्रवेश करूँ।"—ऐसा सोच, दौड़कर जाना उचित नहीं है। स्वाभाविक गति से जाकर प्रवेश करना चाहिये। एवं जब तक वर्षा होती रहे तब तक ठहर कर (आगे) जाना चाहिये। यह इसका **विधान है**। (पूर्वोक्त) **वृक्षमूलिक** के लिये भी यही विधि है।

५४. **प्रभेद** से यह भी तीन प्रकार का होता है। इनमें १. इस अङ्ग के **उत्कृष्ट** व्रती को वृक्ष, पर्वत या घर के पास नहीं रहना चाहिये। खुले स्थान पर चीवर का तम्बू बनाकर रहना विहित है। २. **मध्यम** साधक वृक्ष, पर्वत या घर के समीप (=उनकी आड़ में) रह सकता है; किन्तु वहाँ अन्तःप्रवेश करना (=उनकी छाया में आना) विहित नहीं है। और ३. **निम्न** व्रती के लिये ऐसी गुफा जिसमें मर्यादा (गुफा के ऊपर पत्थर को काट कर छज्जे जैसा बना दिया जाना कि पानी गुफा में न घुसे) न काटी गयी हो, लता-मण्डप, गोंद से कड़ा किया गया कपड़ा (=पीठपट), खेत के रखवालों के द्वारा वहाँ छोड़ी गयी कुटी (=मचान) भी विहित है।

५५. इन तीनों का धुताङ्ग, निवास करने के प्रयोजन से, छाये हुए स्थान या वृक्ष के नीचे प्रविष्ट होते ही **भङ्ग हो जाता है**। **अङ्कोत्तर-भाणक** (अङ्गुत्तरनिकायमतानुयायी) कहते हैं—"जान-बूझकर वहाँ सूर्योदय के समय बने रहने मात्र से।" ये **भेद है**।

५६. इस अङ्ग का यह **माहात्म्य है**—आवासविषयक विघ्न-बाधाओं का विनाश, शारीरिक व मानसिक आलस्य (=स्त्यान, मृद्ध) का दूर होना, "भिक्षु लोग मृग के समान अकेले एवं गृहरहित होकर विहार करते हैं"—इस प्रशंसा के अनुरूप होना, संसर्गरहित होना (निःसङ्गता), चारों दिशाओं में जा सकना, अल्पेच्छता आदि के समनुरूप होना।

गृह-रहित होकर प्रव्रज्यानुकूल भावना के अनुरूप सुलभ, तारागणरूपी मणियों के वितान के समान, जिसमें चन्द्रमारूपी दीपक से प्रकाश हो रहा हो।

ऐसे आकाश के नीचे रहते हुए भिक्षु मृग के समान (सजग) मन से स्त्यान-मृद्ध को दूर कर, भावना करने में लगा हुआ हो।

पविवेकरससस्सादं नचिरस्सेव विन्दति।
यस्मा, तस्मा हि सप्पञ्ञो अब्भोकासरतो सिया॥ ति॥

अयं अब्भोकासिकङ्गे समादानविधानप्पभेदभेदानिसंवण्णना॥

११. सोसानिकङ्गकथा

५७. सोसानिकङ्गे पि "न सुसानं पटिक्खिपामि", "सोसानिकङ्गं समादियामी" ति इमेसं अञ्ञतरवचनेन समादिन्नं होति।

५८. तेन पन सोसानिकेन यं मनुस्सा गामं निवेसन्ता "इदं सुसानं" ति ववत्थपेन्ति, न तत्थ वसितब्बं। न हि मतसरीरे अज्झापिते तं सुसानं नाम होति, झापितकालतो पन पट्ठाय सचे पि द्वादसवस्सानि छड्डितं, तं सुसानमेव।

तस्मिं पन वसन्तेन चङ्कम-मण्डपादीनि कारेत्वा मञ्चपीठं पञ्ञपेत्वा पानीय-परिभोजनीयं उपट्ठापेत्वा धम्मं वाचेन्तेन न वसितब्बं। गरुकं हि इदं धुतङ्गं, तस्मा उप्पन्नपरि-स्सयविघातत्थाय सङ्घत्थेरं वा राजयुत्तकं वा जानापेत्वा अप्पमत्तेन वसितब्बं। चङ्कमन्तेन अद्धक्खिकेन आळाहनं ओलोकेन्तेन चङ्कमितब्बं।

सुसानं गच्छन्तेनापि महापथा उक्कम्म उप्पथमग्गेन गन्तब्बं। दिवा येव आरम्मणं ववत्थपेतब्बं। एवं हिस्स तं रत्तिं भयानकं न भविस्सति, अमनुस्सा रत्तिं विरवित्वा विरवित्वा आहिण्डन्ता पि न केनचि पहरितब्बा। एकदिवसं पि सुसानं अगन्तुं न वट्टति। मज्झिमयामं

क्योंकि वह शीघ्र ही एकान्तचिन्तन (=प्रविवेक) का रसास्वादन करता है, अतः प्रज्ञावान् भिक्षु खुले मैदान में रहने का अभ्यास करे।।

यह आभ्यवकाशिकाङ्ग के विषय में ग्रहण, विधान, प्रभेद, भेद माहात्म्य का वर्णन हुआ।।

११. श्माशानिकाङ्ग

५७. श्माशानिकाङ्ग भी १. "श्मशान का परित्याग नहीं करूँगा" या २. "श्माशानिकाङ्ग को ग्रहण करता हूँ"– इनमें से किसी एक देशना-वचन से **ग्रहण** किया जाता है।

५८. उस श्माशानिक साधक को केवल इसलिये किसी स्थान पर नहीं रहना चाहिये कि गाँव बसाने वालों ने उसके विषय मे "यह श्मशान है"–ऐसा मान लिया है। क्योंकि जब तक वहाँ कोई मृत शरीर जलाया न जाय, तब तक वह 'श्मशान' नहीं है। किन्तु, यदि शव एक बार जला दिया गया तो, जलाने के समय से वह श्मशान है, भले ही फिर बारह वर्ष तक भी उसे छोड़ दिया जाय (=उसमें शव न जलाया जाय)।

उसमें रहने वाले को चंक्रमण–मण्डप आदि बनवाकर, चारपाई या चौकी बिछाकर, पीने एवं नहाने–धोने का पानी रखवा कर धर्म–ग्रन्थ बाँचते हुए नहीं रहना चाहिये। यह धुताङ्ग कठिन है, इसलिये उससे उत्पन्न (हो सकने वाले) उपद्रव (=परिश्रय) को मिटाने के लिये सङ्घ–स्थविर या राज कर्मचारी को सूचित करके अप्रमाद के साथ रहना चाहिये। चंक्रमण करते हुए आँखों को आधा खोले हुए श्मशान की ओर देखते हुए चंक्रमण करना चाहिये।

श्मशान की ओर जाते समय भी उसे मुख्य मार्ग को छोड़कर उन्मार्ग से जाना चाहिये। दिन में ही आलम्बन को अच्छी तरह देखकर मन में जमा लेना चाहिये। यों करने से उसके लिये वह रात्रि भयानक नहीं होगी। अमनुष्यों (=भूत–प्रेतों आदि) के कोलाहल करते हुए घूमते रहने पर भी (उनमें से किसी पर) किसी चीज से प्रहार नहीं करना चाहिये। एक दिन के लिये भी श्मशान न जाना विहित

सुसाने खेपेत्वा पच्छिमयामे पटिक्कमितुं वट्टती ति **अङ्गुत्तरभाणका**। अमनुस्सानं पियं तिलपिट्ठमासभत्तमच्छमंसखीरतेलगुळादिखज्जभोज्जं न सेवितब्बं। कुलगेहं न पविसितब्बं ति। इदमस्स **विधानं**।

५९. **पभेदतो** पन अयं पि तिविधो होति। तत्थ—१. **उक्कट्ठेन** यत्थ धुवडाह-धुवकुणपधुवरोदनानि अत्थि, तत्थेव वसितब्बं। २. **मज्झिमस्स** तीसु एकस्मिं पि सति वट्टति। ३. **मुदुकस्स** वुत्तनयेन सुसानलक्खणं पत्तमत्ते वट्टति।

६०. इमेसं पन तिण्णं पि न सुसानम्हि वासं कप्पेन धुतङ्गं भिज्जति। सुसानं अगतदिवसे ति **अङ्गुत्तरभाणका**। अयमेत्थ **भेदो**।

६१. अयं पनानिसंसो—मरणसमसतिपटिलाभो, अप्पमादविहारिता, असुभनिमित्ताधिगमो, कामरागविनोदनं, अभिण्हं कायसभावदस्सनं, संवेगबहुलता, आरोग्यमदादिप्पहानं, भयभेरवसहनता, अमनुस्सानं गरुभावनीयता, अप्पिच्छतादीनं अनुलोमवुत्तिता ति।

सोसानिकं हि मरणानुसतिप्पभावा निद्दागतं पि न फुसन्ति पमाददोसा।
सम्पस्सतो च कुणपानि बहूनि तस्स कामानुभाववसगं पि न होति चित्तं॥
संवेगमेति विपुलं न मदं उपेति सम्मा अथो घटति निब्बुतिमेसमानो।
सोसानिकङ्गमिति नेकगुणावहत्ता निब्बाननिन्नहदयेन निसेवितब्बं ॥ ति॥

अयं सोसानिकङ्गे समादानविधानप्पभेदभेदानिसंसवण्णना॥

नहीं है। अङ्गोत्तरभाणक कहते हैं कि रात्रि के मध्यम प्रहर को श्मशान में बिताकर पिछले प्रहर में लौटना चाहिये। (श्माशानिक को) अमनुष्यों को प्रिय लगने वाले खाद्य पदार्थ जैसे— तिल की पिट्ठी (=कसार), उर्द मिला कर बनाया गया चावल, मछली, मांस, दूध, तेल, गुड़ आदि खाद्य–भोज्य नहीं खाना चाहिये। ऐसे घरों में, जहाँ परिवार रहते हों, नहीं जाना चाहिये। यह इसका **विधान** है।

५९. **प्रभेद** से यह भी तीन प्रकार का होता है। इनमें इस अङ्ग के १. **उत्कृष्ट** साधक को जहाँ निरन्तर शव–दाह होता हो, जहाँ निरन्तर शव पड़े रहते हों, जहाँ हमेशा रोना–पीटना मचा रहता हो वहीं रहना चाहिये। २. **मध्यम** के लिये तीनों में से एक के भी होने पर (रहना) विहित है। ३. **निम्न** के लिये पूर्वोक्त श्मशान का लक्षण प्राप्त होने मात्र से वहाँ रहना विहित है।

६०. इन उत्कृष्ट आदि तीनों का भी धुताङ्ग किसी ऐसे स्थान में, जो श्मशान नहीं है, निवास करते ही भङ्ग हो जाता है। परन्तु **अङ्गोत्तरभाणक** कहते हैं कि जिस दिन श्मशान नहीं जाता उस दिन। यह **भेद** है।

६१. और इसका **माहात्म्य** यह है—मृत्यु की स्मृति का बने रहना, अप्रमाद के साथ विहार, अशुभ निमित्त की प्राप्ति, काम–राग का निराकरण, निरन्तर शरीर के स्वभाव (=अशुचि, नश्वरता आदि) का दर्शन, संवेग (वैराग्य) की अधिकता, आरोग्य के अभिमान का प्रहाण, भय एवं भयङ्करता के प्रति सहनशीलता, अमनुष्यों के लिये सम्मान (=गौरव) का पात्र होना, अल्पेच्छता आदि के समनुरूप होना।

श्माशानिक को मरणानुस्मृति के प्रभाव से नींद में भी प्रमाद से उत्पन्न होने वाले दोष स्पर्श नहीं कर पाते। अनेक शवों को देखते हुए, उसका चित्त कामराग के वशीभूत नहीं होता।।

अत्यधिक संवेग उत्पन्न होता है, अभिमान नहीं होता। निर्वाण का अन्वेषण करते हुए भलीभाँति उद्योग करता है। इसलिये जिसका हृदय निर्वाण की ओर झुका हुआ हो, उसे अनेक गुणों के उत्पादक इस श्माशानिकाङ्ग का सेवन करना चाहिये।।

यह श्माशानिकाङ्ग के विषय में ग्रहण, विधान, प्रभेद, भेद एवं माहात्म्य है।।

१२. यथासन्थतिकङ्गकथा

६२. **यथासन्थतिकङ्गं** पि "सेनासनलोलुप्पं पटिक्खिपामि", "यथासन्थतिकङ्गं समादियामी" ति इमेसं अञ्ञतरवचनेन समादिन्नं होति।

६३. तेन पन यथासन्थतिकेन यदस्स सेनासनं "इदं तुय्हं पापुणाती" ति गाहितं होति, तेनेव तुट्ठब्बं, न अञ्ञो उट्ठापेतब्बो। **इदमस्स विधानं।**

६४. **पभेदतो** पन अयं पि तिविधो होति; तत्थ—१. **उक्कट्ठो** अत्तनो पत्तसेनासनं दूरे ति वा अच्चासन्ने ति वा, अमनुस्सदीघजातिका उपद्दुतं ति वा, उण्हं ति वा सीतलं ति वा पुच्छितुं न लभति। २. **मज्झिमो** पुच्छितुं लभति, गन्त्वा पन ओलोकेतुं न लभति। ३. **मुदुको** गन्त्वा ओलोकेत्वा सचस्स तं न रुच्चति, अञ्ञं गहेतुं लभति।

६५. इमेसं पन तिण्णं पि सेनासनलोलुप्पे उप्पन्नमत्ते धुतङ्गं भिज्जती ति। अयमेत्थ **भेदो।**

६६. अयं पना**निसंसो**—"यं लद्धं तेन तुट्ठब्बं" (खु० ३: १-३१) ति वुत्तोवादकरणं, सब्रह्मचारीनं हितेसिता, हीनपणीतविकप्पपरिच्चागो, अनुरोधविरोधप्पहानं, अतिच्छताय द्वारपिदहनं, अप्पिच्छतादीनं अनुलोमवुत्तिता ति।

यं लद्धं तेन सन्तुट्ठो यथासन्थतिको यति।
निब्बिकप्पो सुखं सेति तिणसन्थरणेसु पि॥
न सो रज्जति सेट्ठम्हि हीनं लद्धा न कुप्पति।

---

१२. यथासंस्तृतिकाङ्ग (यथासन्थतिकङ्ग)

६२. यथासंस्तृतिकाङ्ग भी "१. शयनासन के प्रति लोलुपता का परित्याग करता हूँ", या २. "यथासंस्तृतिकाङ्ग का ग्रहण करता हूँ"— इनमें से किसी एक देशनावचन के द्वारा **ग्रहण** किया जाता है।

६३. उस यथासंस्तृतिक को जो भी शयनासन 'यह आपके लिये है'—इस प्रकार कहकर दिया जाय, उसी से सन्तुष्ट रहना चाहिये। किसी दूसरे को उसे (उसके आसन से) नहीं उठाना चाहिये। यह इसका **विधान है।**

६४. **प्रभेद** से यह भी तीन प्रकार का होता है। उनमें— १. **उत्कृष्ट** यह नहीं पूछ सकता है कि क्या मेरा शयनासन दूर है या बहुत पास है? यहाँ वहाँ अमनुष्यों या दीर्घजातिक (सर्प आदि) का उपद्रव हो सकता है? अथवा गर्म है या शीतल है? २. **मध्यम** पूछ सकता है, किन्तु जाकर निरीक्षण नहीं कर सकता। ३. **निम्न** जाकर, देखकर, यदि उसे न रुचे तो दूसरा ग्रहण कर सकता है।

६५. इन तीनों का भी धुताङ्ग शयनासन के प्रति लोलुपता उत्पन्न होते ही भङ्ग हो जाता है। यह **भेद** है।

६६. इसका माहात्म्य यह है—"जो मिले उससे सन्तोष करना चाहिये"— इस भगवद्वचन का पालन, साथियों का हितैषी होना, 'यह हीन है', 'यह उत्तम है'—ऐसे विकल्प (ऊहापोह) का परित्याग, सहमति एवं विरोध का प्रहाण, अत्यधिक इच्छा के द्वार बन्द करना, अल्पेच्छता आदि के समनुरूप होना।

जो मिल जाय उसी से सन्तुष्ट यथासंस्तृतिक यति विकल्परहित होकर घास के बिछौने पर भी सुखपूर्वक सोता है।।

सब्रह्मचारिनवके हितेन अनुकम्पति ॥
तस्मा अरियसताचिण्णं मुनिपुङ्गववण्णितं।
अनुयुञ्जेथ मेधावी यथासन्थतरामतं ॥ ति ॥

अयं यथासन्थतिकङ्गे समादानविधानप्पभेदभेदानिसंसवण्णना ॥

१३. नेसज्जिकङ्गकथा

६७. **नेसज्जिकङ्गं** पि "सेय्यं पटिक्खिपामि", "नेसज्जिकङ्गं समादियामी" ति इमेसं अञ्ञतरवचनेन समादिन्नं होति।

६८. तेन पन नेसज्जिकेन रत्तिया तीसु यामेसु एकं यामं उट्ठाय चङ्कमितब्बं। इरियापथेसु हि निपज्जितुमेव न वट्टति। इदमस्स **विधानं**।

६९. **पभेदतो** पन अयं पि तिविधो होति; तत्थ—१. **उक्कट्ठस्स** नेव अपस्सेनं, न दुस्सपल्लत्थिका, न आयोगपट्टो वट्टति। २. **मज्झिमस्स** इमेसु तीसु यं किञ्चि वट्टति। ३. **मुदुकस्स** अपस्सेनं पि दुस्सपल्लत्थिका पि आयोगपट्टो पि बिब्बोहनं पि पञ्चङ्गो पि सत्तङ्गो पि वट्टति। पञ्चङ्गो पन पिट्ठिअपस्सयेन सद्धिं कतो। सत्तङ्गो नाम पिट्ठिअपस्सयेन च उभतोपस्सेसु अपस्सयेहि च सद्धिं कतो। तं किर **पीठाभयत्थेरस्स** अकंसु। थेरो अनागामी हुत्वा परिनिब्बायि।

७०. इमेसं पन तिण्णं पि सेय्यं कप्पितमत्ते धुतङ्गं भिज्जति। अयमेत्थ **भेदो**।

वह श्रेष्ठ के प्रति राग नहीं करता और हीन को पाकर क्रोध नहीं करता। नवीन सब्रह्मचारियों के हित के लिये अनुकम्पा करता है।

इसलिये मेधावी भिक्षु को आर्यजनों से सेवित, मुनिपुङ्गव (=भगवान् बुद्ध) द्वारा प्रशंसित यथासंस्तृतिक-विहार (साधना) में निरन्तर संलग्न रहना चाहिये ।।

यह यथासंस्तृतिकाङ्ग के विषय में समादान, विधान, प्रभेद, भेद एवं माहात्म्य का वर्णन समाप्त हुआ ।।

१३. नैषधिकाङ्ग

६७. तेरहवाँ **नैषधिकाङ्ग** भी १. "शय्या का परित्याग करता हूँ", या २. नैषधिकाङ्ग का ग्रहण करता हूँ"—इनमें से किसी एक देशनावचन से **ग्रहण** किया जाता है।

६८. उस नैषधिक व्रती को रात्रि के तीन प्रहरों में से एक प्रहर में उठकर चंक्रमण करना चाहिये। ईर्य्यापथों में से शयन ही उसके लिये विहित नहीं है। यह इसका **विधान** है।

६९. **प्रभेद** से यह भी तीन प्रकार का है। उनमें १. **उत्कृष्ट** के लिये न तो किसी सहारे का पीठ का टेकना, न 'दुस्सपल्लत्थिका' ('कपड़ा या रूई को गोल कर बनाया हुआ मसनद, जिससे पीठ को सहारा दिया जा सके।) न 'आयोगपट्ट' (वस्त्र आदि के द्वारा स्वशरीर को किसी खूँटी आदि अचल पदार्थ से बाँधे रखना, ताकि शरीर की निषीदन-अवस्था में बाधा न आवे) ही विहित है। २. **मध्यम** के लिये इन तीनों में से कोई भी विहित है। ३. **निम्न** के लिये पीठ टेकना भी, दुस्सपल्लत्थिका भी, आयोगपट्ट भी, तकिया भी, पञ्चाङ्ग एवं सप्ताङ्ग भी विहित है। पीठ के लिये टेक के साथ बनाये गये चार पाद वाले आसन को पञ्चाङ्ग कहते हैं। पीठ के लिये टेक के साथ ही, दोनों हाथों के लिये भी टेक के लिये बनाये गये चार पाद वाले आसन को सप्ताङ्ग कहते हैं। सम्भवतः इसे **पीठाभय स्थविर** के लिये पहले-पहल बनवाया गया था। स्थविर अनागामी होकर परिनिवृत्त हुए थे।

७०. इन तीनों का ही धुताङ्ग इनके द्वारा शय्या का सेवन (उपयोग) करते ही भङ्ग हो जाता है। यह भेद है।

७१. अयं पन **निसंसो**—"सेय्यसुखं पस्ससुखं मिद्धसुखं अनुयुत्तो विहरती" (दी० ३-१८५) ति वुत्तस्स चेतसो विनिबन्धस्स उपच्छेदनं, सब्बकम्मट्ठानानुयोगसप्पायता, पासादिकइरियापथता, विरियारम्भानुकूलता, सम्मापटिपत्तिया अनुब्रूहनं ति।

आभुजित्वान पल्लङ्कं पणिधाय उजुं तनु।
निसीदन्तो विकम्पेति मारस्स हदयं यति॥
सेय्यसुखं मिद्धसुखं हित्वा आरद्धवीरियो।
निसज्जाभिरतो भिक्खु सोभयन्तो तपोवनं॥
निरामिसं पीतिसुखं यस्मा समधिगच्छति।
तस्मा समनुयुञ्जेय्य धीरो नेसज्जिकं वतं॥ ति॥

अयं नेसज्जिकङ्गे समादानविधानप्पभेदभेदानिसंसवण्णना॥

धुतङ्गपकिण्णककथा

७२. इदानि—

कुसलत्तिकतो चेव धुतादीनं विभागतो।
समासव्यासतो चापि विञ्ञातब्बो विनिच्छयो॥ (वि० म० २/३)

ति इमिस्सा गाथाय वसेन वण्णना होति।

तत्थ **कुसलत्तिकतो** ति सब्बानेव हि धुतङ्गानि सेक्ख-पुथुज्जन-खीणासवानं वसेन सिया कुसलानि, सिया अब्याकतानि, नत्थि धुतङ्गं अकुसलं ति।

यो पन वदेय्य— "पापिच्छो इच्छापकतो आरञ्ञिको होती" (अं० २-४६३)

---

७१. और इसका यह **माहात्म्य** है— "शय्या-सुख, पार्श्व-सुख (=बगल में किसी के होने का सुख), निद्रा-सुख में रत हो विहरता है"— इस वचन में उक्त चित्त के बन्धन का नाश, सभी कर्मस्थानों में लगने की अनुकूलता, प्रासादिक (शारीरिक सुविधायुक्त) ईर्यापथ का होना, उद्योग के अनुकूल होना, सम्यक् प्रतिपत्ति की वृद्धि।

शरीर को सीधा रख, पद्मासन लगाकर बैठा हुआ यति मार (काम) के हृदय को कम्पित करता है।।

शय्या-सुख एवं निद्रासुख का त्याग कर, उद्योगी, बैठने में रत भिक्षु तपोवन को सुशोभित करता हुआ निरामिष (=विशुद्ध) प्रीतिसुख प्राप्त करता है, अतः धैर्यवान् साधक नैषधिक व्रत में लगा रहे।।

यह नैषधिकाङ्ग के समादान, प्रभेद आदि का वर्णन पूर्ण हुआ।।

धुताङ्गप्रकीर्णककथा

७२. अब—

कुशल-त्रिक, धुत आदि के विभाग का संक्षेप एवं विस्तार से भी इन धुताङ्गों का विनिश्चय (निर्णय) जानना चाहिये। अतः इस पूर्वोक्त गाथा के अनुसार इन धुताङ्गों के विषय में अवशिष्ट वर्णन किया जा रहा है।

इनमें, **कुशलत्रिक से**— सभी धुताङ्ग शैक्ष्य, पृथग्जन, क्षीणास्रव के अनुसार कुशल हो सकते हैं या अर्हत् के सन्दर्भ में अव्याकृत हो सकते हैं; किन्तु धुताङ्ग अकुशल नहीं हो सकता।

यदि कोई कहे कि "अरण्य में रहने वाला (भी) पापमय इच्छा वाला, स्वच्छन्दचार होता है"

ति आदिवचनतो अकुसलं पि धुतङ्गं ति? सो वत्तब्बो—न मयं 'अकुसलचित्तेन अरञ्ञे न वसती' ति वदाम। यस्स हि अरञ्ञे निवासो, सो आरञ्ञिको। सो च पापिच्छो वा भवेय्य, अप्पिच्छो वा। इमानि पन तेन तेन समादानेन धुतकिलेसत्ता धुतस्स भिक्खुनो अङ्गानि, किलेसधुननतो वा धुतं ति लद्धवोहारं ञाणं अङ्गमेतेसं ति धुतङ्गानि। अथ वा—धुतानि च तानि पटिपक्खनिद्धुननतो अङ्गानि च पटिपत्तिया ति पि धुतङ्गानी ति वुत्तं। न च अकुसलेन कोचि धुतो नाम होति, यस्सेतानि अङ्गानि भवेय्युं; न च अकुसलं किञ्चि धुनाति, येसं तं अङ्गं ति कत्वा धुतङ्गानी ति वुच्चेय्यं। नापि अकुसलं चीवरलोलुप्पादीनि चेव निद्धुनाति, पटिपत्तिया च अङ्गं होति, तस्मा सुवुत्तमिदं— "नत्थि अकुसलं धुतङ्गं" ति॥

येसं पि कुसलत्तिकविनिमुत्तं धुतङ्गं, तेसं अत्थतो धुतङ्गमेव नत्थि। असन्तं कस्स धुननतो धुतङ्गं नाम भविस्सति! "धुतगुणे समादाय वत्तती" ति वचनविरोधो पि च नेसं आपज्जति, तस्मा तं न गहेतब्बं" ति।

अयं ताव कुसलत्तिकतो वण्णना।

७३. **धुतादीनं विभागतो** ति। धुतो वेदितब्बो, धुतवादो वेदितब्बो, धुतधम्मा वेदितब्बा, धुतङ्गानि वेदितब्बानि, कस्स धुतङ्गसेवना सप्पाया?— ति वेदितब्बं।

७४. तत्थ **धुतो** ति। धुतकिलेसो वा पुग्गलो, किलेसधुननो वा धम्मो।

आदि वचनों के अनुसार धुताङ्ग भी अकुशल होता है? तो उससे कहना चाहिये—हम नहीं कहते है कि अकुशल चित्त से कोई अरण्य में नहीं रह सकता। जो कोई भी अरण्य में निवास करता है, वह आरण्यक है, चाहे वह पापमय इच्छा वाला हो या अल्पेच्छ हो। किन्तु, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ये उस भिक्षु के अङ्ग (अभ्यास, नियम) हैं जो धुत है, जिसने इनमें से किसी एक को धारण करने से क्लेशों को धुत (=विचलित) कर दिया है, अथवा क्लेशों को धुन डालने के कारण धुत कहा जाने वाला ज्ञान इनका अङ्ग है, इसलिये ये धुताङ्ग हैं। अथवा, प्रतिपक्ष (विरोधी दुर्गणों) का धुनन करने के कारण धुत हैं एवं प्रतिपत्ति (मार्ग) होने के कारण अङ्ग हैं—ऐसा भी कहा जाता है। अकुशल के द्वारा तो कोई भी धुत (=परिशुद्ध) नहीं होता, जिसके कि ये अङ्ग हों। और न ही अकुशल किसी को धुनता है, जिसका अङ्ग मानकर उन्हें धुताङ्ग कहा जाय। अकुशल न तो चीवर के प्रति लोलुपता आदि को धुनता है और न प्रतिपत्ति का अङ्ग ही होता है। इसलिये यह ठीक ही कहा गया है कि "अकुशल धुताङ्ग नहीं होता"।

जिनका (अनुराधपुर के अभयगिरिविहार के निवासी स्थविरों का जिनके अनुसार धुताङ्ग प्रज्ञप्तिमात्र=नाम या संज्ञा मात्र है—) यह भी कहना है कि "धुताङ्ग कुशल–त्रिक शैक्ष्य पृथग्जन क्षीणास्रव आदि से बाहर है, उनके लिये वस्तुतः धुताङ्ग हैं ही नहीं"। जब वे हैं ही नहीं, तो किसके धुनने से धुताङ्ग नाम होगा! "धुतगुणों का ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त होता है"—इस वचन से भी उन स्थविरों का विरोध होता है, अतः उनके मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता।।

यह कुशल–त्रिक के अनुसार धुताङ्गों का वर्णन है।।

७३. **धुत आदि के विभाग से—** धुत को जानना चाहिये, धुतवादी को जानना चाहिये, धुत-धमा को जानना चाहिये, धुताङ्गों को जानना चाहिये (एवं) धुताङ्ग किसके लिये उपयुक्त है?—इसे जानना चाहिये।

७४. **धुत—** यहाँ 'धुत' से ऐसे पुद्गल का तात्पर्य है जिसके क्लेश धुन दिये अर्थात् विचलित

७५. **धुतवादो ति।** *एत्थ पन*— १. अत्थि धुतो न धुतवादो, २. अत्थि न धुतो धुतवादो, ३. अत्थि नेव धुतो न धुतवादो, ४. अत्थि धुतो चेव धुतवादो च।

तत्थ यो धुतङ्गेन अत्तनो किलेसे धुनि, परं पन धुतङ्गेन न ओवदति, नानुसासति, **बक्कुलत्थेरो** विय, अयं धुतो न धुतवादो। यथाह—"तयिदं आयस्मा बक्कुलो धुतो न धुतवादो" ति। (१)

यो पन न धुतङ्गेन अत्तनो किलेसे धुनि, केवलं अञ्ञे धुतङ्गेन ओवदति अनुसासति, **उपनन्दत्थेरो** विय, अयं न धुतो धुतवादो। यथाह—"तयिदं आयस्मा उपनन्दो सक्यपुत्तो न धुतो धुतवादो" ति। (२)

यो उभयविपन्नो, **लाळुदायी** विय, अयं नेव धुतो न धुतवादो। यथाह—"तयिदं आयस्मा लाळुदायी नेव धुतो न धुतवादो" ति। (३)

यो पन उभयसम्पन्नो, धम्मसेनापति विय, अयं धुतो चेव धुतवादो च। यथाह—"तयिदं आयस्मा **सारिपुत्तो** धुतो चेव धुतवादो चा" ति। (४)

७६. **धुतधम्मा वेदितब्बा** ति। अप्पिच्छिता, सन्तुट्ठिता, सल्लेखता, पविवेकता, इदमत्थिता ति इमे धुतङ्गचेतनाय परिवारका पञ्च धम्मा "अप्पिच्छतं येव निस्साया" (अं० २-४६४) ति आदि वचनतो धुतधम्मा नाम। तत्थ अप्पिच्छता च सन्तुट्ठिता च अलोभो। सल्लेखता च पविवेकता च द्वीसु धम्मेसु अनुपतन्ति अलोभे च अमोहे च। इदमत्थिता ञाणमेव। तत्थ च अलोभेन पटिक्खेपवत्थुसु लोभं, अमोहेन तेस्वेव आदीनवपटिच्छादकं मोहं धुनाति। अलोभेन च अनुञ्ञातानं पटिसेवनमुखेन पवत्तं

कर दिये गये हों या वह धर्म (=स्थिति) जो क्लेशों का धुनना सूचित करता है। वास्तविक धुतवादी समझने के लिये उसे निम्नलिखित रूप में चार भागों में बाँटकर समझना चाहिये।

७५. **धुतवादी**— जैसे १. कोई धुत है धुतवादी नहीं है; २. धुत नहीं है, धुतवादी है; ३. न धुत है; न धुतवादी है एवं ४. कोई धुत भी है धुतवादी भी है।

इनमें, १. जो **वक्कुल स्थविर** के समान धुताङ्ग से अपने क्लेशों को धुन डालता है, किन्तु दूसरे को धुताङ्ग धारण करने का परामर्श या उपदेश नहीं करता वह धुत है, धुतवादी नहीं। जैसा कि कहा गया है—"यह आयुष्मान् वक्कुल धुत है, धुतवादी नहीं" २. किन्तु जो धुताङ्ग से अपने क्लेशों को नहीं धुनता, अपितु केवल दूसरे को सलाह या उपदेश देता है वह **उपनन्द स्थविर** के समान धुत नहीं है, धुतवादी है। जैसा कि कहा गया है—"यह आयुष्मान् उपनन्द शाक्यपुत्र धुत नहीं, धुतवादी है।" ३. जो **लाळुदायी** के समान दोनों से रहित है, वह धुत है न धुतवादी है। जैसा कि कहा गया है—"यह आयुष्मान् लाळुदायी न धुत है, न धुतवादी।" ४. जो **धर्मसेनापति** (सारिपुत्र) के समान दोनों से युक्त है, वह धुत भी है और धुतवादी भी है, जैसा कि कहा गया है—"यह आयुष्मान् सारिपुत्र धुत भी है, धुतवादी भी है।"

७६. **धुत-धर्मों को भी जानना चाहिये**— अल्पेच्छता, सन्तोष, उपेक्षा, प्रविवेक, इदमस्तिता—ये धुताङ्गचेतना के परिवार (रूप) पाँच धर्म धुत धर्म हैं, "अल्पेच्छ के ही आधार पर" आदि वचन के अनुसार। उनमें, अल्पेच्छता और सन्तोष अलोभ है। 'इदमस्तिता' ज्ञान ही है। वह अलोभ के द्वारा विरोधी वस्तुओं में लोभ को एवं अमोह के द्वारा उनमें ही दोषों को छिपाये रहने वाले मोह को धुनता है। अलोभ के द्वारा कामसुखोपभोग को, जो कि प्रतिसेवन के माध्यम से अनुज्ञात (=बतलाया गया)

कामसुखानुयोगं, अमोहेन धुतङ्गेसु अतिसल्लेखमुखेन पवत्तं अत्तकिलमथानुयोगं धुनाति। तस्मा इमे धम्मा 'धुतधम्मा' ति वेदितब्बा।

७७. **धुतङ्गानि वेदितब्बानी** ति। तेरस धुतङ्गानि वेदितब्बानि—पंसुकूलिकङ्गं ....पे०.... नेसज्जिकङ्गं ति। तानि अत्थतो लक्खणादीहि च वुत्तानेव।

७८. **कस्स धुतङ्गसेवना सप्पाया** ति? रागचरितस्स चेव मोहचरितस्स च। कस्मा? धुतङ्गसेवने हि दुक्खापटिपदा चेव सल्लेखविहारो च। दुक्खापटिपदं च निस्साय रागो वूपसम्मति। सल्लेखं निस्साय अप्पमत्तस्स मोहो पहीयति। आरञ्ञिकङ्गरुक्खमूलिकङ्ग-पटिसेवना वा एत्थ दोसचरितस्सापि सप्पाया। तत्थ हिस्स असङ्घट्टियमानस्स विहरतो दोसो पि वूपसम्मती ति॥

अयं धुतादीनं विभागतो वण्णना॥

७९. **समासव्यासतो** ति। इमानि पन धुतङ्गानि **समासतो** तीणि सीसङ्गानि, पञ्च असम्भिन्नङ्गानी ति अट्ठेव होन्ति। तत्थ सपदानचारिकङ्गं, एकासनिकङ्गं, अब्भोकासिकङ्गं ति इमानि तीणि सीसङ्गानि। सपदानचारिकङ्गं हि रक्खन्तो पिण्डपातिकङ्गं पि रक्खिस्सति। एकासनिकङ्गं च रक्खतो पत्तपिण्डिकङ्गखलुपच्छाभत्तिकङ्गानि पि सुरक्खणीयानि भविस्सन्ति। अब्भोकासिकङ्गं रक्खन्तस्स किं अत्थि रुक्खमूलिकङ्गयथासन्थतिकङ्गेसु रक्खितब्बं नाम! इति इमानि तीणि सीसङ्गानि; आरञ्ञिकङ्गं, पंसुकूलिकङ्गं, तेचीवरिकङ्गं, नेसज्जिकङ्गं, सोसानिकङ्गं ति इमानि पञ्च असम्भिन्नङ्गानि चा ति अट्ठेव होन्ति।

है, धुनता है; अमोह के द्वारा धुताङ्गों में, अति उपेक्षा से प्रवृत्त 'स्वयं को कष्ट देते रहने की प्रवृत्ति' (=अत्तकिलमथानुयोग) को धुनता है। इसलिये ये धर्म 'धुत धर्म' समझे जाने चाहिये।

७७. **धुताङ्गों को भी जानना चाहिये—** तेरह धुताङ्गों को जानना चाहिये। जैसे—१. पांशुकूलिकाङ्ग.... १३. नैषद्यकाङ्ग। उनके अर्थ एवं लक्षण आदि इसी प्रकरण मे पहले कहे ही जा चुके हैं।

७८. **किसके लिये धुताङ्ग का सेवन उपयुक्त है?—** रागचरित एवं मोहचरित के लिये। क्यों? क्योंकि धुताङ्गसेवन दुःखप्रतिपद् एवं उपेक्षाविहार हैं। दुःख-प्रतिपद् से राग शान्त हो जाता है। एवं जो उपेक्षा के कारण प्रमादरहित है, उसका मोह नष्ट हो जाता है। आरण्यकाङ्ग या वृक्षमूलिकाङ्ग का सेवन द्वेषचरित के लिये भी उपयुक्त है। एकान्त होने के कारण वहाँ उसके सङ्घर्षरहित होकर विहार करने से उसका द्वेष भी शान्त हो जाता है।।

यह धुत आदि का, विभाग के अनुसार, वर्णन समाप्त हुआ।।

७९. **संक्षेप (समास) और विस्तार (व्यास) से—** ये धुताङ्ग, **संक्षेप** में, तीन प्रधान (=शीर्ष) **अङ्ग** एवं पाँच असम्भिन्न अङ्ग—इस प्रकार कुल आठ ही होते हैं। उनमें, सापदानचारिकाङ्ग, ऐकासनिकाङ्ग, **आभ्यवकाशिकाङ्ग**—ये शीर्ष अङ्ग हैं; क्योंकि सापदानचारिकाङ्ग, ऐकासनिकाङ्ग, आभ्यवकाशिकाङ्ग—**ये शीर्ष अङ्ग हैं**; क्योंकि सापदानचारिकाङ्ग का पालन करने वाला पिण्डपातिकाङ्ग का भी पालन करेगा। ऐसासनिकाङ्ग का पालन करने वाला पिण्डपातिकाङ्ग का भी पालन करेगा। ऐकासनिकाङ्ग का पालन करते हुए पात्रपिण्डिक एवं खलुपश्चाद्भक्तिकाङ्ग का भी पालन हो जायगा। आभ्यवकाशिकाङ्ग के लिये वृक्षमूलिकाङ्ग और यथासंस्तृतिकाङ्ग का पालन का महत्त्व रखता है! इस प्रकार ये तीन प्रधान अङ्ग एवं आरण्यकाङ्ग, पांशुकूलिकाङ्ग, त्रैचीवरिकाङ्ग, नैषद्यिकाङ्ग, श्माशानिकाङ्ग—ये पाँच असम्भिन्न अङ्ग—(सङ्कलनया) आठ ही होते हैं।

पुन द्वे चीवरपटिसंयुत्तानि, पञ्च पिण्डपातपटिसंयुत्तानि, पञ्च सेनासनपटिसयुत्तानि, एकं विरियपटिसंयुत्तं ति एवं चत्तारो व होन्ति। तत्थ नेसज्जिकङ्गं विरियपटिसंयुत्तं। इतरानि पाकटानेव।

पुन सब्बानेव निस्सयवसेन द्वे होन्ति पच्चयनिस्सितानि द्वादस, विरियनिस्सितं एकं ति। सेवितब्बासेवितब्बवसेन पि द्वे येव होन्ति। यस्य हि धुतङ्गं सेवेन्तस्स कम्मट्ठानं वड्ढति, तेन सेवितब्बानि। यस्स सेवतो हायति, तेन न सेवितब्बानि। यस्स पन सेवतो पि असेवतो पि वड्ढतेव, न हायति, तेनापि पच्छिमं जनतं अनुकम्पन्तेन सेवितब्बानि। यस्सापि सेवतो पि असेवतो पि न वड्ढति, तेनापि सेवितब्बानि येव आयतिं वासनत्थाया ति।

एवं सेवितब्बासेवितब्बवसेन दुविधानि पि सब्बानेव चेतनावसेन एकविधानि होन्ति। एकमेव हि धुतङ्गं समादानचेतना ति। **अट्ठकथायं** पि वुत्तं—"या चेतना, तं 'धुतङ्गं' ति वदन्ती" ति।

८०. **ब्यासतो** पन भिक्खूनं तेरस, भिक्खुनीनं अट्ठ, सामणेरानं द्वादस, सिक्खमान-सामणेरीनं सत्त, उपासक-उपासिकानं द्वे ति द्वाचत्तालीस होन्ति। सचे पन अब्भोकासे आरञ्ञिकङ्गसम्पन्नं सुसानं होति, एको पि भिक्खु एकप्पहारेन सब्बधुतङ्गानि परिभुञ्जितुं सक्कोति। भिक्खुनीनं पन आरञ्ञिकङ्गं खलुपच्छाभत्तिकङ्गं च द्वे पि सिक्खापदेनेव पटिक्खित्तानि; अब्भोकासिकङ्गं, रुक्खमूलिकङ्गं, सोसानिकङ्गं ति इमानि तीणि

पुन इनमें दो अङ्ग चीवरसम्बन्धी, पाँच पिण्डपातसम्बन्धी, पाँच शयनासनसम्बन्धी, एक वीर्यसम्बन्धी—इस प्रकार चार ही होते हैं। उनमें नैषद्यिकाङ्ग वीर्यसम्बन्धी है, अन्य स्पष्ट है। फिर निश्रय के अनुसार ये सभी दो अङ्गों में अन्तर्भूत हो जाते हैं; जैसे—प्रत्ययसन्निश्रित बारह एवं वीर्यसन्निश्रित एक।

सेवनीय एवं असेवनीय के अनुसार भी दो ही होते हैं। धुताङ्ग का पालन करते हुए जिसका कर्मस्थान बढ़ता है, उसके लिये सेवनीय है। जिसका कर्मस्थान धुताङ्ग का पालन करते हुए घटता है, उसके लिये असेवनीय हैं। किन्तु जिसका कर्मस्थान पालन करते हुए या पालन न करते हुए भी बढ़ता ही है घटता नही है; उसके लिये भी आगामी परम्परा (पीढ़ी) के प्रति अनुकम्पा करते हुए सेवनीय है। और जिसका कि पालन करते हुए भी, न पालन करते हुए भी नहीं बढता है; उसके लिये भी भविष्य के लिये, अभ्यास डालने के उद्देश्य से, सेवनीय हैं।

इस प्रकार सेवनीय-असेवनीय भेद से, दो प्रकार के होने पर भी, वे सभी चेतना के अनुसार एक प्रकार के होते है; क्योंकि धुताङ्ग को ग्रहण करने की चेतना एक ही है। **अट्ठकथा** में भी कहा गया है—"जो चेतना है उसे ही धुताङ्ग कहा जाता है।"

८०. फिर **विस्तार से**— भिक्षुओं के लिये तेरह, भिक्षुणियों के लिये आठ, श्रामणेरियों के लिये सात, उपासक-उपासिकाओं के लिये दो—यों बयालीस (४२) होते हैं।

यदि खुले आकाश के नीचे, आरण्यकाङ्गसम्पन्न (=अरण्य की विशेषताओं से युक्त) श्मशान हो, तो (वहाँ) एक भी भिक्षु एक ही साथ सभी धुताङ्गों का परिभोग कर सकता है। भिक्षुणियो के लिये तो आरण्यकाङ्ग एवं खलुपश्चाद्भक्तिकाङ्ग—ये दोनों शिक्षापद के द्वारा ही निषिद्ध कर दिये गये है। आभ्यवकाशिकाङ्ग, वृक्षमूलिकाङ्ग, श्माशानिकाङ्ग—इन तीनो का पालन कठिन है। भिक्षुणी को किसी सहायिका के विना नही रहना चाहिये। एवं इस प्रकार के स्थान मे समान इच्छा वाली सहायिका दुर्लभ

दुप्परिहारानि। भिक्खुनिया हि दुतियिकं विना वसितुं न वट्टति। एवरूपे च ठाने समानच्छन्दा दुतियिका दुल्लभा। सचे पि लभेय्य संसट्ठविहारतो न मुच्चेय्य। एवं सति यस्सत्थाय धुतङ्गं सेवेय्य, स्वेवस्सा अत्थो न सम्पज्जेय्य। एवं परिभुञ्जितुं असक्कुणेय्यताय पञ्च हापेत्वा भिक्खुनीनं अट्ठेव होन्ती ति वेदितब्बानि।

यथावुत्तेसु पन ठपेत्वा तेचीवरिकङ्गं सेसानि द्वादस सामणेरानं, सत्त सिक्खमान-सामणेरीने वेदितब्बानि। उपासकउपासिकानं पन एकासनिकङ्गं, पत्तपिण्डिकङ्गं ति इमानि द्वे पतिरूपानि चेव सक्का च परिभुञ्जितुं ति द्वे धुतङ्गानी ति एवं व्यासतो द्वेचत्तालीस होन्ती ति॥

अयं समास-व्यासतो वण्णना॥

एत्तावता च "सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो" ति इमस्सा गाथाय सीलसमाधि-पञ्ञामुखेन देसिते विसुद्धिमग्गे येहि अप्पिच्छतासन्तुट्ठितादीहि गुणेहि वुत्तप्पकारस्स सीलस्स वोदानं होति, तेसं सम्पादनत्थं समादातब्बधुतङ्गकथा भासिता होति॥

इति साधुजनपामोज्जत्थाय कते विसुद्धिमग्गे
धुतङ्गनिद्देसो नाम दुतियो परिच्छेदो॥



होती है। यदि प्राप्त भी हो जाय तो संसर्ग–विहार से मुक्ति नहीं मिल सकती। फिर धुताङ्ग का पालन कैसे होगा! ऐसा होने पर, जिस उद्देश्य से धुताङ्ग का पालन करना है, उस उद्देश्य की पूर्ति ही नहीं हो सकेगी! यों, पालन असम्भव होने से भिक्षुणियों के लिये पाँच (धुताङ्गों) को कम करके, आठ ही धुताङ्ग होते हैं—ऐसा जानना चाहिये।

पूर्वोक्त (तेरह) में से त्रैचीवरिकाङ्ग को छोड़कर शेष बारह श्रमणों के लिये, सात शिक्षमाणा और श्रामणेरियों के लिये समझना चाहिये। ऐकासनिकाङ्ग एवं पात्रपिण्डिकाङ्ग उपासक–उपासिकाओं के अनुरूप है एवं वे उनके पालन में समर्थ भी हैं। इसलिये उनके लिये दो धुताङ्ग ही कहे गये हैं। इस प्रकार विस्तार से (ये सब) बयालीस होते हैं।।

यह संक्षेप एवं विस्तार से धुताङ्गों का वर्णन हुआ।।

यहाँ तक, **"सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो"** इस गाथा के अनुसार, शील, समाधि और प्रज्ञा के अनुसार उपदिष्ट विशुद्धिमार्ग में उक्त प्रकार के शील की जिन अल्पेच्छता, सन्तोष आदि गुणों से शुद्धि होती है, उन (गुणों) की पूर्ति के लिये ग्रहण करने योग्य धुताङ्गों का परिचय करा दिया गया है।।

साधुजनों के प्रमोद हेतु रचित इस विशुद्धिमार्ग (ग्रन्थ) में
धुताङ्गनिर्देश नामक द्वितीय परिच्छेद समाप्त।।



कम्मट्ठानग्गहणनिद्देसो

(ततियो परिच्छेदो)

समाधिकथा

१. इदानि यस्मा एवं धुतङ्गपरिहरणसम्पादितेहि अप्पिच्छतादीहि गुणेहि परियोदाते इमस्मिं सीले पतिट्ठितेन "सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो चित्तं पञ्ञं च भावयं" ति वचनतो चित्तसीसेन निद्दिट्ठो समाधि भावेतब्बो। सो च अति सङ्खेपदेसितत्ता विञ्ञातुं पि ताव न सुकरो, पगेव भावेतुं ,तस्मा वित्थारं च भावनानयं च दस्सेतुं इदं पञ्हाकम्मं होति—

को समाधि ? केनट्ठेन समाधि ? कानस्स लक्खणरसपच्चुपट्ठानपदट्ठानानि ? कतिविधो समाधि ? को चस्स सङ्किलेसो ? किं वोदानं ? कथं भावेतब्बो ? समाधिभावनाय को आनिसंसो ति ?

समाधिसरूपं

२. तत्रिदं विसज्जनं—

को समाधी ति ? समाधि बहुविधो नानप्पकारको। तं सब्बं विभावयितुं आरब्भमानं विस्सज्जनं अधिप्पेतं चेव अत्थं न साधेय्य, उत्तरि च विक्खेपाय संवत्तेय्य, तस्मा इधाधिप्पेतमेव सन्धाय वदाम—कुसलचित्तेकग्गता समाधि।

कर्मस्थानग्रहणनिर्देश

(तृतीय परिच्छेद)

समाधिनिरूपण

१. अब क्योंकि इस प्रकार धुताङ्ग धारण करने से पूर्ण होने वाले अल्पेच्छता आदि गुणों से परिशुद्ध इस शील में प्रतिष्ठित भिक्षु को "सीले पतिट्ठाय.....चित्तं पञ्ञं च भावयं" इस देशना–वचन में 'चित्त' शीर्षक से निर्दिष्ट समाधि की भावना करना चाहिये; इस समाधि का अतिसंक्षेप में वर्णन करने से पहले तो उसे जानना ही सरल नहीं, फिर उसकी भावना करना तो और भी कठिन है; अतः उसकी विस्तार से व्याख्या एवं भावना–विधि प्रदर्शित करने के लिये ये प्रश्न किये जाते हैं—

(१) समाधि का स्वरूप क्या है? (२) किस अर्थ में समाधि है? (३) इसके लक्षण, रस, प्रत्युपस्थान एवं पदस्थान क्या हैं? (४) समाधि के कितने प्रकार भेद हैं? (५) इसका संक्लेश (चित्तमल) क्या है? (६) व्यवदान (शुद्धि) क्या है? (७) इसकी भावना कैसे करनी चाहिये? (८) इस की भावना का माहात्म्य क्या है?

२. इन उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर क्रमशः ये हैं—

(१) समाधि का स्वरूप

समाधि क्या है? शास्त्र में समाधि बहुविध एवं नाना प्रकार की बतायी गयी है। यदि किसी एक उत्तर के द्वारा उन सब की व्याख्या का प्रयास करें तो ऐसा उत्तर न तो वक्ता के अभिप्राय को और न ही किसी अर्थ (उद्देश्य) को सिद्ध कर पायगा, अपितु वह आगे भ्रम (विक्षेप) का भी कारण हो सकता है; अतः यहाँ केवल अभिप्रेत प्रश्न के विषय में ही कहते हैं कि "कुशल चित्त की एकाग्रता ही समाधि है"।

केनट्ठेन समाधि ?

३. **केनट्ठेन समाधी** ति ? समाधानट्ठेन समाधि। किमिदं समाधानं नाम ? एकारम्मणे चित्तचेतसिकानं समं सम्मा च आधानं, ठपनं ति वुत्तं हति। तस्मा यस्स धम्मस्सानुभावेन एकारम्मणे चित्तचेतसिका समं सम्मा च अविक्खिपमाना अविप्पकिण्णा च हुत्वा तिट्ठन्ति, इदं 'समाधानं' ति वेदितब्बं।

समाधिस्स लक्खणादीनि

४. **कानस्स लक्खणरसपच्चुपट्ठानपदट्ठानानी** ति ? एत्थ पन अविक्खेपलक्खणो समाधि, विक्खेपविद्धंसनरसो, अविकम्पनपच्चुपट्ठानो। "सुखिनो चित्तं समाधियती" (दी० नि० १-६५) ति वचनतो पन सुखमस्स पदट्ठानं।

समाधिभेदा

५. **कतिविधो समाधी** ति ? अविक्खेपलक्खणेन ताव एकविधो।

उपचार-अप्पनावसेन दुविधो, तथा लोकिय-लोकुत्तरवसेन सप्पीतिकनिप्पीतिक-वसेन सुखसहगत-उपेक्खासहगतवसेन च।

तिविधो हीनमज्झिमपणीतवसेन, तथा सवितक्कसविचारादिवसेन, पीतिसहगतादि-वसेन, परित्तमहग्गतप्पमाणवसेन च।

चतुब्बिधो दुक्खापटिपदादन्धभिञ्ञादिवसेन, तथा परित्तपरित्तारम्मणादिवसेन, चतुझानङ्गवसेन, हानभागियादिवसेन, कामावचरादिवसेन, अधिपतिवसेन च।

---

(२) किस अर्थ में समाधि शब्द का प्रयोग है?

३. **किस अर्थ में समाधि है?** अर्थात् समाधि का अर्थ क्या है? समाधान के अर्थ में 'समाधि' शब्द का प्रयोग है। यह समाधान क्या है? एक आलम्बन में चित्त-चैतसिकों का एक समान एवं सम्यक् रूप से आधान (=टिकाना) करना ही समाधान कहा गया है। इसलिये जिस धर्म के कारण (=आनुभाव से=बल से, कारण से) एक आलम्बन में चित्त-चैतसिक एक समान एवं सम्यक् रूप से विक्षेपरहित एवं अविप्रकीर्ण (=एकजुट) होकर रहते हैं, उसे 'समाधान' समझना चाहिये।

(३) समाधि के लक्षण आदि

४. **इसके लक्षण, रस, प्रत्युपस्थान, पदस्थान क्या है?** समाधि का लक्षण है अविक्षेप (=चित्त का ध्येय विषय से न हटना)। इसका रस (=कार्य) है विक्षेप का विध्वंस (=विनाश) करना। और कम्पन रहित होना प्रत्युपस्थान है। (ध्येय विषय के प्रति चित्त-चैतसिकों के, निर्वातस्थित दीपशिखावत्, कम्पनरहित वर्तन के रूप में समाधि को समझना चाहिये।) "सुखी का चित्त समाधिस्थ होता है"-इस भगवद्वचन के अनुसार सुख इसका पदस्थान (=आसन्न कारण) है।

(४) समाधि के भेद

५. **समाधि के कितने भेद हैं?**- समाधि उक्त अविक्षेप लक्षण के अनुसार **एकविध** है।

तथा उपचार-अर्पणा के अनुसार **द्विविध** है। एवं लौकिक लोकोत्तर, प्रीतिसहित प्रीतिरहित, सुखसहगत उपेक्षासहगत-इन भेदों से भी द्विविध है।

हीन, मध्यम, प्रणीत के अनुसार **त्रिविध** है। तथा सवितर्क सविचार आदि या प्रीतिसहगत आदि एवं परित्र, महद्गत, अप्रमाण आदि के अनुसार भी त्रिविध है।

दु:खप्रतिपद्, दन्ध अभिज्ञा (=धुँधला या मन्द अपरोक्ष ज्ञान) आदि के अनुसार **चतुर्विध** है।

पञ्चविधो पञ्चकनये पञ्चझानङ्गवसेना ति।

समाधिएककदुकानि

६. तत्थ **एकविध**कोट्ठासो उत्तानत्थो येव।

दुविधकोट्ठासे—छन्नं अनुस्सतिट्ठानानं, मरणस्सतिया, उपसमानुस्सतिया, आहारे पटिकूलसञ्ञाय, चतुधातुववत्थानस्सा ति इमेसं वसेन लद्धचित्तेकग्गता, या च अप्पनासमाधीनं पुब्बभागे एकग्गता, अयं **उपचारसमाधि**। "पठमस्स झानस्स परिकम्मं पठमस्स झानस्स अनन्तरपच्चयेन पच्चयो" (अभि० ७ : २-३४१) ति आदि वचनतो पन या परिकम्मानन्तरा एकग्गता, अयं **अप्पनासमाधी** ति एवं उपचारप्पनावसेन दुविधो।

दुतियदुके—तीसु भूमिसु कुसलचित्तेकग्गता **लोकियो** समाधि। अरियमग्गसम्पयुत्ता एकग्गता **लोकुत्तरो** समाधी ति एवं लोकिय-लोकुत्तरवसेन दुविधो।

ततियदुके—चतुक्कनये द्वीसु, पञ्चकनये तीसु झानेसु एकग्गता सप्पीतिको समाधि। अवससेसु द्वीसु झानेसु एकग्गता निप्पीतिको समाधि। उपचारसमाधि पन सिया सप्पीतिको, सिया निप्पीतिको ति एवं सप्पीतिक-निप्पीतिकवसेन दुविधो।

चतुत्थदुके—चतुक्कनये तीसु, पञ्चकनये चतूसु झानेसु एकग्गता सुखसहगतो समाधि। अवसेसस्मिं उपेक्खासहगतो समाधि। उपचारसमाधि पन सिया सुखसहगतो, सिया उपेक्खासहगतो ति एवं सुखसहगत-उपेक्खासहगतवसेन दुविधो।

तथा परित्र, परित्रालम्बन आदि के अनुसार, चार ध्यान एवं हानभागीय आदि के अनुसार भी, कामावचरादि भेद से भी, तथा अधिपति भेद से भी चतुर्विध है।

पञ्चक नय (=पाँच ध्यानों को मानने वाली विधि) में पञ्च ध्यानाङ्गों के अनुसार **पञ्चविध है**।

समाधि के एकक एवं द्विक विभाग

६. उनमें, **'एकविध'** समाधिबोधक वर्ग का अर्थ स्पष्ट ही है।

द्विविध (समाधि) **वर्ग** में– छः अनुस्मृति–स्थान, मरण–स्मृति, उपशमानुस्मृति, आहार में प्रतिकूलसंज्ञा, चतुर्धातुव्यवस्थापन–इनके द्वारा प्राप्त चित्त की एकाग्रता एवं अर्पणा समाधि के पूर्व की एकाग्रता **उपचार समाधि** है। "प्रथम ध्यान का परिकर्म (=प्रारम्भिक कृत्य) प्रथम ध्यान का अनन्तरप्रत्यय (=आसन्न कारण) होने से प्रत्यय है"–आदि वचनों के अनुसार जो परिकर्म के अनन्तर आने वाली एकाग्रता है, वह **अर्पणा समाधि** है। इस प्रकार उपचार एवं अर्पणा के भेद से (समाधि) द्विविध है।

द्वितीय द्विक में– =कामावचर, रूपावचर एवं अरूपावचर–इन तीनों भूमियों में कुशल चित्त की एकाग्रता **लौकिक** समाधि है। आर्यमार्गसम्प्रयुक्त एकाग्रता **लोकोत्तर** समाधि है। इस प्रकार लौकिक एवं लोकोत्तर भेद से भी यह द्विविध है।

तृतीय द्विक में– =चार ध्यान मानने वाली विधि चतुष्क नय में दो ध्यानों में एवं पाँच ध्यान मानने वाली विधि पञ्चक नय में तीन में जो एकाग्रता होती है वह प्रीतिसहित समाधि है। अवशिष्ट दो ध्यानों में प्राप्त एकाग्रता प्रीतिरहित समाधि है। उपचारसमाधि प्रीतिसहित भी हो सकती है, प्रीतिरहित भी। इस प्रकार प्रीतिसहित एवं प्रीतिरहित भेद से वह द्विविध है।

चतुर्थ द्विक में– चतुष्क नय मे तीन ध्यानों में, एवं पञ्चक नय में चार ध्यानों में जो एकाग्रता होती है वह सुखसहगत समाधि है। अवशिष्ट ध्यानों में जो एकाग्रता होती है वह उपेक्षासहगत समाधि है। उपचार–समाधि सुखसहगत भी हो सकती है, उपेक्षासहगत भी। यों, समाधि सुखसहगत एवं उपेक्षासहगत भेद से भी द्विविध है।

समाधितिकानि

७. **तिकेसु—पठमत्तिके** पटिलद्धमत्तो हीनो, नातिसुभावितो मज्झिमो, सुभावितो वसिप्पत्तो पणीतो ति एवं हीन-मज्झिम-पणीतवसेन तिविधो।

दुतियत्तिके—पठमज्झानसमाधि सद्धिं उपचारसमाधिना सवितक्कसविचारो। पञ्चकनये दुतियज्झानसमाधि अवितक्कविचारमत्तो। यो हि वितक्कमत्ते येव आदीनवं दिस्वा विचारे अदिस्वा केवलं वितक्कप्पहानमत्तं आकङ्खमानो पठमज्झानं अतिक्कमति, सो अवितक्कविचारमत्तं समाधिं पटिलभति। तं सन्धायेतं वुत्तं। चतुक्कनये पन दुतियादीसु, पञ्चकनये ततियादीसु तीसु झानेसु एकग्गता अवितक्काविचारो समाधी ति एवं सवितक्कसविचारादिवसेन तिविधो।

ततियत्तिके—चतुक्कनये आदितो द्वीसु, पञ्चकनये च तीसु झानेसु एकग्गता पीतिसहगतो समाधि। तेस्वेव ततिये च चतुत्थे च झाने एकग्गता सुखसहगतो समाधि। अवसाने उपेक्खासहगतो। उपचारसमाधि पन पीतिसुखसहगतो वा होति उपेक्खासहगतो वा ति एवं पीतिसहगतादिवसेन तिविधो।

चतुत्थत्तिके—उपचारभूमियं एकग्गता परित्तो समाधि। रूपावचरारूपावचरकुसले एकग्गता महग्गतो समाधि। अरियमग्गसम्पयुत्ता एकग्गता अप्पमाणो समाधी ति एवं परित्त-महग्गतप्पमाणवसेन तिविधो।

समाधिचतुक्कानि

८. **चतुक्केसु पठमचतुक्के**—अत्थि समाधि दुक्खापटिपदो दन्धाभिञ्ञो, अत्थि

समाधि के त्रिक

७. **त्रिकों में— प्रथम त्रिक में** जो समाधि प्रतिलब्धमात्र है, परन्तु अभ्यस्त नहीं है, वह हीन है; जिसका अधिक अभ्यास नहीं किया गया है वह मध्यम है और जो पूर्ण अभ्यस्त कर ली गयी है, जिसे वश (स्वायत्तता) में कर लिया गया हो, वह प्रणीत (=उत्तम) है। इस प्रकार हीन, मध्यम एवं उत्तम भेद से त्रिविध है।

द्वितीय त्रिक में— उपचार समाधि के साथ प्रथम ध्यान की समाधि 'सवितर्क-सविचार' है। पञ्चक नय में, द्वितीय ध्यान की समाधि 'अवितर्क-विचारमात्र' है। जो वितर्क मात्र में ही दोष देखकर एवं विचार में दोष न देखकर वितर्क के प्रहाण मात्र की इच्छा करते हुए प्रथम ध्यान का अतिक्रमण करता आगे बढ़ता है, वह 'अवितर्कविचारमात्र समाधि' का लाभ करता है। उसी के सन्दर्भ में यह कहा गया है। चतुष्क नय में प्रथम दो ध्यानों एवं पञ्चक नय में प्रथम तीन ध्यानों में प्राप्त एकाग्रता 'अवितर्क-अविचार समाधि' है। इस तरह सवितर्क-सविचार आदि भेद से समाधि त्रिविध है।

तृतीय त्रिक में— चतुष्क नय में प्रथम दो एवं पञ्चक नय में प्रथम तीन ध्यानों में जो एकाग्रता होती है वह 'प्रीतिसहगत समाधि' है। उन्हीं तृतीय एवं चतुर्थ ध्यानों में एकाग्रता को 'सुखसहगत समाधि' कहते हैं। शेष 'उपेक्षासहगत' है। उपचारसमाधि 'प्रीतिसुखसहगत' या 'उपेक्षासहगत' होती है। इस प्रकार, प्रीतिसहगत आदि के भेद से यह त्रिविध है।

चतुर्थ त्रिक में— उपचारभूमि में एकाग्रता 'परित्त (=कुशल चित्त के कामावचर भाव के कारण परिमित) समाधि' है। रूपावचर, अरूपावचर के कुशल चित्त की एकाग्रता 'महद्गत (=महान्) समाधि' है। आर्यमार्गसम्प्रयुक्त एकाग्रता 'अप्रमाण (=अपरिमित) समाधि' है। इस प्रकार, परित्त, महद्गत, अप्रमाण के भेद से भी यह समाधि त्रिविध है।

दुक्खापटिपदो खिप्पाभिञ्ञो, अत्थि सुखापटिपदो दन्धाभिञ्ञो, अत्थि सुखापटिपदो खिप्पाभिञ्ञो ति।

तत्थ पठमसमन्नाहारतो पट्ठाय याव तस्स तस्स झानस्स उपचारं उप्पज्जति, ताव पवत्ता समाधिभावना **पटिपदा** ति वुच्चति। उपचारतो पन पट्ठाय याव अप्पना, ताव पवत्ता पञ्ञा **अभिञ्ञा** ति वुच्चति। सा पनेसा पटिपदा एकच्चस्स दुक्खा होति, नीवरणादिपच्चनीकधम्मसमुदाचारगहणताय किच्छा असुखासेवना ति अत्थो। एकच्चस्स तदभावेन सुखा। अभिञ्ञा पि एकच्चस्स दन्धा होति मन्दा असीघप्पवत्ति। एकच्चस्स खिप्पा अमन्दा सीघप्पवत्ति।

तत्थ यानि परतो सप्पायासप्पायानि च, पलिबोधुपच्छेदादीनि पुब्बकिच्चानि च, अप्पनाकोसल्लानि च वण्णयिस्साम, तेसु यो असप्पायसेवी होति, तस्स दुक्खा पटिपदा दन्धा च अभिञ्ञा होति। सप्पायसेविनो सुखा पटिपदा खिप्पा च अभिञ्ञा। यो पन पुब्बभागे असप्पायं सेवित्वा अपरभागे सप्पायसेवी होति, पुब्बभागे वा सप्पायं सेवित्वा अपरभागे असप्पायसेवी, तस्स वोमिस्सकता वेदितब्बा। तथा पलिबोधुपच्छेदादिकं पुब्बकिच्चं असम्पादेत्वा भावनमनुयुत्तस्स दुक्खा पटिपदा होति विपरियायेन सुखा। अप्पनाकोसल्लानि पन असम्पादेन्तस्स दन्धा अभिञ्ञा होति। सम्पादेन्तस्स खिप्पा।

समाधि–चतुष्क

८. **चतुष्कों में प्रथम चतुष्क में**– (१) दु:खप्रतिपद्, दन्ध–अभिज्ञा (मन्द ज्ञान) समाधि है, (२) दु:खप्रतिपद्, क्षिप्र–अभिज्ञा (=शीघ्रता से प्रवर्तित होने वाला अपरोक्ष ज्ञान) समाधि है, (३) सुखप्रतिपद्, दन्ध–अभिज्ञा समाधि है, (४) सुखप्रतिपद्, क्षिप्र–अभिज्ञा समाधि है–यों इस समाधि के चार भेद गिनाये गये हैं।

इनमें, प्रथम सचेतन प्रतिक्रिया से लेकर किसी ध्यान का उपचार (स्थैर्य) उत्पन्न होने तक जो समाधि की भावना है, उसे 'प्रतिपद्' (या प्रतिपदा) कहते हैं। एवं उपचार से लेकर अर्पणा तक प्रवृत्त जो प्रज्ञा होती है वह 'अभिज्ञा' कही जाती है। नीवरण (=कामच्छन्द, व्यापाद, स्त्यानमृद्ध, औद्धत्य–कौकृत्य एवं विचिकित्सा) आदि विपरीत धर्मों के समुदाचार (=उत्पन्न होने) से एवं उनके द्वारा चित्त का ग्रहण कर लिये जाने से वह प्रतिपद् किसी–किसी के लिये दु:खद होती है, अर्थात् सुख के साथ सेवनीय (भावनीय) नहीं होती। किसी को उन नीवरण आदि के अभाव से वही सुखद होती है। अभिज्ञा (=अपरोक्ष ज्ञान) भी किसी–किसी को धुँधली या मन्द एवं शीघ्र प्रवृत्त न होने वाली होती है और किसी को क्षिप्र, (त्वरित) अमन्द व शीघ्र प्रवृत्त होने वाली होती है।

आगे हम जो अनुकूल (सप्पाय) अननुकूल (असप्पाय) का, परिबोध (=पलिबोध=विघ्न–बाधा) के उपच्छेदक प्रारम्भिक कृत्यों का एवं अर्पणा–कौशल का वर्णन करेंगे, उनमें जो अननुकूल का सेवन करने वाला होता है, उसे प्रगति (=प्रतिपद्) में दु:ख का अनुभव होता है एवं उसका अपरोक्ष ज्ञान धुँधला (मन्द) होता है, अनुकूलसेवी को प्रगति करने में सुख का अनुभव होता है एवं उसका अपरोक्ष ज्ञान क्षिप्र (झटिति) होता है। किन्तु जो पहले अननुकूल का सेवन कर बाद में अनुकूल का सेवन करने वाला होता है अथवा पहले अनुकूल का सेवन कर बाद में अननुकूल का सेवन करने वाला होता है, उसकी प्रतिपद् एवं अभिज्ञा को मिश्रित प्रकार का जानना चाहिये। तथा परिबोध (=ज्ञान के बाधक धर्म) के उपच्छेद आदि पूर्व में ही करणीय कृत्यों का सम्पादन किये विना ही जो भावना में लगा हुआ है, उसकी प्रगति 'दु:खद' होती है तथा इसके विपरीत की 'सुखद'। अर्पणा–-

अपि च तण्हाअविज्जावसेन समथविपस्सनाधिकारवसेन चापि एतासं पभेदो वेदितब्बो। तण्हाभिभूतस्स हि दुक्खा पटिपदा होति। अनभिभूतस्स सुखा। अविज्जाभिभूतस्स च दन्धा अभिञ्ञा होति। अनभिभूतस्स खिप्पा। यो च समथे अकताधिकारो, तस्स दुक्खा पटिपदा होति। कताधिकारस्स सुखा। यो पन विपस्सनाय अकताधिकारो होति, तस्स दन्धा अभिञ्ञा होति। कताधिकारस्स खिप्पा।

किलेसिन्द्रियवसेन चापि एतासं पभेदो वेदितब्बो। तिब्बकिलेसस्स हि मुदिन्द्रियस्स दुक्खा पटिपदा होति दन्धा च अभिञ्ञा, तिक्खिन्द्रियस्स पन खिप्पा अभिञ्ञा। मन्दकिलेसस्स च मुदिन्द्रियस्स सुखा पटिपदा होति दन्धा च अभिञ्ञा, तिक्खिन्द्रियस्स पन खिप्पा अभिञ्ञा ति।

इति इमासु पटिपदाअभिञ्ञासु यो पुग्गलो दुक्खाय पटिपदाय दन्धाय च अभिञ्ञाय समाधिं पापुणाति, तस्स सो समाधि दुक्खापटिपदो दन्धाभिञ्ञो ति वुच्चति। एस नयो सेसत्तये पी ति। एवं दुक्खापटिपदा दन्धाभिञ्ञादिवसेन चतुब्बिधो।

दुतियचतुक्के—अत्थि समाधि परित्तो परित्तारम्मणो, अत्थि परित्तो अप्पमाणारम्मणो, अत्थि अप्पमाणो परित्तारम्मणो, अत्थि अप्पमाणो अप्पमाणारम्मणो ति। तत्थ यो समाधि अप्पगुणो उपरिझानस्स पच्चयो भवितुं न सक्कोति, अयं परित्तो। यो पन अवड्ढिते आरम्मणे पवत्तो, अयं परित्तारम्मणो। यो पगुणो सुभावितो, उपरिझानस्स पच्चयो भवितुं सक्कोति, अयं अप्पमाणो। यो च वड्ढिते आरम्मणे पवत्तो, अयं अप्पमाणारम्मणो। वुत्त-

---

कौशल का सम्पादन न करने वाले की अभिज्ञा 'मन्द' होती है और सम्पादन करने वाले की 'क्षिप्र'। (१)

इसके अतिरिक्त, तृष्णा–अविद्या के अनुसार एवं शमथ–विपश्यना के अधिकार के अनुसार भी इनका विशेष भेद जानना चाहिये। तृष्णा से अभिभूत की प्रगति दुःखद होती है, अनभिभूत की सुखद। अविद्या से अभिभूत की अभिज्ञा मन्द होती है, अनभिभूत की क्षिप्र। जिसने शमथ में अधिकार (वश) प्राप्त नहीं किया है, उसकी प्रगति दुःखद होती है और जिसने उसमें अधिकार प्राप्त कर लिया है, उसकी सुखद। जिसने विपश्यना में अधिकार प्राप्त नहीं किया है, उसकी अभिज्ञा मन्द होती है और अधिकार–प्राप्त की क्षिप्र। (२)

क्लेश एवं इन्द्रियों के भेद से भी इनका प्रभेद जानना चाहिये। तीव्र क्लेश वाले एवं मृदुइन्द्रिय (=मन्दबुद्धि) पुद्गल की प्रगति दुःखद होती है एवं अभिज्ञा मन्द होती है। तीक्ष्णेन्द्रिय की अभिज्ञा क्षिप्र होती है। मन्दक्लेश एवं मृदुइन्द्रिय की प्रगति सुखद एवं अभिज्ञा मन्द होती है, किन्तु तीक्ष्णेन्द्रिय की अभिज्ञा क्षिप्र होती है। (३)

यों, इन प्रगतियों एवं अभिज्ञाओं में जो पुद्गल दुःखद प्रगति एवं मन्द अभिज्ञा के साथ समाधि प्राप्त करता है, उसकी वह समाधि दुःख–प्रतिपद्, दन्ध–अभिज्ञा वाली कही जाती है। यही विधि शेष तीनों में भी है। इस तरह यह दुःख प्रतिपद् दन्ध–अभिज्ञा के भेद से चतुर्विध है। (४)

द्वितीय चतुष्क में— समाधि के चार भेद हैं। १. परित्र परित्रालम्बन, २. परित्र अप्रमाणालम्बन, ३. अप्रमाण परित्रालम्बन एवं ४. अप्रमाण अप्रमाणालम्बन। इनमें, जो समाधि अल्पगुण अर्थात् स्वल्प मात्रा में भावित होने से एवं उच्चस्तरीय ध्यान का कारण बनने में असमर्थ है वह **परित्त** (=परिमित, सीमित) है। और जो समाधि अवर्धित (=न बढ़ने वाले) आलम्बन में प्रवृत्त होती हो, वह **परित्तालम्बन** है। जो प्रगुण अर्थात् अतिमात्रया संवर्धित है एवं जिसकी सम्यक् रूप से भावना की गयी है अथवा जो

लक्खणवोमिस्सताय पन वोमिस्सकनयो वेदितब्बो। एवं परित्त-परित्तारम्मणादिवसेन चतुब्बिधो।

ततियचतुक्के—विक्खम्भितनीवरणानं वितक्कविचारपीतिसुखसमाधीनं वसेन पञ्चङ्गिकं पठमं झानं, ततो वूपसन्तवितक्कविचारं तिवङ्गिकं दुतियं, ततो विरत्तपीतिकं दुवङ्गिकं ततियं, ततो पहीनसुखं उपेक्खावेदनासहितस्स समाधिनो वसेन दुवङ्गिकं चतुत्थं। इति इमेसं चतुन्नं झानानं अङ्गभूता चत्तारो समाधी होन्ति। एव चतुझानङ्गवसेन चतुब्बिधो।

चतुत्थचतुक्के—अत्थि समाधि हानभागियो, अत्थि ठितिभागियो, अत्थि विसेसभागियो, अत्थि निब्बेधभागियो। तत्थ पच्चनीकसमुदाचारवसेन हानभागियता, तदनुधम्मताय सतिया सण्ठानवसेन ठितिभागियता, उपरिविसेसाधिगमवसेन विसेसभागियता, निब्बिदासहगतसञ्ञामनसिकारसमुदाचारवसेन निब्बेधभागियता च वेदितब्बा। यथाह—"पठमस्स झानस्स लाभिं कामसहगता सञ्ञामनसिकारा समुदाचरन्ति हानभागिनी पञ्ञा। तदनुधम्मता सति सन्तिट्ठति ठितिभागिनी पञ्ञा। अवितक्कसहगता सञ्ञामनसिकारा समुदाचरन्ति विसेसभागिनी पञ्ञा। निब्बिदासहगता सञ्ञामनसिकारा समुदाचरन्ति विरागूपसंहिता, निब्बेधभागिनी पञ्ञा" (अभि० २-३९२) ति। ताय पन पञ्ञाय सम्पयुत्ता समाधी पि चत्तारो होन्ती ति। एवं हानभागियादिवसेन चतुब्बिधो।

उच्चस्तरीय ध्यान का प्रत्यय हो सकती है, वह **अप्रमाण** (=अपरिमित) है। जो वर्धित आलम्बन में प्रवृत्त है, वह **अप्रमाणालम्बन** है। उक्त लक्षणो से मिश्रित समाधि की विधि भी मिश्रित ही जाननी चाहिये। यों यह समाधि परित्त-परित्तालम्बन आदि भेद से चतुर्विध कही गयी है।

तृतीय चतुष्क में— नीवरणों का दमन (=विष्कम्भन) कर दिये जाने के पश्चात् प्राप्त होने वाले वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता—इन पाँच अङ्गों वाले प्रथम ध्यान की, तत्पश्चात् वितर्क-विचार को छोड़कर तीन अङ्गों वाले द्वितीय ध्यान की, प्रीतिरहित दो अङ्गों वाले तृतीय ध्यान की, तदन्तर सुखरहित उपेक्षावेदना एवं एकाग्रता—इन दो अङ्गों वाले चतुर्थ ध्यान की—यों इन चार ध्यानों की अङ्गभूत समाधियाँ भी चार प्रकार की होती हैं। इस प्रकार इन चार ध्यानाङ्गों के अनुसार समाधि भी चतुर्विध है।

चतुर्थ चतुष्क में— एक हानिभागीय समाधि है, दूसरी स्थितिभागीय, तीसरी विशेषभागीय एवं चौथी निर्वेधभागीय समाधि है। इनमें १. हानभागीय (=प्रत्यनीक समुदाचार) से, २. स्थिति-भागीयता उस समाधि के अनुरूप स्मृति के संस्थान (=ठहराव) से ; तथा ३. विशेषभागीयता उच्चतर विशेषता की प्राप्ति एवं ४. निर्वेधभागीयता को निर्वेद के साथ संज्ञा एवं मनस्कार की प्राप्ति की योग्यता के रूप में जानना चाहिये। जैसा कि कहा है—"प्रथम ध्यान का लाभ करने वाले, कामसहगत अर्थात् इन्द्रियसुख की इच्छा से युक्त को जब संज्ञा एवं मनस्कार प्राप्त करने की योग्यता होती है, तब प्रज्ञा हानिभागिनी होती है। जब उसकी समाधि के अनुरूप स्मृति बनी रहती है, तब स्थितिभागिनी प्रज्ञा होती है। जब वितर्क से रहित, संज्ञा एवं मनस्कार को प्राप्त करने की योग्यता होती है तब विशेषभागिनी प्रज्ञा होती है और जब उसकी निर्वेदयुक्त वैराग्यसहगत संज्ञा एवं मनस्कार प्राप्त करने की योग्यता होती है तब निर्वेधभागिनी प्रज्ञा होती है।"

उन (चार प्रकार की प्रज्ञाओं) से युक्त समाधियाँ भी चार होती हैं। इस प्रकार हानभागीय आदि भेद से भी समाधि चतुर्विध है।

पञ्चमचतुक्के—कामावचरो समाधि, रूपावचरो समाधि, अरूपावचरो समाधि, अपरियापन्नो समाधी ति एवं चत्तारो समाधी। तत्थ सब्बा पि उपचारेकग्गता कामावचरो समाधि, तथा रूपावचरादिकुसलचित्तेग्गता इतरे तयो ति। एवं कामावचरादिवसेन चतुब्बिधो।

छट्ठचतुक्के—"छन्दं चे भिक्खु अधिपतिं करित्वा लभति समाधिं, लभति चित्तस्सेकग्गतं—अयं वुच्चति छन्दसमाधि। विरियं चे भिक्खु ....पे०....चित्तं चे भिक्खु ....पे०....वीमंसं चे भिक्खु, अधिपतिं करित्वा लभति समाधिं, लभति चित्तस्सेकग्गतं—अयं वुच्चति वीमंसासमाधी" (अभि० २-२६४) ति। एवं अधिपतिवसेन चतुब्बिधो।

९. **पञ्चके**—यं चतुक्कभेदे वुत्तं दुतियं झानं, तं वितक्कमत्तातिक्कमेन दुतियं, वितक्कविचारातिक्कमेन ततियं ति एवं द्विधा भिन्दित्वा पञ्च झानानि वेदितब्बानि। तेसं अङ्गभूता च पञ्च समाधी ति। एवं पञ्चझानङ्गवसेन पञ्चविधता वेदितब्बा।

समाधिसङ्किलेसवोदानं

१०. **को चस्स सङ्किलेसो? किं वोदानं** ति? एत्थ पन विस्सज्जनं विभङ्गे वुत्तमेव। वुत्तं हि तत्थ—"सङ्किलेसं ति हानभागियो धम्मो। वोदानं ति विसेसभागियो धम्मो" (अभि० २-४०६) ति। तत्थ "पठमस्स झानस्स लाभिं कामसहगता सञ्ञामसिकारा समुदाचरन्ति हानभागिनी पञ्ञा" (अभि० २-३९२) ति इमिना नयेन हानभागियधम्मो वेदितब्बो। "अवितक्कसहगता सञ्ञामनसिकारा समुदाचरन्ति विसेसभागिनी पञ्ञा" (अभि० २-३९२) ति इमिना नयेन विसेसभागियधम्मो वेदितब्बो।

पञ्चम चतुष्क में— १. कामावचर समाधि, २. रूपावचर समाधि, ३. अरूपावचर समाधि एवं ४. अपर्यापन्न (=असमाविष्ट अर्थात् मार्ग-) समाधि—इस प्रकार चार समाधियाँ हैं। इनमें, सभी प्रकार की उपचार एकाग्रता **कामावचरसमाधि है**। इसी प्रकार अन्य तीन क्रमशः रूपावचर, अरूपावचर एवं अपर्यापन्न के साथ सम्प्रयुक्त कुशल चित्त की एकाग्रता हैं। इस प्रकार कामावचर आदि के अनुसार भी वह चतुर्विध है।

षष्ठ चतुष्क में— "यदि भिक्षु छन्द (=इच्छा) को प्रमुखता देकर (=अधिपति कर) समाधि अर्थात् चित्त की एकाग्रता का लाभ करता है, तो इसे 'छन्दसमाधि' (=छन्द के द्वारा प्राप्त समाधि) कहते हैं। यदि भिक्षु वीर्य को....'वीर्यसमाधि', यदि भिक्षु चित्त को....'चित्त समाधि', यदि भिक्षु मीमांसा (=प्रज्ञा) को प्रमुखता देकर समाधि प्राप्त करता है, चित्त की एकाग्रता का लाभ करता है तो इसे 'मीमांसा-समाधि' कहते हैं।" इस प्रकार अधिपति के अनुसार भी समाधि चतुर्विध है।

समाधि का पञ्चक

९. **समाधिपञ्चक में**— जिसे चतुष्क भेद (=चतुष्क नय) में द्वितीय ध्यान कहा गया है, यहाँ उसे वितर्कमात्र के अतिक्रमण से द्वितीय एवं वितर्क विचार के अतिक्रमण से तृतीय—इस प्रकार दो भेद करके पाँच ध्यान जानना चाहिये। उन्हीं की अङ्गभूत पाँच समाधियाँ हैं। इस प्रकार पाँच ध्यानाङ्गों के भेद से समाधि को पञ्चविध जानना चाहिये।

समाधि का संक्लेश और व्यवदान

१०. इसका संक्लेश (चित्तमल) क्या है? एवं इसका व्यवदान (शुद्धि) क्या है? इसका उत्तर **विभङ्ग** में दे ही दिया गया है। वहाँ कहा गया है—"संक्लेश हानिभागीय धर्म हैं। व्यवदान विशेषभागीय धर्म है" (अभि० २-३९२)—इस वचन के सहारे से हानभागीय धर्म जानना चाहिये। "जब अवितर्कसहगत

दसपलिबोधकथा

११. **कथं भावेतब्बो** ति। एत्थ पन यो ताव अयं लोकियलोकुत्तरवसेन दुविधो ति आदीसु अरियमग्गसम्पयुत्तो समाधि वुत्तो, तस्स भावनानयो पञ्ञाभावानानयेनेव सङ्गहितो। पञ्ञाय हि भाविताय सो भावितो होति। तस्मा तं सन्धाय एवं भावेतब्बो ति न किञ्चि विसुं वदाम।

यो पनायं लोकियो, सो वुत्तनयेन सीलानि विसोधेत्वा सुपरिसुद्धे सीले पतिट्ठितेन य्वास्स दससु पलिबोधेसु पलिबोधो अत्थि, तं उपच्छिन्दित्वा कम्मट्ठानदायकं कल्याणमित्तं उपसङ्कमित्वा अत्तनो चरियानुकूलं चत्तालीसाय कम्मट्ठानेसु अञ्ञतरं कम्मट्ठानं खुद्दकपलिबोधुपच्छेदं गहेत्वा समाधिभावनाय अननुरूपं विहारं पहाय अनुरूपे विहारे विहरन्तेन कत्वा सब्बं भावनाविधानं अपरिहापेन्तेन परिबोधो भावेतब्बो ति अयमेत्थ सङ्खेपो।

१२. अयं पन वित्थारो। यं ताव वुत्तं—"**य्वास्स दससु पलिबोधेसु अत्थि, तं उपच्छिन्दित्वा**" ति, एत्थ—

आवासो च कुलं लाभो गणो कम्मं च पञ्चमं।
अद्धानं ञाति आबाधो गन्थो इद्धी ति ते दसा ति॥

इमे दस पलिबोधा नाम। तत्थ आवासो येव **आवासपलिबोधो**। एस नयो कुलादीसु।

(=वितर्करहित के साथ) संज्ञा एवं मनस्कार का समुदाचार होता है तब प्रज्ञा विशेषभागिनी होती है" (अभि० २–३९२)– इस वचन से विशेषभागीय धर्म जानना चाहिये।

दस पलिबोध (=परिबोध=समाधि के बाधक)

११. इसके बाद, प्रश्न था—**इसकी भावना कैसे करनी चाहिये?** अर्थात् इसकी साधनाविधि क्या है? उत्तर है—जो "यह लौकिक एवं लोकोत्तर के अनुसार द्विविध है" आदि (वचनों) में आर्यमार्गसम्प्रयुक्त समाधि कही गयी है, उसकी भावना (साधना) करने की विधि प्रज्ञा की भावना करने की विधि (आगे परिच्छेद २२) में ही संगृहीत है; क्योंकि प्रज्ञा की भावना किये जाने पर वह भी भावित हो जाती है। अतः उसके सन्दर्भ में हम "उसकी इस प्रकार भावना करनी चाहिये"—ऐसा कुछ विशेष पृथक् रूप से नहीं कहना चाहते।

किन्तु लौकिक समाधि की भावना में कही गयी विधि के अनुसार शील का विशोधन कर, सुपरिशुद्ध शील में प्रतिष्ठित हो, दस परिबोधों में से जो उसका परिबोध है उसे नष्ट कर (समाधि के उपयुक्त) कर्मस्थान बतलाने वाले कल्याणमित्र (=साधनामार्ग में सहायक, आचार्य) के पास जाकर चालीस कर्मस्थानों में से अपने अनुरूप कर्मस्थान का ग्रहण कर, समाधि भावना के जो अनुरूप न हो ऐसे विहार को छोड़ अनुरूप विहार में रहते हुए, क्षुद्र (=छोटे–छोटे) परिबोधों को नाश कर एवं भावना करने के सभी विधानों का पालन करते हुए—(इस प्रकार) करनी चाहिये– यह संक्षेप में वर्णन है।

१२. विस्तार से वर्णन इस प्रकार है—जो कहा गया है कि "दस **परिबोधों में से जो उसका परिबोध है उसका उपच्छेद कर**" उसमें—

यहाँ १. आवास, २. कुल, ३. लाभ, ४. गण, ५. कर्म, ६. मार्ग, ७. ज्ञाति (=सम्बन्धीजन), ८. आबाध (=रोग), ९. ग्रन्थ एवं १०. ऋद्धि– ये **परिबोध** होते हैं।।

१३. तत्थ **आवासो** ति। एको पि ओवरको वुच्चति, एकं पि परिवेणं, सकलो पि सङ्घारामो। स्वायं न सब्बस्सेव पलिबोधो होति। यो पनेत्थ नवकम्मादीसु उस्सुक्कं वा आपज्जति, बहुभण्डसन्निचयो वा होति, येन केनचि वा कारणेन अपेक्खवा पटिबद्धचित्तो, तस्सेव पलिबोधो होति, न इतरस्स।

तत्रिदं वत्थु—द्वे किर कुलपुत्ता अनुराधपुरा निक्खमित्वा अनुपुब्बेन थूपारामे पब्बजिंसु। तेसु एको द्वेमातिका पगुणा कत्वा पञ्चवस्सिको हुत्वा पवारेत्वा पाचीनखण्डराजिं नाम गतो। एको तत्थेव वसति। पाचीनखण्डराजिगतो तत्थ चिरं वसित्वा थेरो हुत्वा चिन्तेसि —"पटिसल्लानसारुप्पमिदं ठानं, हन्द नं सहायकस्सापि आरोचेमी" ति। ततो निक्खमित्वा अनुपुब्बेन थूपारामं पाविसि। पविसन्तं येव च नं दिस्वा समानवस्सिकत्थेरो पच्चुग्गन्त्वा पत्तचीवरं पटिग्गहेत्वा वत्तं अकासि।

आगन्तुकत्थेरो सेनासनं पविसित्वा चिन्तेसि—"इदानि मे सहायो सप्पिं वा फाणितं वा पानकं वा पेसेस्सति। अयं इमस्मिं नगरे चिरनिवासी" ति। सो रत्तिं अलद्धा पातो चिन्तेसि—"इदानि उपट्ठाकेहि गहितं यागुखज्जकं पेसेस्सती" ति। तं पि अदिस्वा "पहिणन्ता नत्थि, पविट्ठस्स मञ्ञे दस्सन्ती" ति पातो व तेन सद्धिं गामं पाविसि। ते द्वे एकं वीथिं चरित्वा उळुङ्कमत्तं यागुं लभित्वा आसनसालायं निसीदित्वा पिविंसु।

ये ही दस परिबोध है। इनमें **आवास** (रहने का स्थान) ही आवासपरिबोध है। कुल आदि में भी इसी विधि से कुलपरिबोध आदि जानने चाहियें।

१३. इनमें, **'आवास'** किसी प्रसङ्ग में एक कमरे को भी, एक परिवेण (=विहार में भिक्षुवास के लिये बनाया गया या घिरा हुआ स्थान) को भी, कभी कभी पूरे विहार को भी 'आवास' कहा जाता है। यह आवास सभी के लिये पलिबोध नहीं होता। जो निर्माण के नये-नये कर्मों आदि के प्रति उत्सुक होता है, या बहुत से सामानों का संग्रह किये रहता है, या जिस किसी कारण से प्रतिबद्धचित्त (=किसी विशेष लौकिक कार्य के प्रति बँधे हुए मन वाला) होता है, उसी के लिये यह आवास परिबोध होता है, अन्य के लिये नहीं।

वहाँ (=शास्त्र में) यह कथा (आती) है—दो कुलपुत्र अनुराधपुर से निकल कर एक के बाद एक करके स्तूपाराम (थूपाराम) में प्रव्रजित हुए। उनमें से एक भिक्षु दो मातृकाओं (धर्मविनय या भिक्षु-भिक्षुणी-प्रातिमोक्ष) को सीखकर एवं (वरिष्ठता के क्रम में) पाँच वर्षों की वरिष्ठता प्राप्त कर प्रवारणा (=वर्षावास के पश्चात् होने वाली भिक्षुओं की सभा) में भाग लेने के पश्चात् खण्डराजि (अनुराधपुर की पूर्व दिशा में पर्वत-खण्डों के बीच वनों की पंक्ति) में चला गया। दूसरा (भिक्षु) वहीं रह गया। प्राचीन खण्डराजि में गया हुआ (भिक्षु) बहुत समय तक वहीं रहते हुए स्थविर होकर सोचने लगा—"यह स्थान एकान्तवास के योग्य है। अपने साथी को भी बतलाऊँगा।" यों विचार कर, वहाँ से निकल, क्रमशः स्तूपाराम पहुँचा। उसे प्रवेश करते हुए देखते ही समान वय के उसके उसी साथी स्थविर ने आगे बढ़कर, उसके हाथ से पात्र और चीवर लेकर आगन्तुक अतिथि के प्रति जो भी करणीय होता है वह किया।

आगन्तुक ने स्थविर के शयनासन में प्रवेश कर सोचा—"अब मेरा साथी घी, राब या कोई पेय भेजगा; क्योंकि वह इस नगर में बहुत समय से रह रहा है।" उसने रात्रि मे (वह सब) न पाकर, प्रातः सोचा—"इस समय सेवकों के हाथ से यवागू और (कुछ) खाने के लिये भेजेगा"। तब भी उसे (आता) न देखकर उसने—"इस समय लाने वाले (लोग) नहीं है, सम्भवतः ग्राम मे प्रवेश करने पर

ततो आगन्तुको चिन्तेसि—"निबद्धयागु मञ्ञे नत्थि, भत्तकाले इदानि मनुस्सा पणीतं भत्तं दस्सन्ती" ति। ततो भत्तकाले पि पिण्डाय चरित्वा लद्धमेव भुञ्जित्वा इतरो आह—"किं, भन्ते, सब्बकालं एवं यापेथा" ति? 'आमावुसो' ति। 'भन्ते, पाचीनखण्डराजि फासुका, तत्थ गच्छामा' ति। थेरो नगरतो दक्खिणद्वारेन निक्खमन्तो कुम्भकारगाममग्गं पटिपज्जि। इतरो आह—"किं पन, भन्ते, इमं मग्गं पटिपन्नत्था" ति? "ननु त्वं, आवुसो, पाचीनखण्डराजिया वण्णं अभासी" ति? "किं पन, भन्ते, तुम्हाकं एत्तकं कालं वसितट्ठाने न कोचि अतिरेकपरिक्खारो अत्थी" ति? "आमावुसो, मञ्चपीठं सङ्घिकं, तं पटिसामितमेव, अञ्ञं किञ्चि नत्थी" ति। "मय्हं पन, भन्ते, कत्तदण्डो तेलनाळिउपाहनत्थविका च तत्थेवा" ति। "तया, आवुसो, एकदिवसं वसित्वा एत्तकं ठपितं" ति? "आम, भन्ते।"

सो पसन्नचित्तो थेरं वन्दित्वा "तुम्हादिसानं, भन्ते, सब्बत्थ अरञ्ञवासो येव। थूपारामो चतुन्नं बुद्धानं धातुनिधानट्ठानं, लोहपासादे सप्पायं धम्मस्सवनं महाचेतियदस्सनं थेरदस्सनं च लब्भति, बुद्धकालो विय पवत्तति। इधेव तुम्हे वसथा" ति। दुतियदिवसे पत्तचीवरं गहेत्वा सयमेव अगमासी ति। ईदिसस्स आवासो न पलिबोधो होति। (१)

कुलं ति। ञातिकुलं वा, उपट्ठाककुलं वा। एकच्चस्स हि उपट्ठाककुलं पि "सुखितेसु सुखितो" (अभि० २-४२५) ति आदिना नयेन संसट्ठस्स विहरतो पलिबोधो होति, सो

देंगे"— ऐसा सोचकर सबेरे ही उसने साथी के साथ ग्राम में प्रवेश किया। उन दोनों ने एक गली में चारिका करते हुए एक करछुल यवागू पाकर उसे आसनशाला में बैठकर पी लिया।

तब आगन्तुक भिक्षु ने सोचा—"सम्भवतः यवागू आदि की बँधी भिक्षा का प्रचलन यहाँ नहीं है, अब (दोपहर के) भोजन समय लोग सम्भवतः उत्तम भात दें।" फिर भोजन के समय भी भिक्षाटन करते हुए जो भी मिला उसी को खाकर, आगन्तुक भिक्षु ने कहा—"भन्ते, क्या आप हर समय ऐसे ही काम चलाते हैं?" "हाँ, आयुष्मन्!" "भन्ते, प्राचीन खण्डराजि सुखदायक (स्थान) है, वहीं चलेंगे।" स्थविर ने नगर के दक्षिण द्वार से निकलते समय कुम्भकार ग्राम जाने वाला रास्ता पकड़ा (जो कि प्राचीन खण्डराजि की ओर जाता था)। दूसरे ने कहा—"भन्ते, आपने यह रास्ता क्यों पकड़ लिया?" "आयुष्मन्! क्या तुमने प्राचीन खण्डराजि की प्रशंसा नहीं की थी?" "किन्तु भन्ते, आप इतने समय से जहाँ रह रहे हैं, वहाँ क्या कोई भी वस्तु सङ्घ की सम्पत्ति के अतिरिक्त नहीं है, जिसे लिये विना ही चल पड़े?" "हाँ, आयुष्मन्! चौकी—चारपाई सङ्घ की है, उन्हें तो सङ्घ को सौंप ही चुका हूँ और कुछ नहीं है।" "किन्तु भन्ते, मेरी लाठी, तेल रखने की फोंफी और जूता रखने का थैला वहीं है।" "आयुष्मन्! तुमने एक दिन रुकने पर ही इतना कुछ इकट्ठा कर लिया?" "हाँ, भन्ते!"

अपनी भूल समझ कर, उसने प्रसन्न मन से स्थविर को प्रणाम कर कहा—"भन्ते, आप जैसों के लिये तो सर्वत्र जङ्गल में रहने के ही समान है। स्तूपाराम चारों बुद्धों (=इस भद्रकल्प के चार बुद्ध—क्रकुसन्ध, कोणागमन, कश्यप एवं गौतम) की धातु के निधान (=रखने) का स्थान है। लौहप्रसाद (अनुराधपुर में एक भिक्षु—आवास) में धर्म का अनुकूल श्रवण, महाचैत्य (अनुराधपुर का सुवर्णमाली चैत्य) और स्थविरों का दर्शनलाभ होता है। जिस काल में बुद्ध जीवित थे उस काल के समान यहाँ का जीवन है। आप यहीं रहें।" इस प्रकार कहकर दूसरे दिन उसने अपना पात्र और चीवर लेकर अकेले ही प्रस्थान किया। इस प्रकार के भिक्षु के लिये आवासपरिबोध नहीं होता।। (१)

कुल— ज्ञाति—कुल या सेवक—कुल। किसी—किसी के लिये सेवककुल (=सेवकों का कुल) भी "सुखी होने पर सुखी" (अभि० २—४२५) आदि वचन के अनुसार संसर्गविहार (=एक साथ

कुलमानुसकेहि विना धम्मस्सवनाय सामन्तविहारं पि न गच्छति। एकच्चस्स मातापितरो पि पलिबोधा न होन्ति, कोरण्डकविहारवासित्थेरस्स भागिनेय्यदहरभिक्खुनो विय।

सो किर उद्देसत्थं रोहणं अगमासि। थेरभगिनी पि उपासिका सदा थेरं तस्स पवत्तिं पुच्छति। थेरो एकदिवसं 'दहरं आनेस्सामी' ति रोहणाभिमुखो पायासि।

दहरो पि "चिरं मे इध वुत्थं, उपज्झायं दानि पस्सित्वा उपासिकाय च पवत्तिं ञत्वा आगमिस्सामी" ति रोहणतो निक्खमि। ते उभो पि गङ्गातीरे समागच्छिंसु। सो अञ्ञतरस्मिं रुक्खमूले थेरस्स वत्तं कत्वा "कुहिं यासी" ति पुच्छितो तमत्थं आरोचेसि। थेरो "सुट्ठु ते कतं, उपासिका पि सदा पुच्छति, अहं पि एतदत्थमेव आगतो, गच्छ त्वं, अहं पन इधेव इमं वस्सं वसिस्सामी" ति तं उय्योजेसि। सो वस्सूपनायिकदिवसे येव तं विहारं पत्तो। सेनासनं पिस्स पितरा कारितमेव पत्तं।

अथस्स पिता दुतियदिवसे आगन्त्वा "कस्स, भन्ते, अम्हाकं सेनासनं पत्तं" ति पुच्छन्तो "आगन्तुकस्स दहरस्सा" तं सुत्वा तं उपसङ्कमित्वा वन्दित्वा आह—"भन्ते, अम्हाकं सेनासने वस्सं उपगतस्स वत्तं अत्थी" ति। "किं, उपासका" ति? "तेमासं अम्हाकं येव घरे भिक्खं गहेत्वा पवारेत्वा गमनकाले आपुच्छितब्बं" ति। सो तुण्हिभावेन अधिवासेसि। उपासको पि घरं गन्त्वा "अम्हाकं आवासे एको आगन्तुको अय्यो उपगतो सक्कच्चं उपट्ठातब्बो" ति आह। उपासिका "साधू" ति सम्पटिच्छित्वा पणीतं खादनीयं भोजनीयं पटियादेसि। दहरो पि भत्तकाले ञातिघरं अगमासि। न नं कोचि सञ्जानि।

रहने) के कारण पलिबोध होता है। वह कुल के लोगों के विना धर्मश्रमवण के लिये समीपवर्ती विहार में भी नहीं जा पाता। किसी किसी के लिये माता–पिता भी परिबोध नहीं होते, कोरण्डकविहारवासी स्थविर के भगिनीपुत्र तरुण भिक्षु के समान।

कहते हैं कि वह तरुण भिक्षु अध्ययन (उद्देस) के लिये रोहण (दक्षिणी लङ्का का एक जनपद) गया। स्थविर की बहन उपासिका थी वह स्थविर से उस (अपने पुत्र) का कुशल–समाचार सर्वदा पूछती थी। एक दिन स्थविर ने 'तरुण को ले आऊँ' सोचकर रोहण की ओर प्रस्थान किया।

तरुण भी "यहाँ रहते हुए बहुत दिन हो गये, अब उपाध्याय का दर्शन कर और उपासिका (अपनी माँ) का कुशल–समाचार लेकर लौटूँगा" (ऐसा सोचकर) रोहण से निकला। वे दोनों ही गङ्गा के किनारे मिल गये। उस तरुण भिक्षु ने एक पेड़ के नीचे करणीय कृत्य करके "कहाँ जा रहे हो?" इस तरह पूछे जाने पर उसे अपना उद्देश्य बतलाया। स्थविर ने—"तुमने अच्छा किया, उपासिका भी सदा पूछती रहती है। मैं भी तुम्हें ही लेने आया हूँ। तुम जाओ, मैं इस बार यहीं वर्षावास करूँगा" ऐसा कहकर उसे विदा कर दिया। वह तरुण भिक्षु भी, जिस दिन से वर्षावास का आरम्भ होने वाला था, ठीक उसी दिन विहार पहुँचा। संयोगवश उसने शयनासन भी वही प्राप्त किया जो उसके पिता ने बनवाया था।

तत्पश्चात् दूसरे दिन उसके पिता ने विहार में आकर पूछा—"भन्ते, मेरा शयनासन किसे मिला है?" "आगन्तुक तरुण को।" यह सुनकर उसके पास जाकर वन्दना की और कहा—"भन्ते, वर्षावास के लिये मेरे शयनासन को प्राप्त करने वाले के लिये एक व्रत है।" "वह क्या, उपासक?" "तीन महोने मेरे ही घर पर भिक्षा ग्रहण कर प्रवारणा के बाद अपने प्रस्थान का समय सूचित करना होता है।" उसने मौन रहकर स्वीकार कर लिया। उपासक ने भी घर जाकर कहा—"हमारे घर पर एक आर्य आने वाले हैं, उनका अच्छी तरह सत्कार करना चाहिये"। उपासिका ने "बहुत अच्छा"

सो तेमासं पि तत्थ पिण्डपातं परिभुञ्जित्वा वस्संवुत्थो "अहं गच्छामी" ति आपुच्छि। अथस्स ञातका "स्वे, भन्ते, गच्छथा" ति दुतियदिवसे घरे येव भोजेत्वा तेलनाळिं पूरेत्वा एकं गुळपिण्डं नवहत्थं च साटकं दत्वा "गच्छथ, भन्ते" ति आहंसु। सो अनुमोदनं कत्वा रोहणाभिमुखो पायासि।

उपज्झायो पिस्स पवारेत्वा पटिपथं आगच्छन्तो पुब्बे दिट्ठट्ठाने येव तं अद्दस। सो अञ्ञतरस्मिं रुक्खमूले थेरस्स वत्तं अकासि। अथ नं थेरो पुच्छि—"किं, भद्दमुख, दिट्ठा ते उपासिका" ति? सो "आम, भन्ते" ति सब्बं पवत्तिं आरोचेत्वा तेन तेलन थेरस्स पादे मक्खेत्वा गुळेन पानकं कत्वा तं पि साटकं थेरस्सेव दत्वा थेरं वन्दित्वा "मय्हं, भन्ते, रोहणं येव सप्पायं" ति अगमासि। थेरो पि विहारं आगन्त्वा दुतियदिवसे कोरण्डकगामं पाविसि।

उपासिका पि "मय्हं भाता मम पुत्तं गहेत्वा इदानि आगच्छती" ति सदा मग्गं ओलोकयमाना व तिट्ठति। सा तं एकमेव आगच्छन्तं दिस्वा "मतो मे मञ्ञे पुत्तो, अयं थेरो एकको व आगच्छती" ति थेरस्स पादमूले निपतित्वा परिदेवमाना रोदि। थेरो "नूनं दहरो अप्पिच्छताय अत्तानं अजानापेत्वा व गतो" ति तं समस्सासेत्वा सब्बं पवत्तिं आरोचेत्वा पत्तत्थविकतो तं साटकं नीहरित्वा दस्सेसि।

उपासिका पसीदित्वा पुत्तेन गतदिसाभिमुखा उरेन निपज्जित्वा नमस्समाना आह—

कहकर स्वीकार किया एवं अच्छे अच्छे खाद्य, भोज्य बनाये। तरुण भी भोजन के समय अपने सम्बन्धियों के घर पहुँचा। किन्तु उसे किसी ने पहचाना नहीं।

उसने तीन महीने तक वहीं भोजन करते हुए वर्षाकाल पूर्णकर, "मैं जा रहा हूँ"— इस प्रकार सूचित किया। तब उसके सम्बन्धियों ने "भन्ते, कल जाइयेगा" ऐसा (कहकर) दूसरे दिन घर पर ही भोजन करा, तेल की फोंफी (चोंगी–तेलनाड़ी भर) कर, एक गुड़ का पिण्ड और नौ हाथ वस्त्र देकर "जावें, भन्ते" कहा। उसने आशीर्वाद देकर (=अनुमोदन कर) रोहण के लिये प्रस्थान किया।

उसके उपाध्याय ने भी प्रवारणा के बाद लौटकर आते समय पहले वाले स्थान पर ही उसे देखा। उसने एक पेड़ के नीचे स्थविर के प्रति करणीय कृत्य किया। तब स्थविर ने उससे पूछा— "सुमुख, क्या तुमने उपासिका को देखा?" उसने "हाँ, भन्ते"—ऐसा कहकर सब समाचार सुनाकर उस तेल से जो उसे मिला था स्थविर के पैरों को मलकर, गुड़ के साथ पानी पिलाकर, वह वस्त्र भी स्थविर को ही देकर "भन्ते, मेरे लिये रोहण ही अनुकूल है" ऐसा कहकर चला गया। स्थविर ने भी विहार मे पहुँचकर दूसरे दिन कोरण्डकग्राम में प्रवेश किया।

उपासिका भी यह सोचकर कि "मेरा भाई मेरे पुत्र को लेकर अब आता ही होगा" सदा रास्ता देखती रहती थी। वह उसे एकाकी आते देखकर "सम्भवतः मेरा पुत्र मर गया है, क्योंकि ये स्थविर एकाकी ही आ रहे हैं" ऐसा (सोचकर) स्थविर के चरणों पर गिर कर विलाप करने लगी। स्थविर ने "निश्चय ही तरुण अल्पेच्छता के कारण, स्वयं का परिचय दिये बिना ही, चला गया"— ऐसा सोचकर उसे सान्त्वना दी एवं सब वृत्तान्त सुनाकर, उसकी अल्पेच्छता के प्रमाण के रूप में वह वस्त्र थैले से निकाल कर दिखलाया।

उपासिका ने प्रसन्न होकर, जिस दिशा की ओर उसका पुत्र गया था उस दिशा में साष्टाङ्ग प्रणाम कर कहा—"प्रतीत होता है कि मेरे पुत्र के समान किसी भिक्षु को ही जीता–जागता उदाहरण

"मय्हं पुत्तसदिसं वत मञ्ञे कायसक्खिं कत्वा भगवा रथविनीतपटिपदं (म० १-१९२), नालकपटिपदं (खु० १-३७७), तुवट्टकपटिपदं (खु० १-४१०) चतुपच्चयसन्तोसभावनारामतादीपकं महाअरियवंसपटिपदं (अं० २-३०) च देसेसि। विजातमातुया नाम गेहे तेमासं भुञ्जमानो पि 'अहं पुत्तो त्वं माता' ति न वक्खति, अहो अच्छरियमनुस्सो" ति। एवरूपस्स मातापितरो पि पलिबोधा न होन्ति; पगेव अञ्ञं उपट्ठाककुलं ति। (२)

लाभो ति। चत्तारो पच्चया। ते कथं पलिबोधा होन्ति? पुञ्ञवन्तस्स हि भिक्खुनो गतगतट्ठाने मनुस्सा महापरिवारे पच्चये देन्ति। सो तेसं अनुमोदेन्तो धम्मं देसेन्तो समणधम्मं कातुं ओकासं न लभति। अरुणुग्गमनतो याव पठमयामो, ताव मनुस्ससंसग्गो न उपच्छिज्जति। पुन बलवपच्चूसे येव बाहुल्लिकपिण्डपातिका आगन्त्वा "भन्ते, असुको उपासको उपासिका अमच्चो अमच्चधीता तुम्हाकं दस्सनकामा" ति वदन्ति। सो 'गण्ह, आवुसो, पत्तचीवरं' ति गमनसज्जो व होती ति निच्चब्यावटो। तस्सेव ते पच्चया पलिबोधा होन्ति। तेन गणं पहाय यत्थ नं न जानन्ति, तत्थ एककेन चरितब्बं। एवं सो पलिबोधो उपच्छिज्जती ति। (३)

गणो ति। सुत्तन्तिकगणो वा आभिधम्मिकगणो वा। यो तस्स उद्देसं वा परिपुच्छं वा देन्तो समणधम्मस्स ओकासं न लभति, तस्सेव गणो पलिबोधो होति, तेन सो एवं उपच्छिन्दितब्बो—सचे तेसं भिक्खूनं बहू गहितं होति, अप्पं अवसिट्ठं, तं निट्ठपेत्वा अरञ्ञं पविसितब्बं। सचे अप्पं गहितं, बहु अवसिट्ठं, योजनतो परं अगन्त्वा अन्तोयोजनपरिच्छेदे अञ्ञं गणवाचकं उपसङ्कमित्वा "इमे आयस्मा उद्देसादीहि सङ्गण्हतू" ति वत्तब्बं।

मानकर भगवान् ने 'रथविनीतप्रतिपद्', 'नालकप्रतिपद्', 'तुवट्टकप्रतिपद्', 'चतुष्प्रत्ययसन्तोषभावनारामता-दीपक महाअरियवंशप्रतिपद् का उपदेश दिया था। तभी तो जन्म देने वाली माता के घर तीन महीने भोजन करते हुए भी "मैं पुत्र हूँ, तुम माता हो' ऐसा नहीं कहा। अहा! अद्भुत व्यक्ति है!" इस जैसे के लिये माता पिता भी परिबोध नहीं होते। फिर अन्य किसी सेवककुल की तो बात ही क्या! (२)

लाभ— चीवर आदि चार प्रत्ययों का लाभ। वे किस प्रकार परिबोध होते है? पुण्यवान् भिक्षु जहाँ-जहाँ जाता है, लोग वहाँ उसे बहुत से प्रत्यय (=भोजन आदि) देते हैं। उसके पास उनको आशीर्वाद व धर्मदेशना करते हुए, श्रमण-धर्म का पालन करने के लिये समय नही बच पाता। सूर्योदय से रात्रि के प्रथम प्रहर तक उसे लोगों से बातचीत करने से ही अवकाश नहीं मिलता। फिर दूसरे दिन भी प्रातः से ही धन-सम्पत्ति के लोभी पिण्डपातिक (=भिक्षा के इच्छुक) भिक्षु आकर, "भन्ते! अमुक उपासक, उपासिका, अमात्य या अमात्य की पुत्री आपके दर्शन के इच्छुक हैं"— इस प्रकार कहते हैं। वह "आयुष्मन्! पात्र चीवर उठाओ" कहकर जाने के लिये उद्यत होता है। इस प्रकार सदा व्यग्र बना रहता है। उसी के लिये वे प्रत्यय 'परिबोध' होते हैं। अतः उसे दूसरों (=गण) को छोड़कर जहाँ उसे लोग न जानते हों वहाँ अकेले ही विचरण करना चाहिये। इस प्रकार वह लाभ-परिबोध नष्ट होता है। (३)

गण—सौत्रान्तिक गण (=सूत्रपिटक के अध्येता छात्रों का समूह) हो या आभिधर्मिक गण। जो उसे पढ़ाते हुए या प्रश्नों का उत्तर देते हुए श्रमण धर्म के लिये अवकाश नही पाता, उसी के लिये यह गण-परिबोध होता है। अतः उस परिबोध को यों नष्ट करना चाहिये—यदि उन भिक्षुओं ने अधिक भाग सीख लिया हो और कुछ ही अवशिष्ट हो तो उसे पूर्ण कर जङ्गल में चले जाना चाहिये। यदि कुछ ही सीखा हो, अधिकतम शेष रहा हो तो एक योजन से अधिक दूर न जाकर, एक योजन के भीतर

एवं अलभमानेन "मय्हं, आवुसो, एकं किच्चं अत्थि, तुम्हे यथाफासुकट्ठानानि गच्छथा" ति गणं पहाय अत्तनो कम्मं कत्तब्बं ति। (४)

कम्मं ति नवकम्मं। तं करोन्तेन वड्ढकीआदीहि लद्धालद्धं जानितब्बं, कताकते उस्सुक्कं आपज्जितब्बं ति सब्बदा पलिबोधो होति। सो पि एवं उपच्छिन्दितब्बो—सचे अप्पं अवसिट्ठं होति निट्ठपेतब्बं। सचे बहुं सङ्घिकं चे नवकम्मं, सङ्घस्स वा सङ्घभारहारकभिक्खूनं वा निय्यादेतब्बं। अत्तनो सन्तकं च, अत्तनो भारहारकानं निय्यादेतब्बं। तादिसे अलभन्ते सङ्घस्स परिच्चजित्वा गन्तब्बं ति। (५)

अद्धानं ति मग्गगमनं। यस्स हि कत्थचि पब्बज्जापेक्खो वा होति, पच्चयजातं वा किञ्चि लद्धब्बं होति। सचे तं अलभन्तो न सक्कोति अधिवासेतुं, अरञ्ञं पविसित्वा समणधम्मं करोन्तस्स पि गमिकचित्तं नाम दुप्पटिविनोदनीयं होति, तस्मा गन्त्वा तं किच्चं तीरेत्वा व समणधम्मे उस्सुक्कं कातब्बं ति। (६)

ञाती ति विहारे आचरियुपज्झायसद्धिविहारिकअन्तेवासिकसमानुपज्झायकसमानाचरियका, घरे माता पिता भाता ति एवमादिका। ते गिलाना इमस्स पलिबोधा होन्ति, तस्मा सो पलिबोधो उपट्ठहित्वा तेसं पाकतिककरणेन उपच्छिन्दितब्बो।

तत्थ उपज्झायो ताव गिलानो सचे लहुं न वुट्ठाति, यावजीवं पि पटिजग्गितब्बो।

ही रहने वाले किसी दूसरे गणवाचक (=कक्षाध्यापक) के पास जाकर, "आयुष्मन्! अध्यापन आदि के द्वारा इनकी सहायता करें"—यों कहना चाहिये। इस प्रकार का गणवाचक न मिले तो छात्रों को "आयुष्मानो! मुझे एक कार्य करना है, तुम लोगों को जहाँ अध्ययन आदि की सुविधा हो, वहाँ जाओ"—कहकर गण को छोड़ अपने श्रमण-धर्म के पालन में लग जाना चाहिये।। (४)

कर्म— (निर्माण-कार्य)। उस (निर्माण आदि कर्म) को करने वाले के लिये यह जानना आवश्यक हो जाता है कि बढ़ई आदि को क्या (सामग्री) प्राप्त है, क्या नहीं? क्या किया गया है, क्या नहीं?—इस विषय में उत्सुकता रखनी पड़ती है। यों निर्माण-कर्म सर्वदा परिबोध होता है। उसको भी इस प्रकार नष्ट करना चाहिये—यदि कुछ ही कार्य अवशिष्ट हो तो उसे सम्पन्न कर देना चाहिये। यदि अधिक (अवशिष्ट) हो एवं यदि सङ्घ के लिये निर्माण-कार्य चल रहा हो, तो सङ्घ को या सङ्घ के कार्यों का उत्तरदायित्व वहन करने वाले अन्य भिक्षुओं को या अपने किसी परिचित को सौंप देना चाहिये। यदि ऐसे लोग न मिलें तो निर्माणाधीन वस्तु सङ्घ को दान कर, चले जाना चाहिये।। (५)

मार्ग— मार्गगमन। यदि किसी (भिक्षु) से कोई व्यक्ति कहीं प्रव्रज्या करने की अपेक्षा कर रहा हो या उस भिक्षु को कोई चीवरादि प्रत्यय प्राप्त करना हो और उसे प्राप्त किये विना रहा न जा सके तो यह उसके लिये परिबोध होता है; क्योंकि भले ही वह जङ्गल में जाकर श्रमण-धर्म (=ध्यान आदि) करने लगे, किन्तु उस यात्रा के विषय में चिन्तित मन को नियन्त्रित करना सरल नहीं होगा। इसलिये पहले जहाँ जाना हो वहाँ जाकर, उस कार्य को पूर्ण कर फिर श्रमण-धर्म के प्रति उत्सुक होना चाहिये।। (६)

ज्ञाति— विहार में आचार्य, उपाध्याय, साथ विहार करने वाले भिक्षु, शिष्य, एक उपाध्याय के शिष्य , एक आचार्य के शिष्य, घर में माता-पिता, भाई आदि। इनके रोगी होने पर वे इस भिक्षु के लिये परिबोध होते हैं। इसलिये उनकी सेवा-शुश्रूषा करके, उन्हें पहले जैसा (नीरोग) करके उस परिबोध को नष्ट करना चाहिये।

इनमें, उपाध्याय यदि रोगी होने पर शीघ्र अच्छे नहीं होते तो वे जब तक जिये तब तक

तथा पब्बज्जाचरियो उपसम्पदाचरियो सद्धिविहारिको उपसम्पादितपब्बाजितअन्तेवासिक-समानुपज्झायका च। निस्सयाचरियउद्देसाचरियनिस्सयन्तेवासिकउद्देसन्तेवासिकसमाना-चरियका पन याव निस्सयउद्देसा अनुपच्छिन्ना, ताव पटिजग्गितब्बा। पहोन्तेन ततो उद्धं पि पटिजग्गितब्बा एव।

मातापितूसु उपज्झाये विय पटिपज्जितब्बं। सचे पि हि ते रज्जे ठिता होन्ति, पुत्ततो च उपट्ठानं पच्चासीसन्ति, कातब्बमेव। अथ तेसं भेसज्जं नत्थि, अत्तनो सन्तकं दातब्बं। असति भिक्खाचरियाय परियेसित्वा पि दातब्बमेव। भातुभगिनीनं पन तेसं सन्तकमेव योजेत्वा दातब्बं। सचे नत्थि अत्तनो सन्तकं तावकालिकं दत्वा पच्छा लभन्तेन गण्हितब्बं। अलभन्तेन न चोदेतब्बा। अञ्ञातकस्स भगिनिसामिकस्स भेसज्जं नेव कातुं न दातुं वट्टति। "तुय्हं सामिकस्स देही" ति वत्वा पन भगिनिया दातब्बं। भातुजायाय पि एसेव नयो। तेसं पन पुत्ता इमस्स ञातका एवा ति तेसं कातुं वट्टती ति। (७)

आबाधो ति। यो कोचि रोगो सो बाधयमानो पलिबाधो होति, तस्मा भेसज्जकरणेन उपच्छिन्दितब्बो। सचे पन कतिपाहं भेसज्जं करोन्तस्स पि न वूपसम्मति, "नाहं तुय्हं दासो, न भतको, तं येवहि पोसेन्तो अनमतग्गे संसारवट्टे दुक्खं पत्ता" ति अत्तभावं गरहित्वा समणधम्मो कातब्बो ति। (८)

गन्थो ति। परियत्तिहरणं। तं सज्झायादीहि निच्चब्यावटस्सेव पलिबोधो होति, न

उनकी सेवा करनी चाहिये। इसी प्रकार प्रव्रज्या देने वाले आचार्य....उपसम्पदा देने वाले आचार्य...., साथ-साथ विहार करने वाले भिक्षु...., जिन्हें प्रव्रज्या दी है...., जिन्हें उपसम्पदा दी है-ऐसे शिष्य....और समान उपाध्याय के शिष्य....यदि रोगी....सेवा करनी चाहिये, किन्तु निश्रय देने वाले आचार्य, पाठ कराने वाले आचार्य, वह शिष्य जिसे निश्रय दिया हो एवं समान आचार्य के शिष्य के विषय में विधान है कि जब तक निश्रय एवं पाठ चलता रहे तब तक या आवश्यकता हो तो बाद में भी सेवा-शुश्रूषा करनी ही चाहिये।

माता-पिता की भी, उपाध्याय के ही समान सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिये। यदि वे उसी राज्य में रहते हों, जिसमें पुत्र रहता है और पुत्र से सेवा की अपेक्षा करते हों, तो सेवा करनी ही चाहिये। यदि उनके पास औषध नहीं है तो अपने पास से देनी चाहिये। अपने पास न होने पर भिक्षाटन कर उसे खोज कर भी देनी चाहिये। किन्तु भाई या बहन को उन्हीं के पास की औषधि देनी चाहिये। यदि उनके पास न हो, तो अपने पास से उस समय के लिये देकर बाद में उसके बदले में दूसरी ले लेनी चाहिये। किन्तु यदि वापस न मिले तो देने के लिये बाध्य नहीं करना चाहिये। जिसके साथ रक्त का सम्बन्ध नहीं है-ऐसी बहन के पति के लिये न तो औषध बनानी चाहिये और न ही देनी चाहिये। किन्तु "अपने स्वामी को दे दो"-ऐसा कहकर बहन को देना चाहिये। भ्रातृजाया के विषय में भी यही नियम है। किन्तु उसका पुत्र तो इसका रक्त-सम्बन्धी (=ज्ञाति) ही है, इसलिये उसके लिये औषध बनाना विहित है। (७)

आबाध- किसी भी प्रकार का रोग। जब यह रोग पीड़ित करता है तब परिबोध होता है। इसलिये, चिकित्सा करके इसे नष्ट करना चाहिये। यदि कुछ दिनों तक चिकित्सा करने पर भी रोग शान्त न हो तो स्वयं की इस प्रकार भर्त्सना कर उसकी उपेक्षा करते हुए श्रमण-धर्म का ही पालन करना चाहिये-"न मैं तुम्हारा दास हूँ, न ही वेतनभोगी सेवक हूँ, तुम्हें ही पालते हुए मैंने इस अनादि संसार में अपार दुःख भोगा है" (८)

इतरस्स। तत्रिमानि वत्थूनि—मज्झिमभाणकदेवत्थेरो किर मलयवासिदेवत्थेरस्स सन्तिकं गन्त्वा कम्मट्ठानं याचि। थेरो "कीदिसोसि, आवुसो, परियत्तियं" ति पुच्छि। "मज्झिमो मे, भन्ते, पगुणो" ति। "आवुसो, मज्झिमो नामेसो दुप्परिहारो, मूलपण्णासं सज्झायन्तस्स मज्झिमपण्णासको आगच्छति, तं सज्झायन्तस्स उपरिपण्णासको, कुतो तुय्हं कम्मट्ठानं" ति? "भन्ते, तुम्हाकं सन्तिकं कम्मट्ठानं लभित्वा पुन न ओलोकेस्सामी" ति कम्मट्ठानं गहेत्वा एकूनवीसतिवस्सानि सज्झायं अकत्वा वीसतिमे वस्से अरहत्तं पत्वा सज्झायतत्थाय आगतानं भिक्खूनं "वीसति मे, आवुसो, वस्सानि परियत्तिं अनोलोकेन्तस्स, अपि च खो कतपरिचयो अहमेत्थ, आरभथा" ति वत्वा आदितो पट्ठाय याव परियेसना एकब्यञ्जने पिस्स कङ्खा नाहोसि।

करुळियगिरिवासि**नागत्थेरो** पि अट्ठारसवस्सानि परियत्तिं छड्डेत्वा भिक्खूनं **धातुकथं** उद्दिसि। तेसं गामवासिकत्थेरेहि सद्धिं संसन्देन्तानं एकपञ्हो पि उप्पटिपाटिया आगतो नाहोसि।

महाविहारे पि तिपिटक**चूळाभयत्थरो** नाम 'अट्ठकथं अनुग्गहेत्वा व पञ्चनिकाय-मण्डले तीणि पिटकानि परिवत्तेस्सामी' ति सुवण्णभेरिं पहरापेसि। भिक्खुसङ्घो "कतमा-चरियानं उग्गहो, अत्तनो आचरियुग्गहं येव वदतु, इतरथा वत्तुं न देमा" ति आह। उपज्झायो पि नं अत्तनो उपट्ठानं आगतं पुच्छि—"त्वं आवुसो, भेरिं पहरापेसी" ति? "आम, भन्ते"।

ग्रन्थ— ग्रन्थों के प्रति उत्तरदायित्व (=पर्यत्तिहरण)। वह उसके लिये परिबोध होता है जो सदा परायण आदि में लगा रहता है, अन्य के लिये नहीं। इस विषय में ये कथाएँ (दृष्टान्त) हैं—कहते हैं कि मज्झिमभाणक (=मज्झिमनिकाय का पारायण करने वाले) **देव[1] स्थविर** ने मलय (=वर्तमान लङ्का का त्रिकोणामलय प्रदेश) निवासी देव स्थविर के पास जाकर कर्मस्थान (=समाधि के आलम्बन) की याचना की। स्थविर ने पूछा—"आयुष्मन्! ग्रन्थों में तुम्हारी कैसी गति है?" "भन्ते, मुझे मज्झिमनिकाय कण्ठस्थ है" "आयुष्मन्! मज्झिम एक कठिन उत्तरदायित्व है। जब तक कोई प्रथम पचास (मूलपण्णासक) याद करता है, तभी बीच के पचास (मज्झिमपण्णासक) सामने आ जाते हैं। फिर उन्हें याद करते हुए ही बाद के अन्तिम पचास (उपरिपण्णासक)! तुम्हारे पास कर्मस्थान (का अवकाश) कहाँ है?" उसने "भन्ते, आपसे कर्मस्थान पाकर फिर उन ग्रन्थों को नहीं देखूँगा" इस प्रकार कहकर, कर्मस्थान ग्रहण कर उन्नीस वर्ष तक पारायण नहीं किया। एवं बीसवें वर्ष में अर्हत्त्व प्राप्त कर लिया। इसके पश्चात् पारायण के लिये आये हुए भिक्षुओं से कहा—"आयुष्मन्! वर्षों से मैंने इन ग्रन्थों को देखा नहीं है, फिर भी उनके विषय में ज्ञान है, इसलिये आरम्भ करो" यों प्रारम्भ से लेकर अन्ततक एक भी व्यञ्जन (अक्षर) के विषय में उन्हें सन्देह हिचकिचाहट नहीं हुई। (क)

करुळियगिरिवासी **नागस्थविर** ने भी अट्ठारह वर्ष तक ग्रन्थों को छोड़ देने पर भी भिक्षुओं को **धातुकथा** का पारायण करके सुनाया। जब उन्होंने ग्रामवासी भिक्षुओं से इसकी परीक्षा करवायी तो पाया कि एक भी प्रश्न ऐसा नहीं था जो (पारायण–क्रम) से उधर–उधर हो। (ख)

महाविहार में भी **त्रिपिटक चूड़ाभय** नामक स्थविर ने "अट्ठकथा (=अर्थकथा) को विना पढ़े ही पञ्चनिकाय–मण्डल (दीघनिकाय आदि पाँच निकायों के विशेषज्ञों के मण्डल) में तीन पिटकों की व्याख्या करूँगा"—इस प्रकार कहते हुए स्वर्ण–भेरी बजवायी। भिक्षुसङ्घ ने कहा—"किन आचार्यों की

---

1. किसी–किसी पुस्तक में 'देव' के स्थान में 'रेवत' शब्द भी मिलता है।

"किं कारणा" ति? "परियत्तिं, भन्ते परिवत्तेस्सामी" ति। "आवुसो अभय, आचरिया इदं पदं कथं वदन्ती" ति? "एवं वदन्ति, भन्ते" ति। थेरो 'हुं' ति पटिबाहि। पुन सो अञ्ञेन अञ्ञेन परियायेन "एवं वदन्ति, भन्ते" ति तिक्खत्तुं आह। थेरो सब्बं "हुं" ति पटिवाहित्वा "आवुसो, तया पठमे कथितो एव चाचरियमग्गो, आचरियमुखतो पन अनुग्गहितत्ता, 'एवं आचरिया वदन्ती' ति सण्ठातुं नासक्खि। गच्छ, अत्तनो आचरियानं सन्तिके सुणाही" ति। "कुहिं, भन्ते, गच्छामी" ति? "गङ्गाय परतो रोहणजनपदे तुलाधारपब्बतविहारे सब्बपरियत्तिको महाधम्मरक्खितत्थेरो नाम वसति, तस्स सन्तिकं गच्छा" ति। "साधु, भन्ते" ति थेरं वन्दित्वा पञ्चहि भिक्खुसतेहि सद्धिं थेरस्स सन्तिकं गन्त्वा वन्दित्वा निसीदि। थेरो "कस्मा आगतोसी" ति पुच्छि। "धम्मं सोतुं, भन्ते" ति। "आवुसो अभय, दीघमज्झिमेसु मं कालेन कालं पुच्छन्ति। अवसेसं पन मे तिंसमत्तानि वस्सानि न ओलोकितपुब्बं। अपि च त्वं रत्तिं मम सन्तिके परिवत्तेहि। अहं ते दिवा कथयिस्सामा" ति सो "साधु, भन्ते" ति तथा अकासि।

परिवेणद्वारे महामण्डपं कारेत्वा गामवासिनो दिवसे दिवसे धम्मसवनत्थाय आगच्छन्ति। थेरो रत्तिं परिवत्ति। तं दिवा कथयन्तो अनुपुब्बेन देसनं निट्ठपेत्वा अभयत्थेरस्स सन्तिके तट्टिकाय निसीदित्वा "आवुसो मय्हं कम्मट्ठानं कथेही" ति आह। "भन्ते किं

यह शिक्षा है? आप अपने ही आचार्य की शिक्षा की व्याख्या करें, अन्यथा हम बोलने नहीं देंगे।" जब वे उपाध्याय के पास गये तो उन्होंने भी पूछा—"तुमने भेरी बजवायी (=घोषणा करवायी) है?"

"हाँ, भन्ते!" "किसलिये?" "भन्ते, त्रिपिटक की व्याख्या करूँगा"। "आयुष्मन् अभय! आचार्य इस पद के विषय में क्या कहते हैं?" "भन्ते, यह कहते हैं।" स्थविर ने 'हूँ' कहकर खण्डन किया। फिर उन्होंने तीन बार भिन्न-भिन्न प्रकार से 'यह कहते हैं, भन्ते" कहा। स्थविर ने सभी का 'हूँ' कहकर खण्डन किया एवं कहा—"आयुष्मन्! तुमने पहले जो कहा है, वहीं आचार्य द्वारा समर्थित मार्ग है; किन्तु क्योंकि तुमने आचार्य के मुख से विषय का ग्रहण नहीं किया, इसलिये निश्चयपूर्वक नहीं कह पाये कि "आचार्य यह कहते हैं'। जाओ और अपने आचार्य से इसे सीखो।" "भन्ते, कहाँ जाऊँ?" "गङ्गापार रोहण जनपद में तुलाधारपर्वतविहार में सभी पिटकों में निष्णात महाधर्मरक्षित नामक स्थविर रहते हैं, उनके पास जाओ।" वे "बहुत अच्छा, भन्ते" कहकर स्थविर की वन्दना कर पाँच सौ भिक्षुओं के साथ स्थविर के पास जाकर, वन्दना कर, बैठ गये। स्थविर ने पूछा—"किसलिये आये हो?" "भन्ते, धर्म-श्रवण करने के लिये।"

"आयुष्मन् अभय, शिष्यगण मुझसे दीघनिकाय और मज्झिमनिकाय समय-समय पर पूछते रहते हैं इसलिये वे स्मृति में है; किन्तु अवशिष्ट निकायों को तो मैंने तीस वर्षों तक देखा भी नहीं है। फिर भी तुम रात्रि के समय उन्हे मेरे समीप पढो। प्रातः मैं तुम्हे उनका तात्पर्य बतलाऊँगा।" उन्होंने "बहुत अच्छा, भन्ते" कहकर वैसा ही किया।

महाधर्मरक्षित के परिवेण के द्वार पर ग्रामवासी एक विशाल मण्डप बनवाकर प्रतिदिन धर्मश्रवण के लिये आया करते थे। अभय स्थविर रात्रि में पढते थे। दूसरे दिन कथा कहते हुए क्रमशः देशना समाप्त कर अभय स्थविर के समीप चट्टी (=चटाई) पर बैठकर महाधर्मरक्षित स्थविर ने कहा—"आयुष्मन्! मेरे लिये कर्मस्थान कहो।" "भन्ते, क्या कह रहे हैं? क्या मैंने आप से ही श्रवण नहीं किया है? मै आपको ऐसा क्या बतलाऊँगा जो आपको ज्ञान नही है।" तब स्थविर ने कहा—"आयुष्मन्! यह मार्ग उस व्यक्ति के लिये कुछ और ही महत्त्व रखता है जो वास्तव में इस पर चला

भणथ? ननु मया तुम्हाकमेव सन्तिके सुतं! किमहं तुम्हेहि अञ्ञातं कथेस्सामी?" ति ततो नं थेरो "अञ्ञो एस, आवुसो, गतकस्स मग्गो नामा" ति आह।

अभयत्थेरो किर तदा सोतापन्नो होति। अथस्स सो कम्मट्ठानं दत्वा आगन्त्वा लोहपासादे धम्मं परिवत्तेन्तो थेरो परिनिब्बुतो ति अस्सोसि। सुत्वा "आहरथावुसो चीवरं" ति चीवरं पारुपित्वा "अनुच्छविको, आवुसो, अम्हाकं आचरियस्स अरहत्तमग्गो। आचरियो नो, आवुसो, उजु आजानीयो। सो अत्तनो धम्मन्तेवासिकस्स सन्तिके तट्टिकाय निसीदित्वा 'मय्हं कम्मट्ठानं कथेही' ति आह। अनुच्छविको, आवुसो, थेरस्स अरहत्तमग्गो" ति। एवरूपानं गन्थो पलिबोधो न होती ति। (९)

इद्धी ति। पोथुज्जनिका इद्धि। सा हि उत्तानसेय्यकदारको विय तरुणसस्सं विय च दुप्परिहारा होति। अप्पमत्तकेनेव भिज्जति। सा पन विपस्सनाय पलिबोधो होति, न समाधिस्स, समाधिं पत्वा पत्तब्बतो। तस्मा विपस्सनत्थिकेन इद्धिपलिबोधो उपच्छिन्दितब्बो, इतरेन अवसेसा ति। (१०)

अयं ताव पलिबोधकथाय वित्थारो॥

कम्मट्ठानदायककथा

१४. **कम्मट्ठानदायकं कल्याणमित्तं उपसङ्कमित्वा** ति। एत्थ पन दुविधं कम्मट्ठानं—सब्बत्थककम्मट्ठानं, पारिहारियकम्मट्ठानं च। तत्थ सब्बत्थककम्मट्ठानं नाम भिक्खुसङ्घादीसु मेत्ता मरणस्सति च, असुभसञ्ञा ति पि एके।

कम्मट्ठानिकेन हि भिक्खुना पठमं ताव परिच्छिन्दित्वा सीमट्ठकभिक्खुसङ्घे 'सुखिता

है।" अभय स्थविर उस समय स्रोतआपन्न हो चुके थे। तब उन्होंने कर्मस्थान देकर वापस आकर लौहप्रासाद में धर्म का पारायण करते हुए 'स्थविर परिनिवृत्त हो गये' ऐसा सुना। सुनकर "आयुष्मन्! चीवर लाओ" ऐसा कहकर प्रस्थान के निमित्त चीवर ओढ़कर कहा— "आयुष्मन्! अर्हत् मार्ग हमारे आचार्य को शोभा देता था। आयुष्मन्, हमारे आचार्य सरल और कुलीन थे। उन्होंने अपने धर्मशिष्य के पास चटाई पर बैठकर "मेरे लिये कर्मस्थान बतलाओ" ऐसा कहा था। आयुष्मन्! इस स्थविर को अर्हत् मार्ग ही शोभा देता था"। (ग)

इस प्रकार के साधकों के लिये ग्रन्थ–परिबोध नहीं होता। (९)

ऋद्धि— अर्थात् पृथग्जनों की ऋद्धि। उत्तान सोने वाले शिशु (=नवजात शिशु जो करवट नहीं बदल सकता) के समान और नये पौधे के समान उसकी रक्षा करने में कठिनाई होती है। अल्पमात्र असावधानी से भी वह नष्ट हो जाता है। किन्तु वह विपश्यना के लिये परिबोध होती है, समाधि के लिये नहीं; क्योंकि वह समाधि द्वारा ही प्राप्त होती है। इसलिये विपश्यना के इच्छुक को ऋद्धि–परिबोध नष्ट करना चाहिये, अन्य को अवशिष्ट ९ पलिबोधों को दूर करना चाहिये।। (१०)

यों यह परिबोध का विस्तृत वर्णन पूर्ण हुआ।।

कर्मस्थान–प्रदाता (कम्मट्ठानदायक)

कर्मस्थान देने वाले कल्याणमित्र के पास जाकर— कर्मस्थान दो प्रकार का होता है— १. सबके लिये उपयोगी (=सर्वार्थक) कर्मस्थान एवं २. विशेष कर्मस्थान। 'सबके लिये उपयोगी कर्मस्थान है— भिक्षुसङ्घ आदि के प्रति मैत्री एवं मरणानुस्मृति। कोई कोई अशुभ संज्ञा को भी सबके लिये मानते हैं।

कर्मस्थान ग्रहण करने वाले भिक्षु को पहले सीमित रूप में मैत्री भावना करते हुए सीमा–

होन्तु अब्यापज्जा' ति मेत्ता भावेतब्बा। ततो सीमट्ठकदेवतासु, ततो गोचरगामम्हि इस्सरजने, ततो तत्थ मनुस्से उपादाय सब्बसत्तेसु। सो हि भिक्खुसङ्घे मेत्ताय सहवासीनं मुदुचित्ततं जनेति। अथस्स ते सुखसंवासा होन्ति। सीमट्ठकदेवतासु मेत्ताय मुदुकतचित्ताहि देवताहि धम्मिकाय रक्खाय सुसंविहितरक्खो होति। गोचरगामम्हि इस्सरजने मेत्ताय मुदुकतचित्तसन्तानेहि इस्सरेहि धम्मिकाय रक्खाय सुरक्खितपरिक्खारो होति। तत्थ मनुस्सेसु मेत्ताय पसादितचित्तेहि तेहि अपरिभूतो हुत्वा विचरति। सब्बसत्तेसु मेत्ताय सब्बत्थ अप्पटिहतचारो होति।

मरणस्सतिया पन 'अवस्सं मया मरितब्बं' ति चिन्तेन्तो अनेसनं पहाय उपरूपरि वड्ढमानसंवेगो अनोलीनवुत्तिको होति। असुभसञ्ञापरिचितचित्तस्स पनस्स दिब्बानि पि आरम्मणानि लोभवसेन चित्तं न परियादियन्ति।

एवं बहूपकारत्ता सब्बत्थ अत्थयितब्बं इच्छितब्बं ति च अधिप्पेतस्स योगानुयोग-कम्मस्स ठानं चा ति **सब्बत्थक**कम्मट्ठानं ति वुच्चति।

चत्तालीसाय पन कम्मट्ठानेसु यं यस्स चरियानुकूलं, तं तस्स निच्चं परिहरितब्बत्ता उपरिमस्स च उपरिमस्स भावनाकम्मस्स पदट्ठानत्ता पारिहारियकम्मट्ठानं ति वुच्चति। इति इमं दुविधं पि कम्मट्ठानं यो देति अयं कम्मट्ठानदायको नाम, तं **कम्मट्ठानदायकं**।

विशेष में रहने वाले भिक्षुसङ्घ के प्रति 'ये सुखी हों, कष्टरहित हों'—इस प्रकार मैत्रीभावना करनी चाहिये। तत्पश्चात् उस सीमा के भीतर रहने वाले देवताओं के प्रति, तत्पश्चात् वहाँ के सभी मनुष्यों एवं उन मनुष्यों पर निर्भर रहने वाले सभी प्राणियों के प्रति। वह भिक्षुसङ्घ के प्रति मैत्री भावना का अभ्यास करने के कारण अपने साथ रहने वालों के चित्त में मृदुता उत्पन्न करता है। अतः उसके लिये वे सभी सुखपूर्वक साथ रहने वाले बन जाते हैं। उस सीमा विशेष में रहने वाले देवताओं के प्रति मैत्री के कारण मृदुचित्त देवता उसकी धर्मसम्मत सुरक्षा करते है। जहाँ वह भिक्षाटन करता है, उस ग्राम के प्रमुख व्यक्तियों के प्रति मैत्री के कारण, मृदु चित्तसन्तान (कोमल विचारों) वाले वे प्रमुख मनुष्य उसकी धर्मसम्मत सुरक्षा करते हैं, जिससे उसका परिवार सुरक्षित होता है। वह वहाँ के मनुष्यों के प्रति मैत्री के कारण, उन प्रसन्न-चित्त मनुष्यों द्वारा अपमानित न होते हुए, विचरण करता है। सभी प्राणियों के प्रति मैत्री के कारण सर्वत्र निर्बाध रूप से विहार करता है।

वह साधक मरण-स्मृति द्वारा "मै अवश्य मरूँगा"—ऐसा सोचते हुए, अनुचित अन्वेषण को छोड़कर क्रमशः वर्धमान संवेग से युक्त एवं रागरहित जीवन जीने वाला वाला होता है। जिस व्यक्ति का चित्त अशुभसंज्ञा से परिचित (=उसका अभ्यासी) होता है, उसके चित्त में तो दिव्य स्वर्ग आदि आलम्बन भी लोभ उत्पन्न नहीं कर सकते!

इस प्रकार उन्हें मैत्री, मरणस्मृति एवं अशुभसंज्ञा को सबके लिये उपयोगी कहा जाता है; क्योंकि इनके बहु-उपकारी होने से सर्वत्र इनकी आवश्यकता पड़ती है एवं कर्मस्थान कहा जाता है। ये अभिप्रेत योग (=समाधि) में अनुयोग (=संयुक्त) करने वाले कर्म के स्थान हैं। (१)

विशेष (=पारिहारिक) कर्मस्थान वह है जो कि किसी के लिये उसकी चर्या के अनुकूल किसी एक कर्मस्थान के रूप में चालीस कर्मस्थानों मे से चुना गया यह विशेष (=परिहार्य=स्वीकार्य) है; क्योंकि वह उस भिक्षु के लिये इसे सर्वदा साथ-साथ लिये रहना आवश्यक होता है एवं क्योंकि यह उत्तरोत्तर विकसित होने वाले भावनाकर्म का आसन्न कारण है। इस प्रकार इस द्विविध कर्मस्थान को जो देता है वह कर्मस्थान-प्रदाता है। (२)

कल्याणमित्तं ति।

"पियो गरु भावनीयो वत्ता च वचनक्खमो।

गम्भीरं च कथं कत्ता नो चट्ठाने नियोजको॥ ति॥ (अं० ३-१७७)

एवमादिगुणसमन्नागतं एकन्तेन हितेसिं वुड्डिपक्खे ठितं कल्याणमित्तं।

"ममं हि, आनन्द, कल्याणमित्तं आगम्म जातिधम्मा सत्ता जातिया परिमुच्चन्ती" (सं० १-७८) ति आदिवचनतो पन सम्मासम्बुद्धोयेव सब्बाकारसम्पन्नो कल्याणमित्तो। तस्मा तस्मिं सति तस्सेव भगवतो सन्तिके गहितकम्मट्ठानं सुगहितं होति। परिनिब्बुते पन तस्मिं असीतिया महासावकेसु यो धरति, तस्स सन्तिके गहेतुं वट्टति। तस्मिं असति यं कम्मट्ठानं गहेतुकामो होति, तस्सेव वसेन चतुक्कपञ्चकज्झानानि निब्बत्तेत्वा झानपदट्ठानं विसस्सनं वड्डेत्वा आसवक्खयप्पत्तस्स खीणासवस्स सन्तिके गहेतब्बं।

किं पन खीणासवो 'अहं खीणासवो' ति अत्तानं पकासेती ति? किं वत्तब्बं? कारकभावं हि जानित्वा पकासेति। ननु अस्सगुत्तत्थेरो आरद्धकम्मट्ठानस्स भिक्खुनो 'कम्मट्ठानकारको अयं' ति जानित्वा आकासे चम्मखण्डं पञ्ञापेत्वा तत्थ पल्लङ्केन निसिन्नो कम्मट्ठानं कथेसी ति!

तस्मा सचे खीणासवं लभति, इच्चेतं कुसलं। नो चे लभति, अनागामिसकदागामि-सोतापन्नझानलाभिपुथुज्जनतिपिटकधरद्विपिटकधरएकपिटकधरेसु पुरिमस्स पुरिमस्स सन्तिके। एकपिटकधरे पि असति, यस्स एकसङ्गीति पि अट्ठकथाय सद्धिं पगुणा, सयं च लज्जी

कल्याणमित्र कौन है?

"प्रिय, गौरव एवं सम्मान का पात्र, धर्मवक्ता, वचनों को सहने या गम्भीर प्रवचन करने वाला एवं अनुचित कार्यों में न लगाने वाला" आदि भगवदुक्त गुणों से युक्त, पूर्णरूप से हितैषी एवं सब की उन्नति (वृद्धि) चाहने वाला कल्याणमित्र कहा जाता है।

"आनन्द, मुझ कल्याणमित्र के पास आकर उत्पत्ति स्वभाव वाले सत्त्व उत्पत्ति से विमुक्त होते हैं" आदि भगवद्वचनों के अनुसार तो सम्यक्सम्बुद्ध ही सर्वाकारसम्पन्न (=उपर्युक्त सभी विशेषताओं से सम्पन्न) कल्याणमित्र हैं। इसलिये उनके जीते जी (उपस्थित रहते) उन्हीं से ग्रहण किया गया कर्मस्थान ही वस्तुतः 'सम्यक्तया ग्रहण किया गया' कहा जा सकता है। उनके परिनिवृत हो जाने पर, अस्सी महाश्रावकों में से जो जीवित हो, उनके समीप ग्रहण करना चाहिये। उनके भी जीवित न रहने पर, जिस कर्मस्थान को ग्रहण करने की इच्छा हो, उसी के अनुसार चार एवं पाँच ध्यान मानने वाले नय के अनुसार क्रमशः चतुष्क पञ्चक ध्यानों को उत्पन्न कर, ध्यान की आसन्नकारण विपश्यना का वर्धन कर, जिसके आस्रव क्षीण हो चुके हों ऐसे क्षीणास्रव भिक्षु से ग्रहण करना चाहिये।

प्रश्न— किन्तु क्या क्षीणास्रव "मैं क्षीणास्रव हूँ" इस प्रकार अपने को स्वयं प्रकाशित (घोषित) करता है? इस विषय में क्या करना चाहिये?

उत्तर— जब, वह जान लेता है कि उसकी शिक्षा का पालन किया जायगा, वह (स्वयं को) प्रकाशित करता है। क्या अश्वगुप्त स्थविर ने कर्मस्थान का आरम्भ कर चुके भिक्षु के लिये "यह कर्मस्थान का पालन करने वाला है"—ऐसा जानकर आकाश में चर्मखण्ड बिछाकर, उस पर पद्मासन से बैठ कर एवं इस प्रकार ऋद्धिबल का प्रदर्शन करते हुए कर्मस्थान नहीं बतलाया था!

इसलिये क्षीणास्रव भिक्षु मिल जाय तो बहुत अच्छा है। यदि न मिलें तो अनागामी, सकृदागामी, स्रोतआपन्न, ध्यानलाभी पृथग्जन, त्रिपिटकधर, द्विपिटकधर या एकपिटकधर में से क्रमशः किसी एक

होति, तस्स सन्तिके गहेतब्बं। एवरूपो हि तन्तिधरो वंसानुरक्खको पवेणीपालको आचरियो आचरियमतिको व होति, न अत्तनोमतिको होति। तेनेव पोराणकत्थेरा 'लज्जी रक्खिस्सति, लज्जी रक्खिस्सती' ति तिक्खत्तुं आहंसु।

पुब्बे वुत्तखीणासवादयो चेत्थ अत्तना अधिगतमग्गमेव आचिक्खन्ति। बहुस्सुतो पन तं तं आचरियं उपसङ्कमित्वा उग्गहपरिपुच्छानं विसोधितत्ता इतो चितो च सुत्तं च कारणं च सल्लक्खेत्वा सप्पायासप्पायं योजेत्वा गहनट्ठाने गच्छन्तो महाहत्थी वियमहामग्गं दस्सेन्तो कम्मट्ठानं कथेस्सति। तस्मा एवरूपं कम्मट्ठानदायकं कल्याणमित्तं उपसङ्कमित्वा तस्स वत्तपटिपत्तिं कत्वा कम्मट्ठानं गहेतब्बं।

सचे पनेतं एकविहारे येव लभति, इच्चेतं कुसलं। नो चे लभति, यत्थ सो वसति, तत्थ गन्तब्बं। गच्छन्तेन च न धोतमक्खितेहि पादेहि उपाहना आरुहित्वा छत्तं गहेत्वा तेलनाळिमधुफाणितादीनि गाहापेत्वा अन्तेवासिकपरिवुतेन गन्तब्बं। गमिकवत्तं पन पूरेत्वा अत्तनो पत्तचीवरं सयमेव गहेत्वा अन्तरामग्गे यं यं विहारं पविसति सब्बत्थ वत्तपटिपत्तिं कुरुमानेन सल्लहुकपरिक्खारेन परमसल्लेखवुत्तिना हुत्वा गन्तब्बं।

तं विहारं पविसन्तेन अन्तरामग्गे येव दन्तकट्ठं कप्पियं कारापेत्वा गहेत्वा पविसितब्बं। न च "मुहुत्तं विस्समित्वा पादधोवनमक्खनादीनि कत्वा आचरियस्स सन्तिकं गमिस्सामी" ति अञ्ञं परिवेणं पविसितब्बं। कस्मा? सचे हिस्स तत्र आचरियस्स विसभागा भिक्खू भवेय्युं, ते आगमनकारणं पुच्छित्वा आचरियस्स अवण्णं पकासेत्वा–'नट्ठोसि सचे तस्स सन्तिकं आगतो' ति विप्पटिसारं उप्पादेय्युं, येन ततो व पटिनिवत्तेय्य। तस्मा आचरियस्स वसनट्ठानं पुच्छित्वा उजुकं तत्थेव गन्तब्बं।

के न रहने पर दूसरे के समीप ग्रहण करना चाहिये। यदि एकपिटकधर भी न मिले, तो जिसे अट्ठकथा के साथ एक भी संगीति (निकाय) कण्ठस्थ है एवं स्वतः लज्जावान् हो उससे ग्रहण करना चाहिये। इस प्रकार का तन्तिधर (=बुद्धवचन कण्ठस्थ करने वाला) बुद्ध के वंश का रक्षक, परम्परापालक आचार्य अपने आचार्य की मति के अनुसार चलने वाला होता है, अपनी मति के अनुसार चलने वाला नहीं। इसीलिये प्राचीन समय के स्थविरों ने ऐसे भिक्षु की तरफ सङ्केत करते हुए तीन बार कहा है "लज्जावान् (वंश की) रक्षा करेगा, लज्जावान् (वंश की) रक्षा करेगा।"

पूर्वोक्त क्षीणास्रव आदि अपने द्वारा अधिगत (अनुभूत) मार्ग को ही बतलाते हैं। किन्तु जो बहुश्रुत होता है वह इस उस आचार्य के पास जाकर अपने सीखे हुए का एवं प्रश्नोत्तरों (शङ्का–समाधानों) के सहारे इधर उधर से सूत्र एवं तर्क (=कारण) का सञ्चय कर, अनुकूल एवं अननुकूल की योजना (=व्यवस्था) कर, महामार्ग (सरल निष्कण्टक मार्ग) दिखलाते हुए, गहन स्थान में जाने वाले हाथी के समान, कर्मस्थान बतलायगा। इसलिये ऐसे कर्मस्थानोपदेष्टा कल्याणमित्र के पास जाकर उसके प्रति करणीय (सेवा–पूजा) करके कर्मस्थान का ग्रहण करना चाहिये।

यदि वह उसी विहार में मिल जाय, तब तो बहुत ही अच्छा है। यदि न मिले तो वह जहाँ रहता हो वहाँ जाना चाहिये। जाते समय उसे (जिज्ञासु को) पैर धोकर, तैल लगाकर, जूता पहन, छाता एवं तेल की फोंफी, शहद, राब आदि लेकर चलने वाले शिष्यों से घिरे हुए नहीं जाना चाहिये। अपितु जाने के पूर्व अपने कर्त्तव्यों को पूर्ण कर, अपना पात्र–चीवर स्वयं ही लेकर एवं बीच रास्ते में जो जो विहार पड़े, उन सबमें करणीय कर्म वन्दन–पूजन करते हुए, बहुत कम सामान लेकर और परम उपेक्षावृत्ति वाला होकर जाना चाहिये।

सचे आचरियो दहरतरो होति, पत्तचीवरपटिग्गहणादीनि न सादितब्बानि। सचे वुड्ढतरो होति, गन्त्वा आचरियं वन्दित्वा ठातब्बं। "निक्खिपावुसो, पत्तचीवरं" ति वुत्तेन निक्खिपितब्बं। "पानीयं पिवा" ति वुत्तेन सचे इच्छति पातब्बं। "पादे धोवाही" ति वुत्तेन न ताव पादा धोवितब्बा। सचे हि आचरियेन आभतं उदकं भवेय्य, न सारुप्पं सिया। "धोवाहावुसो,न मया आभतं, अञ्ञेहि आभतं" ति वुत्तेन पन यत्थ आचरियो न पस्सति, एवरूपे पटिच्छन्ने वा ओकासे , अब्भोकासे विहारस्सा पि वा एकमन्ते निसीदित्वा पादा धोवितब्बा।

सचे आचरियो तेलनाळिं आहरति, उट्ठहित्वा उभोहि हत्थेहि सक्कच्चं गहेतब्बा। सचे हि न गण्हेय्य, "अयं भिक्खु इतो एव पट्ठाय सम्भोगं कोपेती" ति आचरियस्स अञ्ञथत्तं भवेय्य। गहेत्वा पन न आदितो व पादा मक्खेतब्बा। सचे हि तं आचरियस्स गत्तब्भञ्जनतेलं भवेय्य, न सारुप्पं सिया। तस्मा सीसं मक्खेत्वा खन्धादीनि मक्खेतब्बानि। "सब्बपारिहारिय-तेलमिदं, आवुसो, पादे पि मक्खेही" ति वुत्तेन पन थोकं सीसे कत्वा पादे मक्खेत्वा "इमं तेलनाळिं ठपेमि, भन्ते" ति वत्वा आचरिये गण्हन्ते दातब्बा।

आगतदिवसतो पट्ठाय "कम्मट्ठानं मे, भन्ते, कथेथ" इच्चेवं न वत्तब्बं। दुतियदिवसतो पन पट्ठाय, सचे आचरियस्स पकतिउपट्ठाको अत्थि, तं याचित्वा वत्तं कातब्बं। सचे याचितो पि न देति, ओकासे लद्धे येव कातब्बं। करोन्तेन च खुद्दकमज्झिममहन्तानि तीणि दन्तकट्ठानि उपनामेतब्बानि। सीतं उण्हं ति दुविधं मुखधोवनउदकं च न्हानोदकं च पटियादेतब्बं। ततो यं आचरियो तीणि दिवसानि परिभुञ्जति, तादिसमेव निच्चं उपनामेतब्बं।

उस आचार्य के विहार में प्रवेश करने वाले को रास्ते में ही दातौन तुड़वाकर प्रवेश करना चाहिये; क्योंकि भिक्षु के लिये हरे-भरे वृक्षों से पत्ते आदि तोड़ना वर्जित=अकल्प्य है। उसे यह सोचकर कि "कुछ समय विश्राम कर, पैर धोकर, तैल लगाकर आचार्य के पास जाऊँगा", किसी अन्य परिवेण में प्रवेश नहीं करना चाहिये; क्योंकि यदि वहाँ उस आचार्य के विरोधी भिक्षु, उसके आगमन का कारण पूछकर उस आचार्य की निन्दा करते हुए "यदि उनके पास गये तो समझो कि नष्ट हो गये!"—इस प्रकार उसके मन में पश्चात्ताप (=ग्लानि) उत्पन्न कर देंगे। जिससे कि सम्भवतः वह जिज्ञासु आचार्य के पास न जाकर वहीं से वापस लौट सकता है। इसलिये उसे आचार्य का स्थान पूछकर सीधे वहीं जाना चाहिये।

यदि आचार्य उससे आयु में छोटे हों तो उनसे पात्र-चीवर ग्रहण आदि नहीं करवाना चाहिये। यदि उससे बड़े हों, तो जाकर आचार्य की वन्दना कर खड़े हो जाना चाहिये। "आयुष्मन्! पात्र-चीवर रख दो"—ऐसा कहने पर रख देना चाहिये। "जल पी लो"—कहने पर, यदि इच्छा हो तो पी लेना चाहिये। "पैर धो लो"—कहने पर उसी समय नहीं धोना चाहिये; क्योंकि यदि जल आचार्य के द्वारा लाया गया हो, तो उसे उपयोग में लेना उचित नहीं हो सकता। किन्तु "धो लो, आयुष्मन्! यह मेरे द्वारा नहीं, अपितु किसी अन्य द्वारा लाया गया है"—कहने पर जहाँ आचार्य की दृष्टि न पड़ती हो, ऐसे आवरण वाले स्थान पर या विहार के खुले मैदान में ही एकान्त में बैठकर पैर धोना चाहिये।

यदि आचार्य तैल की फोंफी लेकर आयें, तो उठकर दोनों हाथों से आदर के साथ लेना चाहिये। यदि ग्रहण नहीं करे तो आचार्य यह अन्यथा भी सोच सकते हैं—"यह भिक्षु अभी से (इसके) उपभोग को बुरा समझता है।" किन्तु इसे लेकर पहले पैरों पर ही नहीं मलना चाहिये, क्योंकि यदि

नियमं अकत्वा यं वा तं वा परिभुञ्जन्तस्स यथालद्धं उपनामेतब्बं। किं बहुना वुत्तेन? यं तं भगवता "अन्तेवासिकेन, भिक्खवे, आचरियम्हि सम्मा वत्तितब्बं। तत्रायं सम्मा वत्तना— कालस्सेव उट्ठाय उपाहना ओमुञ्चित्वा एकंसं उत्तरासङ्गं करित्वा दन्तकट्ठं दातब्बं, मुखोदकं दातब्बं, आसनं पञ्ञापेतब्बं। सचे यागु होति, भाजनं धोवित्वा यागु उपनामेतब्बा" (वि० ३-५८) ति आदिकं **खन्धके** सम्मा वत्तं पञ्ञत्तं, तं सब्बं पि कातब्बं।

एवं वत्तसम्पत्तिया गरुं आराधयमानेन सायं वन्दित्वा 'याही' ति विस्सज्जितेन गन्तब्बं। यदा सो 'किस्सागतोसी' ति पुच्छति तदा आगमनकारणं कथेतब्बं। सचे सो नेव पुच्छति, वत्तं पन सादियति, दसाहे वा पक्खे वा वीतिवत्ते एकदिवसं विस्सज्जितेनापि अगन्त्वा ओकासं कारेत्वा आगमनकारणं आरोचेतब्बं। अकाले वा गन्त्वा 'किमत्थं आगतोसी?' ति पुट्ठेन आरोचेतब्बं। सचे सो 'पाते व आगच्छा' ति वदति, पातो व गन्तब्बं।

सचे पनस्स ताय वेलाय पित्ताबाधेन वा कुच्छि परिडय्हति, अग्गिमन्दताय वा भत्तं न जीरति, अञ्ञो वा कोचि रोगो बाधति, तं यथाभूतं आविकत्वा अत्तनो सप्पायवेलं

वह तैल आचार्य के अङ्गों पर मला जाने वाला तैल हो तो उसे पैरों पर मलना उचित नहीं होगा। इसलिये सिर पर मलकर फिर कन्धे आदि पर मलना चाहिये। किन्तु यदि आचार्य कहें कि "आयुष्मन्! यह तैल सर्वत्र व्यवहार में आने वाला है, पैरों को भी मल लो" तो थोड़ा सा सिर पर रखकर, पैरों पर मलकर "भन्ते, इस तैल की फोंफी को रख रहा हूँ"—ऐसा कहकर, आचार्य के ले लेने पर दे देना चाहिये।

जिस दिन वह पहुँचा हो उसी दिन यह नहीं कहना चाहिये कि—"भन्ते, मुझे कर्मस्थान बतलाइये" यदि आचार्य का कोई स्थायी सेवक हो, तो उससे सेवा का अवसर माँग कर दूसरे दिन से करणीय करना चाहिये। यदि वह माँगने पर भी अवसर न दें, तो अवसर पाने पर स्वयं ही करना चाहिये। सेवा करने वाले आगन्तुक भिक्षु को छोटी, मँझली और बड़ी—तीन आकार की दातौन लाकर देना चाहिये। मुख धोने एवं नहाने के लिये ठण्ढा और गर्म—दोनों प्रकार के जल का प्रबन्ध करना चाहिये। तत्पश्चात् आचार्य ने तीन दिनों तक जो आहार लिया हो, उसी प्रकार का आहार उन्हें प्रतिदिन लाकर देना चाहिये। यदि आचार्य कोई नियम न रखते हुए कुछ भी खा लेते हों, तो जो मिल जाय वही लाकर देना चाहिये। अधिक कहने से क्या लाभ? भगवान् ने—"शिष्य को आचार्य के साथ अच्छा व्यवहार करना चाहिये। अच्छा व्यवहार यह है—ठीक समय पर उठकर, जूते उतार कर, उत्तरासङ्ग को एक कन्धे पर कर, मुख धोने के लिये दतुअन व जल देना चाहिये, आसन बिछाना चाहिये। यदि यवागू हो तो पात्र धोकर यवागू लाकर देना चाहिये" आदि इस प्रकार **स्कन्धक** (विनयपिटक के महावग्ग) में जो सम्यग्व्यवहार बतलाया है, वह सभी करना चाहिये।

इस प्रकार सेवा-शुश्रूषा से गुरु को प्रसन्न करने वाले को सायङ्काल वन्दना करने के बाद 'जाओ' कहकर विदा कर दिये जाने पर चले जाना चाहिये। जब कि वे पूछें ही नहीं। किन्तु सेवा करवा लें तो दस दिन या पन्द्रह दिन बीत जाने पर, विदा कर दिये जाने पर भी न जाकर, कहने की परिस्थिति बनाकर, आने का कारण कहना चाहिये। या विना समय के ही जाकर "किसलिये आये हो?" ये पूछे जाने पर कहना चाहिये। यदि वे कहें कि "प्रातः ही आओ" तो प्रातः ही जाना चाहिये।

यदि उस समय पित्त बिगड़ने से उसके पेट में जलन हो रही हो या अग्निमान्द्य के कारण भोजन न पच रहा हो या कोई दूसरे रोग से पीड़ित हो तो उनसे सच सच बताकर अपने लिये उपयुक्त

आरोचेत्वा ताय वेलाय उपसङ्कमितब्बं। असप्पायवेलायं हि वुच्चमानं पि कम्मट्ठानं न सक्का होति मनसिकातुं ति।

अयं कम्मट्ठानदायकं कल्याणमित्तं उपसङ्कमित्वा ति एत्थ वित्थारो।।

चरियाकथा

१५. इदानि **अत्तनो चरियानुकूलं** ति। एत्थ **चरिया** ति छ चरिया—रागचरिया, दोसचरिया, मोहचरिया, सद्धाचरिया, बुद्धिचरिया, वितक्कचरिया ति। केचि पन रागादीनं संसग्गसन्निपातवसेन अपरा पि चतस्सो, तथा सद्धादीनं ति इमाहि अट्ठहि सद्धिं चुद्दस इच्छन्ति। एवं पन भेदे वुच्चमाने रागादीनं सद्धादीहि पि संसग्गं कत्वा अनेका चरिया होन्ति। तस्मा सङ्खेपेन छळेव चरिया वेदितब्बा। चरिया, पकति, उस्सन्नता ति अत्थतो एकं।

तासं वसेन छळेव पुग्गला होन्ति—रागचरितो, दोसचरितो, मोहचरितो, सद्धाचरितो, बुद्धिचरितो, वितक्कचरितो ति।

तत्थ यस्मा रागचरितस्स कुसलप्पवत्तिसमये सद्धा बलवती होति, रागस्स आसन्न-गुणत्ता। यथा हि अकुसलपक्खे रागो सिनिद्धो नातिलूखो, एवं कुसलपक्खे सद्धा रागो वत्थुकामे परियेसति, एवं सद्धा सीलादिगुणे। यथा रागो अहितं न परिच्चजति, एवं सद्धा हितं न परिच्चजति, तस्मा रागचरितस्स सद्धाचरितो सभागो।

यस्मा पन दोसचरितस्स कुसलप्पवत्तिसमये पञ्ञा बलवती होति, दोसस्स

समय का सुझाव देकर उसी समय जाना चाहिये; क्योंकि अनुचित समय पर उपदिष्ट कर्मस्थान मन में बैठाया नहीं जा सकता।

यों, यह 'कर्मस्थान–प्रदाता कल्याणमित्र के पास जाकर' की व्याख्या है।।

चर्या–वर्णन

१५. अब **'अत्तनो चरियानुकूलं'** का वर्णन करेंगे—यहाँ चर्या का तात्पर्य है छह चर्याएँ। वे हैं—१. रागचर्या, २. द्वेषचर्या, ३. मोहचर्या, ४. श्रद्धाचर्या, ५. बुद्धिचर्या एवं ६. वितर्कचर्या। कोई–कोई राग आदि को सम्पृक्त (मिला जुला) कर चार अन्य (=१. राग–मोहचर्या, २. द्वेष–मोहचर्या, ३. राग–द्वेषचर्या, ४. राग–द्वेष–मोहचर्या) और वैसे ही श्रद्धा आदि को भी (मिलाकर) इन आठ के साथ (=पूर्वोक्त चार मिश्रित चर्याओं एवं १. श्रद्धा–बुद्धिचर्या, २. श्रद्धा–वितर्कचर्या, ३. बुद्धि–वितर्कचर्या, ४. श्रद्धा–बुद्धि–वितर्कचर्या—इन कुल आठ चर्याओं के साथ पूर्वोक्त छह को मिलाकर चौदह मानते हैं। किन्तु यदि इस प्रकार भेद बतलाने लगें तो राग आदि को श्रद्धा आदि के साथ भी मिलाकर अनेक चर्याएँ होंगी। इसलिये संक्षेप में छह ही चर्याएँ जाननी चाहियें। चर्या, प्रकृति (=स्वभाव), स्वभावगत विशेषता (अन्य धर्मों की अपेक्षा रागादि की अधिकता)—ये सभी समानार्थक (शब्द) हैं।

इन चर्याओं के भेद से छह की प्रकार के व्यक्ति भी होते हैं—१. रागचरित, २. द्वेष चरित, ३. मोहचरित, ४. श्रद्धाचरित, ५. बुद्धिचरित एवं ६. वितर्कचरित।

इनमें, क्योंकि रागचरित वाले व्यक्ति में जब कुशल चित्त उत्पन्न होता है, तब उसकी श्रद्धा बलवती होती है; क्योंकि वह राग से मिलते–जुलते गुण वाली होती है, इसलिये रागचरित का श्रद्धाचरित समानधर्मा है। जिस प्रकार अकुशल के विषय में राग स्निग्ध होता है, बहुत रूक्ष नहीं, वैसे राग कामसुखों को खोजता है और श्रद्धा भी शील आदि गुणों को खोजती है। जिस प्रकार राग अहित को नहीं छोड़ता, उसी प्रकार श्रद्धा हित को नहीं छोड़ती। अतः रागचरित श्रद्धाचरित का समानधर्मा है।

आसन्नगुणत्ता। यथा हि अकुसलपक्खे दोसो निस्सिनेहो न आरम्मणं अल्लीयति, एवं कुसलपक्खे पञ्ञा। यथा च दोसो अभूतं पि दोसमेव परियेसति, एवं पञ्ञा भूतं दोसमेव। यथा दोसो सत्तपरिवज्जनाकारेन पवत्तति, एवं पञ्ञा सङ्खारपरिवज्जनाकारेन, तस्मा दोसचरितस्स बुद्धिचरितो सभागो।

यस्मा पन मोहचरितस्स अनुप्पन्नानं कुसलानं धम्मानं उप्पादाय वायममानस्स येभुय्येन अन्तरायकरा वितक्का उप्पज्जन्ति, मोहस्स आसन्नलक्खणत्ता। यथा हि मोहो परिब्याकुलताय अनवट्ठितो, एवं वितक्को नानप्पकारवितक्कनताय। यथा च मोहो अपरियोगाहनताय चञ्चलो, तथा वितक्को लहुपरिकप्पनताय, तस्मा मोहचरितस्स वितक्कचरितो सभागो ति।

१६. अपरे तण्हामानदिट्ठिवसेन अपरा पि तिस्सो चरिया वदन्ति। तत्थ तण्हा रागो येव, मानो च तंसम्पयुत्तो ति तदुभयं रागचरियं नातिवत्तति। मोहनिदानत्ता च दिट्ठिया दिट्ठिचरिया मोहचरियमेव अनुपतति।

चरियानिदानं

१७. ता पनेता चरिया किंनिदाना? कथं च जानितब्बं—'अयं पुग्गलो रागचरितो, अयं पुग्गलो दोसादीसु अञ्ञतरचरितो' ति? किंचरितस्स पुग्गलस्स किं सप्पायं ति?

१८. तत्र पुरिमा ताव तिस्सो चरिया पुब्बाचिण्णनिदाना धातुदोसनिदाना चा ति एकच्चे वदन्ति। पुब्बे किर इट्ठप्पयोगसुभकम्मबहुलो रागचरितो होति, सग्गा वा चवित्वा

क्योंकि द्वेषचरित व्यक्ति में कुशल चित्त उत्पन्न होने के समय प्रज्ञा बलवती होती है, क्योंकि वह द्वेष से मिलते-जुलते गुण वाली है; इसलिये द्वेषचरित बुद्धिचरित का समानधर्मा है। जिस प्रकार अकुशल पक्ष में द्वेष स्नेहरहित होता है, आलम्बन में लीन नहीं होता; इसी प्रकार कुशल पक्ष में प्रज्ञा होती है। जिस प्रकार द्वेष असत् दोष को भी खोजता रहता है उसी प्रकार प्रज्ञा सत् दोष को खोजती रहती है। जिस प्रकार द्वेष सत्त्वों के प्रति परिवर्जन (=अस्वीकार) के रूप में प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार प्रज्ञा संस्कारों के प्रति परिवर्जन के रूप में प्रवृत्त होती है। अतः द्वेषचरित बुद्धिचरित से मिलते-जुलते गुण वाला होता है।

क्योंकि जब मोहचरित अनुत्पन्न कुशल धर्मों के उत्पाद का प्रयास करता है, तब प्रायः विघ्नकारी वितर्क उपस्थित होते हैं; क्योंकि वितर्क मोह से मिलते-जुलते लक्षण वाला है। इसलिये मोहचरित का वितर्कचरित समीपधर्मा है। जिस प्रकार मोह व्याकुलता के कारण अस्थिर होता है, उसी प्रकार वितर्क भी अनेक प्रकार के वितर्क करने के कारण अनवस्थित होता है। जिस प्रकार मोह आलम्बन में संयुक्त न होने के कारण चञ्चल कहा जाता है, उसी प्रकार वितर्क भी क्षुद्र परिकल्पनाएँ करने के कारण चञ्चल होता है। अतः मोहचरित का वितर्कचरित तुल्यधर्मा कहलाता है।

१६. अन्य विद्वान् तृष्णा, मान और दृष्टि के भेद से तीन अन्य चर्याएँ भी स्वीकार करते हैं। इनमें तृष्णा तो राग ही है और मान उससे सम्प्रयुक्त होता है। इसलिये वे दोनों वस्तुतः रागचरित से भिन्न नहीं हैं। एवं क्योंकि दृष्टि मोह से उत्पन्न होती है, इसलिये दृष्टिचरित का भी मोहचरित में ही समावेश है।

चर्या के कारण (निदान)

१७. उस चर्या का निदान क्या है? एवं यह कैसे जानना चाहिये कि "यह पुद्गल रागचरित है? यह पुद्गल द्वेष आदि अन्य चरित वाला है? किस चरित वाले पुद्गल के लिये क्या अनुकूल है?"

१८. उनमें, पूर्व की तीन चर्याएँ (राग, द्वेष एवं मोह) पूर्वकृत कर्मों के अभ्यास एवं धातु या

इधूपपन्नो। पुब्बे छेदनवधबन्धनवेरकम्मबहुलो दोसचरितो होति, निरयनागयोनीहि वा चवित्वा इधूपपन्नो। पुब्बे मज्जपानबहुलो सुतपरिपुच्छाविहीनो च मोहचरितो होति,तिरच्छानयोनिया वा चवित्वा इधूपपन्नो ति। एवं पुब्बाचिण्णनिदाना ति वदन्ति।

द्विन्नं पन धातूनं उस्सन्नत्ता पुग्गलो मोहचरितो होति, पथवीधातुया च आपोधातुया च। इतरासं द्विन्नं उस्सन्नता दोसचरितो। सब्बासं समत्ता पन रागचरितो ति।

दोसेसु च सेम्हाधिको रागचरितो होति। वाताधिको मोहचरितो सेम्हाधिको वा मोहचरितो, वाताधिको वा रागचरितो ति। एवं धातुदोसनिदाना ति वदन्ति।

तत्थ यस्मा पुब्बे इट्ठप्पयोगसुभकम्मबहुला पि सग्गा चवित्वा इधूपपन्ना पि च न सब्बे रागचरिता येव होन्ति, न इतरे वा दोसमोहचरिता। एवं धातूनं च यथावुत्तेनेव नयेन उस्सदनियमो नाम नत्थि। दोसनियमे च रागमोहद्वयमेव वुत्तं, तं पि च पुब्बापरविरुद्धमेव। सद्धाचरियादीसु च एकिस्सा पि निदानं न वुत्तमेव, तस्मा सब्बमेतं अपरिच्छिन्नवचनं।

१९. अयं पनेत्थ अट्ठकथाचरियानं मतानुसारेन विनिच्छयो। वुत्तं हेतं **उस्सदकित्तने**— "इमे सत्ता पुब्बहेतुनियामेन लोभुस्सदा, दोसुस्सदा, मोहुस्सदा, अलोभुस्सदा, अदोसुस्सदा, अमोहुस्सदा च होन्ति।

"यस्स हि कम्मायूहनक्खणे लोभो बलवा होति अलोभो मन्दो, अदोसामोहा

दोष के कारण होती है—ऐसा कोई कोई विद्वान् कहते हैं। उनके अनुसार, पूर्व जन्म में इष्ट अर्थात् प्रिय के अन्वेषण में लगा हुआ, प्रायः शुभ कर्म करने वाला अथवा स्वर्ग से च्युत होकर यहाँ पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाला रागचरित होता है। पूर्व जन्म में अधिकतया काटने–मारने, बाँधने और द्वेष (वैर) से प्रेरित कर्म करने वाला या नरक अथवा नाग योनि में मरकर यहाँ उत्पन्न होने वाला द्वेषचरित होता है। पूर्व जन्म में अत्यधिक मद्यपायी और ज्ञान की बातें सुनने एवं उनके विषय में जिज्ञासा से प्रेरित होकर प्रश्न करने से रहित अथवा पशु (तिरश्चीन) योनि में मरकर यहाँ उत्पन्न होने वाला मोहचरित होता है। इस प्रकार कहा जाता है कि चर्या पूर्व–अभ्यास के कारण होती है।

दो धातुओं—पृथ्वी एवं जल की प्रबलता से पुद्गल मोहचरित होता है। अन्य दो धातुओं—तेज एवं वायु की प्रबलता से द्वेषचरित होता है। सभी धातुओं की समता होने के कारण रागचरित होता है।

वात, पित्त एवं कफ इन तीनों दोषों में, जिसमें कफ (=श्लेष्मा) की अधिकता होती है वह रागचरित होता है; जिसमें वात की अधिकता होती है वह मोहचरित होता है। अथवा, किसी किसी के मतानुसार जिसमें कफ की अधिकता होती है वह मोहचरित एवं जिसमें वात की अधिकता होती है, वह रागचरित होता है। इस प्रकार, चर्या धातु और दोष के कारण होती है—ऐसा कहा जाता है।

वस्तुतः इनमें पूर्व योनि में इष्ट के अन्वेषण में लगे हुए एवं अधिकतया शुभकर्मकर्त्ता एवं स्वर्ग से पतित होकर यहाँ उत्पन्न हुए सभी सत्त्व भी रागचरित ही होते हों और दूसरे द्वेष–मोहचरित—ऐसी बात नहीं है। इसी प्रकार धातुओं की पूर्वोक्त विधि द्वारा कोई विशद (=व्यापक) नियम सूचित नहीं होता। दोष नियम में भी राग और मोह—दो का ही उल्लेख है, और यह भी पूर्वापर क्रम से परस्पर विरुद्ध ही है। एवं श्रद्धाचर्या आदि में से एक का भी कारण इस विषय में नहीं बतलाया गया। इसलिये यह सब अनिश्चित (=अपरिच्छिन्न) कथन ही है।

१९. **अट्ठकथा के आचार्यों** के मतानुसार इस षट्त्व का विनिश्चय (निर्णय) इस प्रकार है—विशद (=प्रधान, उत्सद) के स्पष्टीकरण में इस प्रकार कहा गया है—

बलवन्तो दोसमोहा मन्दा, तस्स मन्दो अलोभो लोभं परियादातुं न सक्कोति। अदोसामोहा पन बलवन्तो दोसमोहे परियादातुं सक्कोन्ति। तस्मा सो तेन कम्मेन दिन्नपटिसन्धिवसेन निब्बत्तो लुद्धो होति सुखसीलो अक्कोधनो पञ्ञवा वजिरूपमञाणो।

"यस्स पन कम्मायूहनक्खणे लोभदोसा बलवन्तो होन्ति अलोभादोसा मन्दा, अमोहो च बलवा मोहो मन्दो, सो पुरिमनयेनेव लुद्धो चेव होति दुट्ठो च। पञ्ञवा पन होति वजिरूपमञाणो **दत्ताभयत्थेरो** विय।

"यस्स कम्मायूहनक्खणे लोभादोसमोहा बलवन्तो होन्ति इतरे मन्दा, सो पुरिमनयेनेव लुद्धो चेव होति दन्धो च, सीलको पन होति अक्कोधनो **बहुलत्थेरो** विय।

"तथा यस्स कम्मायूहनक्खणे तयो पि लोभदोसमोहा बलवन्तो होन्ति अलोभादयो मन्दा, सो पुरिमनयेनेव लुद्धो चेव होति, दुट्ठो च मूळ्हो च।

"यस्स पन कम्मायूहनक्खणे अलोभदोसमोहा बलवन्तो होन्ति इतरे मन्दा, सो पुरिमनयेनेव अलुद्धो अप्पकिलेसो होति, दिब्बारम्मणं पि दिस्वा निच्चलो, दुट्ठो पन होति दन्धपञ्ञो च।

"यस्स पन कम्मायूहनक्खणे अलोभादोसमोहा बलवन्तो होन्ति इतरे मन्दा, सो पुरिमनयेनेव अलुद्धो चेव होति अदुट्ठो च सीलको च, दन्धो पन होति।

"तथा यस्स कम्मायूहनक्खणे अलोभदोसामोहा बलवन्तो होन्ति इतरे मन्दा, सो पुरिमनयेनेव अलुद्धो चेव होति पञ्ञवा च, दुट्ठो च पन होति कोधनो।

"ये सत्त्व पूर्व हेतुनियम के कारण, पूर्वकृत कर्मों के संस्कारवश, लोभप्रधान, द्वेषप्रधान, मोहप्रधान, अलोभप्रधान, अद्वेषप्रधान और अमोहप्रधान होते हैं।

"जिस (पुद्गल) की प्रतिसन्धि (=कर्म-आयूहन) के क्षण में लोभ बलवान् होता है और अलोभ मन्द, अद्वेष-अमोह बलवान् होते हैं और द्वेष-मोह मन्द, उसका मन्द अलोभ लोभ को अभिभूत नहीं कर सकता; किन्तु उसके अद्वेष एवं अमोह बलवान् होने के कारण द्वेष और मोह को अभिभूत कर सकते हैं। इसीलिये वह उस कर्म के द्वारा दी गयी प्रतिसन्धि के कारण उत्पन्न होने से लोभी, विलासी (=सुखशील) अक्रोधी, प्रज्ञावान् एवं वज्रसदृश ज्ञान वाला होता है।

"किन्तु जिसकी प्रतिसन्धि के क्षण में लोभ और द्वेष बलवान् होते है एवं अलोभ तथा अद्वेष मन्द, अमोह बलवान् होता है मोह मन्द; वह पहले कही गयी विधि के अनुसार ही लोभी एवं द्वेषी होता है, किन्तु प्रज्ञावान् एवं वज्र के समान ज्ञान वाला होता है; **दत्ताभय स्थविर** के समान।

"जिसकी प्रतिसन्धि के क्षण में लोभ, अद्वेष और मोह बलवान् होते हैं एवं अन्य मन्द; वह पहले कही गयी विधि के अनुसार ही लोभी और मन्द (मन्दबुद्धि या अलस) होता है; किन्तु वह शीलवान् अक्रोधी भी होता है, जैसे **बाहुल स्थविर** थे।

"एवं जिसकी प्रतिसन्धि के क्षण में, द्वेष एवं मोह तीनो ही बलवान् होते है एवं अलोभ आदि मन्द; वह पूर्वोक्त विधि के अनुसार ही भोगी, द्वेषी और मूढ होता है।

"किन्तु जिसकी प्रतिसन्धि के क्षण में अलोभ, द्वेष एवं मोह बलवान् होते हैं एवं अन्य मन्द; वह पूर्वोक्त विधि के अनुसार ही निर्लोभ एवं अल्प क्लेशों वाला होता है। दिव्य आलम्बनों को देखकर भी आस्थर (=चित्त) नहीं होता। किन्तु द्वेषी और मन्द-बुद्धि होता है।

"जिसकी प्रतिसन्धि के क्षण में अलोभ, अद्वेष एवं मोह बलवान् होते हैं एवं अन्य मन्द; वह पूर्वोक्त विधि के अनुसार ही निर्लोभ और अद्वेषी होता है, किन्तु शीलवान् और मन्दबुद्धि भी होता है।

"यस्स पन कम्मायूहनक्खणे तयो पि अलोभादोसामोहा बलवन्तो होन्ति लोभादयो मन्दा, सो पुरिमनयेनेव **महासङ्घरक्खितत्थेरो** विय, अलुद्धो अदुट्ठो पञ्ञवा च होति" ति। (म० अट्ठ०२/३७३/७४)

एत्थ च यो लुद्धो वुत्तो, अयं रागचरितो। दुट्ठदन्धा दोसमोहचरिता। पञ्ञवा बुद्धिचरितो। अलुद्धअदुट्ठा पसन्नपकतिताय सद्धाचरिता। यथा वा अमोहपरिवारेन कम्मुना निब्बत्तो बुद्धिचरितो, एवं बलवसद्धापरिवारेन कम्मुना निब्बत्तो सद्धाचरितो, कामवितक्का-दिपरिवारेन कम्मुना निब्बत्तो वितक्कचरितो, लोभादिना वोमिस्सपरिवारेन कम्मुना निब्बत्तो वोमिस्सचरितो ति। एवं लोभादीसु अञ्ञतरञ्ञतरपरिवारं पटिसन्धिजनकं कम्मं चरियानं निदानं ति वेदितब्बं॥

२०. यं पन वुत्तं—"**कथं च जानितब्बं—'अयं पुग्गलो रागचरितो'** " ति आदि। तत्रायं नयो—

इरियापथतो किच्चा भोजना दस्सनादितो।
धम्मप्पवत्तितो चेव चरियायो विभावये ॥ ति॥

२१. तत्थ **इरियापथतो** ति रागचरितो हि पकतिगमनेन गच्छन्तो चातुरियेन गच्छति, सणिकं पादं निक्खिपति, समं निक्खिपति, समं उद्धरति, उक्कुटिकं चस्स पदं होति। दोसचरितो पादग्गेहि खणन्तो विय गच्छति, सहसा पादं निक्खिपति सहसा उद्धरति, अनुकड्ढितं चस्स पदं होति। मोहचरितो परिब्याकुलाय गतिया गच्छति, छम्भितो विय पदं निक्खिपति,

---

जिसकी प्रतिसन्धि के क्षण में अलोभ, अद्वेष, अमोह बलवान् हों और दूसरे मन्द; वह पूर्वोक्त विधि से निर्लोभ एवं प्रज्ञावान् होता है साथ ही द्वेषी एवं क्रोधी भी।

"किन्तु जिसकी प्रतिसन्धि के क्षण में अलोभ, अद्वेष, अमोह तीनों ही बलवान् होते हैं एवं लोभ आदि मन्द; वह पूर्वोक्त विधि के अनुसार ही **महासङ्घरक्षित स्थविर** के समान, निर्लोभ, अद्वेष एवं प्रज्ञावान् होता है।" (म० अट्ठ०)

यहाँ जिसे 'लोभी' कहा गया है, वह रागचरित है। द्वेषी (=द्विष्ट) एवं मन्द क्रमशः द्वेषचरित एवं मोहचरित हैं। प्रज्ञावान् बुद्धिचरित है। निर्लोभ एवं अद्वेष प्रसन्न (श्रद्धालु) प्रकृति के होने के कारण श्रद्धाचरित हैं। अथवा, जो अमोह के साथ रहने वाले कर्म से उत्पन्न है, वह बुद्धिचरित है। इसी प्रकार जो बलवती श्रद्धा के साथ रहने वाले कर्म से उत्पन्न है, वह श्रद्धाचरित है। काम, वितर्क आदि के साथ रहने वाले कर्म से उत्पन्न वितर्कचरित है। जो लोभ आदि के मिश्रण के साथ रहने वाले कर्म से उत्पन्न है, वह मिश्रित चरित है। इस प्रकार लोभ आदि में से इस या उस के साथ रहने वाले प्रतिसन्धिजनक कर्म को चर्या का कारण जानना चाहिये।।

पुद्गल के रागचरितत्व आदि जानने की विधि

२०. किन्तु जो यह कहा गया है—"कैसे जानना चाहिये कि यह पुद्गल रागचरित है?" आदि; उस विषय में विधि है—"ईर्यापथ, कृत्य (=कर्म), भोजन, दर्शन आदि एवं धर्म की प्रवृत्ति से भी ये चर्याएँ जानी जा सकती हैं।"

२१. उनमें, **ईर्यापथ से**— १. रागचरित जब स्वाभाविक गति से चलता है तब सावधानी के साथ चलता है, धीरे-धीरे पैर रखता है, एक समान गति से रखता है, एक समान गति से उठाता है। उसके पैरों का मध्य भाग पृथ्वी का स्पर्श नहीं करता। २. द्वेषचरित पैरों के अग्रभाग से पृथ्वी को मानों खनते हुए चलता है। जल्दी-जल्दी पैर रखता है, जल्दी-जल्दी उठाता है। वह पैर रखता है तो

छम्भितो विय उद्धरति,सहसानुपीळितं चस्स पदं होति। वुत्तं पि चेतं मागण्डिय-सुत्तुप्पत्तियं—

"रत्तस्स हि उक्कुटिकं पदं भवे, दुट्ठस्स होति अनुकड्ढितं पदं।
मूळहस्स होति सहसानुपीळितं, विवट्टच्छदस्स इदमीदिसं पदं"॥ ति॥

ठानं पि रागचरितस्स पासादिकं होति मधुराकारं, दोसचरितस्स थद्धाकारं, मोहचरितस्स आकुलाकारं। निसज्जाय पि एसेव नयो। रागचरितो च अतरमानो समं सेय्यं पञ्ञापेत्वा सणिकं निपज्जित्वा अङ्गपच्चङ्गानि समोधाय पासादिकेन आकारेन सयति, वुट्ठापियमानो च सीघं अवुट्ठाय सङ्कितो विय सणिकं पटिवचनं देति। दोसचरितो तरमानो यथा वा तथा वा सेय्यं पञ्ञापेत्वा पक्खित्तकायो भाकुटिं कत्वा सयति, वुट्ठापियमानो च सीघं वुट्ठाय कुपितो विय पटिवचनं देति। मोहचरितो दुस्सण्ठानं सेय्यं पञ्ञापेत्वा विक्खित्तकायो बहुलं अधोमुखो सयति, वुट्ठापियमानो च हुङ्कारं करोन्तो दन्धं वुट्ठाति। सद्धाचरितादयो पन यस्मा रागचरितादीनं सभागा, तस्मा तेसं पि तादिसो व इरियापथो होती ति ॥ (१)

एवं ताव इरियापथतो चरियायो विभावये॥

किच्चा ति। सम्मज्जनादीसु च किच्चेसु रागचरितो साधुकं सम्मज्जनिं गहेत्वा अतरमानो वालिकं अविप्पकिरन्तो सिन्दुबारकुसुमसन्थरमिव सन्थरन्तो सद्धं समं सम्मज्जति। दोसचरितो गाळ्हं सम्मज्जनिं गहेत्वा तरमानरूपो उभतो वालिकं उस्सारेन्तो खरेन सद्देन

ऐसा लगता है मानों खींच-खींच कर रख रहा हो। ३. मोहचरित हड़बड़ाया हुआ सा चलता है, हिचकिचाता हुआ पैर रखता है और हिचकिचाता हुआ ही उठाता है, पृथ्वी को एकाएक दबाता हुआ सा पैर रखता है। **मागण्डियसूत्र** की उपपत्ति (व्याख्याक्रम) में भी कहा गया है-

"रागरक्त का पद-निक्षेप मध्यभाग से पृथ्वी का स्पर्श न करने वाला (=उक्कुटिक) होता है। द्वेषी का पद खींच कर रखा जानेवाला (=अनुकड्ढित) होता है। मूढ़ का सहसा दबाने वाला (=सहसानुपीड़ित) एवं विवर्त्तच्छद (=क्लेशरहित होकर भवपारगामी) का पद इस प्रकार का होता है।"

खड़े होने की क्रिया का ढंग भी रागचरित का दूसरों के लिये प्रसन्नता (श्रद्धा) उत्पन्न करने वाला एवं सुन्दर होता है, द्वेषचरित का अकड़ (गर्व) के साथ एवं मोहचरित का चञ्चलता (हड़बड़ी) के साथ। बैठने की क्रिया में भी ऐसा ही है। रागचरित विना किसी व्याकुलता के, बिस्तर को ठीक से धीरे-धीरे बिछाकर, अङ्ग-प्रत्यङ्गों को समेट कर सुन्दर ढंग से सोता है। उठाये जाने पर सहसा न उठकर, सशङ्कित-सा धीरे से उत्तर देता है। द्वेषचरित जल्दी-जल्दी, जैसे-तैसे बिस्तर बिछाकर, शरीर को बिस्तर पर फेंके हुए सा, नाक-भौं चढ़ाये हुए सोता है। उठाये जाने पर भी सहसा उठकर, क्रोधित के समान उत्तर देता है। मोहचरित ऊटपटाँग ढंग से बिस्तर बिछाकर, शरीर को विक्षिप्त जैसा करके, प्रायः नीचे की ओर मुँह किये हुए सोता है एवं उठाये जाने पर 'हूँ' करता हुआ सुस्ती के साथ उठता है। श्रद्धारहित आदि चूँकि रागचरित आदि के समान चर्या वाले हैं, अतः उनका भी वैसा ही ईर्यापथ होता है।।

इस प्रकार ईर्यापथ के अनुसार चर्याओं को जानना चाहिये।।

कृत्य से- झाड़ू लगाने (सफाई) आदि के कार्यों में, रागचरित अच्छी तरह से झाड़ू पकड़कर धीरे धीरे, बालू को न छींटते हुए जैसे कोई सिन्दुबार (=निर्गुण्डी) के फूल बटोर रहा हो, वैसे बटोरते हुए सही ढंग से एवं सभी स्थानों पर एक समान झाड़ू लगाता है। द्वेषचरित दृढ़ता से झाड़ू पकड़ कर,

असुद्धं विसमं सम्मज्जति। मोहचरितो सिथिलं सम्मज्जनिं गहेत्वा सम्परिवत्तकं आलोळयमानो असुद्धं विसमं सम्मज्जति।

यथा सम्मज्जने, एवं चीवरधोवनरजनादीसु पि सब्बकिच्चेसु निपुणमधुरसमसक्कच्चकारी रागचरितो, गाळ्हथद्धविसमकारी दोसचरितो, अनिपुणब्याकुलविसमापरिच्छिन्नकारी मोहचरितो। चीवरधारणं पि च रागचरितस्स नातिगाळ्हं नतिसिथिलं होति पासादिकं परिमण्डलं। दोसचरितस्स अतिगाळ्हं अपरिमण्डलं। मोहचरितस्स सिथिलं परिब्याकुलं। सद्धाचरितादयो तेसं येवानुसारेन वेदितब्बा, तंसभागत्ता ति॥ (२)

एवं किच्चतो चरियायो विभावये॥

भोजना ति। रागचरितो सिनिद्धमधुरभोजनप्पियो होति, भुञ्जमानो च नातिमहन्तं परिमण्डलं आलोपं कत्वा रसपटिसंवेदी अतरमानो भुञ्जति, किञ्चिदेव च सादुं लभित्वा सोमनस्सं आपज्जति। दोसचरितो लूखअम्बलभोजनप्पियो होति, भुञ्जमानो च मुखपूरकं आलोपं कत्वा अरसपटिसंवेदी तरमानो भुञ्जति, किञ्चिदेव च असादुं लभित्वा दोमनस्सं आपज्जति। मोहचरितो अनियतरुचिको होति, भुञ्जमानो च अपरिमण्डलं परित्तमालोपं कत्वा भाजने छड्डेन्तो मुखं मक्खेन्तो विक्खित्तचितो तं तं वितक्केन्तो भुञ्जति। सद्धाचरितादयो पि तेसं येवानुसारेन वेदितब्बा, तंसभागत्ता ति॥ (३)

एवं भोजनतो चरियायो विभावये॥

दस्सनादितो ति। रागचरितो ईसकं पि मनोरमं रूपं दिस्वा विम्हयजातो विय चिरं

जल्दी–जल्दी दोनों ओर बालू उड़ाते हुए कर्कश शब्द के साथ गलत ढंग से और आधा अधूरा झाड़ू लगाता है। मोहचरित झाड़ू को ढीला पकड़ते हुए चारों तरफ बिखेरता हुआ सा झाड़ू लगाता है।

जिस प्रकार झाड़ू लगाने में, उसी प्रकार चीवरों के धोने, रँगने आदि सभी कृत्यों में भी निपुणता व सुन्दरता के साथ, एक समान एवं आदर के साथ करने वाला रागचरित; कस–कस कर, अकड़ के साथ, असमान रूप से कार्य करने वाला द्वेषचरित होता है। फूहड़पन के साथ, घबड़ाहट के साथ, असमान रूप से और अनिश्चय के साथ करने वाला मोहचरित होता है। चीवर धारण भी रागचरित का न तो अधिक कसा और न ही अधिक ढीला, देखने में अच्छा लगने वाला और चारों ओर से बराबर होता है। द्वेषचरित का चीवर बहुत कसा हुआ और ऊँचा–नीचा होता है। मोहचरित का ढीला–ढाला और अस्त–व्यस्त। श्रद्धाचरित आदि को भी उन्हीं के अनुसार जानना चाहिये, उनके समानधर्मा होने से।।

इस प्रकार कृत्य से चर्याओं को जानना चाहिये।।

भोजन से– रागचरित को स्निग्ध और मधुर भोजन प्रिय होता है और भोजन करते समय वह बहुत बड़ा नहीं, अपितु सामान्य आकार का गोल–गोल ग्रास बनाकर स्वाद लेते हुए धीरे धीरे खाता है। थोड़ा–सा भी स्वादु भोजन उसे प्रिय होता है द्वेषचरित को थोड़ा भी सूखा या और खट्टा भोजन प्रिय होता है। खाते समय मुँह भर जाय–इतना बड़ा ग्रास बनाकर, स्वाद के प्रति उदासीन रहता हुआ जल्दी जल्दी खाता है। थोड़ा सा भी नीरस (भोजन) पाकर वह अप्रसन्न हो जाता है। मोहचरित की रुचि अनियत होती है वह भोजन करते समय छोटा छोटा और टेढ़ा मेढ़ा ग्रास बनाकर बर्तन में छींटता हुआ, मुख में लगाता हुआ, विक्षिप्त चित्त के साथ, यह वह ऐसा–वैसा वितर्क करते हुए खाता है। श्रद्धाचरित आदि को भी उन्ही के अनुसार जानना चाहिये, उनके समानधर्मा होने से।।

इस प्रकार भोजन के अनुसार चर्याओं को जानना चाहिये।।

ओलोकेति, परित्तं पि गुणे सज्जति, भूतं पि दोसं न गण्हाति, पक्कमन्तो पि अमुञ्चितुकामो **व हुत्वा सापेक्खो पक्कमति। दोसचरितो ईसकं पि** अमनोरमं रूपं दिस्वा किलन्तरूपो विय न चिरं ओलोकेति, परित्ते पि दोसे पटिहञ्ञति, भूतं पि गुणं न गण्हाति, पक्कमन्तो पि **मुञ्चितुकामो व हुत्वा अनपेक्खो पक्कमति**। मोहचरितो यं किञ्चि रूपं दिस्वा परपच्चयिको होति, परं निन्दन्तं सुत्वा निन्दति, पसंसन्तं सुत्वा पसंसति, सयं पन अञ्ञाणुपेक्खाय **उपेक्खको व होति**। एस नयो सद्दसवनादीसु पि। सद्धाचरितादयो पन तेसं येवानुसारेन वेदितब्बा, तंसभागत्ता ति॥ (४)

एवं दस्सनादितो चरियायो विभावये॥

धम्मप्पवत्तितो चेवा ति। रागचरितस्स च माया, साठेय्यं, मानो, पापिच्छता, महिच्छता, असन्तुट्ठिता, सिङ्गं, चापल्यं ति एवमादयो धम्मा बहुलं पवत्तन्ति। दोसचरितस्स कोधो, उपनाहो, मक्खो, पळासो, इस्सा, मच्छरियं ति एवमादयो। मोहचरितस्स थीनं, मिद्धं, उद्धच्चं, कुक्कुच्चं, विचिकिच्छा, आदानग्गाहिता, दुप्पटिनिस्सग्गिता ति एवमादयो। सद्धाचरितस्स मुत्तचागता, अरियानं दस्सनकामता, सद्धम्मं सोतुकामता, पामोज्जबहुलता, असठता, अमायाविता, पसादनीयेसु ठानेसु पसादो ति एवमादयो। बुद्धिचरितस्स सोवचस्सता, कल्याणमित्तता, भोजने मत्तञ्ञुता, सतिसम्पजञ्ञं, जागरियानुयोगो, संवेजनीयेसु ठानेसु संवेगो, संविग्गस्स च योनिसो पधानं ति एवमादयो। वितक्कचरितस्स भस्सबहुलता,

---

दर्शन आदि से– रागचरित यदि कहीं थोड़ा भी मनोरम रूप देखता है तो उसे देर तक चकित सा देखता रहता है। साधारण गुणों के प्रति भी वह आकर्षित हो जाता है। दोष के होने पर भी उसका ग्रहण नहीं करता, उस पर ध्यान नहीं देता। प्रस्थान करते समय दुःखी होकर इस प्रकार वहाँ से जाता है मानो छोड़कर जाने की इच्छा न हो रही हो। द्वेषचरित थोड़ा भी अमनोरम रूप देखकर उसे देर तक नहीं देखता रह सकता, मानो क्लान्त हो गया हो। छोटे–छोटे दोषों पर भी उसकी दृष्टि पड़ जाती है। जो गुण वर्तमान हैं, उनको भी ग्रहण नहीं करता। प्रस्थान करते समय, दुःखी न होते हुए भी वहाँ से इस प्रकार जाता है मानो पीछा छुड़ाना चाह रहा हो। मोहचरित किसी भी रूप को देखते समय दूसरों का अनुकरण करता है। दूसरों को निन्दा करते सुन कर निन्दा करता है, प्रशंसा करते सुनकर प्रशंसा करता है, किन्तु स्वयं अज्ञानजन्य उपेक्षा से युक्त होता है। शब्द–श्रवण आदि के बारे में भी ऐसा ही है। श्रद्धाचरित आदि को भी, उनके समानधर्मा होने से, उन्हीं के अनुसार जानना चाहिये।।

इस प्रकार दर्शन आदि के अनुसार चर्याओं को जानना चाहिये।।

धर्मप्रवृत्ति से भी– रागचरित में माया, शाठ्य, मान, पाप की इच्छा, महत्त्वाकांक्षा, असन्तोष, बनाव–शृङ्गार, चञ्चलता आदि धर्म अधिकता से रहते हैं। द्वेषचरित में क्रोध, उपनाह (बद्धवैरता), म्रक्ष (दूसरे के गुणों को आगे न आने देने वाला), प्रदाश (निठुरता), ईर्ष्या, मात्सर्य (कृपणता) आदि; मोहचरित में स्त्यान (मानसिक आलस्य), मृद्ध (शारीरिक आलस्य), औद्धत्य (उद्धतता), कौकृत्य (पश्चात्ताप), विचिकित्सा (शङ्का–सन्देह) आदानग्राहिता (हठधर्मिता) दुष्प्रतिनिसर्गिता (अपने दुराग्रह पर स्थिर रहना) आदि; श्रद्धाचरित में मुक्तहस्त हो दान करने की प्रवृत्ति, आर्यों के दर्शन में रुचि, सद्धर्मश्रवण की इच्छा, प्रसन्नता का आधिक्य, सरलता, सहजता, प्रसन्न होने के अवसर पर प्रसन्न होना आदि; बुद्धिचरित में आज्ञाकारिता, कल्याणमित्र की सङ्गति, भोजन में मात्रा का ज्ञान, स्मृति एवं सजगता (=सम्प्रजन्य), जागरणशील होना, संवेग के अवसरों में संवेग, प्राप्त संवेग के विषय में

गणारामता, कुसलानुयोगे अरति, अनवट्ठितकिच्चता, रत्तिं धूमायना, दिवा पज्जलना, हुराहुरं धावना ति एवमादयो धम्मा बहुलं पवत्तन्ती ति॥ (५)

एवं धम्मप्पवत्तितो चरियायो विभावये॥

२२. यस्मा पन इदं चरियाविभावनविधानं सब्बाकारेन नेव पाळियं, न अट्ठकथायं आगतं, केवलं आचरियमतानुसारेन वुत्तं, तस्मा न सारतो पच्चेतब्बं। रागचरितस्स हि वुत्तानि इरियापथादीनि दोसचरितादयो पि अप्पमादविहारिनो कातुं सक्कोन्ति। संसट्ठचरितस्स च पुग्गलस्स एकस्सेव भिन्नलक्खणा इरियापथादयो न उपपज्जन्ति। यं पनेतं **अट्ठकथासु** चरियाविभावन-विधानं वुत्तं, तदेव सारतो पच्चेतब्बं। वुत्तं हेतं—"चेतोपरियञाणस्स लाभी आचरियो चरियं ञत्वा कम्मट्ठानं कथेस्सति, इतरेन अन्तेवासिको पुच्छितब्बो" (   ) ति। तस्मा चेतोपरियञाणेन वा तं वा पुग्गलं पुच्छित्वा जानितब्बं—अयं पुग्गलो रागचरितो, अयं दोसादीसु अञ्ञतरचरितो ति।

२३. **किं चरितस्स पुग्गलस्स किं सप्पायं** ति। एत्थ पन **सेनासनं** ताव **रागचरितस्स** अधोतवेदिकं भूमट्ठकं अकतपब्भारकं तिणकुटिकं पण्णसालादीनं अञ्ञतरं रजोकिण्णं जतुकाभरितं, ओलुग्गविलुग्गं अति उच्चं वा अतिनीचं वा उज्जङ्गलं सासङ्कं असुचि विसममग्गं, यत्थ मञ्चपीठं पि मङ्कुणभरितं दुरूपं दुब्बण्णं, यं ओलोकेन्तस्सेव जिगुच्छा उप्पज्जति, सप्पायं। **निवासनपारुपनं** अन्तच्छिन्नं ओलम्बविलम्बसुत्तकाकिण्णं

सम्यक् रूप से प्रयास करना आदि; वितर्कचरित में वाचालता, सामाजिकता, कुशल के प्रति रति न होना, जिस कार्य का उत्तरदायित्व लिया हो उसे पूरा न करना, रातभर धुँआते रहना, दिनभर जलते रहना, मन को इधर उधर दौड़ाते रहना—आदि धर्म अधिकता से रहते हैं।।

इस प्रकार धर्मप्रवृत्ति के अनुसार चर्याओं को जानना चाहिये।।

२२. **आचार्य का मत**— चूँकि चर्याओं को पहचानने के विषय में पूर्वोक्त विधान समग्रतः न तो पालि (=त्रिपिटक) में, न ही अट्ठकथाओं में प्राप्त होता है, अपितु केवल आचार्यों के मतानुसार कहा गया है; अतः इसे प्रामाणिक नहीं मानना चाहिये। क्योंकि, उदाहरण के रूप में रागचरित के लिये जो ईर्यापथ आदि बतलाये गये हैं, उन्हें अप्रमाद के साथ विहार करने वाले द्वेषचरित भी पूर्ण कर सकते है। साथ ही, मिश्रितचरित वाले व्यक्ति के ईर्यापथ आदि विशिष्ट लक्षणों को जानने का जो विधान बतलाया गया है, उसे ही प्रामाणिक मानना चाहिये। कहा भी गया है—"चेतःपर्यायज्ञान (=पर-चित्त का ज्ञान) जिसे प्राप्त हो, ऐसा ही आचार्य (शिष्य की) चर्या को जानकर उसे कर्मस्थान बतलायगा। अन्य (जिसे ऐसा ज्ञान प्राप्त नहीं है) को शिष्य से प्रश्न पूछना चाहिये और उन प्रश्नों का वह जो उत्तर दे, उन्हीं के आधार पर उसके स्वभाव को समझना चाहिये।" इस प्रकार चेतःपर्यायज्ञान से या उस व्यक्ति से पूछकर जानना चाहिये कि यह व्यक्ति रागचरित है या द्वेष आदि किसी अन्य चरित का है।

२३. **किस चरित के व्यक्ति के लिये क्या अनुकूल है?**— इनमें **रागचरित** के लिये—

(क) ऐसा शयनासन अनुकूल है जो कि अपरिशुद्ध वेदी वाला, भूमि पर ही बनाया हुआ, जिसमें छज्जा (=पब्भार) न हो, घास-फूस की झोपड़ी या पर्णकुटी आदि में से कोई एक, धूल से भरा, जहाँ चमगादड़ बहुतायत से रहते हों, दोलायमान (=हिलता-डुलता) हो, बहुत ऊँचा या बहुत नीचा, जङ्गल से घिरा हुआ, जहाँ (जङ्गली जानवरों आदि का) आतङ्क हो, जहाँ जाने का रास्ता गन्दा और ऊँचा-नीचा (ऊबड़-खाबड़) हो, जहाँ चौकी-चारपाई भी खटमलों से भरी और इतनी भद्दी हो कि देखते ही अरुचि उत्पन्न हो जाय।

जालपूवसदिसं, साणि विय खरसम्फस्सं किलिट्ठं भारिकं किच्छपरिहरणं सप्पायं। **पत्तो** पि दुब्बण्णो मत्तिकापत्तो वा आणिगण्ठिकाहतो अयोपत्तो वा गरुको दुस्सण्ठानो सीसकपालमिव जेगुच्छो वट्टति। **भिक्खाचारमग्गो** पि अमनापो अनासन्नगामो विसमो वट्टति। **भिक्खाचारगामो** पि यत्थ मनुस्सा अपस्सन्ता विय चरन्ति, यत्थ एककुले पि भिक्खं अलभित्वा निक्खमन्तं "एहि, भन्ते" ति आसनसालं पवेसेत्वा यागुभत्तं दत्वा गच्छन्ता गावी विय वजे पवसेत्वा अनवलोकेन्ता गच्छन्ति, तादिसो वट्टति। **परिविसक-मनुस्सा** पि दासा वा कम्मकरा वा दुब्बण्णा दुद्दसिका किलिट्ठवसना दुग्गन्धा जेगुच्छा, ये अचित्तीकारेन यागुभत्तं छड्डेन्ता विय परिविसन्ति, तादिसा सप्पाया। **यागुभत्तखज्जकं** पि लूखं दुब्बणं सामाककुद्रूसककणाजकादिमयं पूतितक्कं बिलङ्गं जिण्णसाकसूपेय्यं, यं किञ्चिदेव केवलं उदरपूरमत्तं वट्टति। **इरियापथो** पिस्स ठानं वा चङ्कमो वा वट्टति। आरम्मणं नीलादीसु वण्णकसिणेसु यं किञ्चि अपरिसुद्धवण्णं ति। इदं रागचरितस्स सप्पायं। (१)

दोसचरितस्स सेनासनं नातिउच्चं नातिनीचं छायूदकसम्पन्नं सुविभत्तभित्तिथम्भसोपानं सुपरिनिट्ठितमालाकम्मलताकम्मनानाविधचितकम्मसमुज्जलं समसिनिद्धमुदुभूमितलं, ब्रह्मवि-

---

(ख) पहनने–ओढ़ने के कपड़े भी ऐसे हों कि जिनके किनारे फटे हुए हों, जगह–जगह जालीदार पुए के समान सूत निकल रहा हो, जिनका स्पर्श सन की तरह रूखा हो, जो मैले, भारी एवं कठिनाई से ले जाने योग्य हों।

(ग) पात्र (में) भद्दा रङ्ग, अनगढ़ पेंदे और जोड़ों वाला मिट्टी का पात्र या भारी और अनगढ़, कपाल की तरह जुगुप्सा उत्पन्न करने वाला लोहे का पात्र विहित है।

(घ) भिक्षाटन का मार्ग भी ऐसा होना चाहिये जो मनोरम न हो, ग्राम के समीप न हो और ऊबड़–खाबड़ हो।

(ङ) जहाँ वह भिक्षाटन के लिये जाय, वह ग्राम भी ऐसा हो जहाँ लोग उसे अनदेखा (उपेक्षा) करते हुए घूमते रहते हों, जहाँ एक भी कुल से भिक्षा न पाकर प्रस्थान करते समय 'आइये, भन्ते' कहकर आसन–शाला में प्रवेश करा कर लोग यवागू–भात देकर इस प्रकार चले जाते हों जैसे गाय को पशुशाला में घुसाकर लोग (पीछे मुड़कर) विना देखे ही चले जाया करते हैं।

(च) परोसने वाले दास या कर्मचारी ऐसे हो जो काले–कलूटे, कुरूप, मैले–कुचैले वस्त्र पहने हुए, दुर्गन्धयुक्त, जुगुप्सा उत्पन्न करने वाले हों और जो यवागू–भात को इस प्रकार उपेक्षा से परोसते हों मानो फेंक रहे हों।

(छ) यवागू–भात आदि खाद्य भी ऐसा होना चाहिये जो कि रूखा–सूखा, देखने में अच्छा न लगने वाला, सावाँ, कोदो, खुद्दी आदि से बना हुआ हो, सड़ा मट्ठा, कांजी, सूखे–सड़े शाक का सूप– जो कुछ भी केवल पेट भरने मात्र के लिये हो।

(ज) उसके लिये ईर्यापथ में केवल खड़े रहना य टहलना विहित है।

(झ) आलम्बन के रूप में नील आदि वर्ण कसिणों (कात्स्न्यों) में से कोई अपरिशुद्ध वर्ण विहित है यह (सब) रागचरित के लिये अनुकूल हैं। (१)

द्वेषचरित का शयनासन– (क) न बहुत ऊँचा न बहुत नीचा, उचित छाया और जल से युक्त, दीवारों, खम्भों और सीढ़ियों के द्वारा अच्छी तरह से विभाजित, मालाओं और लताओं से

मानमिव कुसुमदामविचित्रवण्णचेलवितानसमलङ्कतं सुपञ्ञत्तसुचिमनोरमत्थरणमञ्चपीठं, तत्थ वासत्थाय निक्खित्तकुसुमवासगन्धसुगन्धं यं दस्सनमत्तेनेव पीतिपामोज्जं जनयति, एवरूपं सप्पायं।

तस्स पन सेनासनस्स मग्गो पि सब्बपरिस्सयविमुत्तो सुचिसमतलो अलङ्कतपटियत्तो व वट्टति। सेनासनपरिक्खारो पेत्थ कीटमङ्कुणदीघजातिमूसिकानं निस्सयपरिच्छिन्दनत्थं नातिबहुको, एकमञ्चपीठमत्तमेव वट्टति। निवासनपारुपनं पिस्स चीनपट्टसोमारपट्टकोसेय्य-कप्पासिकसुखुमखोमादीनं यं यं पणीतं, तेन तेन एकपट्टं वा दुपट्टं वा सल्लहुकं समणसारुप्पेन सुरत्तं सुद्धवण्णं वट्टति। पत्तो उदकबुब्बुळमिव सुसण्ठानो मणि विय सुमट्ठो निम्मलो, समणसारुप्पेन सुपरिसुद्धवण्णो अयोमयो वट्टति। भिक्खाचारमग्गो परिस्सयविमुत्तो समो मनापो नातिदूरनाच्चासन्नगामो वट्टति। भिक्खाचारगामो पि यत्थ मनुस्सा "इदानि अय्यो आगमिस्सती" ति सित्तसम्मट्ठे पदेसे आसनं पञ्ञापेत्वा पच्चुग्गन्त्वा पत्तं आदाय घरं पवेसेत्वा पञ्ञत्तासने निसीदापेत्वा सक्कच्चं सहत्था परिविसन्ति, तादिसो वट्टति। परिवेसका पनस्स ये होन्ति अभिरूपा पासादिका सुन्हाता सुविलित्ता धूपवासकुसुमगन्धसुरभिनो नानाविरागसुचिमनुञ्ञवत्थाभरणपटिमण्डिता सक्कच्चकारिनो, तादिसा सप्पाया। यागुभत्त-खज्जकं पि वण्णगन्धरससम्पन्नं ओजवन्तं मनोरमं सब्बाकारपणीतं यावदत्थं वट्टति। इरियापथो

सुसज्जित, जो अनेक प्रकार की चित्रकारी से सुशोभित हो, जिसकी सतह सब तरफ बराबर, चिकनी और मुलायम हो, जो ब्रह्मविमान की तरह फूलों की झालरों और रंग-बिरंगे कपड़ों के चँदोवे से सुसज्जित हो, जहाँ रहने के लिये चौकी-चारपाई ऐसी हो जिस पर साफ-सुन्दर बिछावन अच्छी तरह से बिछाया गया हो, जोकि वहाँ बिखेरे गये फूलों की गन्ध से सुगन्धित हो, जिसे देखते ही प्रीति और प्रमोद उत्पन्न हो जाय।

(ख) उसके शयनाशासन का मार्ग भी सभी प्रकार के उपद्रवों से रहित, साफ-सुथरा, समतल, अलङ्कृत ही होना चाहिये। शयनासन में साज-सज्जा बहुत-अधिक न हों, एक ही चौकी-चारपाई हो, जिससे कि कीड़े, खटमल, साँप, चूहे आदि का उपद्रव न हो सके।

(ग) उसके पहनने ओढ़ने के वस्त्र भी चीन देश के कपड़े, सोमार देश के कपड़े, सिल्क, महीन सूती कपड़े, क्षौम (=एक प्रकार का रेशमी कपड़ा) आदि जो भी उत्तम कपड़े हैं; उनसे बने हुए इकहरे या दुहरे, हल्के एवं श्रमणोचित, अच्छी तरह से रँगे हुए और परिशुद्ध वर्ण के होने चाहिये।

(घ) पात्र जल के बुलबुले के समान सुगढ़ (सब तरफ से बराबर गोल), मणि के समान चमकीली कलई से युक्त, स्वच्छ, श्रमणोचित, परिशुद्ध वर्ण के लोहे का बना हुआ होना चाहिये।

(ङ) भिक्षाटन का मार्ग भी उपद्रवों से रहित, समतल, सुन्दर, न ग्राम से बहुत दूर और न बहुत पास होना चाहिये।

(च) जहाँ वह भिक्षाटन के लिये जाय, वह ग्राम भी ऐसा होना चाहिये जहाँ के लोग 'अब आर्य आते होंगे'-ऐसा सोचकर पानी छिड़कर, झाड़ू लगाकर साफ किये स्थान पर आसन बिछाकर, आगे बढ़कर पात्र लेकर घर में प्रवेश करायें और बिछाये गये आसन पर बैठा कर आदर के साथ अपने हाथ से परोसें।

(छ) जो परोसने वाले हों वे सुन्दर, मन प्रसन्न कर देने वाले, अच्छी तरह से स्नान किये हुए, (चन्दन आदि का) लेप लगाये हुए, धूप, सुगन्धित पुष्प आदि के प्रयोग से अलंकृत हो और आदर

पिस्स सेय्या वा निसज्जा वा वट्टति। आरम्मणं नीलादीसु वण्णकसिणेसु यं किञ्चि सुपरिसुद्धवण्णं ति। इदं दोसचरितस्स सप्पायं। (२)

मोहचरितस्स सेनासनं दिसामुखं असम्बाधं वट्टति, यत्थ निसिन्नस्स विवटा दिसा खायन्ति, इरियापथेसु चङ्कमो वट्टति। आरम्मणं पनस्स परित्तं सुप्पमत्तं सरावमत्तं वा खुद्दकं न वट्टति। सम्बाधस्मिं हि ओकासे चित्तं भिय्यो सम्मोहं आपज्जति, तस्मा विपुलं महाकसिणं वट्टति। सेसं दोसचरितस्स वुत्तसदिसमेवा ति। इदं मोहचरितस्स सप्पायं। (३)

सद्धाचरितस्स सब्बं पि दोसचरितम्हि वुत्तविधानं सप्पायं। आरम्मणेसु चस्स अनुस्सतिट्ठानं पि वट्टति। (४)

बुद्धिचरितस्स सेनासनादीसु इदं नाम असप्पायं ति नत्थि। (५)

वितक्कचरितस्स सेनासनं विवटं दिसामुखं, यत्थ निसिन्नस्स आरामवन-पोक्खरणीरामणेय्यकानि गामनिगमजनपदपटिपाटियो, नीलोभासा च पब्बता पञ्ञायन्ति, तं न वट्टति। तं हि वितक्कविधावनस्सेव पच्चयो होति। तस्मा गम्भीरे दरीमुखे वनपटिच्छन्ने हत्थिकुच्छिपब्भारमहिन्दगुहासदिसे सेनासने वसितब्बं। आरम्मणं पिस्स विपुलं न वट्टति। तादिसं हि वितक्कवसेन सन्धावनस्स पच्चयो होति। परित्तं पन

करने वाले हों। यवागू–भात (आदि) खाद्य भी देखने में अच्छे सुगन्धित, सुस्वादु, पौष्टिक, रुचिकर, सभी प्रकार से शुभ और मन भर कर खाने योग्य (=पर्याप्त मात्रा में) होना उसके लिये विहित है।

(ज) आलम्बन नीलादि वर्ण–कसिणों में से कोई परिशुद्ध वर्ण होना चाहिये। यह सब द्वेषचरित के अनुकूल है। (२)

मोहचरित का शयनासन– ऐसा होना चाहिये जो खुला हुआ हो, जहाँ बैठकर चारों दिशाओं में देखा जा सके। ईर्यापथों में चंक्रमण विहित है। इसका आलम्बन छोटा नहीं होना चाहिये, अर्थात् जैसे कि परिमित, सूप मात्र या शराव (=सकोरा) मात्र अर्थात् इस प्रकार के लघु परिमाण का पृथ्वीकसिण; क्योंकि परिमित स्थान में चित्त और भी अधिक सम्मूढ हो जाता है, इसलिये विशाल महाकसिण विहित है। शेष द्वेषचरित के लिये कहे गये के समान ही है। यह सब मोहचरित के लिये अनुकूल है। (३)

श्रद्धाचरित के लिये द्वेषचरित के विषय में कथित विधान अनुकूल है। आलम्बनों में इसके लिये, पूर्वोक्त के अतिरिक्त, बुद्धानुस्मृति आदि छह कर्मस्थान भी विहित है। (४)

बुद्धिचरित के लिये तो शयनासन आदि के विषय मे ऐसा कुछ भी नहीं है जो अनुकूल न हो। (५)

वितर्कचरित का शयनासन ऐसा नहीं होना चाहिये जो खुला हुआ, दिशाओं की ओर अभिमुख हो और जहाँ बैठकर बाग–बगीचे, वन, तालाब आदि सुरम्य स्थान, ग्राम, निगम, जनपद ठीक से दिखलायी पड़ते हों और नीलाभ पर्वत दिखलायी पड़ते हों; क्योंकि वह सब तो वितर्क के इधर–उधर दौड़ने (=कल्पना की उड़ान) का ही कारण होगा! इस लिये उसे गहरी गुफा के द्वार पर, वन से घिरे हुए, हस्तिकुक्षिपब्भार (=लंका में एक पर्वत–गुफा) और महेन्द्रगुफा (=अनुराधपुर में आज भी वर्तमान और महेन्द्र स्थविर का शयनासन रह चुकी एक गुफा) के समान शयनासन में रहना चाहिये। इसके लिये आलम्बन भी विपुल (=विस्तृत) नहीं होना चाहिये। उस प्रकार का आलम्बन तो वितर्क के उत्पन्न होने से मन के इधर–उधर दौड़ने का ही कारण होता है। अतः इसके लिये

वट्टति। सेसं रागचरितस्स वुत्तसदिसमेवा ति। इदं वितक्कचरितस्स सप्पायं। (६)

अयं अत्तनो चरियानुकूलं ति एत्थ आगतचरियानं पभेदनिदानविभावनसप्पायपरिच्छेदतो वित्थारो।

चत्तालीसकम्मट्ठानकथा

न च ताव चरियानुकूलं कम्मट्ठानं सब्बाकारेन आविकतं। तं हि अनन्तरस्स मातिकापदस्स वित्थारे सयमेव आविभविस्सति॥

२४. तस्मा यं वुत्तं "चत्तालीसाय कम्मट्ठानेसु अञ्ञतरं कम्मट्ठानं गहेत्वा" ति, एत्थ—१. सङ्खातनिद्देसतो, २.उपचारप्पनावहतो, ३.झानप्पभेदतो, ४.समतिक्कमतो, ५.वड्ढनावड्ढनतो, ६.आरम्मणतो, ७.भूमितो, ८.गहणतो, ९.पच्चयतो, १०.चरियानुकूलतो ति इमेहि ताव दसहाकारेहि कम्मट्ठानविनिच्छयो वेदितब्बो।

२५. तत्थ **सङ्खातनिद्देसतो** ति। "चत्तालीसाय कम्मट्ठानेसू" ति हि वुत्तं, तत्रिमानि चत्तालीस कम्मट्ठानानि—दस कसिणा, दस असुभा, दस अनुस्सतियो, चत्तारो ब्रह्मविहारा, चत्तारो आरुप्पा, एका सञ्ञा, एकं ववत्थानं ति।

तत्थ—१. पथवीकसिणं, २. आपोकसिणं, ३. तेजोकसिणं, ४. वायोकसिणं, ५.नीलकसिणं, ६.पीतकसिणं, ७. लोहतकसिणं, ८. ओदातकसिणं, ९. आलोककसिणं, १०.परिच्छिन्नाकासकसिणं ति इमे **दस कसिणा**।

१. उद्धुमातकं, २. विनीलकं, ३. विपुब्बकं, ४. विच्छिद्दकं, ५. विक्खायितकं,

---

आलम्बन परिमित ही विहित है। शेष रागचरित के लिये वर्णित के समान ही है। यह सब वितर्कचरित के लिये अनुकूल है। (६)

यह 'अत्तनो चरियानुकूलं' में आयी चर्याओं के प्रभेद, निदान, पहचान एवं अनुकूलता-निर्धारण आदि के अनुसार व्याख्या है॥

इतने पर भी चर्यानुकूल कर्मस्थान का सर्वांशतः व्याख्यान नहीं हो पाया। वह तो आगे मातृका-पदों के व्याख्यानप्रसङ्ग में स्वयं ही विवृत हो जायगा।

चालीस कर्मस्थान

२४. इसलिये, जो कहा गया है कि—"**चालीस कर्मस्थानों में से किसी एक कर्मस्थान का ग्रहण करके**"—इसमें कर्मस्थान का विनिश्चय इन दस के अनुसार जानना चाहिये—

१. सङ्ख्यानिर्देश के अनुसार एवं २. उपचार तथा अर्पणा के वाहक, ३. ध्यान के प्रभेद, ४. समतिक्रमण, ५. वर्धन तथा अवर्धन, ६. आलम्बन, ७. भूमि, ८.ग्रहण, ९. प्रत्यय तथा १०. चर्या की अनुकूलता के अनुसार।

२५. **संख्यानिर्देश के अनुसार**— "चालीस कर्मस्थानों में किसी कर्मस्थान का ग्रहण कर"—इस प्रकार कहा गया था। वे चालीस कर्मस्थान ये हैं—१० कसिण (कात्स्न्र्य), १० अशुभ, १० अनुस्मृतियाँ, ४ ब्रह्मविहार, ४ आरूप्य, १ संज्ञा तथा १ व्यवस्थान (=४०)।

इनमें **दस कसिण** ये हैं— १. पृथ्वीकसिण, २. जलकसिण, ३. तेजकसिण, ४. वायुकसिण, ५. नीलकसिण, ६. पीतकसिण, ७. लोहित (=लाल) कसिण, ८. श्वेतकसिण, ९. आलोककसिण एवं १०. परिच्छिन्नाकाशकसिण।

दस अशुभ हैं—१. उद्धुमातक (=फूला हुआ शव), २. विनीलक (=नीला पड़ चुका शव),

६. विक्खित्तकं, ७. हतविक्खित्तकं, ८. लोहितकं, ९. पुळुवकं, १०. अट्ठिकं ति इमे **दस असुभा**।

१. बुद्धानुस्सति, २. धम्मानुस्सति, ३. सङ्घानुस्सति, ४. सीलानुस्सति, ५. चागानुस्सति, ६. देवतानुस्सति, ७. मरणानुस्सति, ८. कायगतासति, ९. आनापानस्सति, १०. उपसमानुस्सति ति इमा **दस अनुस्सतियो**।

१. मेत्ता, २. करुणा, ३. मुदिता, ४. उपेक्खा ति इमे **चत्तारो ब्रह्मविहारा**।

१. आकासानञ्चायतनं, २. विञ्ञाणञ्चायतनं, ३. आकिञ्चञ्ञायतनं, ४. नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं ति इमे **चत्तारो आरुप्पा**। आहारे पटिकूलसञ्ञा **एका सञ्ञा**। चतुधातुववत्थानं **एकं ववत्थानं** ति। एवं सङ्खातनिद्देसतो विनिच्छयो वेदितब्बो॥ (१)

२६. **उपचारप्पनावहतो** ति। ठपेत्वा कायगतासतिं च आनापानस्सतिं च अवसेसा अट्ठ अनुस्सतियो, आहारे पटिकूलसञ्ञा, चतुधातुववत्थानं ति इमानेव हेत्थ दस कम्मट्ठानानि उपचारावहानि, सेसानि अप्पनावहानि। एवं उपचारप्पनावहतो ॥ (२)

२७. **झानप्पभेदतो** ति। अप्पनावहेसु चेत्थ आनापानस्सतिया सद्धिं दस कसिणा चतुक्कज्झानिका होन्ति। कायगतासतिया सद्धिं दस असुभा पठमज्झानिका। पुरिमा तयो ब्रह्मविहारा तिकज्झानिका। चतुत्थब्रह्मविहारो चत्तारो च आरुप्पा चतुत्थज्झानिका ति। एवं झानप्पभेदतो॥ (३)

---

३. विपुब्बक (=जिसमें जगह-जगह पर पीब निकल रही हो, ऐसा शव), विच्छिद्दक (=कटा हुआ शव), ५. विक्खायितक (=कुत्ते आदि के द्वारा जिसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग खा लिये गये हों, ऐसा शव), ६. विक्खितक (=जिसके अङ्ग प्रत्यङ्ग इधर उधर विखरे पड़े हों, ऐसा शव), ७. हतविक्खितक (=जिसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग काट-काट कर विखेर दिये गये हों, ऐसा शव); ८. लोहितक (=रक्त से लिप्त शव); ९. पुलुवक (=क्रिमियों से भरा हुआ शव) और १०. अट्ठिक (=अस्थिपञ्जरमात्र)।

दस अनुस्मृतियाँ है— १. बुद्धानुस्मृति, २. धर्मानुस्मृति, ३. सङ्घानुस्मृति, ४. शीलानुस्मृति, ५. त्यागानुस्मृति, ६. देवतानुस्मृति, ७. मरणानुस्मृति, ८. कायगता स्मृति, ९. आनापानस्मृति एवं १०. उपशमानुस्मृति।

चार ब्रह्मविहार हैं— १. मैत्री, २. करुणा, ३. मुदिता एवं ४. उपेक्षा।

चार आरूप्य हैं— १. आकाशानन्त्यायतन, २. विज्ञानानन्त्यायतन, ३. आकिञ्चन्यायतन एवं ४. नैवसंज्ञानासंज्ञायतन।

एक संज्ञा है— आहार में प्रतिकूल संज्ञा।

एक व्यवस्थान है— चतुर्धातुव्यवस्थान।

इस प्रकार संख्या-निर्देश के अनुसार विनिश्चय जानना चाहिये। (१)

२६. **उपचार और अर्पणा के वाहक के रूप में**— कायगता स्मृति एवं आनापानस्मृति को छोड़कर आठ अनुस्मृतियाँ, आहार में प्रतिकूल संज्ञा एवं चतुर्धातुव्यवस्थान-ये ही दस कर्मस्थान **उपचार** के वाहक हैं, शेष **अर्पणा** के वाहक हैं।

इस प्रकार, उपचार एवं अर्पणा के वाहक के अनुसार विनिश्चय जानना चाहिये। (२)

२७. **ध्यान के प्रभेद से**— अर्पणा के वाहकों में दस कसिण, आनापान स्मृति के साथ, चार ध्यानों को लाने वाले होते हैं। कायगतास्मृति के साथ दस अशुभ प्रथम ध्यान को, प्रथम तीन

२८. **समतिक्कमतो** ति। द्वे समतिक्कमा—अङ्गसमतिक्कमो च, आरम्मणसमतिक्कमो च। तत्थ सब्बेसु पि तिकचतुक्कज्झानिकेसु कम्मट्ठानेसु अङ्गसमतिक्कमो होति वितक्कविचारादीनि झानङ्गानि समतिक्कमित्वा तेस्वेवारम्मणेसु दुतियज्झानादीनं पत्तब्बतो, तथा चतुत्थब्रह्मविहारे। सो पि हि मेत्तादीनं येव आरम्मणे सोमनस्सं समतिक्कमित्वा पत्तब्बो ति। चतूसु पन आरुप्पेसु आरम्मणसमतिक्कमो होति। पुरिमेसु हि नवसु कसिणेसु अञ्ञतरं समतिक्कमित्वा आकासानञ्चायतनं पत्तब्बं, आकासादीनि च समतिक्कमित्वा विञ्ञाणञ्चा-यतनादीनि। सेसेसु समतिक्कमो नत्थीति। एवं समतिक्कमतो॥ (४)

२९. **वड्ढनावड्ढनतो** ति। इमेसु चत्तालीसाय कम्मट्ठानेसु दस कसिणानेव वड्ढेतब्बानि। यत्तकं हि ओकासं कसिणेन फरति, तदब्भन्तरे दिब्बाय सोतधातुया सद्दं सोतुं, दिब्बेन चक्खुना रूपानि पस्सितुं,परसत्तानं चेतसा चित्तमञ्ञातुं समत्थो होति।

कायगतासति पन असुभानि च न वड्ढेतब्बानि। कस्मा? ओकासेन परिच्छिन्नत्ता आनिसंसाभावा च। सा च नेसं ओकासेन परिच्छिन्नत्ता भावनानये आविभविस्सति। तेसु पन वड्ढितेसु कुणपरासि येव वड्ढति, न कोचि आनिसंसो अत्थि। वुत्तं पि चेतं **सोपाक-पञ्हाव्याकरणे**—"विभूता, भगवा, रूपसञ्ञा, अविभूता अट्ठिकसञ्ञा" ति। तत्र हि निमित्तवड्ढनवसेन रूपसञ्ञा विभूता ति वुत्ता, अट्ठिकसञ्ञा अवड्ढनवसेन अविभूता ति वुत्ता।

ब्रह्मविहार तीन ध्यानों को, चतुर्थ ब्रह्मविहार एवं चार आरूप्य चतुर्थ ध्यान को लाने वाले होते हैं'

इस प्रकार ध्यान–प्रभेद से के अनुसार विनिश्चय जानना चाहिये। (३)

२८. **समतिक्रमण के अनुसार**— दो समतिक्रमण हैं— १. अङ्ग–समतिक्रमण एवं २. आलम्बन–समतिक्रमण। उन सभी कर्मस्थानों में जो कि तीन और चार ध्यानों को लाते हैं, अङ्ग का समतिक्रमण होता है। क्योंकि द्वितीय ध्यान आदि की प्राप्ति उन्हीं प्रथम ध्यान आदि के आलम्बनों में वितर्क और विचार का समतिक्रमण करके की जाती है; वैसे ही चतुर्थ ब्रह्मविहार में भी करनी चाहिये, क्योंकि उसकी प्राप्ति भी मैत्री आदि के आलम्बन में सौमनस्य का समतिक्रमण करके होती है। किन्तु चार आरूप्यों में आलम्बन का समतिक्रमण होता है। प्रथम नौ कसिणों में से किसी का समतिक्रमण करके आकाशानन्त्यायतन की प्राप्ति होती है आदि। शेष में समतिक्रमण नहीं होता।

इस प्रकार समतिक्रमण के अनुसार विनिश्चय जानना चाहिये। (४)

२९. **वर्धन–अवर्धन के अनुसार**—इन चालीस कर्मस्थानों में से केवल दस कसिणों का ही वर्धन (=उनको अपने ध्यान में बढ़ाते जाना) करना चाहिये। कसिण का विस्तार जिस सीमा तक होता है, उसी के भीतर साधक दिव्यश्रोत्र से शब्द सुनने, दिव्यचक्षु से रूप को देखने और परचित्त के ज्ञान में समर्थ होता है।

किन्तु कायगता स्मृति का या अशुभों का भी वर्धन नहीं करना चाहिये। क्यों? क्योंकि वे किसी स्थानविशेष में परिच्छिन्न (=सीमित) और गुण–रहित है। वह उनकी स्थानविशेष में परिच्छिन्नता भावनानय में विवेचन करते समय स्पष्ट की जायगी। यदि उन अशुभों का वर्धन किया जाय (=अनेक शवों को आलम्बन बनाया जाय) तो शवों की राशि में ही वृद्धि होगी, जिससे कोई लाभ नहीं है। **श्वपाकप्रश्न व्याकरण** में यह कहा भी गया है—"भगवन्, रूपसंज्ञा पूर्णतः स्पष्ट (='विभूता') है, अस्थिकसंज्ञा अस्पष्ट (=अविभूता) है।" यहाँ, निमित्त के वर्धन का प्रयोजन होने से रूपसंज्ञा को स्पष्ट कहा गया है। एवं अवधर्क के सहारे अस्थिक संज्ञा को अविभूत कहा गया है।

यं पनेतं "केवलं अट्ठिकसञ्ञाय अफरिं पथविं इमं" (खु० २-२३८) ति वुत्तं, तं लाभिस्स सतो उपट्ठानाकारवसेन वुत्तं। यथेव हि **धम्मासोक**काले करवीकसकुणो समन्ता आदासभित्तीसु अत्तनो छायं दिस्वा सब्बदिसासु करवीकसञ्ञी हुत्वा मधुरं गिरं निच्छारेसि, एवं थेरो पि अट्ठिकसञ्ञाय लाभित्ता सब्बदिसासु उपट्ठितं निमित्तं पस्सन्तो 'केवला पि पथवी अट्ठिकभरिता' ति चिन्तेसी ति।

यदि एवं, या असुभज्झानानं अप्पमाणारम्मणता वुत्ता सा विरुज्झती ति? सा च न विरुज्झति। एकच्चो हि उद्धुमातके वा अट्ठिके वा महन्ते निमित्तं गण्हाति, एकच्चो अप्पके। इमिना परियायेन एकच्चस्स परित्तारम्मणं ञाणं होति, एकच्चस्स अप्पमाणारम्मणं ति। यो वा एतं वड्ढने आदीनवं अपस्सन्तो वड्ढेति, तं सन्धाय "अप्पमाणारम्मणं" ति वुत्तं। आनिसंसाभावा पन न वड्ढेतब्बानी ति।

यथा च एतानि, एवं सेसानि पि न वड्ढेतब्बानि। कस्मा? तेसु हि आनापाननिमित्तं ताव वड्ढयतो वातरासि येव वड्ढति, ओकासेन च परिच्छिन्नं। इति सादीनवत्ता ओकासेन च परिच्छिन्नत्ता न वड्ढेतब्बं। ब्रह्मविहारा सत्तारम्मणा, तेसं निमित्तं वड्ढयतो सत्तरासि येव वड्ढेय्य, न च तेन अत्थो अत्थि, तस्मा तं पि न वड्ढेतब्बं। यं पन वुत्तं—"मेत्तासहगतेन चेतसा एकं दिसं फरित्वा" (दी० १-२१०) ति आदि, तं परिग्गहवसेनेव वुत्तं। एकावासद्विआवासादिना हि अनुक्कमेन एकिस्सा दिसाय सत्ते परिग्गहेत्वा भावेन्तो एकं

किन्तु यह जो कहा गया है कि "मैंने केवल अस्थि-संज्ञा के इस समग्र पृथ्वी को व्याप्त कर दिया है", वह इस प्रकार की संज्ञा का लाभ करने वाले व्यक्ति को जैसा दिखायी देता है, उसके अनुसार कहा गया है। जैसा कि **सम्राट् धर्माशोक** के समय में कोई करवीक पक्षी चारों ओर शीशे की दीवारों में अपनी छाया देखकर 'सभी दिशाओं में करवीक (पक्षी) हैं'—ऐसा समझकर मधुर स्वर में बोल पड़ा था (द्र० म० नि० अ० क० ३, ३२८-३) उसी प्रकार स्थविर (सिङ्गाल पितर) ने अस्थिक संज्ञा का लाभ करने से सभी दिशाओं में उपस्थित निमित्त को देखते हुए "सम्पूर्ण पृथ्वी कङ्कालों से भरी हुई है"— इस प्रकार चिन्तन किया था।

शङ्का— यदि ऐसा है तो अशुभ (आलम्बनों) ध्यानों की व्याख्या में जो अप्रमाण आलम्बन का वर्णन है, उसका विरोध होगा?

समाधान— उसका विरोध नहीं होगा; क्योंकि कोई साधक दीर्घाकार उद्धुमातक में या कङ्काल में निमित्त का ग्रहण करता है, कोई लघु आकार वाले में। तदनुसार किसी का परित्रालम्बन ज्ञान होता है, तो किसी का अप्रमाणालम्बन। अथवा जो इसके वर्धन में दोष न देखते हुए उसे बढ़ाता है, उसी के सन्दर्भ में 'अप्रमाणालम्बन' कहा गया है। किन्तु क्योंकि उनके वर्धन में कोई गुण (आनृशंस्य) नहीं है, इसलिये वर्धन नहीं करना चाहिये।

और जैसे इनको, वैसे ही शेष को भी नहीं बढ़ाना चाहिये। क्यों? क्योंकि उनमें आनापाननिमित्त का वर्धन करने से वातराशि ही बढ़ेगी और उसका स्थान भी परिच्छिन्न अर्थात् नासिकापुट है, इसलिये इसमें दोष होने से एवं स्थान में परिच्छिन्न होने से, नहीं बढ़ाना चाहिये।

ब्रह्मविहारों के आलम्बन सत्त्व होते हैं। उनका निमित्त बढ़ाने में सत्त्वराशि में ही वृद्धि होगी और यह लक्ष्य नहीं है; इसलिये उसका भी विस्तार नहीं करना चाहिये। किन्तु जो कहा गया है— "मैत्रीयुक्त चित्त से एक दिशा को सर्वांशतः ध्यान में लेकर" आदि, वह परिग्रह के अनुसार ही कहा गया है। एक आवास, दो आवास के क्रम से एक दिशा के सत्त्वों का ग्रहण कर भावना करने से "एक

दिसं फरित्वा ति वुत्तो, न निमित्तं वड्ढेन्तो। पटिभागनिमित्तमेव चेत्थ नत्थि, यदयं वड्ढेय्य। परित्तअप्पमाणरम्मणता पेत्थ परिग्गहवसेनेव वेदितब्बा।

आरुप्पारम्मणेसु पि आकासं कसिणुग्घाटिमत्ता। तं हि कसिणापगमवसेनेव मनसि कातब्बं। ततो परं वड्ढयतो पि न किञ्चि होति। विञ्ञाणं सभावधम्मता। न हि सक्का सभावधम्मं वड्ढेतुं। विञ्ञाणापगमो विञ्ञाणस्स अभावमत्तता। नेवसञ्ञानासञ्ञायतनारम्मणं सभावधम्मत्ता येव न वड्ढेतब्बं। सेसानि अनिमित्तता। पटिभागनिमित्तं हि वड्ढेतब्बं नाम भवेय्य। बुद्धानुस्सतिआदीनं च नेव पटिभागनिमित्तं आरम्मणं होति। तस्मा तं न वड्ढेतब्बं ति। एवं वड्ढनावड्ढनतो। (५)

३०. **आरम्मणतो** ति। इमेसु च चत्तालीसाय कम्मट्ठानेसु दस कसिणा, दस असुभा, आनापानस्सति, कायगतासती ति इमानि द्वावीसति पटिभागनिमित्तारम्मणानि, सेसानि न पटिभागनिमित्तारम्मणानि। तथा दससु अनुस्सतीसु ठपेत्वा आनापानस्सतिं च कायगतासतिं च अवसेसा अट्ठ अनुस्सतियो, आहारे पटिकूलसञ्ञा, चतुधातुववत्थानं, विञ्ञाणञ्चायतनं, नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं ति इमानि द्वादस सभावधम्मारम्मणानि। दस कसिणा, दस असुभा, आनापानस्सति, कायगतासती ति इमानि द्वावीसति निमित्तारम्मणानि। सेसानि छ न वत्तब्बारम्मणानि। तथा विपुब्बकं, लोहितकं, पुळुवकं, आनापानस्सति, आपोकसिणं, तेजोकसिणं, वायोकसिणं, यं च आलोककसिणे सूरियादीनं ओभासमण्डलारम्मणं ति

दिशा को सर्वांशतः ध्यान में लेकर" कहा गया है, निमित्त का वर्धन करने से नहीं। यहाँ तो प्रतिभागनिमित्त है ही नहीं, जिसका वर्धन किया जाय। परित्र-अप्रमाण आलम्बनता को भी यहाँ परिग्रह के लिये ही जानना चाहिये।

आरूप्य-आलम्बनों में भी आकाशकसिण का उद्घाटनमात्र है; क्योंकि आकाश में ही कसिण रह सकता है। वह कसिण के अभाव के रूप में ही बोधगम्य है। यदि उसका वर्धन भी किया जाय तो भी कुछ नहीं होगा। विज्ञान स्वभावधर्मता है। स्वमात्र धर्म का वर्धन सम्भव नहीं है। विज्ञान का न होना विज्ञान का अभावमात्र है। नैवसंज्ञानासंज्ञायतन आलम्बन भी स्वभावधर्मता ही है, अतः उसे भी नहीं बढ़ाना चाहिये। शेष निमित्तरहित हैं, इसलिये उनका भी वर्धन नहीं करना चाहिये; क्योंकि प्रतिभानिमित्त ही वर्धनीय है। एवं बुद्धानुस्मृति आदि प्रतिभागनिमित्त नहीं हैं। इसलिये उनका वर्धन नहीं करना चाहिये। यह वर्धन-अवर्धन के अनुसार कर्मस्थान का विनिश्चय है। (५)

३०. **आलम्बन के अनुसार**— इस चालीस कर्मस्थानों में दस कसिण, दस अशुभ, आनापानस्मृति, कायगता स्मृति—ये बाईस प्रतिभागनिमित्त आलम्बन हैं। (अर्थात् इनके आलम्बन प्रतिभागनिमित्त हैं)। शेष कर्म-स्थान प्रतिभागनिमित्त-आलम्बन नहीं हैं। तथा दस अनुस्मृतियों में आनापानस्मृति एवं कायगता स्मृति को छोड़कर अवशेष आठ अनुस्मृतियाँ, एक आहार में प्रतिकूल संज्ञा, एक चतुर्धातुव्यवस्थान, एक विज्ञानानन्त्यायतन, एक नैवसंज्ञानासंज्ञायतन—ये बारह स्वभावधर्मावलम्बन हैं। दस कसिण, दस अशुभ, आनापानस्मृति, कायगता स्मृति—ये बाईस निमित्तालम्बन हैं। शेष छह इस प्रकार से न कहे जा सकने योग्य आलम्बन हैं। तथा विपुब्बक पीव निकलते रहने के कारण, लोहितक रक्त बहते रहने के कारण, पुलुवक कीड़े रेंगते रहने के कारण, आनापान स्मृति, जलकसिण, तेजकसिण, वायुकसिण, और आलोककसिण के अन्तर्गत सूर्य आदि प्रभामण्डल

इमानि अट्ठ चलितारम्मणानि, तानि च खो पुब्बभागे। पटिभागं पन सन्निसिन्नमेव होति। सेसानि न चलितारम्मणानी ति। एवं आरम्मणतो॥ (६)

३१. **भूमितो** ति। एत्थ च दस असुभा, कायगतासति, आहारे पटिकूलसञ्ञा ति इमानि द्वादस देवेसु नप्पवत्तन्ति। तानि द्वादस आनापानस्सति चा ति इमानि तेरस ब्रह्मलोके नप्पवत्तन्ति। अरूपभवे पन ठपेत्वा चत्तारो आरुप्पे अञ्ञं नप्पवत्तति। मनुस्सेसु सब्बानि पि पवत्तन्ती ति। एवं भूमितो॥ (७)

३२. **गहणतो** ति। दिट्ठफुट्ठसुतग्गहणतो पेत्थ विनिच्छयो वेदितब्बो। तत्र ठपेत्वा वायोकसिणं सेसा नव कसिणा, दस असुभा ति इमानि एकूनवीसति दिट्ठेन गहेतब्बानि। पुब्बभागे चक्खुना ओलोकेत्वा निमित्तं नेसं गहेतब्बं ति अत्थो। कायगतासतियं तचपञ्चकं दिट्ठेन, सेसं सुतेना ति एवं तस्सा आरम्मणं दिट्ठसुतेन गहेतब्बं। आनापानस्सति फुट्ठेन, वायोकसिणं दिट्ठफुट्ठेन, सेसानि अट्ठारस सुतेन गहेतब्बानि। उपेक्खाब्रह्मविहारो चत्तारो आरुप्पा ति इमानि चेत्थ न आदिकम्मिकेन गहेतब्बानि, सेसानि पञ्चतिंस गहेतब्बानी ति। एवं गहणतो॥ (८)

३३. **पच्चयतो** ति। इमेसु पन कम्मट्ठानेसु ठपेत्वा आकासकसिणं सेसा नव कसिणा आरुप्पानं पच्चया होन्ति। दस कसिणा अभिञ्ञानं। तयो ब्रह्मविहारा चतुत्थब्रह्मविहारस्स। हेट्ठिमं हेट्ठिमं आरुप्पं उपरिमस्स उपरिमस्स। नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं निरोधसमापत्तिया। सब्बानि पि सुखविहारविपस्सनाभवसम्पत्तानं ति। एवं पच्चयतो॥ (९)

प्रकाश के गतिशील होने से—ये आठ सचल आलम्बन हैं, किन्तु प्रारम्भिक स्तर पर प्रतिभाग तो निश्चल ही होता है।

इस प्रकार आलम्बन के अनुसार कर्मस्थान का विनिश्चय है। (६)

३१. **भूमि के अनुसार**— दस अशुभ, एक कायगता स्मृति, एक आहार में प्रतिकूल संज्ञा— ये बारह (कर्मस्थान) देवताओं में नहीं पाये जाते। ये बारह एवं एक आनापानस्मृति— ये तेरह ब्रह्मलोक में नहीं पाये जाते। किन्तु अरूप भव (=अरूप धातु) में चार आरूप्यों को छोड़कर अन्य कोई भी कर्मस्थान नहीं पाया जाता। मानवों में ही ये सब (चालीस) पाये जाते हैं।

इस प्रकार भूमि के अनुसार विनिश्चय है। (७)

३२. **ग्रहण के अनुसार**— दृष्ट, स्पृष्ट एवं श्रुत के रूप में ग्रहण के अनुसार भी विनिश्चय जानना चाहिये। उन चालीस कर्मस्थानों में, वायुकसिण को छोड़कर शेष ९ कसिण, १० अशुभ=इन उन्नीस (१९) को दृष्ट रूप में ग्रहण करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि पहले आँख से देखकर पश्चात् इसका निमित्त ग्रहण करना चाहिये। कायगता स्मृति में त्वचा आदि पाँच (केश, लोम, नख, दाँत और त्वचा) को देखकर, शेष को सुनकर—इस प्रकार उसका आलम्बन देख-सुन कर ग्रहण करना चाहिये। उपेक्षा ब्रह्मविहार एवं चार आरूप्य—ये उसके द्वारा, जिसने अभी समाधि के अभ्यास का प्रारम्भ ही किया है, ग्रहण किये जाने योग्य नहीं हैं। शेष पैंतीस ग्रहण किये जाने योग्य हैं।

इस प्रकार ग्रहण के अनुसार विनिश्चय जानना चाहिये। (८)

३३. **कारण (=प्रत्यय) के अनुसार**— इन कर्मस्थानों में आकाशकसिण को छोड़कर शेष नौ कसिण आरूप्यों के प्रत्यय होते हैं। दस कसिण अभिज्ञाओं के तीन ब्रह्मविहार चतुर्थ ब्रह्मविहार के। नीचे-नीचे के आरूप्य ऊपर-ऊपर के (आरूप्यों के)। नैवसंज्ञानासंज्ञायतन निरोधसमापत्ति का। ये सभी सुखविहार, विपश्यना और भवसम्पत्ति (=श्रेष्ठ योनियों में जन्म) के प्रत्यय हैं।

३४. **चरियानुकूलतो** ति। चरियानं अनुकूलतो पेत्थ विनिच्छयो वेदितब्बो। सेय्यथीदं—रागचरितस्स ताव एत्थ दस असुभा कायगतासती ति एकादस कम्मट्ठानानि अनुकूलानि। दोसचरितस्स चत्तारो ब्रह्मविहारा, चत्तारि वण्णकसिणानी ति अट्ठ। मोहचरितस्स वितक्कचरितस्स च एकं आनापानस्सतिकम्मट्ठानमेव। सद्धाचरितस्स पुरिमा छ अनुस्सतियो। बुद्धिचरितस्स मरणस्सति, उपसमानुस्सति, चतुधातुववत्थानं, आहारे पटिक्कूलसञ्ञा ति चत्तारि। सेसकसिणानि चत्तारो च आरुप्पा सब्बचरितानं अनुकूलानि। कसिणेसु च यं किञ्चि परित्तं वितक्कचरितस्स, अप्पमाणं मोहचरितस्सा ति।

एवमेत्थ "चरियानुकूलतो विनिच्छयो वेदितब्बो" ति॥ (१०)

सब्बं चेतं उजुविपच्चनीकवसेन च अतिसप्पायवसेन च वुत्तं। रागादीनं पन अविक्खम्भिका सद्धादीनं वा अनुपकारा कुसलभावना नाम नत्थि।

वुत्तं पि चेतं **मेघियसुत्ते**—"चत्तारो धम्मा उत्तरि भावेतब्बा। असुभा भावेतब्बा रागस्स पहानाय। मेत्ता भावेतब्बा ब्यापादस्स पहानाय। आनापानस्सति भावेतब्बा वितक्कुपच्छेदाय। अनिच्चसञ्ञा भावेतब्बा अस्मिमानसमुग्घाताया" (खु० १-१०५) ति।

राहुलसुत्ते पि—"मेत्तं, राहुल, भावनं भावेही" (म० २-१०४) ति आदिना नयेन एकस्सेव सत्त कम्मट्ठानानि वुत्तानि। तस्मा वचनमत्ते अभिनिवेसं अकत्वा सब्बत्थ अधिप्पायो परियेसितब्बो ति।

अयं कम्मट्ठानं गहेत्वा ति एत्थ कम्मट्ठानकथाविनिच्छयो।

इस प्रकार, प्रत्यय के अनुसार विनिश्चय जानना चाहिये। (९)

३४. **चर्या के अनुकूल होने के अनुसार**— चर्या के अनुकूल होने के अनुसार भी विनिश्चय जानना चाहिये। यथा—रागचरित के लिये दस अशुभ एवं कायगता स्मृति—ये ग्यारह कर्मस्थान अनुकूल हैं। द्वेषचरित के लिया चार ब्रह्मविहार एवं चार वर्ण—कसिण—ये आठ। मोहचरित के लिये और वितर्कचरित के लिये केवल एक आनापानस्मृति कर्मस्थान ही अनुकूल है। श्रद्धाचरित के लिये—प्रथम छह अनुस्मृतियाँ। बुद्धिचरित के लिये—मरणस्मृति, उपशमानुस्मृति, चतुर्धातुव्यवस्थापन, आहार में प्रतिकूल संज्ञा—ये चार। शेष कसिण और चार आरूप्य सभी चरितों के लिये अनुकूल हैं। कसिणों में जो कोई परिमित है वह वितर्कचरित के लिये; जो कोई अप्रमाण है वह मोहचरित के लिये अनुकूल है। (१०)

इस प्रकार चर्या के अनुकूल विनिश्चय जानना चाहिये।

यह सब स्पष्ट विरोध के रूप में एवं पूर्ण अनुकूलता के रूप में निर्दिष्ट है। किन्तु ऐसी कोई भी कुशलभावना नहीं है, जो रागादि का शमन करनेवाली एवं श्रद्धादि की सहायक न हो।

मेघियसुत्त में यह कहा भी कहा है—"इसके गुणों की परिपूर्णता, कल्याणमित्रता, अच्छी बातों को सुनना, बल और बुद्धि—इन पाँच बातों के पश्चात्, चार धर्मों की भावना करनी चाहिये। राग के प्रहाण के लिये अशुभ की भावना करनी चाहिये; द्वेष के प्रहाण के लिये मैत्री की भावना करनी चाहिये; वितर्क को दूर करने के लिये आनापानस्मृति की भावना करनी चाहिये; अस्मिमान ('मैं हूँ'—यह अभिमान) दूर करने के लिये अनित्यसंज्ञा की भावना करनी चाहिये।"

राहुलसुत्त में भी—"राहुल, मैत्रीभावना का अभ्यास करो" आदि प्रकार से एक में ही सात कर्मस्थान (१ मैत्री, २ करुणा, ३ मुदिता, ४ उपेक्षा, ५ अशुभ, ६ अनित्यसंज्ञा, ७ आनापानस्मृति)

३५. **गहेत्वा** ति। इमस्स पन पदस्स अयमत्थदीपना—"तेन योगिना कम्मट्ठानदायकं कल्याणमित्तं उपसङ्कमित्वा" ति एत्थ वुत्तनयेनेव वुत्तप्पकारं कल्याणमित्तं उपसङ्कमित्वा, बुद्धस्स वा भगवतो, आचरियस्स वा अत्तानं निय्यातेत्वा सम्पन्नज्झासयेन सम्पन्नाधिमुत्तिना च हुत्वा कम्मट्ठानं याचितब्बं।

३६. तत्र "इमाहं भगवा अत्तभावं तुम्हाकं परिच्चजामी" ति एवं बुद्धस्स भगवतो अत्ता निय्यातेतब्बो। एवं हि अनिय्यातेत्वा पन्तेसु सेनासनेसु विहरन्तो भेरवारम्मणे आपाथमागते सन्थम्भितुं असक्कोन्तो गामन्तं ओसरित्वा गिहीहि संसट्ठो हुत्वा अनेसनं आपज्जित्वा अनयब्यसनं पापुणेय्य। निय्यातितत्तभावस्स पनस्स भेरवारम्मणे आपाथमागते पि भयं न उप्पज्जति। "ननु तया, पण्डित, पुरिममेव अत्ता बुद्धानं निय्यातितो" ति पच्चवेक्खतो पनस्स सोमनस्समेव उप्पज्जति।

यथा हि पुरिसस्स उत्तमं कासिकवत्थं भवेय्य। तस्स तस्मिं मूसिकाय वा कीटेहि वा खादिते उप्पज्जेय्य दोमनस्सं। सच पन तं अचीवरकस्स भिक्खुनो ददेय्य, अथस्स तं तेन भिक्खुना खण्डाखण्डं करियमानं दिस्वा पि सोमनस्समेव उप्पज्जेय्य। एवंसम्पदमिदं वेदितब्बं।

३७. आचरियस्य निय्यातेन्तेना पि "इमाहं, भन्ते, अत्तभावं तुम्हाकं परिच्चजामी" ति वत्तब्बं। एवं अनिय्यातितत्तभावो हि अतज्जनीयो वा होति दुब्बचो वा अनोवादकरो, येनकामङ्गमो वा आचरियं अनापुच्छा व यत्थिच्छति तत्थ गन्ता। तमेनं आचरियो आमिसेन

बतला दिये गये हैं। इसलिये शब्दमात्र में अभिनिवेश न कर, सर्वत्र अभिप्राय का अन्वेषण करना चाहिये।

यह "कर्मस्थान को ग्रहण करके"—इस वाक्यांश में 'कर्मस्थान' का व्याख्यात्मक वर्णन है।।

३५. **ग्रहण कर के**— इस पद का अभिप्राय यह है—"उस योगी को कर्मस्थानप्रदाता कल्याणमित्र के पास जाकर" इस प्रकार से कही गयी विधि के अनुसार ही उक्त प्रकार के कल्याणमित्र के पास जाकर, भगवान् बुद्ध या आचार्य के प्रति स्वयं को समर्पित कर सच्चे अध्याशय एवं सच्ची अधिमुक्ति के साथ कर्मस्थान की याचना करनी चाहिये।

३६. वहाँ "भगवान्, यह मैं आपके लिये आत्माव का परित्याग करता हूँ"—इस प्रकार से भगवान् बुद्ध के लिये स्वयं को समर्पित कर देना चाहिये। इस प्रकार समर्पित न करने पर सुदूरवर्ती शयनासनों में विहार करते समय यदि भयानक आलम्बन सामने आ जाय, तो वह स्थिर नहीं रह पायेगा। एवं सम्भव है कि वह ग्राम में लौटकर गृहस्थों के संसर्ग में पड़कर साधन में अनुचित अन्वेषण करते हुए विनाश को प्राप्त हो जाय। यदि वह समर्पित हो जाता है तो भयानक आलम्बनों के सामने आ जाने पर भी भय नहीं उत्पन्न होगा, अपितु "पण्डित! क्या तुमने पहले ही स्वयं को बुद्ध के लिये समर्पित नहीं कर दिया है"—ऐसा विचार करते हुए उसका उसमें सौमनस्य ही उत्पन्न होगा।

जैसे कि किसी व्यक्ति के पास काशी का बना उत्तम वस्त्र हो, यदि उसे चूहे या कीड़े खा डालें तो उसे दुःख होगा; किन्तु वह उसे ऐसे भिक्षु को दे दे जिसके पास चीवर न हो तो उस वस्त्र को भिक्षु के द्वारा टुकड़े-टुकड़े किया जाता हुआ देखकर भी उसे प्रसन्नता ही होगी। यहाँ भी ऐसा ही है।

३७. आचार्य के लिये समर्पित होने वाले को भी "भन्ते! यह मैं आपके लिये आत्मभाव का परित्याग करता हूँ"—"इस प्रकार कहना चाहिये। इस प्रकार से समर्पित न होने पर दोष दिखलाने योग्य (=तर्जनीय) नहीं होता, या उसे सरलता से कुछ कहा नहीं जा सकता, वह आज्ञाकारी नहीं

वा धम्मेन वा न सङ्गण्हाति, गूळ्हं गन्थं न सिक्खापेति। सो इमं दुविधं सङ्गं अलभन्तो सासने पतिट्ठं न लभति, न चिरस्सेव दुस्सील्यं वा गिहिभावं वा पापुणाति। निय्यातितत्तभावो पन नेव अतज्जनीयो होति, न येनकामङ्गमो, सुवचो आचरियायत्तवुत्ति येव होति। सो आचरियतो दुविधं सङ्गहं लभन्तो सासने वुड्ढिं विरूळ्हिं वेपुल्लं पापुणाति चूळपिण्डपातिक**तिस्सत्थेर**स्स अन्तेवासिका विय।

थेरस्स किर सन्तिकं तयो भिक्खू आगमंसु। तेसु एको "अहं, भन्ते, तुम्हाकमत्थाया" ति वुत्ते 'सतपोरिसे पपाते पतितुं उस्सहेय्यं' ति आह। दुतियो "अहं, भन्ते, तुम्हाकमत्थाया" ति वुत्ते 'इमं अत्तभावं गण्हितो पट्ठाय पासाणपिट्ठे घंसेन्तो निरवसेसं खेपेतुं उस्सहेय्यं' ति आह। ततियो "अहं, भन्ते, तुम्हाकमत्थाया" ति वुत्ते "अस्सासपस्सासे उपरुन्धित्वा कालकिरियं कातुं उस्सहेय्यं" ति आह। थेरो "भब्बा वतिमे भिक्खू" ति कम्मट्ठानं कथेसि। ते तस्स ओवादे ठत्वा तयो पि अरहत्तं पापुणिंसू ति अयमानिसंसो अत्तनिय्यातने। तेन वुत्तं—"बुद्धस्स वा भगवतो आचरियस्स वा अत्तानं निय्यातेत्वा" ति।

३८. **सम्पन्नज्झासयेन सम्पन्नाधिमुत्तिना च हुत्वा** ति। एत्थ पन तेन योगिना अलोभादीनं वसेन छहाकारेहि सम्पन्नज्झासयेन भवितब्बं। एवं सम्पन्नज्झासयो हि तिस्सन्नं बोधीनं अञ्ञतरं पापुणाति। यथाह—"छ अज्झासया बोधिसत्तानं बोधिपरिपाकाय संवत्तन्ति, अलोभज्झासया च बोधिसत्ता लोभे दोसदस्साविनो। अदोसज्झासया च बोधिसत्ता दोसे दोसदस्साविनो। अमोहज्झासया च बोधिसत्ता मोहे दोसदस्साविनो। नेक्खम्मज्झासया च

होता। अथवा यथेच्छाचारी होता है, आचार्य से विना पूछे जहाँ चाहता है, वहाँ चला जाता है। उसे आचार्य भौतिक वस्तुएँ या धर्म का उपदेश नहीं देता, गूढ ग्रन्थों की शिक्षा नहीं देता। वह ये दोनों संग्रह न पाकर शासन में प्रतिष्ठालाभ नहीं कर पाता, अपितु शीघ्र ही दुराचारी या गृहस्थ हो जाता है। समर्पित कर देने से कभी भी दोष दिखलाने योग्य नहीं होता, न यथेच्छाचारी होता है, न उसे आसानी से कुछ कहा जा सकता है, वह आचार्य के अधीन ही रहने वाला होता है। वह आचार्य से द्वितीय संग्रह प्राप्त कर **चूळपिण्डपातिक तिष्य स्थविर** के शिष्यों के समान, शासन में वृद्धिविस्तार और विपुलता प्राप्त करता है।

स्थविर के समीप तीन भिक्षु आये। उनमें से एक ने कहा—"भन्ते, 'आपके हित में है' (=आचार्य के हित में है) ऐसा कहे जाने पर मैं सौ पोरसा गहरे प्रपात में गिरने के लिये तैयार हूँ।" दूसरे ने कहा—"भन्ते, 'आपके हित में है'—ऐसा कहे जाने पर मैं अपना एड़ी से लेकर पूरे का पूरा शरीर पत्थर की चट्टान से घिस-घिसकर समाप्त कर देने के लिये तैयार हूँ।" तीसरे कहा—"भन्ते, 'आपके हित में है'— ऐसा कहे जाने पर "मैं श्वास-प्रश्वास को रोककर मर जाने के लिये तैयार हूँ।" स्थविर ने "ये भिक्षु निश्चित रूप से उन्नति करेंगे"—ऐसा सोचकर कर्मस्थान बतलाया। इसीलिये कहा गया है—"भगवान् बुद्ध के लिये या आचार्य के लिये स्वयं को समर्पित करके।"

३८. **अध्याशय और अधिमुक्ति से सम्पन्न होकर**— उस योगी को अलोभ आदि छह आकारों में अध्याशयसम्पन्न होना चाहिये। इस प्रकार का अध्याशयसम्पन्न तीन ज्ञानो में से किसी एक को प्राप्त करता है। जैसा कि कहा गया है—"छह अध्याशय बोधिसत्त्वों के बोधि-परिपाक के लिये होते हैं। १. अलोभ अध्याशय से सम्पन्न बोधिसत्त्व लोभ मे दोष देखते हैं। २. अद्वेष अध्याशय से सम्पन्न बोधिसत्त्व द्वेष में और ३. अमोह अध्याशय से सम्पन्न बोधिसत्त्व मोह में दोष देखते है। ४. नैष्कर्म्य (=गृहत्यागयुक्त

बोधिसत्ता घरावासे दोसदस्साविनो। पविवेकज्झासया च बोधिसत्ता सङ्गणिकाय दोसदस्साविनो। निस्सरणज्झासया च बोधिसत्ता सब्बभवगतीसु दोसदस्साविनो'' ति। ये हि केचि अतीतानागतपच्चुप्पन्ना सोतापन्नसकदागामिअनागामिखीणासवपच्चेकबुद्ध-सम्मासम्बुद्धा, सब्बे ते इमेहेव छहाकारेहि अत्तना अत्तना पत्तब्बं विसेसं पत्ता। तस्मा इमेहि छहाकारेहि सम्पन्नज्झासयेन भवितब्बं।

तदधिमुत्तताय पन अधिमुत्तिसम्पन्नेन भवितब्बं। समाधाधिमुत्तेन समाधिगरुकेन समाधिपब्भारेन, निब्बानाधिमुत्तेन निब्बानगरुकेन निब्बानपब्भारेन च भवितब्बं ति अत्थो।

३९. एवं सम्पन्नज्झासयाधिमुत्तिनो पनस्स कम्मट्ठानं याचतो चेतोपरियञाणलाभिना आचरियेन चित्ताचारं ओलोकेत्वा चरिया जानितब्बा। इतरेन किं चरितोसि? के वा ते धम्मा बहुलं समुदाचरन्ति? किं वा ते मनसिकरोतो फासु होति? कतरस्मिं वा ते कम्मट्ठाने चित्तं नमती? ति एवमादीहि नयेहि पुच्छित्वा जानितब्बा। एवं ञत्वा चरियानुकूलं कम्मट्ठानं कथेतब्बं।

४०. कथेन्तेन च तिविधेन कथेतब्बं— १. पकतिया उग्गहितकम्मट्ठानस्स एकं द्वे निसज्जानि सज्झायं कारेत्वा दातब्बं। २. सन्तिके वसन्तस्स आगतागतक्खणे कथेतब्बं। ३. उग्गहेत्वा अञ्ञत्र गन्तुकामस्स नातिसङ्खित्तं नातिवित्थारिकं कत्वा कथेतब्बं।

तत्थ पथवीकसिणं ताव कथेन्तेन चत्तारो कसिणदोसा, कसिणकरणं, कतस्स

प्रव्रज्या) अध्याशय से सम्पन्न बोधिसत्त्व गृहवास में, ५. प्रविवेक (एकान्तसेवन) अध्याशय से बोधिसत्व समाज में एवं ६. निःसरण अध्याशय से बोधिसत्त्व सभी भवगतियों में दोष देखते हैं। जो कोई भी अतीत, अनागत एवं प्रत्युत्पन्न स्रोतआपन्न, सकृदागामी, अनागामी, क्षीणास्रव, प्रत्येकबुद्ध, सम्यक्सम्बुद्ध हैं; उन सबने इन्हीं छह आकारों से अपने अपने प्राप्तव्यविशेष को पाया। इसलिये इन छह आकारों से अध्याशयसम्पन्न होना चाहिये।

'अधिमुक्ति से' का अर्थ यह है कि अधिमुक्ति से सम्पन्न होना चाहिये। समाधि के प्रति अधिमुक्ति, उसके प्रति गौरव, झुकाव; निर्वाण के प्रति अधिमुक्ति, व गौरव उसके प्रति झुकाव रखना चाहिये।

३९. इस प्रकार अध्याशय–अधिमुक्ति के सम्पादक साधक द्वारा कर्मस्थान की याचना की जाने पर चेतःपर्याय–ज्ञान के लाभी आचार्य को उसकी चित्तवृत्ति का अवलोकन कर चर्या जाननी चाहिये। अन्य को 'तुम्हारा क्या चरित है?' 'कौन से धर्म तुममें बहुधा प्रवृत्त होते हैं?' 'तुम्हें किसे मन में लाना अच्छा लगता है?' 'तुम्हारे चित्त का झुकाव किस कर्मस्थान के प्रति है?' आदि प्रकार से पूछ कर जानना चाहिये। यों जानकर चर्या के अनुकूल कर्मस्थान बतलाना चाहिये।

४०. कर्मस्थान कहने वाले को उसे तीन प्रकार से कहना चाहिये— १. जिसने स्वयं ही कर्मस्थान सीख लिया हो, उसे एक–दो बैठक में पारायण करवा कर कर्मस्थान दे देना चाहिये। (यहाँ यह ध्यातव्य है कि आचार्य से ग्रहण किये विना इस विषय में सफलता नही मिलती)। २. जो समीप ही रहने वाला हो, वह जब जब आये तब तब बतलाना चाहिये। ३. जो ग्रहण करके कही और जाना चाहता हो उसे न तो बहुत संक्षेप में और न ही बहुत विस्तार से बतलाना चाहिये।

पृथ्वीकसिण बतलाने वाले को १. चार कसिण–दोष, २. कसिण का निर्माण, ३. किये हुए

भावनानयो, दुविधं निमित्तं, दुविधो समाधि, सत्तविधं सप्पायासप्पायं, दसविधं अप्पनाकोसल्लं, विरियसमता, अप्पनाविधानं ति इमे नव आकारा कथेतब्बा। सेसकम्मट्ठानेसु पि तस्स तस्स अनुरूपं कथेतब्बं। तं सब्बं तेसं भावनाविधाने आविभविस्सति।

एवं कथियमाने पन कम्मट्ठाने तेन योगिना निमित्तं गहेत्वा सोतब्बं।

४१. **निमित्तं गहेत्वा** ति। इदं हेट्ठिमपदं, इदं उपरिमपदं, अयमस्स अत्थो, अयमधिप्पायो, इदमोपम्मं ति एवं तं तं आकारं उपनिबन्धित्वा ति अत्थो। एवं निमित्तं गहेत्वा सक्कच्चं सुणन्तेन हि कम्मट्ठानं सुगहितं होति। अथस्स तं निस्साय विसेसाधिगमो सम्पज्जति, न इतरस्सा ति।

अयं "गहेत्वा" ति इमस्स पदस्स अत्थपरिदीपना॥

एत्तावता **कल्याणमित्तं उपसङ्कमित्वा अत्तनो चरियानुकूलं चत्तालीसाय कम्मट्ठानेसु अञ्ञतरं कम्मट्ठानं गहेत्वा** ति इमानि पदानि सब्बाकारेन वित्थरितानि होन्ती ति॥

इति साधुजनपामोज्जत्थाय कते विसुद्धिमग्गे समाधिभावनाधिकारे
कम्मट्ठानग्गहणनिद्देसो नाम ततियो परिच्छेदो॥



की भावनाविधि, ४. द्विविध निमित्त, ५. द्विविध समाधि, ६. सप्तविध अनुकूल–प्रतिकूल, ७. दशविध अर्पणाकौशल, ८. वीर्यसमता एवं ९. अर्पणाविधान—ये नौ (९) आकार (=पक्ष) बतलाने चाहिये।

शेष कर्मस्थानों को भी उन उन की अनुकूल विधि से बतलाना चाहिये। यह सब आगे भावनाविधान प्रकरण में स्पष्ट किया जायेगा।

किन्तु जब कर्मस्थान बतलाया जा रहा हो, तब योगी को निमित्त का ग्रहण कर सुनना चाहिये।

४१. **निमित्त का ग्रहण कर के–** अर्थात् 'यह पहले का पद है', 'यह आगे का पद है', 'इसका यह अर्थ है', 'यह अभिप्राय है', 'यह उपमा है'—इस प्रकार प्रत्येक पक्ष को सम्बद्ध करके—इस प्रकार निमित्त का ग्रहण कर, आदर के साथ सुनने से कर्मस्थान का सम्यक्तया ग्रहण होता है। तब उसी के सहारे उसे विशिष्टता की प्राप्ति (विशेषाधिगम) होती है, दूसरे को नहीं ।।

यह 'गहेत्वा' –इस पद का व्याख्यान है।

यहाँ तक पीछे पालि पाठ में आये **कल्याणमित्तं उपसङ्कमित्वा अत्तनो चरियानुकूलं चत्तालीसाय कम्मट्ठानेसु अञ्ञतरं कम्मट्ठानं गहेत्वा–** इन पदों की सभी पक्षों से व्याख्या कर दी गयी।।

साधुजनों के प्रमोदहेतु विरचित इस विशुद्धिमार्ग ग्रन्थ के
समाधिभावनाधिकार में
'कर्मस्थानग्रहणनिर्देश' तृतीय परिच्छेद समाप्त॥



पथवीकसिणनिद्देसो

(चतुत्थो परिच्छेदो)

१. इदानि यं वुत्तं "**समाधिभावनाय अननुरूपं विहारं पहाय अनुरूपे विहारे विहरन्तेना**" ति एत्थ यस्स ताव आचरियेन सद्धिं एकविहारे वसतो फासु होति, तेन तत्थेव कम्मट्ठानं परिसोधेन्तेन वसितब्बं। सचे तत्थ फासु न होति, यो अञ्ञो गावुते वा अड्ढयोजने वा योजनमत्ते पि वा सप्पायो विहारो होति, तत्थ वसितब्बं। एवं हि सति कम्मट्ठानस्स किस्मिञ्चिदेव ठाने सन्देहे वा सतिसम्मोसे वा जाते कालस्सेव विहारे वत्तं कत्वा अन्तरामग्गे पिण्डाय चरित्वा भत्तकिच्चपरियोसाने येव आचरियस्स वसनट्ठानं गन्त्वा तं दिवसं आचरियस्स सन्तिके कम्मट्ठानं सोधेत्वा दुतियदिवसे आचरियं वन्दित्वा निक्खमित्वा अन्तरामग्गे पिण्डाय चरित्वा अकिलमन्तो येव अत्तनो वसनट्ठानं आगन्तुं सक्खिस्सति। यो पन योजनप्पमाणे पि फासुकट्ठानं न लभति, तेन कम्मट्ठाने सब्बं गण्ठिट्ठानं छिन्दित्वा सुविसुद्धं आवज्जनपटिबद्धं कम्मट्ठानं कत्वा दूरं पि गन्त्वा समाधिभावनाय अननुरूपं विहारं पहाय अनुरूपे विहारे विहातब्बं।

अननुरूपविहारो

२. तत्थ अननुरूपो नाम अट्ठारसन्नं दोसानं अञ्ञतरेन समन्नागतो। तत्रिमे अट्ठारस दोसा—महत्तं, नवत्तं, जिण्णत्तं, पन्थनिस्सितत्तं, सोण्डी, पण्णं, पुप्फं, फलं, पत्थनीयता,

---

पृथ्वीकसिणनिर्देश

(चतुर्थ परिच्छेद)

१. अब, पीछे जो कहा गया है कि **'समाधि भावना के अननुरूप** (प्रतिकूल) **विहार को छोड़कर अनुरूप विहार में विहरते हुए'** (पृष्ठ १२५) यहाँ जिस जिस को आचार्य के साथ एक ही विहार में रहने आदि की सुविधा तथा अनुकूलता हो, उसे वहीं कर्मस्थान का परिशोधन करते हुए रहना चाहिये। यदि वहाँ सुविधा न हो तो गव्यूति[१], अर्धयोजन या एक योजन के अन्दर जो भी अनुकूल विहार हो वहाँ रहना चाहिये। ऐसा होने से कर्मस्थान के किसी भी स्थल के विषय में सन्देह या विस्मृति उत्पन्न होने पर समय रहते ही विहार में करणीय करके, बीच मार्ग में आने वाले ग्रामादि में भिक्षाटन करते हुए भोजन समाप्त कर, आचार्य के निवासस्थान पर जाकर, उस दिन आचार्य के पास कर्मस्थान का शोधन कर, दूसरे दिन आचार्य की वन्दना करके विहार से निकलकर मार्ग में भिक्षाटन करते हुए, वह विना थके ही अपने निवासस्थान पर पहुँच सकेगा।

यदि एक योजन के भीतर भी सुविधाजनक स्थान न मिले तो उसे कर्मस्थान के विषय में सभी दुरूह स्थलों का स्पष्टीकरण कर (=ग्रन्थिस्थान को काटकर) कर्मस्थान को सुविशुद्ध एवं आवर्जनप्रतिबद्ध (समाधि की अनुकूलता के लिये स्वानुरूप) करके दूर जाकर भी समाधि भावना के अननुकूल विहार को छोड़कर अनुरूप विहार में साधनाभ्यास करना चाहिये।

अननुरूप (=वास के लिये अयोग्य) विहार

२. उनमें **'अननुरूप विहार'** उसे कहते हैं जो अट्ठारह दोषों में से किसी एक से युक्त हो। अट्ठारह दोष ये हैं— (१) बड़ा होना, (२) नया होना, (३) जीर्ण (=पुराना टूटा–फूटा) होना, (४) मार्ग

---

१. अभिधानप्पदीपिका कोश के अनुसार 'गव्यूति' ५६०० गज (एक भूमि–माप) को कहते हैं।

नगरसन्निस्सितता, दारुसन्निस्सितता, खेत्तसन्निस्सितता, विसभागानं पुग्गलानं अत्थिता, पट्टनसन्निस्सितता, पच्चन्तसन्निस्सितता, रज्जसीमसन्निस्सितता, असप्पायता, कल्याणमित्तानं अलाभो ति इमेसं अट्ठारसन्नं दोसानं अञ्ञतरेन दोसेन समन्नागतो अननुरूपो नाम, न तत्थ विहातब्बं।

कस्मा?

महाविहारे ताव बहू नानाछन्दा सन्निपतन्ति। ते अञ्ञमञ्ञं पटिविरुद्धताय वत्तं न करोन्ति, बोधियङ्गणादीनि असम्मट्ठानेव होन्ति, अनुपट्ठापितं पानीयं परिभोजनीयं। तत्रायं 'गोचरगामं पिण्डाय चरिस्सामा' ति पत्तचीवरं आदाय निक्खन्तो सचे पस्सति वत्तं वा अकतं, पानीयघटं वा रित्तं, अथानेन वत्तं कातब्बं होति, पानीयं उपट्ठापेतब्बं। अकरोन्तो वत्तभेदे दुक्कटं आपज्जति, करोन्तस्स कालो अतिक्कमति, अतिदिवा पविट्ठो निट्ठिताय भिक्खाय किञ्चि न लभति। पटिसल्लानगतो पि सामणेरदहरभिक्खूनं उच्चासद्देन सङ्घकम्मेहि च विक्खिपति। (१)

यत्थ पन सब्बं वत्तं कतमेव होति, अवसेसा पि च सङ्घट्टना नत्थि। एवरूपे महाविहारे पि विहातब्बं।

नवविहारे बहु नवकम्मं होति, अकरोन्तं उज्झायन्ति। (२)

के समीप होना, (५) प्याऊ, (६) पत्ते, (७) फूल, (८) फल के समीप होना, (९) पर्वत-शिखर पर होना[1], (१०) नगर के समीप होना, (११) काष्ठ (ऐसे वृक्ष जिनसे ईंधन प्राप्त होता है) के समीप होना, (१२) खेत के समीप होना, (१३) बेमेल (=विरोधी) व्यक्तियों का होना, (१४) यात्रियों के विश्रामस्थल के पास होना, (१५) म्लेच्छ (गन्दे लोगों के) देश के पास होना, (१६) राज्य की सीमा के पास होना, (१७) अननुकूलता एवं (१८) कल्याणमित्रों का न मिलना। इन अट्ठारह दोषों में से किसी से भी युक्त विहार अननुरूप कहा जाता है। वहाँ साधनाभ्यास नहीं करना चाहिये।

किसलिये?

(१) **महाविहार** में बहुत से नाना प्रकार की अभिरुचियों वाले लोग रहते हैं। वे पारस्परिक विरोध के चलते करणीय (विहार में चैत्य और बोधिवृक्ष के पास झाड़ू लगाना, घड़े में जल रखना आदि) नहीं करते। बोधि-वृक्ष के आँगन आदि विना झाड़े-बुहारे ही रह जाते हैं, नहाने-धोने का जल भी नहीं भरा गया रहता है। ऐसी स्थिति में वहाँ 'गोचर (=जहाँ भिक्षा माँगनी हो, ऐसे) ग्राम में भिक्षाटन करूँगा' इस प्रकार सोचकर निकलते हुए यदि वह देखता है कि करणीय नहीं किया गया है या जल का घड़ा खाली पड़ा है, तो उसे वह करणीय करना पड़ता है, जल भरना पड़ता है। न करने पर व्रतभङ्ग होने से दुष्कृत (=दुक्कट) होता है; और करने पर समय अतिक्रान्त जाता है। दिन चढ़े ग्राम में प्रवेश करने पर भिक्षा में कुछ नहीं मिलता। एकान्त में ध्यान करते समय भी श्रामणेरों और तरुण भिक्षुओं के जोर जोर से बोलने और सङ्घ के कार्यों से उसका चित्त विक्षिप्त होता है।

किन्तु जहाँ सभी करणीय पूरे कर लिये जाते हों और जहाँ विक्षोभ के अन्य कारण भी न हों, ऐसे महाविहार में ही रहना चाहिये।

(२) **नव (निर्मित) विहार** में बहुत से निर्माण-कर्म करने पड़ते हैं। जो नहीं करता उस पर

---

१. 'पत्थ' का परम्पराप्राप्त अर्थ है पर्वतशिखर। देखें अभि० प०, पृष्ठ १०८। किन्तु भिक्षु ज्ञानमौलि ने 'पत्थनीयता' का अर्थ 'प्रसिद्धि' किया है एवं भिक्षु धर्मरक्षित ने 'पूजनीय स्थान'। —अनु०

यत्थ पन भिक्खू एवं वदन्ति—"आयस्मा यथासुखं समणधम्मं करोतु, मयं नवकम्मं करिस्सामा" ति, एवरूपे विहातब्बं।

जिण्णविहारे पन बहु पटिजग्गितब्बं होति, अन्तमसो अत्तनो सेनासनमत्तं पि अपटिजग्गन्तं उज्झायन्ति, पटिजग्गन्तस्स कम्मट्ठानं परिहायति। (३)

पन्थनिस्सिते महापथविहारे रतिन्दिवं आगन्तुका सन्निपतन्ति। विकाले आगतानं अत्तनो सेनासनं दत्वा रुक्खमूले वा पासाणपिट्ठे वा वसितब्बं होति, पुनदिवसे पि एवमेवा ति कम्मट्ठानस्स ओकासो न होति। यत्थ पन एवरूपो आगन्तुकसम्बाधो न होति, तत्थ विहातब्बं। (४)

सोण्डी नाम पासाणपोक्खरणी होति। तत्थ पानीयत्थं महाजनो समोसरति, नगरवासीनं राजकुलूपकत्थेरानं अन्तेवासिका रजनकम्मत्थाय आगच्छन्ति, तेसं भाजनदारुदोणिकादीनि पुच्छन्तानं असुके च असुके च ठाने ति दस्सेतब्बानि होन्ति, एवं सब्बकालं पि निच्चब्यावटो होति। (५)

यत्थ नानाविधं **साकपण्णं** होति, तत्थस्स कम्मट्ठानं गहेत्वा दिवाविहारं निसिन्नस्सा पि सन्तिके साकहारिका गायमाना पण्णं उच्चिनन्तियो विसभागसद्दसङ्घट्टनेन कम्मट्ठानन्तरायं करोन्ति। (६)

यत्थ पन नानाविधा मालागच्छा सुपुप्फिता होन्ति, तत्रा पि तादिसो येव उपद्दवो।(७)

अन्य भिक्षु क्रोध करते हैं।

किन्तु जहाँ भिक्षु ऐसा कहते हो—"आयुष्मन्! सुखपूर्वक श्रमण धर्म का पालन करें, यह निर्माण–कार्य हम कर लेंगे" तो ऐसे नवविहार में रहना चाहिये।

(३) **जीर्ण–शीर्ण विहार** में सुधारने के लिये बहुत–कुछ हुआ करता है। जो भिक्षु कम से कम अपने शयनासन तक का सुधार नहीं करता, उस पर अन्य भिक्षु क्रोध करते हैं। सुधार करने पर कर्मस्थान की हानि होती है।[1]

(४) **मार्ग के समीप—** मुख्य मार्ग के पास वाले विहार में रात–दिन आगन्तुक आया करते हैं। असमय मे आने वालो को अपना शयनासन देकर पेड़ के नीचे या किसी प्रस्तर–शिला पर रहना पड़ता है। हो सकता है दूसरे दिन भी ऐसा ही हो जाय। इस प्रकार कर्मस्थान के लिये समय नहीं बच पाता। किन्तु जहाँ इस प्रकार आगन्तुकों की भीड़–भाड़ न हो, वहाँ रहना चाहिये।

(५) **सोण्डी—** पाषाण–पुष्करिणी (=पहाड़ी प्राकृतिक जलाशय) को 'सोण्डी' कहते हैं। वहाँ जल के लिये बहुत से लोग आते रहते हैं, नगरवासी या राजघरानों द्वारा प्रश्रयप्राप्त स्थविरों के शिष्यगण वस्त्रों की रँगाई के लिये आते हैं। जब ये पूछते हैं कि बर्तन, लकड़ी, द्रोणिका (=रँगाई के लिये कुण्डी) आदि कहाँ है? तब उन्हें 'यहाँ है, वहाँ है' इस प्रकार दिखलाना पड़ता है। इस प्रकार वह लोगों से निरन्तर घिरा रहता है।

(६) **पत्र—** जहाँ अनेक प्रकार के साग–पात के पौधे होते हैं, वहाँ जब यह भिक्षु कर्मस्थान ग्रहण कर दिन में साधना के लिये बैठता है, तब भी उसके आस–पास साग तोड़ने वाली स्त्रियाँ गाती हुई, पत्ते तोड़ती हुई विपरीत (स्त्रियों का दर्शन, शब्द–श्रवण आदि भिक्षु के लिये अनुपयुक्त=विपरीत) शब्दों से कर्मस्थान में विघ्न करती हैं।

---

१. जीर्ण विहार में भी जहाँ भिक्षु इस प्रकार कहते हों— "आयुष्मन्! सुखपूर्वक श्रमणधर्म का पालन करें, हम सुधार कर लेंगे" तो, ऐसे में रहना चाहिये—यह भी विधि प्राप्त होती है, परन्तु पहले कह दी जाने से यहाँ पुनः नही कही गयी। — अनु०।

यत्थ नानाविधं अम्बजम्बुपनसादिफलं होति, तत्थ फलत्थिका आगन्त्वा याचन्ति, अदेन्तस्स कुज्झन्ति, बलक्कारेन वा गण्हन्ति। सायन्हसमये विहारमज्झे चङ्कमन्तेन ते दिस्वा "किं, उपासका, एवं करोथा" ति वुत्ता यथारुचि अक्कोसन्ति। अवासाय पिस्स परक्कमन्ति।(८)

पत्थनीये पन लेणसम्मते दक्खिणगिरि-हत्थिकुच्छि-चेतियगिरि-चित्तलपब्बत-सदिसे विहारे विहरन्तं 'अयमरहा' ति सम्भावेत्वा वन्दितुकामा मनुस्सा समन्ता ओसरन्ति, तेनस्स न फासु होति। (९)

यस्स पन तं सप्पायं होति, तेन दिवा अञ्ञत्र गन्त्वा रत्तिं वसितब्बं।

नगरसन्निस्सिते विसभागारम्मणानि आपाथमागच्छन्ति, कुम्भदासियो पि घटेहि निघंसन्तियो गच्छन्ति, ओक्कमित्वा मग्गं न देन्ति, इस्सरमनुस्सा पि विहारमज्झे साणिं परिक्खिपित्वा निसीदन्ति। (१०)

दारुसन्निस्सये पन यत्थ कट्ठानि च दब्बूपकरणरुक्खा च सन्ति, तत्थ कट्ठहारिका पुब्बेवुत्तसाकपुप्फहारिका विय अफासुं करोन्ति, 'विहारे रुक्खा सन्ति, ते छिन्दित्वा घरानि करिस्सामा' ति मनुस्सा आगन्त्वा छिन्दन्ति। सचे सायन्हसमयं पधानघरा निक्खमित्वा विहारमज्झे चङ्कमन्तो ते दिस्वा "किं उपासका एवं करोथा" ति वदति, यथारुचि अक्कोसन्ति, अवासाय पिस्स परक्कमन्ति। (११)

यो पन **खेत्तसन्निस्सितो** होति समन्ता खेत्तेहि परिवारितो, तत्थ मनुस्सा

---

(७) **पुष्प**— जहाँ नाना प्रकार के लता-गुल्म फूले हुए होते हैं, वहाँ भी उक्त प्रकार का उपद्रव होता है।

(८) **फल**— जहाँ अनेक प्रकार के आम, जामुन, कटहल आदि फल वृक्ष होते हैं, वहाँ फल चाहने वाले आकर माँगते हैं; न देने पर क्रुद्ध होते हैं या बलपूर्वक ले लेते हैं। सायंकाल जब वह विहार के बीच चंक्रमण करते हुए, उन्हें देखकर—'उपासको! ऐसा क्यों कर रहे हो' कहता है तो वे उसे मन से कोसते हैं। उसे उस विहार से हटा देने का भी प्रयत्न करते हैं।

(९) **पर्वत-स्थल में**— दक्षिणगिरि, हस्तिकुक्षि, चैत्यगिरि, चित्तल पर्वत जैसी गुफाओं के समान (बने) विहार में साधना करने वाले को 'यह अर्हत् है' इस सम्भावना से, प्रणाम करने की इच्छा वाले लोग चारों ओर से आते हैं, जिससे उसकी साधना में असुविधा होती है।

किन्तु जिसके लिये यह सुविधाजनक हो उसे, दिन में अन्यत्र जाकर, रात में ऐसे स्थान पर रहना चाहिये।

(१०) **नगर के समीप** (विहार में)— विपरीत आलम्बन (—स्त्री आदि) मार्ग में आ जाते हैं। घड़ा लेकर चलने वाली दासियाँ (=पनिहारिनें) भी घड़ों से रगड़ती हुई जाती हैं, बीच में आकर उसे मार्ग नहीं देतीं। ऐश्वर्यवाली पुरुष विहार के बीच टाट बिछाकर बैठ जाते हैं।

(११) **लकड़ियों के पास**— जहाँ लकड़ियाँ और लकड़ी के सामान बनाने योग्य वृक्ष होते हैं, लकड़हारिनें पूर्वोक्त साग और फूल तोड़ने वालियों के ही समान असुविधा उत्पन्न करती हैं; 'विहार में वृक्ष है, उन्हें काटकर घर बनायेंगे' ऐसा सोचकर मनुष्य आकर वृक्ष काटते हैं। यदि सायङ्काल समाधि-कक्ष से निकलकर विहार के बीच चंक्रमण करते हुए उन्हें देखकर वह—'उपासको, ऐसा क्यों करते हो'—ऐसा कहता है, तो वे उसे जैसे मन में आता है वैसे कोसते हैं, उसे वहाँ से हटाने का भी प्रयत्न करते हैं।

विहारमज्झेयेव खलं कत्वा धञ्ञं मद्दन्ति, पमुखेसु सयन्ति, अञ्ञं पि बहुं अफासुं करोन्ति। यत्रापि महासङ्घभोगो होति, आरामिका कुलानं गावो रुन्धन्ति, उदकवारं परिसेधेन्ति, मनुस्सा वीहिसीसं गहेत्वा "पस्सथ तुम्हाकं आरामिकानं कम्मं" ति सङ्घस्स दस्सेन्ति। तेन तेन कारणेन राजराज-महामत्तानं घरद्वारं गन्तब्बं होति। अयं पि खेत्तसन्निस्सितेनेव सङ्गहितो। (१२)

विसभागानं पुग्गलानं अत्थिता ति। यत्थ अञ्ञमञ्ञं विसभागवेरी भिक्खू विहरन्ति, ये कलहं करोन्ता "मा, भन्ते, एवं करोथा" ति वारियमाना "एतस्स पंसुकूलिकस्स आगतकालतो पट्ठाय नट्ठम्हा" ति वत्तारो भवन्ति। (१३)

यो पि **उदकपट्टनं वा थलपट्टनं** वा निस्सितो होति, तत्थ अभिण्हं नावाहि च सत्थेहि च आगतमनुस्सा 'ओकासं देथ, पानीयं, लोणं देथा' ति घट्टयन्ता अफासुं करोन्ति।(१४)

पच्चन्तसन्निस्सिते पन मनुस्सा बुद्धादीसु अप्पसन्ना होन्ति। (१५)

रज्जसीमसन्निस्सिते राजभयं होति। तं हि पदेसं एको राजा 'न मय्हं वसे वत्तती' ति पहरति, इतरो पि 'न मय्हं वसे वत्तती' ति। तत्रायं भिक्खु कदाचि इमस्स रञ्ञा विजिते विचरति, कदाचि एतस्स। अथ नं 'चरपुरिसो अयं' ति मञ्ञमाना अनयब्यसनं पापेन्ति।(१६)

असप्पायता ति। विसभागरूपादिआरम्मणसमोसरणेन वा अमनुस्सपरिग्गहिताय वा असप्पायता। तत्रिदं वत्थु—एको किर थेरो अरञ्ञे वसति। अथस्स एका यक्खिनी

---

(१२) **खेत के समीप**— जो विहार खेतों से चारों ओर से घिरा हुआ होता है, वहाँ मनुष्य विहार के बीच में ही ऊखल (=जिसमें अनाज का कूटा जाता है) बनाकर धान कूटते हैं, ओसारों में पसारते हैं और भी बहुत प्रकार से उद्विग्न करते हैं। जहाँ भी सङ्घ की महती सम्पत्ति होती है, वहाँ विहार में रहने वाले लोग गृहस्थ कुलों की गायों को घुसने नही देते, पानी की बारी का निषेध करते हैं। लोग सूखते हुए धान की बालियों को सिरो से पकड़कर "देखिये अपने विहारवासियो की करतूत!" इस प्रकार सङ्घ को दिखाते हैं। इस-उस कारण से राजा, राजमन्त्रियों के घर जाना पड़ता है—यह भी 'खेत के समीप विहार' में ही संगृहीत है।

(१३) **विपरीत (=विरोधी) व्यक्तियों का रहना**— जहाँ परस्पर विरोधी, वैरी भिक्षु रहते हैं, जो कि कलह करने पर यदि "भन्ते, ऐसा मत करिये" इस प्रकार रोके जाते हैं तो "इस पांशुकूलिक के आते ही हम तो विनष्ट हो गये!"—ऐसा झल्लाहट के कारण कहते हैं।

(१४) **बन्दरगाह या विश्रामालय** के पास जो विहार होता है, वहाँ रात-दिन नाव से या सार्थ (=काफिले) के साथ आये हुए लोग "स्थान दीजिये, जल दीजिये, नमक दीजिये" इस प्रकार धक्कामुक्की करते हुए साधना में व्यवधान करते रहते हैं।

(१५) **सीमावर्ती विहार में**— लोग बुद्ध आदि के प्रति श्रद्धा नहीं रखते (सम्भवतः इसलिये कि वे सीमा के पार रहने वाले विधर्मियो के सम्पर्क में आते हैं) अतः वहाँ भी नहीं रहना चाहिये।

(१६) **राज्य की सीमा के समीप विहार में**—राजा का भय होता है। उस प्रदेश पर एक राजा "यह क्षेत्र मेरे वश में क्यों नहीं रहता" ऐसा सोचकर आक्रमण करता है तो दूसरा भी 'मेरे वश में क्यों नहीं रहता' ऐसा सोचकर। वहाँ यह भिक्षु कभी इस राजा के विजित क्षेत्र में विचरता है तो कभी उसके। अतः इसे 'यह गुप्तचर है' ऐसा मानकर प्रताडित करते है।

पण्णसालद्वारे ठत्वा गायि। सो निक्खमित्वा द्वारे अट्ठासि। सा गन्त्वा चङ्कमनसीसे गायि। थेरो चङ्कमनसीसं अगमासि। सा सतपोरिसे पपाते ठत्वा गायि। थेरो पटिनिवत्ति। अथ नं सा वेगेन गहेत्वा "मया, भन्ते, न एको न द्वे तुम्हादिसा खादिता" ति आह। (१७)

कल्याणमित्तानं अलाभो ति। यत्थ न सक्का होति आचरियं वा आचरियसमं वा उपज्झायं वा उपज्झायसमं वा कल्याणमित्तं लद्धुं। तत्थ सो कल्याणमित्तानं अलाभो महादोसो येवा ति। इमेसं अट्ठारसन्नं दोसानं अञ्ञतरेन समन्नागतो अननुरूपो ति वेदितब्बो। (१८)

वुत्तं पि चेतं **अट्ठकथासु**—

"महावासं नवावासं जरावासं च पन्थनिं।
सोण्डिं पण्णं च पुप्फं च फलं पत्थितमेव च॥
नगरं दारुना खेत्तं विसभागेन पट्टनं।
पच्चन्तसीमासप्पायं यत्थ मित्तो न लब्भति॥
अट्ठरसेतानि ठानानि इति विञ्ञाय पण्डितो।
आरका परिवज्जेय्य मग्गं सप्पटिभयं यथा" ति॥

अनुरूपविहारो

३. यो पन गोचरगामतो नातिदूरनाच्चासन्नतादीहि पञ्चहि अङ्गेहि सपन्नागतो, अयं अनुरूपो नाम। वुत्तं हेतं भगवता—"कथं च, भिक्खवे, सेनासनं पञ्चङ्गसमन्नागतं होति?

---

(१७) **अनुपयुक्तता**— विपरीतरूप (=स्त्री आदि) आलम्बनों के संयोग के कारण या अमनुष्यों (यक्ष आदि) के द्वारा परिगृहीत होने के कारण प्रतिकूलता।

इस प्रसङ्ग में यह कथा है—कहते हैं कि एक स्थविर जङ्गल में रहते थे। उस समय एक यक्षिणी ने उनके द्वार पर खड़े होकर एक गीत गाया तो वे निकल कर द्वार पर आ खड़े हुए। तब उसने जाकर चंक्रमण (=स्थल) के छोर पर गाया। स्थविर चंक्रमणस्थल के छोर पर आये। फिर उसने सौ पोरसा गहरे (जल—) प्रपात में खड़े होकर गाया। स्थविर लौटने लगे। तब उसने दौड़कर उन्हें पकड़ कर कहा—"भन्ते, मैंने तुम्हारे जैसे न एक, न दो को अर्थात् बहुतों को खाया है।"

(१८) **कल्याणमित्रों का न मिलना**— जहाँ आचार्य या आचार्य के समान उपाध्याय या उपाध्याय के समान कल्याणमित्रों को मिलना सम्भव न हो। उसमें भी कल्याणमित्रों का न मिलना तो महादोष ही है।

इन अट्ठारह दोषों में से किसी एक से भी युक्त स्थान को अनुपयुक्त जानना चाहिये॥

अट्ठकथाओं में यह कहा भी गया है—

"महा आवास (=विहार), नव आवास, जीर्ण आवास, मार्ग के समीप वाला, सोण्डी, पत्ते, फूल, फल से युक्त, पर्वतशिखर पर स्थित, नगर के समीप, लकड़ियों के पास, खेत के पास, विरोधियों से युक्त, यात्री विश्रामस्थल, सीमावर्ती देश, राज्य की सीमा पर स्थित, अननुकूल, जहाँ कल्याणमित्र न मिलें- इन अट्ठारह स्थानों को इस प्रकार दोष से युक्त जानकर पण्डितजन इनका भयावह मार्ग के समान दूर से ही परित्याग कर दें॥

अनुरूप (अनुकूल) विहार

३. जो (विहार) 'गोचर–ग्राम से न बहुत दूर, न बहुत पास' आदि पाँच अङ्गों से युक्त होता है, वह अनुरूप कहा जाता है। क्योंकि भगवान् ने भी यह कहा है—"भिक्षुओ! किस प्रकार का

इध,भिक्खवे, सेनासनं नातिदूरं होति नाच्चासन्नं गमनागमनसम्पन्नं, दिवा अप्पाकिण्णं रत्तिं अप्पसद्दं अप्पनिग्घोसं, अप्पडंसमकसवातातपसरीसपसम्फस्सं होति, तस्मिं खो पन सेनासने विहरन्तस्स अप्पकसिरेनेव उप्पज्जन्ति चीवरपिण्डपातसेनासनगिलानपच्चयभेसज्जपरिक्खारा, तस्मिं खो पन सेनासने थेरा भिक्खू विहरन्ति बहुस्सुता आगतागमा धम्मधरा विनयधरा मातिकाधरा, ते कालेन कालं उपसङ्कमित्वा परिपुच्छति परिपञ्हति— 'इदं, भन्ते, कथं, इमस्स को अत्थो ?' ति, तस्स ते आयस्मन्तो अविवटं चेव विवरन्ति, अनुत्तानीकतं च उत्तानीकरोन्ति, अनेकविहितेसु च कङ्खट्ठानियेसु धम्मेसु कङ्खं पटिविनोदेन्ति। एवं खो, भिक्खवे, सेनासनं पञ्चङ्गसमन्नागतं होती'' (अं० ४-११०)ति।

अयं ''समाधिभावनाय अननुरूपं विहारं पहाय अनुरूपे विहारे विहरन्तेना'' ति एत्थ वित्थारो॥

खुद्दकपलिबोधा

४.**खुद्दकपलिबोधुपच्छेदं कत्वा** ति। एवं पतिरूपे विहारे विहरन्तेन ये पिस्स ते होन्ति खुद्दकपलिबोधा, ते पि उपच्छिन्दितब्बा। सेय्यथीदं—दीघानि केसनखलोमानि छिन्दितब्बानि। जिण्णचीवरेसु दळ्हीकम्मं वा तुन्नकम्मं वा कातब्बं। किलिट्ठानि वा रजितब्बानि। सचे पत्ते मलं होति, पत्तो पचितब्बो। मञ्चपीठादीनि सोधेतब्बानी ति।

अयं 'खुद्दकपलिबोधुपच्छेदं कत्वा' ति एत्थ वित्थारो॥

भावनाविधिकथा

५. इदानि **सब्बं भावनाविधानं अपरिहापेन्तेन भावेतब्बो** ति। एत्थ अयं पथवीकसिणं आदिं कत्वा सब्बकम्मट्ठानवसेन वित्थारकथा होति। एवं उपच्छिन्नखुद्दकपलि-

---

शयनासन पाँच अङ्गों से युक्त होता है? यहाँ, भिक्षुओ! १. (कोई-कोई) शयनासन न तो बहुत दूर होता है, न बहुत पास; आवागमन (की सुविधा) से सम्पन्न होता है; दिन में बहुत अधिक भीड़-भाड़ नहीं होती और रात में कोलाहल कम होता है; डंस, मच्छर, आँधी-तूफान, धूप, साँप-विच्छू आदि (=सरीसृप) का उपद्रव कम होता है; २. उस शयनासन में विहार करने वाले को चीवर, भोजन, औषधि और पथ्य अनायास मिल जाया करते हैं; ३. उस शयनासन में स्थविर भिक्षु विहार करते हैं जो बहुश्रुत, आगमों में पारङ्गत, धर्मधर, विनयधर एवं मातृकाधर होते हैं। ४. उनके पास समय-समय पर जाकर वह पूछता है—"भन्ते, यह कैसे होता है? इसका क्या अर्थ है?" ५. उसके लिये वे आयुष्मान् ढँके हुए को उघाड़ देते हैं, अस्पष्ट को स्पष्ट कर देते है और शङ्का उत्पन्न करने वाले अनेक धर्मों के बारे में शङ्का दूर कर देते हैं। भिक्षुओ, इस प्रकार शयनासन पाँच अङ्गों से युक्त होता है।। (अं० ४-१००)

यह 'समाधि-भावना के अनुरूप विहार को त्यागकर अनुरूप विहार करते हुए' वाक्यांश की व्याख्या है।।

छोटे-छोटे (=क्षुद्रक) पलिबोध

४. **खुद्दकपलिबोधुपच्छेदं कत्वा**— (छोटे-छोटे परिबोधों का नाश करके- पृ० १२५)—यों अनुरूप विहार में विहरते हुए जो इसके छोटे-छोटे पलिबोध भी हों, उनका भी नाश कर देना चाहिये। जैसे—बढ़े हुए केश, नख, लोमो को काट देना चाहिये। फटे चीवरों को सिलने या पैबन्द लगाने का काम कर लेना चाहिये। वे गन्दे हों तो उन्हें पुनः रँग लेना चाहिये। जो पात्र मैले हों उन्हें (साफ कर) रंग लेना चाहिये। चारपाई, चौकी आदि साफ कर लेनी चाहिये।।

यह 'छोटे-छोटे परिबोधों का नाश करके' की व्याख्या है।

बोधेन हि भिक्खुना पच्छाभत्तं पिण्डपातपटिक्कन्तेन भत्तसम्मदं पटिविनोदेत्वा पविवित्ते ओकासे सुखनिसिन्नेन कताय वा अकताय वा पथविया निमित्तं गण्हितब्बं।

६. वुत्तं हेतं—

"पथवीकसिणं उग्गण्हन्तो पथवियं निमित्तं गण्हाति कते वा अकते वा, सन्तिके नो अन्तके, सकोटिये नो अकोटिये, सवट्टुमे नो अवट्टुमे; सपरियन्ते नो अपरियन्ते, सुप्पमत्ते वा सरावमत्ते वा। सो तं निमित्तं सुग्गहितं करोति, सूपधारितं उपाधारेति, सुववत्थितं ववत्थपेति। सो तं निमित्तं सुग्गहितं कत्वा, सूपधारितं उपधारेत्वा, सुववत्थितं ववत्थपेत्वा, आनिसंसदस्सावी रतनसञ्ञी हुत्वा, चित्तीकारं उपट्ठपेत्वा सम्पियायमानो तस्मिं आरम्मणे चित्तं उपनिबन्धति 'अद्धा इमाय पटिपदाय जरामरणम्हा मुच्चिस्सामी' ति। सो विविच्चेव कामेहि...पे०... पठमं झानं उपसम्पज्ज विहरती" (   )ति।

७. तत्थ येन अतीतभवे पि सासने वा इसिपब्बज्जाय वा पब्बजित्वा पथवीकसिणे चतुक्कपञ्चकज्झानानि निब्बत्तितपुब्बानि, एवरूपस्स पुञ्ञवतो उपनिस्सयसम्पन्नस्स अकताय पथविया कसितट्ठाने वा खलमण्डले वा निमित्तं उप्पज्जति **मल्लकत्थेरस्स** विय। तस्स किरायस्मतो कसितट्ठानं ओलोकेन्तस्स तंठानप्पमाणमेव निमित्तं उदपादि। सो तं वड्ढेत्वा पञ्चकज्झानानि निब्बत्तेत्वा झानपदट्ठानं विपस्सनं पट्ठपेत्वा अरहत्तं पापुणि।

८. यो पनेवं अकताधिकारो होति, तेन आचरियस्स सन्तिके उग्गहितकम्मट्ठानविधानं

भावनाविधान

५. अब, **सब्बं भावनाविधानं अपरिहापेन्तेन भावेतब्बं** (भावनाविधान में से किसी को भी न छोड़ते हुए भावना करनी चाहिये— पृष्ठ १२५)— इस पृथ्वीकसिण से प्रारम्भ कर सभी कर्मस्थानों की व्याख्या की जायगी। इस प्रकार छोटे छोटे परिबोधों का नाश कर चुके, भोजन के पश्चात् भिक्षाटन से लौटे भिक्षु को भोजन से उत्पन्न तन्द्रा को दूरकर, एकान्त स्थान पर सुविधा से बैठकर (मिट्टी से वृत्ताकार) बनाये या न बनाये गये पृथ्वी के निमित्त को ग्रहण करना चाहिये।

६. क्योंकि किसी **प्राचीन टीका** में यह कहा गया है—"पृथ्वीकसिण का उद्ग्रहण (=ग्रहण) करने वाला कृत या अकृत, सान्त न कि अनन्त, कोणसहित न कि कोणरहित, वर्तुलाकार न कि अवर्तुलाकार, सपर्यन्त (=सीमित) न कि अपर्यन्त (=असीमित), सूपमात्र या शरावमात्र परिमाण वाले पृथ्वी–निमित्त का ग्रहण करता है। वह उस निमित्त को भलीभाँति ग्रहण करता है, धारण करता है और मन में सुव्यवस्थित करता है। वह उस निमित्त को भलीभाँति ग्रहण कर, धारण कर, सुव्यवस्थित कर, इसके माहात्म्य को देखने वाला एवं इसे रत्न के समान समझने वाला होकर, उसके प्रति मन में आदर उत्पन्न कर, उसे प्रिय मानते हुए, यह सोच कर कि "अवश्य ही मैं इस मार्ग के सहारे जरामरण से मुक्त हो जाऊँगा" उस आलम्बन में चित्त लगाता है। वह कामनाओं से रहित होकर....पूर्ववत्....प्रथम ध्यान को प्राप्त कर विहरता है।" (   )

७. जिसने पूर्वजन्म में भी (बुद्ध–) शासन में या ऋषि (बुद्ध–) प्रव्रज्या में प्रव्रजित होकर पृथ्वीकसिण में चतुर्थ–पञ्चक ध्यानों को पहले ही प्राप्त कर लिया है, ऐसे पुण्यवान् उपनिश्रयसम्पन्न को (गोलाकार) न बनाये गये पृथ्वीकसिण में (जैसे कि) जोते हुए स्थान (=खेत) में या खलमण्डल (खलिहान) में निमित्त उत्पन्न हो जाता है, **मल्लक स्थविर** के समान। उन आयुष्मान् को जोते गये स्थान को देखते हुए उस स्थान के प्रमाण (=आकार) का ही निमित्त उत्पन्न हुआ। उन्होंने उसका वर्धन कर ध्यानपञ्चक को प्राप्त कर, ध्यान के पदस्थान विपश्यना का अभ्यास कर अर्हत्त्व प्राप्त किया।

अविराधेत्वा चतारो कसिणदोसे परिहन्तेन कसिणं कातब्बं। नील-पीत-लोहित-ओदात-सम्भेदवसेन हि चत्तारो पथवीकसिणदोसा। तस्मा नीलादिवण्णं मत्तिकं अग्गहेत्वा गङ्गावहे मत्तिकासदिसाय अरुणवण्णाय मत्तिकाय कसिणं कातब्बं। तं च खो विहारमज्झे सामणेरादीनं सञ्चरणट्ठाने न कातब्बं। विहारपच्चन्ते पन पटिच्छन्नट्ठाने पब्भारे वा पण्णसालाय वा संहारिमं वा तत्रट्ठकं वा कातब्बं।

तत्र संहारिमं चतूसु दण्डकेसु पिलोतिकं वा चम्मं वा कटसारकं वा बन्धित्वा तत्थ अपनीततिणमूलसक्खरकथलिकाय सुमद्दिताय मत्तिकाय वुत्तप्पमाणं वट्टं लिम्पेत्वा कातब्बं। तं परिकम्मकाले भूमियं अत्थरित्वा ओलोकेतब्बं। तत्रट्ठकं भूमियं पदुमकण्णिकाकारेन खाणुके आकोटेत्वा वल्लीहि विनन्धित्वा कातब्बं। यदि सा मत्तिका नप्पहोति, अधो अञ्ञं पक्खिपित्वा उपरिभागे सुपरिसोधिताय अरुणवण्णाय मत्तिकाय विदत्थिचतुरङ्गुलवित्थारं वट्टं कातब्बं। एतदेव हि पमाणं सन्धाय—"**सुप्पमत्ते वा सरावमत्ते वा**" ति वुत्तं। "सान्तके नो अनन्तके" ति आदि पनस्स परिच्छेदत्थाय वुत्तं।

९. तस्मा एवं वुत्तप्पमाणपरिच्छेदं कत्वा रुक्खपाणिका विसभागवण्णं समुट्ठपेति, तस्मा तं अग्गहेत्वा—पासाणपाणिकाय घंसेत्वा समं भेरीतलसदिसं कत्वा तं ठानं सम्मज्जित्वा न्हात्वा आगन्त्वा कसिणमण्डलतो अड्ढतेय्यहत्थन्तरे पदेसे पञ्ञत्ते विदत्थिचतुरङ्गुलपादके सुअत्थते पीठे निसीदितब्बं। ततो दूरतरे निसिन्नस्स हि कसिणं न उपट्ठाति, आसन्नतरे कसिणदोसा पञ्ञायन्ति। उच्चतरे निसिन्नेन गीवं ओनमित्वा ओलोकेतब्बं होति, नीचतरे जण्णुकानि रुजन्ति।

---

८. किन्तु जो पूर्वजन्म का सुकृत न होने से, अकृताधिकारी है, उसे आचार्य के समीप सीखे गये कर्मस्थान की विधि को भङ्ग न करते हुए, कसिण के चार दोषों को दूर करते हुए कसिण बनाना चाहिये। नील, पीत, लोहित, अवदात भेद के अनुसार पृथ्वीकसिण के चार दोष होते हैं। इसलिये नील आदि वर्ण वाली मिट्टी को न लेकर गङ्गा के स्रोत की मिट्टी के समान अरुण रंग की मिट्टी से कसिण बनाना चाहिये; एवं उसे विहार में ऐसे स्थान पर नहीं बनाना चाहिये जहाँ श्रामणेर आदि इधर उधर घूमते रहते हों; अपितु विहार की सीमा पर स्थित किसी प्रच्छन्न स्थान पर, पब्भार (=छज्जे) के नीचे, पर्णशाला में ले जाया जाने वाला या वहीं रहने वाला पृथ्वीकसिण बनाना चाहिये।

(१) ले जाये जाने वाले कसिण को चार डण्डों में कपड़ा, चमड़ा या चटाई बाँधकर उस पर तृण, जड़, कंकड़ से रहित गूँथी हुई मिट्टी से, कहे गये परिमाण का गोला लीपकर बनाना चाहिये। परिकर्म (=ध्यान के प्राथमिक स्तर) के समय उसे भूमि पर रखकर देखना चाहिये। (२) वहीं रहने वाले को भूमि पर कमल की कर्णिका (=बाहरी आच्छादन) के आकार के खूँटे गाड़कर लताओं से बाँधकर बनाना चाहिये। यदि यह साफ की हुई मिट्टी पर्याप्त न हो, तो नीचे दूसरी मिट्टी डालकर ऊपर अच्छी तरह से साफ की हुई अरुण रंग की मिट्टी से एक बालिश्त चार अङ्गुल विस्तार वाला वृत्त बनाना चाहिये। इसी परिमाण के लिये 'सूपमात्र या शरावमात्र' कहा गया है। 'सान्त, न कि अनन्त' आदि उसकी सीमा के निर्धारण के लिये कहा गया है।

९. अतः इस प्रकार कथित परिमाण का वृत्त बनाकर; क्योंकि कुचन्दन आदि वृक्ष की लकड़ी से बनी हुई पाणिका (=एक प्रकार का चम्मच) रंग को विपरीत (लाल) कर देती है, अतः उसे न लेकर पत्थर की पाणिका से घिसकर समतल, नगाड़े के तले जैसा करके, उस स्थान को झाड़कर नहाने के बाद आकर कसिणमण्डल से ढाई हाथ की दूर पर बिछी हुई चार अङ्गुल के पायों वाली

१०. तस्मा वुत्तनयेनेव निसीदित्वा "अप्पस्सादा कामा" ति आदिना नयेन कामेसु आदीनवं पच्चवेक्खित्वा कामनिस्सरणे सब्बदुक्खसमतिक्कमस्स उपायभूते नेक्खम्मे जाताभिलासेन बुद्ध-धम्म-सङ्घगुणानुस्सरणेन पीतिपामोज्जं जनयित्वा "अयं दानि सा सब्बबुद्ध-पच्चेकबुद्ध-अरियसावकेहि पटिपन्ना नेक्खम्मपटिपदा" ति पटिपत्तिया सञ्जातगारवेन "अद्धा इमाय पटिपदाय पविवेकसुखरसस्स भागी भविस्सामी" ति उस्साहं जनयित्वा समेन आकारेन चक्खूनि उम्मीलेत्वा निमित्तं गण्हन्तेन भावेतब्बं।

११. अतिउम्मीलयतो हि चक्खु किलमति, मण्डलं च अतिविभूतं होति, तेनस्स निमित्तं नुप्पज्जति। अतिमन्दं उम्मीलयतो मण्डलं अविभूतं होति, चित्तं च लीनं होति, एवं पि निमित्तं नुप्पज्जति। तस्मा, आदासतले मुखनिमित्तदस्सिना विय, समेन आकारेन चक्खूनि उम्मीलेत्वा निमित्तं गण्हन्तेन भावेतब्बं।

न वण्णो पच्चवेक्खितब्बो, न लक्खणं मनसि कातब्बं। अपि च—वण्णं अमुञ्चित्वा निस्सयसवण्णं कत्वा उस्सदवसेन पण्णत्तिधम्मे चित्ते पट्ठपेत्वा मनसि कातब्बं। पथवी, मही, मेदिनी, भूमि, वसुधा, वसुन्धरा ति आदीसु पथवीनामेसु यं इच्छति, यदस्स सञ्ञानुकूलं होति, तं वत्तब्बं। अपि च 'पथवी' ति एतदेव नामं पाकटं, तस्मा पाकटवसेनेव 'पथवी', 'पथवी' ति भावेतब्बं। कालेन उम्मीलेत्वा कालेन निम्मीलेत्वा आवज्जितब्बं। याव उग्गहनिमित्तं नुप्पज्जति, ताव कालसतं पि कालसहस्सं पि ततो भिय्यो पि एतेनेव नयेन भावेतब्बं।

चौकी (पीठ) पर बैठना चाहिये। उससे अधिक दूर पर बैठने वाले के लिये कसिण समीप नहीं रह पाता; और उससे अधिक पास बैठने पर कसिण के दोष दिखायी देने लगते हैं। इसी तरह उससे अधिक ऊँचाई पर बैठने पर गर्दन झुका कर देखना पड़ता है या उससे अधिक नीचे बैठने पर घुटने दुखने लगते हैं।

१० अतः पूर्वोक्त विधि से साढ़े तीन हाथ वाले परिमाण के प्रदेश में चार बालिस्त चौड़े पीठ पर बैठकर "कामभोग अल्पस्वाद हैं" आदि प्रकार से कामनाओं के दोष का प्रत्यवेक्षण करते हुए, काम के निःसरण एवं समस्त दुःखों के समतिक्रमण के उपायस्वरूप निष्क्रमण (=ध्यान) के अभिलाषी को बुद्ध, धर्म, सङ्घ के गुण-स्मरणों द्वारा प्रीतिप्रामोद्य उत्पन्न कर "यही वह सर्वबुद्ध, प्रत्येकबुद्ध, अर्हत्, श्रावकों द्वारा प्रतिपन्न निष्क्रमण मार्ग है"—यों विचार करते हुए प्रतिपत्ति के प्रति गौरव करते हुए "अवश्य ही इस प्रतिपत्ति से एकान्त सुख के रस का भागी बनूँगा" इस प्रकार उत्साह उत्पन्न कर, सामान्य ढंग से आँखें खोलकर निमित्त का ग्रहण करते हुए भावना करनी चाहिये।

११ क्योंकि अधिक खोलने से आँख थक जाती है, मण्डल भी बहुत अधिक स्पष्ट हो जाता है, इस लिये इसे निमित्त नहीं उत्पन्न होता। बहुत कम खोलने से मण्डल अस्पष्ट होता है और चित्त भी अलसाया सा रहता है, अतः इस प्रकार भी निमित्त उत्पन्न नहीं होता। इसलिये दर्पण के तल में मुख की प्रतिच्छवि देखने वाले के समान, सामान्य ढंग से आँखें खोलकर निमित्त का ग्रहण करते हुए भावना करनी चाहिये। न वर्ण का प्रत्यवेक्षण करना चाहिये, न लक्षण को मन में लाना चाहिये। साथ ही, ध्यान में वर्ण को न छोड़ते हुए, आधार कसिण की वर्ण के अनुकूल भावना करते हुए प्रमुखतः प्रज्ञप्तिधर्म में चित्त को स्थापित कर मन में ले आना चाहिये। पृथ्वी, मही, मेदिनी, भूमि, वसुधा, वसुन्धरा आदि पृथ्वी के नामों में जिसे वह चाहे, जो उसकी संज्ञा (=चेतना) के अनुकूल हो, उसका उच्चारण करना चाहिये। फिर भी 'पृथ्वी'—यही नाम सरल है, अतः सरलता के कारण 'पृथ्वी',

१२. तस्सेवं भावयतो यदा निम्मीलेत्वा आवज्जन्तस्स उम्मीलितकाले विय आपाथं आगच्छति, तदा उग्गहनिमित्तं जातं नाम होति। तस्स जातकालतो पट्ठाय न तस्मिं ठाने निसीदितब्बं। अत्तनो वसनट्ठानं पविसित्वा तत्थ निसिन्नेन भावेतब्बं। पादधोवनपपञ्चपरिहारत्थं पनस्स एकपटलिकुपाहना च कत्तरदण्डो च इच्छितब्बो। अथानेन सचे तरुणो समाधि केनचिदेव असप्पायकारणेन नस्सति, उपाहना आरुय्ह कत्तरदण्डं गहेत्वा तं ठानं गन्त्वा निमित्तं आदाय आगन्त्वा सुखनिसिन्नेन भावेतब्बं, पुनप्पुनं समन्नाहरितब्बं, तक्काहतं वितक्काहतं कातब्बं।

तस्स एवं करोन्तस्स अनुक्कमेन नीवरणानि विक्खम्भन्ति, किलेसा सन्निसीदन्ति, उपचारसमाधिना चित्तं समाधियति, पटिभागनिमित्तं उप्पज्जति।

१३. तत्रायं पुरिमस्स च उग्गहनिमित्तस्स इमस्स च विसेसो—उग्गहनिमित्ते कसिणदोसो पञ्ञायति। पटिभागनिमित्तं थविकतो नीहटादासमण्डलं विय सुधोतसङ्खथालं विय वलाहकन्तरा निक्खन्तचन्दमण्डलं विय, मेघमुखे बलाका विय, उग्गहनिमित्तं पदालेत्वा निक्खन्तमिव ततो सतगुणं सहस्सगुणं सुपरिसुद्धं हुत्वा उपट्ठाति। तं च खो नेव वण्णवन्तं, न सण्ठानवन्तं। यदि हि तं ईदिसं भवेय्य, चक्खुविञ्ञेय्यं सिया ओळारिकं सम्मसनूपगं तिलक्खणब्भाहतं। न पनेतं तादिसं। केवलं हि समाधिलाभिनो उपट्ठानकारमत्तं सञ्ञजमेतं ति।

'पृथ्वी'—इस प्रकार ही भावना करनी चाहिये। कुछ देर आँखें खोलकर तो कुछ देर बन्द करके निरीक्षण—मनन करते रहना चाहिये। जब तक उद्ग्रहण—निमित्त उत्पन्न नहीं हो जाता, तब तक इसी विधि से सौ बार, हजार बार या उससे भी अधिक बार भावना करनी चाहिये।

१२. उसके इस प्रकार भावना करते रहने पर, जब उसे आँखें बन्द करके मनन करने पर आँखें खुली रहने के समय के जैसा ही निमित्त स्पष्ट रूप से दिखायी देने लगे तब समझना चाहिये कि उद्ग्रह—निमित्त उत्पन्न हो गया। उसके उत्पन्न हो जाने के समय से उस स्थान पर नहीं बैठना चाहिये। अपने निवासस्थान में प्रवेश कर वहाँ बैठ कर भावना करनी चाहिये। पैर धोने के सङ्कट से बचने के लिये यदि इसके पास एक पैरों को ढँकने वाला जूता और एक छड़ी हो तो अच्छा है। एवं यदि इसकी तरुण (=नवोदित) समाधि किसी भी प्रतिकूल कारण से नष्ट हो जाती है तो जूता पहन कर छड़ी लेकर उस स्थान पर जाकर निमित्त को लेकर फिर आकर सुखपूर्वक बैठकर ही भावना करनी चाहिये, पुनः पुनः ध्यान करना चाहिये, तर्क—वितर्क करना चाहिये।

ऐसा करते रहने पर उसके नीवरण क्रमशः दूर हो जाते हैं, क्लेश बैठ (=दब) जाते हैं, उपचारसमाधि द्वारा चित्त समाहित हो जाता है (एवं) प्रतिभागनिमित्त (=कसिणमण्डल के बराबर परिशुद्ध, वैसा ही निमित्त) उत्पन्न होता है।

१३. पहले के उस उद्ग्रहनिमित्त और इस प्रतिभागनिमित्त में यह अन्तर है—उद्ग्रहनिमित्त में कसिण का दोष जान पड़ता है। किन्तु प्रतिभागनिमित्त खोली में से निकाले गये गोलाकार दर्पण के समान, सीप से बनायी गयी थाली के समान, बादलों के बीच से निकले चन्द्रमण्डल के समान, मेघों के बीच बलाका (=बगुले) के समान प्रभास्वर; उद्ग्रहनिमित्त को भेदकर निकलते हुए के समान उस उद्ग्रहनिमित्त से सौ गुना, हजार गुना परिशुद्ध रूप में प्रतीत होता है। और वह भी न तो रंग के साथ, न संस्थान (=आकृति) के साथ। यदि वह ऐसा न भी हो तो आँखों से ज्ञान होने योग्य, स्थूल, पकड़ने

उप्पन्नकालतो च पनस्स पट्ठाय नीवरणानि विक्खम्भितानेव होन्ति, किलेसा सन्निसिन्ना व, उपचारसमाधिना चित्तं समाहितमेवा ति।

१४. दुविधो हि समाधि—उपचारसमाधि च, अप्पनासमाधि च। द्वीहाकारेहि चित्तं समाधियति—उपचारभूमियं वा, पटिलाभभूमियं वा। तत्थ उपचारभूमियं नीवरणप्पहानेन चित्तं समाहितं होति, पटिलाभभूमियं अङ्गपातुभावेन।

१५. द्विन्नं पन समाधीनं इदं नानाकरणं—उपचारे अङ्गानि न थामजातानि होन्ति। अङ्गानं अथामजातत्ता यथा नाम दहरो कुमारको उक्खिपित्वा ठपियमानो पुनप्पुनं भूमियं पतति; एमेव उपचारे उप्पन्ने चित्तं कालेन निमित्तं आरम्मणं करोति, कालेन भवङ्गं ओतरति। अप्पनायं पन अङ्गानि थामजातानि होन्ति। तेसं थामजातत्ता यथा नाम बलवा पुरिसो आसना वुट्ठाय दिवसं पि तिट्ठेय्य, एवमेव अप्पनासमाधिम्हि उप्पन्ने चित्तं सकिं भवङ्गवारं छिन्दित्वा केवलं पि दिवसं तिट्ठति। कुसलजवनपटिपाटिवसेनेव पवत्तती ति।

तत्र यदेतं उपचारसमाधिना सद्धिं पटिभागनिमित्तं उप्पन्नं, तस्स उप्पादनं नाम अतिदुक्करं। तस्मा सचे तेनेव पल्लङ्केन तं निमित्तं वड्ढेत्वा अप्पनं अधिगन्तुं सक्कोति, सुन्दरं। नो चे सक्कोति, अथानेन तं निमित्तं अप्पमत्तेन चक्कवत्तिगब्भो विय रक्खितब्बं। एवं हि—

निमित्तं रक्खतो लद्धपरिहानि न विज्जति।
आरक्खम्हि असन्तम्हि लद्धं लद्धं विनस्सति॥

योग्य, तीन लक्षणों (अनित्य, दुःख, अनात्म) से युक्त हो। किन्तु वह ऐसा नहीं होता। केवल समाधि के लाभी को ही प्रतीत आकारमात्र ज्ञात होता है। इसके उत्पन्न होने के समय से ही उस (भिक्षु) के नीवरण अवरुद्ध ही होते हैं, क्लेश भी दबे हुए ही रहते हैं एवं चित्त उपचारसमाधि से समाहित ही हुआ करता है।

समाधि के प्रकार (=भेद)

१४. समाधि द्विविध होती है– १. उपचारसमाधि एवं २. अर्पणासमाधि। दो प्रकार से चित्त समाहित होता है–उपचारभूमि में (=उपचार की अवस्था में) या प्रतिलाभ (ध्यान–प्राप्ति) की भूमि में। इनमें, उपचार–भूमि में नीवरणप्रहाण से चित्त समाहित होता है और प्रतिलाभ–भूमि में ध्यान अङ्गों के प्रकट होने से।

१५. दोनों समाधियों में यह अन्तर है–उपचारावस्था में अङ्गभावना बल द्वारा सबल अर्थात् स्थिर नहीं होते। अङ्गों के सबल न होने से–जैसे कि कोई छोटा बच्चा उठकर खड़ा होने पर भी बार बार भूमि पर गिर पड़ता है, ऐसे ही उपचार के उत्पन्न होने पर चित्त कभी निमित्त का आलम्बन करता है तो कभी भवङ्ग में उत्तर जाता है। किन्तु अर्पणा में अङ्ग सबल होते हैं। उनकी सबलता से–जैसे कोई बलवान् पुरुष आसन से उठकर पूरे दिन भर खड़ा रह सकता है, वैसे ही अर्पणासमाधि उत्पन्न होने पर चित्त एक बार भवङ्ग के प्रवाह को रोककर पूरी रात व पूरे दिन भी बना रहता है। वह कुशल जवनचित्त की पद्धति के अनुसार ही प्रवर्तित होता है।

यह जो उपचार–समाधि के साथ प्रतिभाग (अनुकूल) निमित्त उत्पन्न होता है, उसका उत्पन्न होना बहुत कठिन है। इसलिये यदि उसी पर्यङ्क (=आसन) से उस निमित्त का वर्धन करते हुए अर्पणा को पा सके तो बहुत अच्छा हो। यदि ऐसा न कर पावे तो उसे उस निमित्त की अप्रमाद के साथ चक्रवर्ती के गर्भ के समान रक्षा करनी चाहिये। क्योंकि इस प्रकार–

प्राप्त निमित्त की रक्षा करते हुए हानि नहीं होती; किन्तु रक्षा न करने पर हर बार प्राप्त किया हुआ निमित्त विनष्ट हो जाता है।।

सत्तसप्पायसेवनकथा

१६. तत्रायं रक्खणविधि—

आवासो, गोचरो, भस्सं, पुग्गलो, भोजनं, उतु।
इरियापथो ति सत्तेते असप्पाये विवज्जये॥
सप्पाये सत्त सेवेथ, एवं हि पटिपज्जतो।
नचिरेनेव कालेन होति कस्सचि अप्पना॥

(१) तत्रस्स यस्मिं **आवासे** वसन्तस्स अनुप्पन्नं वा निमित्तं नुपज्जति, उप्पन्नं वा विनस्सति, अनुपट्ठिता च सति न उपट्ठाति, असमाहितं च चित्तं न समाधियति, अयं असप्पायो। यत्थ निमित्तं उप्पज्जति चेव थावरं च होति, सति उपट्ठाति, चित्तं समाधियति नागपब्बतवासि-**पधानियतिस्सत्थेरस्स** विय, अयं सप्पायो। तस्मा यस्मिं विहारे बहू आवासा होन्ति, तत्थ एकमेकस्मिं तीणि तीणि दिवसानि वसित्वा यत्थस्स चित्तं एकग्गं होति, तत्थ वसितब्बं। आवाससप्पायताय हि तम्बपण्णिदीपम्हि चूळनागलेणे वसन्ता तत्थेव कम्मट्ठानं गहेत्वा पञ्चसता भिक्खू अरहत्तं पापुणिंसु। सोतापन्नादीनं पन अञ्ञत्थ अरियभूमिं पत्वा तत्थ अरहत्तपत्तानं च गणना नत्थि। एवं अञ्ञेसु पि चित्तलपब्बतविहारादीसु।

(२) **गोचरगामो** पन यो सेनासनतो उत्तरेन वा दक्खिणेन वा नातिदूरे दियड्ढकोसब्भन्तरे होति सुलभसम्पन्नभिक्खो, सो सप्पायो। विपरीतो असप्पायो।

(३) **भस्सं** ति द्वात्तिंसतिरच्छानकथापरियापन्नं। तं हिस्स निमित्तन्तरप्रधानाय संवत्तति। दसकथावत्थुनिस्सतं सप्पायं, तं पि मत्ताय भावितब्बं।

सात उपयुक्त सेवन

१६. वहाँ निमित्त की रक्षा करने की विधि इस प्रकार है—

१. आवास, २. गोचर, ३. वार्तालाप, ४. पुद्गल, ५. भोजन, ६. ऋतु एवं ७. ईर्य्यापथ—इन सातों में किसी को भी, अनुपयुक्त होने पर, त्याग दे। और सात उपयुक्तों का सेवन करें। इस प्रकार योजना के अनुसार चलने पर किसी किसी को शीघ्र ही अर्पणा की प्राप्ति होती है।

(१) इनमें, इसे जिस **आवास** में रहते हुए अनुत्पन्न निमित्त उत्पन्न न हो या उत्पन्न हुआ विनष्ट हो जाय, अनुपस्थित स्मृति उपस्थित न हो, असमाहित चित्त समाहित न हो, वह आवास अनुपयुक्त है। जहाँ नागपर्वत पर रहने वाले **पधानिय तिस्स** स्थविर के समान निमित्त उत्पन्न होता हो एवं स्थिर भी रहता हो, स्मृति उपस्थित रहती हो, चित्त एकाग्र होता हो वह उपयुक्त है। इसलिये जिस विहार में बहुत से आवास हों, वहाँ एक एक में तीन तीन दिन रहकर, इस प्रकार उनकी परीक्षा कर, जहाँ चित्त एकाग्र हो वहाँ रहना चाहिये। आवास के उपयुक्त होने से ताम्रपर्णी द्वीप (=लंका) की **चूळनाग** नामक गुफा में रहते हुए वहीं कर्मस्थान ग्रहण कर पाँच सौ भिक्षुओं ने अर्हत्त्व प्राप्त किया। ऐसे स्रोतआपन्न आदि की तो गणना ही नहीं है, जिन्होंने अन्यत्र आर्यभूमियाँ प्राप्त कर वहाँ अर्हत्त्व पाया। इसी प्रकार दूसरे **चित्तल पर्वत के विहार** आदि में भी समझें।

(२) जो **गोचर ग्राम** शयनासन से उत्तर या दक्षिण की ओर, बहुत दूर नहीं, ढाई कोस के भीतर हो, जहाँ आसानी से भिक्षा मिले, वह उपयुक्त है। विपरीत अनुपयुक्त है।

(३) **वार्तालाप**— बत्तीस प्रकार के व्यर्थ वार्तालाप (तिरच्छानकथा) के अन्तर्गत आनेवाला वार्तालाप अनुपयुक्त है; क्योंकि वह उसके निमित्त के अन्तर्धान का कारण होता है। दस कथावस्तु

(४) **पुग्गलो** पि अतिरच्छानकथिको सीलादिगुणसम्पन्नो, यं निस्साय असमाहितं वा चित्तं समाधियति, समाहितं वा चित्तं थिरतरं होति, एवरूपो सप्पायो। कायदळ्हीबहुलो पन तिरच्छानकथिको असप्पायो। सो हि तं कद्दमोदकमिव अच्छं उदकं मलिनमेव करोति, तादिसं च आगम्म कोटपब्बतवासिदहरस्सेव समापत्ति पि नस्सति, पगेव निमित्तं।

(५) **भोजनं** पन कस्सचि मधुरं, कस्सचि अम्बिलं सप्पायं होति।

(६) **उतु** पि कस्सचि सीतो उण्हो सप्पायो हति। तस्मा यं भोजनं वा उतुं वा सेवन्तस्स फासु होति, असमाहितं वा चित्तं समाधियति, समाहितं वा चित्तं थिरतरं होति, तं भोजनं सो च उतु सप्पायो। इतरं भोजनं इतरो च उतु असप्पायो।

(७) **इरियापथेसु** पि कस्सचि चङ्कमो सप्पायो होति, कस्सचि सयनट्ठाननिसज्जानं अञ्ञतरो। तस्मा तं आवासं विय तीणि दिवसानि उपपरिक्खित्वा यस्मिं इरियापथे असमाहितं वा चित्तं समाधियति, समाहितं वा चित्तं थिरतरं होति, सो सप्पायो। इतरो असप्पायो ति वेदितब्बो।

इति इमं सत्तविधं असप्पायं वज्जेत्वा सप्पायं सेवितब्बं। एवं पटिपन्नस्स हि निमित्तासेवनबहुलस्स नचिरेनेव कालेन होति कस्सचि अप्पना।

दसविधं अप्पनाकोसल्लं

१७. यस्स पन एवं पि पटिपज्जतो न होति, तेन दसविधं अप्पनाकोसल्लं सम्पादतब्बं।

(द्र०म० नि० १, १४५; ३, ११३ आदि) पर आधृत वार्तालाप उपयुक्त है, किन्तु उसे भी सीमा में ही होना चाहिये।

(४) **पुद्गल** भी व्यर्थ की बातचीत न करने वाला, शील आदि गुणों से सम्पन्न, जिसके चलते असमाहित चित्त समाहित होता हो या समाहित चित्त और भी स्थिर होता हो--ऐसा उपयुक्त है। शरीर के ही पोषण में लगा रहने वाला और व्यर्थ की बकवास करने वाला अनुपयुक्त है; क्योंकि वह स्वच्छ जल को कीचड़ मिले जल के समान, साधक को दूषित ही करता है। उसके सम्पर्क से **कोटपर्वत** निवासी तरुण के समान समापत्ति भी नष्ट हो जाती है, फिर निमित्त का तो कहना ही क्या!

(५) **भोजन** किसी के लिये मधुर, किसी के लिये खट्टा उपयुक्त होता है।

(६) **ऋतु** भी किसी के लिये शीतल तो किसी के लिये उष्ण उपयुक्त होती है। इसलिये जिस भोजन या ऋतु का सेवन करने पर सुख मिले, असमाहित चित्त समाहित हो या समाहित चित्त और भी स्थिर हो, वही भोजन और ऋतु उपयुक्त है। इससे भिन्न भोजन एवं ऋतु अनुपयुक्त हैं।

(७) **ईर्यापथ** में भी किसी को चंक्रमण उपयुक्त होता है तो किसी को सोने, खड़े होने, बैठने में से कोई एक। इसलिये आवास के ही समान, तीन दिनों तक उसकी परीक्षा करने के पश्चात्, जिस ईर्यापथ में असमाहित चित्त समाहित होता हो या समाहित चित्त और भी अधिक स्थिर होता हो, वही उपयुक्त है। इससे भिन्न को अनुपयुक्त जानना चाहिये।

इस प्रकार इस सप्तविध अनुपयुक्त (असप्पाय) को छोड़कर उपयुक्त का सेवन करना चाहिये। इस प्रकार प्रतिपन्न एवं निमित्त का बहुलता से सेवन करने वाले किसी किसी साधक को शीघ्र ही अर्पणा की प्राप्ति होती है।

दस प्रकार का अर्पणाकौशल

१७. जिसे इस प्रकार प्रतिपन्न होने पर भी अर्पणा प्राप्त न होती हो, उसे दस प्रकार के

तत्रायं नयो—दसहाकारेहि अप्पनाकोसल्लं इच्छितब्बं : १. वत्थुविसदकिरियतो, २. इन्द्रियसमत्तपटिपादनतो, ३. निमित्तकुसलतो, ४. यस्मिं समये चित्तं पग्गहेतब्बं तस्मिं समये चित्तं पग्गण्हाति, ५. यस्मिं समये चित्तं निग्गहेतब्बं तस्मिं समये चित्तं निग्गण्हाति, ६. यस्मिं समये चित्तं सम्पहंसितब्बं तस्मिं चित्तं सम्पहंसेति, ७. यस्मिं समये चित्तं अज्झुपेक्खितब्बं तस्मिं समये चित्तं अज्झुपेक्खति, ८. असमाहितपुग्गलपरिवज्जनतो, ९. समाहितपुग्गलसेवनतो, १०. तदधिमुत्तितो ति।

(१) तत्थ **वत्थुविसदकिरिया** नाम अज्झत्तिकबाहिरानं वत्थूनं विसदभावकरणं। यदा हिस्स केसनखलोमानि दीघानि होन्ति, सरीरं वा सेदमलग्गहितं, तदा अज्झत्तिकं वत्थु अविसदं होति अपरिसुद्धं। यदा पन अस्स चीवरं जिण्णं किलिट्ठं दुग्गन्धं होति, सेनासनं वा उक्लापं होति, तदा बाहिरवत्थु अविसदं होति अपरिसुद्धं। अज्झत्तिकबाहिरे च वत्थुम्हि अविसदे उप्पन्नेसु चित्तचेतसिकेसु ञाणं पि अपरिसुद्धं होति,अपरिसुद्धानि दीपकपल्लिकवट्टि-तेलानि निस्साय उप्पन्नदीपसिखाय ओभासो विय। अपरिसुद्धेन च ञाणेन सङ्खारे सम्मसतो सङ्खारा पि आविभूता होन्ति, कम्मट्ठानमनुयुञ्जतो कम्मट्ठानं पि वुड्ढिं विरूळ्हिं वेपुल्लं न गच्छति। विसदे पन अज्झत्तिकबाहिरे वत्थुम्हि उप्पन्नेसु चित्तचेतसिकेसु ञाणं पि विसदं होति परिसुद्धं, परिसुद्धानि दीपकपल्लिकवट्टितेलानि निस्साय उप्पन्नदीपसिखाय ओभासो विय। परिसुद्धेन च ञाणेन सङ्खारे सम्मसतो सङ्खारा पि विभूता होन्ति, कम्मट्ठानमनुयुञ्जतो कम्मट्ठानं पि वुड्ढिं विरूळ्हिं वेपुल्लं गच्छति।

अर्पणाकौशल का सम्पादन करना चाहिये। इसमें यह विधि है—दस प्रकार के अर्पणाकौशल प्राप्त करने की इच्छा करनी चाहिये—

(१) वस्तु को स्वच्छ करना, (२) इन्द्रियों का सन्तुलन (समत्व) बनाये रखना, (३) निमित्त में कुशलता प्राप्त करना, (४) चित्त को प्रगृहीत रखने के समय प्रगृहीत रखना, (५) चित्त के निग्रह के समय उसका दमन करना, (६) चित्त को प्रफुल्ल रखने के समय उसको प्रफुल्ल रखना, (७) चित्त की उपेक्षा के समय उपेक्षा करना, (८) जो असमाहित चित्त हो ऐसे पुद्गल का त्याग करना, (९) समाहितचित्त पुद्गल का सेवन (=सम्पर्क) करना, (१०) उस समाधि के प्रति अधिमुक्ति (=निश्चय) करना।

(१) इनमें, वस्तु को स्वच्छ करने से तात्पर्य है—आन्तरिक एवं बाह्य वस्तुओं को स्वच्छ करना। जैसे कि, जब इस साधक के बाल, नाखून, रोएँ बढ़े हुए होते हैं या शरीर पसीने से मैला होता है; तब आन्तरिक वस्तु (मन) अस्वच्छ, अपरिशुद्ध होती है। जब उसका चीवर फटा-पुराना, गन्दा, दुर्गन्धयुक्त होता है या शयनासन गन्दा होता है, तब बाह्य वस्तु (शरीर) अस्वच्छ, अपरिशुद्ध होती है! जब आन्तरिक एवं बाह्य वस्तुएँ अस्वच्छ होती हैं, तब अपरिशुद्ध दीपक, बत्ती (एवं) तैल के आश्रय से उत्पन्न दीप-शिखा के प्रकाश के समान उत्पन्नचित्त-चैतसिकों में ज्ञान भी अपरिशुद्ध होता है। अपरिशुद्ध ज्ञान द्वारा समझने का प्रयास करने पर संस्कार ही स्पष्ट होते हैं, कर्मस्थान में लगने, कर्मस्थानवृद्धि, विकास एवं विपुलता को प्राप्त नहीं होता। आन्तरिक एवं बाह्य वस्तुओं के स्वच्छ होने पर, उत्पन्न चित्त-चैतसिकों में ज्ञान भी, परिशुद्ध दीपक, बत्ती, तेल के आश्रय से उत्पन्न दीपशिखा के प्रकाश के समान स्वच्छ एवं परिशुद्ध होता है। परिशुद्ध ज्ञान द्वारा संस्कारों को समझने का प्रयास करने पर संस्कार भी स्पष्ट होते हैं, कर्मस्थान में लगने पर साधक कर्मस्थान की वृद्धि, विकास एवं विपुलता की ओर बढ़ता है।

(२) **इन्द्रियसमत्तपटिपादनं** नाम सद्धादीनं इन्द्रियानं समभावकरणं। सचे हिस्स सद्धिन्द्रियं बलवं होति इतरानि मन्दानि, ततो विरियिन्द्रियं पग्गहकिच्चं, सतिन्द्रियं उपट्ठानकिच्चं, समाधिन्द्रियं अविक्खेपकिच्चं, पञ्ञिन्द्रियं दस्सनकिच्चं कातुं न सक्कोति, तस्मा तं धम्मसभावपच्चवेक्खणेन वा यथा वा मनसिकरोतो बलवं जातं, तथा अमनसिकारेन हापेतब्बं। **वक्कलित्थेरवत्थु** (सं० २-३४१) चेत्थ निदस्सनं। सचे पन विरियिन्द्रियं बलवं होति, अथ नेव सद्धिन्द्रियं अधिमोक्खकिच्चं कातुं सक्कोति,न इतरानि इतरकिच्चभेदं, तस्मा तं पस्सद्धादिभावनाय हापेतब्बं। तत्रापि **सोणत्थेरवत्थु** (वि० ३-२००) दस्सेतब्बं। एवं सेसेसु पि एकस्स बलवभावे सति इतरेसं अत्तना किच्चेसु असमत्थता वेदितब्बा।

विसेसतो पनेत्थ सद्धापञ्ञानं समाधिविरियानं च समतं पसंसन्ति। बलवसद्धो हि मन्दपञ्ञो मुद्धप्पसन्नो होति, अवत्थुस्मिं पसीदति। बलवपञ्ञो मन्दसद्धो केराटिकपक्खं भजति, भेसज्जसमुट्ठितो विय रोगो अतेकिच्छो होति। उभिन्नं समताय वत्थुस्मिं येव पसीदति। बलवसमाधिं पन मन्दविरियं समाधिस्स कोसज्जपक्खत्ता कोसज्जं अभिभवति। बलवविरियं मन्दसमाधिं विरियस्स उद्धच्चपक्खत्ता उद्धच्चं अभिभवति। समाधि पन विरियेन संयोजितो कोसज्जे पतितुं न लभति। विरियं समाधिना संयोजितं उद्धच्चे पतितुं न लभति, तस्मा तदुभयं समं कातब्बं। उभयसमताय हि अप्पना होति।

---

(२) इन्द्रियों में समत्व (=सन्तुलन) रखने का तात्पर्य है–श्रद्धा आदि इन्द्रियों को एक समान करना। यदि इस भिक्षु की श्रद्धेन्द्रिय तो सबल हो परन्तु अन्य इन्द्रियाँ निर्बल हों तो वीर्येन्द्रिय पकड़ने (=प्रग्रह) का, स्मृतीन्द्रिय उपस्थित रहने का एवं समाधीन्द्रिय एकाग्रता (=अविक्षेप) का, प्रज्ञेन्द्रिय यथाभूत दर्शन का कार्य नहीं कर सकती; इसलिये उसे चाहिये कि धर्मों के स्वभाव का प्रत्यवेक्षण कर अथवा जैसे ध्यान देने से वह इन्द्रिय सबल हुई हो, वैसे ध्यान न देकर उसे कम करे, अन्य इन्द्रियों के समान स्थिति में ले आये। यहाँ **वक्कलि स्थविर** की कथा (सं. २; ३४१) उदाहरण है।[1]

यदि वीर्येन्द्रिय प्रबल होती है, तो न तो श्रद्धेन्द्रिय अधिमोक्ष (=दृढ़ निश्चय, संकल्प) का कार्य कर सकती है, न ही अन्य इन्द्रियाँ अन्य कार्य; इसलिये उसे प्रश्रब्धि आदि की भावना द्वारा कम करना चाहिये। यहाँ **सोण स्थविर** की कथा (वि० ३, २००) का उदाहरण देना चाहिये।[2] इसी प्रकार शेष में से किसी एक के सबल होने पर अन्यों की अपने अपने कृत्यों में असमर्थता समझनी चाहिये।

किन्तु यहाँ (=पाँचों इन्द्रियों में) विशेष रूप से श्रद्धा एवं प्रज्ञा, समाधि एवं वीर्य के समभाव की प्रशंसा की जाती है।

(क) जिसमें श्रद्धा प्रबल और प्रज्ञा निर्बल है, वह 'मुग्ध प्रसन्न' विना सोचे–विचारे किसी पर श्रद्धा करता है।

(ख) जिसमे प्रज्ञा प्रबल और श्रद्धा निर्बल होती है, वह शठता की ओर झुक जाता है एवं

---

१. ''वक्कलि स्थविर श्रद्धा की प्रबलता के कारण भगवान् के शरीर की शोभा पर ही मुग्ध रहने से ध्यान–भावना नहीं कर सके। एक समय जब वह रोग से पीड़ित थे, तब भगवान् ने उन्हें यह उपदेश दिया–''वक्कलि! मेरे इस पूतिकाय को देखने से क्या लाभ? जो धर्म को देखता है, वही मुझे देखता है।'' तत्पश्चात् स्थविर ने सभी इन्द्रियों को एक समान कर अर्हत्त्वपाया।

२. सोण स्थविर ने वीर्य की प्रबलता के कारण, अर्हत्त्वप्राप्ति हेतु घोर श्रम करते हुए शरीर को थका डाला, पैरों में छाले पड़ गये, किन्तु उनका उत्साह कम नहीं हुआ। तब भगवान् ने उन्हें वीणा का दृष्टान्त देते हुए, अधिक वीर्य न करने का उपदेश दिया। तत्पश्चात् स्थविर ने, सभी इन्द्रियों को एक समान कर, अर्हत्त्व प्राप्त किया।

अपि च—समाधिकम्मिकस्स बलवती पि सद्धा वट्टति। एवं सद्दहन्तो ओकप्पेन्तो अप्पनं पापुणिस्सति। समाधिपञ्ञासु पन समाधिकम्मिकस्स एकग्गता बलवती वट्टति। एवं हि सो अप्पनं पापुणाति। विपस्सनाकम्मिकस्स पञ्ञा बलवती वट्टति। एवं हि सो लक्खणपटिवेधं पापुणाति। उभिन्नं पन समताय पि अप्पना होति येव। सति पन सब्बत्थ बलवती वट्टति। सति हि चित्तं उद्धच्चपक्खिकानं सद्धाविरियपञ्ञानं वसेन उद्धच्चपाततो कोसज्जपक्खेन च समाधिना कोसज्जपाततो रक्खति, तस्मा सा लोणधूपनं विय सब्बब्यञ्जनेसु, सब्बकम्मिकअमच्चो विय च सब्बराजकिच्चेसु, सब्बत्थ इच्छितब्बा। तेनाह—"सति च पन सब्बत्थिका वुत्ता भगवता। किं कारणा? चित्तं हि सतिपटिसरणं, आरक्खपच्चुपट्ठाना च सति, न विना सतिया चित्तस्स पग्गहनिग्गहो होती" ति।

(३) **निमित्तकोसल्लं** नाम पथवीकसिणादिकस्स चित्तेकग्गतानिमित्तस्स अकतस्स करणकोसल्लं, कतस्स च भावनाकोसल्लं, भावनाय लद्धस्स रक्खणकोसल्लं च, तं इध अधिप्पेतं।

(४) कथं च यस्मिं समये चित्तं पग्गहेतब्बं, तस्मिं समये चित्तं पग्गण्हाति?

औषधि की प्रतिक्रिया से उत्पन्न हुए रोग के समान असाध्य होता है। दोनों की समता होने से वस्तु में ही श्रद्धा करता है।

(ग) जिसमें समाधि सबल और वीर्य निर्बल होते हैं, वह आलस्य के वश में हो जाता है; क्योंकि समाधि आलस्य की पक्षधर है अर्थात् समाधि के अभ्यासी के लिये आलस्य के वशीभूत हो जाना सम्भव है।

(घ) जिसमे वीर्य सबल एवं समाधि निर्बल होती है, वह औद्धत्य के वश में हो जाता है; क्योंकि वीर्य औद्धत्य का पक्षधर है।

(ङ) किन्तु वीर्यसम्पृक्त समाधि का आलस्य में पतन नहीं हो सकता, समाधिसम्पृक्त वीर्य का औद्धत्य में पतन नहीं हो सकता; अतः उन दोनों को सम करना चाहिये। दोनों की समता से ही अर्पणा होती है।

इसके अतिरिक्त, समाधि के अभ्यासी में श्रद्धा सबल होनी चाहिये; क्योंकि इस प्रकार श्रद्धा और विश्वास करने से ही वह अर्पणा को प्राप्त करेगा। समाधि और प्रज्ञा में—समाधि के अभ्यासी में एकाग्रता सबल होनी चाहिये। इसी से वह अर्पणा को प्राप्त करता है। विपश्यना (प्रज्ञा) के अभ्यासी में प्रज्ञा सबल होनी चाहिये। इसी प्रकार वह लक्षणप्रतिवेध (=अनित्य, दुःख, अनात्म—इन तीनों लक्षणों का ज्ञान) प्राप्त करेगा। एवं दोनों की समता से तो अर्पणा होती ही है। किन्तु स्मृति को तो सर्वत्र सबल रहना चाहिये। औद्धत्य—पक्षधर श्रद्धा, वीर्य एवं प्रज्ञा के कारण सम्भव औद्धत्य में पतित होने से एवं समाधि, क्योंकि आलस्य की पक्षधर है अतः, आलस्य में पतित होने से, चित्त की रक्षा स्मृति ही करती है। इसलिये सभी व्यञ्जनों (खाद्य पदार्थों) में नमक के सहयोग (लोणधूपन) के समान एवं सभी राज्यकार्यों में प्रधानमन्त्री (सर्वकार्मिक अमात्य) के समान, वह स्मृति सर्वत्र वाञ्छनीय है। इसीलिये कहा गया है—"भगवान् ने स्मृति को सर्वार्थिका कहा है। क्यों? क्योंकि स्मृति ही चित्त के लिये शरण है एवं स्मृति को रक्षा करने वाली के रूप में जाना जाता है। स्मृति के अभाव में चित्त के प्रग्रह-निग्रह नहीं हुआ करते।"

(३) **निमित्त-कौशल** का तात्पर्य है— १. चित्त की एकाग्रता के निमित्त पृथ्वीकसिण आदि, *जो अभी तक नहीं किये गये हैं*, उन्हें करने का कौशल, २. किये हुए की भावना करने का कौशल एवं ३. भावना से प्राप्त हुए की रक्षा करने का कौशल (निपुणता)। यहाँ वही (अन्तिम) अभिप्रेत है।

यदास्स अतिसिथिलविरियतादीहि लीनं चित्तं होति, तदा पस्सद्धिसम्बोज्झङ्गादयो तयो अभावेत्वा धम्मविचयसम्बोज्झङ्गादयो भावेति। वुत्तं हेतं भगवता—

"सेय्यथापि, भिक्खवे, पुरिसो परित्तं अग्गिं उज्जालेतुकामो अस्स, सो तत्थ अल्लानि चेव तिणानि पक्खिपेय्य, अल्लानि च गोमयानि पक्खिपेय्य, अल्लानि च कट्ठानि पक्खिपेय्य, उदकवातं च ददेय्य, पंसुकेन च ओकिरेय्य, भब्बो नु खो सो, भिक्खवे, पुरिसो प[ित्त]ं अग्गिं उज्जालेतुं" ति? "नो हेतं, भन्ते"। "एवमेव खो, भिक्खवे, यस्मिं समये लीनं चित्तं होति, अकालो तस्मिं समये पस्सद्धिसम्बोज्झङ्गस्स भावनाय, अकालो समाधि ....पे०....अकालो उपेक्खासम्बोज्झङ्गस्स भावनाय। तं किस्स हेतु? लीनं भिक्खवे चित्तं, तं एतेहि धम्मेहि दुसमुट्ठापयं होति। यस्मिं च खो, भिक्खवे, लीनं चित्तं होति, कालो तस्मिं समये धम्मविचयसम्बोज्झङ्गस्स भावनाय, कालो विरियसम्बोज्झङ्गस्स भावनाय। तं किस्स हेतु? लीनं, भिक्खवे, चित्तं, तं एतेहि धम्मेहि सुसमुट्ठापयं होति।

"सेय्यथापि, भिक्खवे, पुरिसो परित्तं अग्गिं उज्जालेतुकामो अस्स, सो तत्थ सुक्खानि चेव तिणानि पक्खिपेय्य, सुक्खानि च गोमयानि पक्खिपेय्य, सुक्खानि च कट्ठानि पक्खिपेय्य, मुखवातं च ददेय्य, न च पंसुकेन ओकिरेय्य, भब्बो नु खो सो, भिक्खवे, पुरिसो परित्तं अग्गिं उज्जालेतुं"? ति "एवं भन्ते" (सं० ४-१०१)

एत्थ च यथासकं आहारवसेन धम्मविचयसम्बोज्झङ्गादीनं भावना वेदितब्बा। वुत्तं हेतं-

"अत्थि, भिक्खवे, कुसलाकुसला धम्मा, सावज्जानवज्जा धम्मा, हीनप्पणीता धम्मा, कण्हसुक्कसप्पटिभागा धम्मा। तत्थ योनिसो मनसिकारबहुलीकारो, अयमाहारो अनुप्पन्नस्स

---

(४) **यस्मिं समये चित्तं पग्गहितब्बं, तस्मिं समये चित्तं पग्गण्हाति?** (कैसे जिस प्रकार चित्त को पकड़कर रखना चाहिये, उस समय पकड़ कर रखता है?) जब इसका चित्त अत्यन्त दुर्बल वीर्य आदि के कारण आलस्य से युक्त होता है, तब प्रश्रब्धिसम्बोध्यङ्ग आदि तीन बोध्यङ्गों की भावना न कर धर्मविचयसम्बोध्यङ्ग की भावना करता है। क्योंकि भगवान् ने (संयुक्तनिकाय में) कहा भी है—

"भिक्षुओ, जैसे कोई पुरुष थोड़ी अग्नि जलाना चाहे और वह उसमें कुछ नमी लिये गीले तिनके, गीले कण्डे या गीली लकड़ियाँ डाले, गीली हवा दे, अग्नि पर धूल बिखेर दे; तो क्या भिक्षुओ! वह पुरुष थोड़ी भी अग्नि जला पायगा?" "नहीं, भन्ते!" "इसी प्रकार, भिक्षुओ, जिस समय चित्त आलस्य से युक्त होता है, वह समय प्रश्रब्धिसम्बोध्यङ्ग की भावना के लिये अनुपयुक्त है, समाधि....अनुपयुक्त है, उपेक्षा....अनुपयुक्त है। ऐसा क्यों? क्योंकि भिक्षुओ! आलस्ययुक्त चित्त को इन धर्मों के द्वारा जगाना कठिन होता है। भिक्षुओ, जिस समय चित्त आलस्ययुक्त होता है, वह समय धर्मविचयसम्बोध्यङ्ग भी भावना के लिये उपयुक्त है, प्रीतिसम्बोध्यङ्ग....उपयुक्त है। वह क्यों? क्योंकि आलस्ययुक्त चित्त को इन धर्मों द्वारा जगाना सम्भव है।

"भिक्षुओ, जैसे कोई पुरुष थोड़ी सी अग्नि जलाना चाहे और वह उसमें सूखे तिनके, सूखे कण्डे, सूखी लकड़ियाँ डाले, मुख से हवा करे, धूल न बिखेरे, तो भिक्षुओ! क्या वह पुरुष थोड़ी अग्नि जला पायगा?" "हाँ भन्ते!"

यहाँ, प्रत्येक साधक को आहार के अनुसार धर्मविचयसम्बोध्यङ्ग आदि की भावना जाननी चाहिये; क्योंकि **संयुक्तनिकाय** में कहा गया है—"भिक्षुओ, कुशल एवं अकुशल धर्म सावद्य (=निन्दनीय)

वा धम्मविचयसम्बोज्झङ्गस्स उप्पादाय, उप्पन्नस्स वा धम्मविचयसम्बोज्झङ्गस्स भिय्योभावाय वेपुल्लाय भावनाय पारिपूरिया संवत्तती" (सं० नि० ४-९४) ति।

तथा "अत्थि, भिक्खवे, आरम्भधातु निक्कमधातु परक्कमधातु। तत्थ योनिसो मनसिकारबहुलीकारो, अयमाहारो अनुप्पन्नस्स वा विरियसम्बोज्झङ्गस्स उप्पादाय, उप्पन्नस्स वा विरियसम्बोज्झङ्गस्स भिय्योभावाय वेपुल्लाय भावनाय पारिपूरिया संवत्तति" (सं० नि० ४-९४) ति।

तथा "अत्थि, भिक्खवे, पीतिसम्बोज्झङ्गट्ठानिया धम्मा। तत्थ योनिसो मनसिकारबहुलीकारो, अयमाहारो अनुप्पन्नस्स वा पीतिसम्बोज्झङ्गस्स उप्पादाय उप्पन्नस्स वा पीतिसम्बोज्झङ्गस्स भिय्योभावाय वेपुल्लाय भावनाय परिपूरिया संवत्तती" (सं. नि० ४-९४) ति।

तत्थ सभावसामञ्ञलक्खणपटिवेधवसेन पवत्तमनसिकारो कुसलादीसु **योनिसो मनसिकारो** नाम। आरम्भधातुआदीनं उप्पादनवसेन पवत्तमनसिकारो आरम्भधातुआदीसु **योनिसो मनसिकारो** नाम। तत्थ **आरम्भधातू** ति पठमविरियं वुच्चति। **निक्कमधातू** ति कोसज्जतो निक्खन्तत्ता ततो बलवतरं। **परक्कमधातू** ति परं ठानं अक्कमनतो ततो पि बलवतरं। **पीतिसम्बोज्झङ्गट्ठानिया धम्मा** ति पन पीतिया एव एतं नामं। तस्सापि उप्पादकमनसिकारो व **योनिसो मनसिकारो** नाम।

अपि च सत्त धम्मा धम्मविचयसम्बोज्झङ्गस्य उप्पादाय संवत्तन्ति—परिपुच्छकता, वत्थुविसदकिरिया, इन्द्रियसमत्तपटिपादना, दुप्पञ्ञपुग्गलपरिवज्जना, पञ्ञवन्तपुग्गलसेवना, गम्भीरञाणचरियपच्चवेक्खणा, तदधिमुत्तता ति।

एवं शुक्ल धर्म परस्पर विपरीत होते हैं। उनमें भलीभाँति अभ्यास किया गया जो योनिशोमनस्कार है, वही अनुत्पन्न धर्मविचयसम्बोध्यङ्ग के उत्पाद के लिये अथवा उत्पन्न धर्मविचयसम्बोध्यङ्ग की वृद्धि, विकास एवं भावना की परिपूर्णता के लिये आहार अर्थात् पोषक तत्त्व है।"

तथा—"भिक्षुओ, तीन धातु हैं—आरम्भधातु, निष्क्रमणधातु, पराक्रम धातु। उनमें जो भलीभाँति अभ्यास किया गया योनिशोमनस्कार है वही अनुत्पन्न वीर्यसम्बोध्यङ्ग की उत्पत्ति के लिये अथवा उत्पन्न वीर्यसम्बोध्यङ्ग की वृद्धि, विकास एवं भावना की परिपूर्णता के लिये आहार है।"

तथा—"भिक्षुओ, धर्म प्रीतिसम्बोध्यङ्गस्थानीय हैं। उनमें जो भलीभाँति अभ्यास किया गया योनिशोमनस्कार है, वही उत्पन्न प्रीतिसम्बोध्यङ्ग की वृद्धि, विकास एवं भावना की परिपूर्णता के लिये आहार है।"

वहाँ (="अत्थि भिक्खवे" आदि द्वारा दर्शित पालि में) कुशल (धर्म) आदि स्वभाव, सामान्य लक्षण एवं प्रतिवेध के अनुसार प्रवृत्त मनस्कार को **योनिशोमनस्कार** कहते हैं। आरम्भ धातु आदि के उत्पाद के अनुसार प्रवृत्त मनस्कार को **आरम्भ धातु आदि में योनिशोमनस्कार** कहते हैं। उनमें, **आरम्भधातु** को प्रथम वीर्य कहा जाता है। **निष्क्रमण धातु** कौसीद्य से निष्क्रमण रूप होने के कारण उस आरम्भधातु से अधिक सबल है। **पराक्रम धातु** क्रमिक परवर्ती स्तरों तक पहुँचने के कारण उस निष्क्रमणधातु से भी अधिक सबल है। **प्रीतिसम्बोध्यङ्गस्थानीय धर्म** स्वयं प्रीति ही है। एवं उसे उत्पन्न करने वाला मनस्कार ही **योनिशोमनस्कार** है।

इसके अतिरिक्त, (क) धर्मविचयसम्बोध्यङ्ग की उत्पत्ति के लिये सात धर्म हैं— (१) प्रश्न पूछना, (२) वस्तुओं को स्वच्छ रखना, (३) इन्द्रियों में सन्तुलन रखना, (४) मूर्ख व्यक्ति का त्याग, (५)

एकादस धम्मा विरियसम्बोज्झङ्गस्य उप्पादाय संवत्तन्ति—अपायादिभयपच्चवेक्खणता, विरियायत्तलोकियलोकुत्तरविसेसाधिगमानिसंसदस्सिता, "बुद्धपच्चेकबुद्धमहासावकेहि गतमग्गो मया गन्तब्बो, सो च न सक्का कुसीदेन गन्तुं" ति एवं गमनवीथिपच्चवेक्खणता, दायकानं महप्फलभावकरणेन पिण्डापचायनता, "विरियारम्भस्स वण्णवादी मे सत्था, सो च अनतिक्कमनीयसासनो, अम्हाकं च बहूपकारो, पटिपत्तिया च *पूजियमानो पूजितो होति, न इतरथा" ति एवं सत्थु महत्तपच्चवेक्खणता, "सद्धम्मसङ्खातं* मे महादायज्जं गहेतब्बं, तं च न सक्का कुसीदेन गहेतुं" ति एवं दायज्जमहत्तपच्चवेक्खणता, आलोकसञ्ञामनसिकार-इरियापथपरिवत्तन-अब्भोकाससेवनादीहि थीनमिद्धविनोदनता, कुसीतपुग्गलपरिवज्जनता, आरद्धविरियपुग्गलसेवनता, सम्मप्पधानपच्चवेक्खणता, तदधिमुत्तता ति।

एकादस धम्मा पीतिसम्बोज्झङ्गस्स उप्पादाय संवत्तन्ति, बुद्धानुस्सति, धम्म..... सील....चाग....देवतानुस्सति, उपसमानुस्सति, लूखपुग्गलपरिवज्जनता, सिनिद्धपुग्गलसेवनता, पसादनियसुत्तन्तपच्चवेक्खणता, तदधिमुत्तता ति।

इति इमेहि आकारेहि एते धम्मे उप्पादेन्तो धम्मविचयसम्बोज्झङ्गादयो भावेति नाम। एवं "यस्मिं समये चित्तं पग्गहेतब्बं तस्मिं समये चित्तं पग्गण्हाति।"

प्रज्ञावान् व्यक्ति का सङ्ग (६) गम्भीर ज्ञान के अभ्यास के लिये क्षेत्र का प्रत्यवेक्षण एवं (७) उस धर्मविचय के प्रति अधिमुक्ति।

(ख) वीर्य सम्बोध्यङ्ग की उत्पत्ति के लिये ग्यारह धर्म हैं— (१) अपाय (=दुर्गति) आदि में भय देखना, (२) वीर्य के द्वारा प्राप्त होने वाली लौकिक एवं लोकोत्तर विशिष्ट उपलब्धियों को लाभप्रद समझना, (३) "बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध, महाश्रावक जिस मार्ग से गये उससे मुझे जाना चाहिये और उससे आलसी व्यक्ति नहीं जा सकता"—यों गमनमार्ग का प्रत्यवेक्षण करना, (४) "दाताओं को महान् फल प्राप्त हो"—इस भावना से भिक्षा का समादर करना, (५) "मेरे शास्ता वीर्यारम्भ की प्रशंसा करने वाले हैं एवं उनका शासन उल्लङ्घन करने योग्य नहीं है, हमारे लिये वह बहुत उपकारी है तथा वे प्रतिपत्ति (=आचरण) द्वारा पूजित होने पर ही पूजित होते हैं, अन्यथा नहीं"—इस प्रकार शास्ता के महत्त्व का प्रत्यवेक्षण करना, (६) "सद्धर्म नामक महान् उत्तराधिकार का मुझे ग्रहण करना चाहिये एवं उसे आलसी नहीं ग्रहण कर सकता"—इस प्रकार उत्तराधिकार के महत्त्व का प्रत्यवेक्षण करना, (७) आलोक संज्ञा को मन में लाना (मनस्कार), ईर्यापथ में परिवर्तन एवं खुले स्थान के सेवन आदि द्वारा शारीरिक मानसिक आलस्य को दूर करना, (८) आलसी व्यक्ति के संसर्ग का त्याग, (९) उद्योगी व्यक्ति का सेवन (सम्पर्क), (१०) सम्यक्प्रधान (=आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग के अन्तर्गत छठे अङ्ग 'सम्यग्व्यायाम' का अधिवचन) का प्रत्यवेक्षण तथा (११) उस वीर्य के प्रति अधिमुक्ति।

(ग) प्रीतिसम्बोध्यङ्ग के उत्पाद के लिये ग्यारह धर्म हैं— (१) बुद्धानुस्मृति, (२) धर्मानुस्मृति, (३) सङ्घानुस्मृति, (४) शीलानु...., (५) त्यागानु...., (६) देवतानु...., (७) उपशमानुस्मृति, (८-१०) रूक्ष (स्वभाव के) या स्निग्ध व्यक्ति आदि के प्रति चित्त में श्रद्धा उत्पन्न करने वाले सूत्रों का प्रत्यवेक्षण तथा (११) उस प्रीति के प्रति अधिमुक्ति।

इन आकारों से इन धर्मों को उत्पन्न करता हुआ धर्मविचयसम्बोध्यङ्ग आदि की भावना करता है।

इस प्रकार "जिस समय चित्त को पकड़ना चाहिये, उस समय चित्त को पकड़ता है"—इस पालिपाठ का सङ्गमन हुआ।

(५) कथं यस्मि समये चित्तं निग्गहेतब्बं तस्मिं समये चित्तं निग्गण्हाति? यदास्स अच्चारद्धवीरियतादीहि उद्धतं चित्तं होति, तदा धम्मविचयसम्बोज्झङ्गादयो तयो अभावेत्वा पस्सद्धिसम्बोज्झङ्गादयो भावेति।

वुत्तं हेतं भगवता—

"सेय्यथापि, भिक्खवे, पुरिसो महन्तं अग्गिक्खन्धं निब्बापेतुकामो अस्स, सो तत्थ सुक्खानि चेव तिणानि पक्खिपेय्य....पे०....न च पंसुकेन ओकिरेय्य, भब्बो नु खो सो, भिक्खवे, पुरिसो महन्तं अग्गिक्खन्धं निब्बापेतुं" ति? "नो हेतं, भन्ते।" "एवमेव खो, भिक्खवे, यस्मिं समये उद्धतं चित्तं होति, अकालो तस्मिं समये धम्मविचयसम्बोज्झङ्गस्स भावनाय, अकालो विरिय....पे०....अकालो पीतिसम्बोज्झङ्गस्य भावनाय। तं किस्स हेतु? उद्धतं, भिक्खवे, चित्तं, तं एतेहि धम्मेहि दुवूपसमयं होति। यस्मि च खो, भिक्खवे, समये उद्धतं चित्तं होति, कालो तस्मिं समये पस्सद्धिसम्बोज्झङ्गस्य भावनाय, कालो समाधिसम्बोज्झङ्गस्स भावनाय, कालो उपेक्खासम्बोज्झङ्गस्स भावनाय। तं किस्स हेतु? उद्धतं, भिक्खवे, चित्तं, तं एतेहि धम्मेहि सुवूपसमयं होति।"

"सेय्यथापि, भिक्खवे, पुरिसो महन्तं अग्गिक्खन्धं निब्बापेतुकामो अस्स, सो तत्थ अल्लानि चेव तिणानि पक्खिपेय्य....पे०....पंसुकेन च ओकिरेय्य, भब्बो नु खो सो, भिक्खवे, पुरिसो महन्तं अग्गिक्खन्धं निब्बापेतुं" ति? "एवं भन्ते" (सं० ४-१०२) ति।

एत्थापि यथासकं आहारवसेन पस्सद्धिसम्बोज्झङ्गादीनं भावना वेदितब्बा। वुत्तं हेतं भगवता—"अत्थि, भिक्खवे, कायपस्सद्धि चित्तपस्सद्धि। तत्थ योनिसो मनसिकार-बहुलीकारो, अयमाहारो अनुप्पन्नस्स वा पस्सद्धिसम्बोज्झङ्गस्स उप्पादाय, उप्पन्नस्स वा पस्सद्धिसम्बोज्झङ्गस्स भिय्योभावाय वेपुल्लाय भावनाय पारिपुरिया संवत्तती" (सं० नि० ४-९५) ति।

---

(५) कैसे "जिस समय चित्त का निग्रह करना चाहिये उस समय चित्त का निग्रह करता है"? जब इस भिक्षु का चित्त अत्यधिक वीर्य आदि के कारण उद्धत होता है, तब धर्मविचयसम्बोध्यङ्ग आदि तीन सम्बोध्यङ्गों की भावना न कर प्रश्रब्धिसम्बोध्यङ्ग की भावना करनी चाहिये; क्योंकि भगवान् ने कहा है—"भिक्षुओ, जैसे कोई पुरुष अग्नि की विशाल राशि को बुझाना चाहे और वह उसमें सूखे हुए तिनके डाले...पूर्ववत्...उसपर धूल न डाले, तो क्या भिक्षुओ! अग्नि की उस विशाल राशि को वह बुझा सकेगा?" "नहीं, भन्ते!" "इसी प्रकार भिक्षुओ, जिस समय चित्त उद्धत होता है, वह समय धर्मविचयसम्बोध्यङ्ग की भावना के लिये अनुपयुक्त है, वीर्य...प्रीति...अनुपयुक्त है। वह क्यों? क्योंकि जो चित्त उद्धत है, वह इन धर्मों (कार्यों) से शान्त नहीं होता। भिक्षुओ! जिस समय चित्त उद्धत हो, वही समय प्रश्रब्धिसम्बोध्यङ्ग की भावना के लिये उपयुक्त है, समाधि...उपेक्षा...उपयुक्त है। वह क्यों? क्योंकि, भिक्षुओ! जो चित्त उद्धत है वह इन धर्मों से शान्त होता है।

"जैसे, भिक्षुओ! कोई पुरुष अग्नि की विशाल राशि को बुझाना चाहे और वह उसमें गीले तिनके डाले...पूर्ववत्...धूल बिखेर दे, तो क्या, भिक्षुओ! वह पुरुष अग्नि की विशाल राशि को बुझा पायगा?" "हाँ, भन्ते"।

यहाँ भी हर एक के लिये आहार के अनुसार प्रश्रब्धिसम्बोध्यङ्ग की भावना जाननी चाहिये; क्योंकि संयुत्तनिकाय में भगवान् ने यह कहा है—

"भिक्षुओ! प्रश्रब्धि दो हैं—कायप्रश्रब्धि एवं चित्तप्रश्रब्धि। उनमें भलीभाँति अभ्यास किया गया

तथा "अत्थि, भिक्खवे, समथनिमित्तं अब्यग्गनिमित्तं। तत्थ योनिसो मनसिकारबहुलीकारो, अयमाहारो अनुप्पन्नस्स वा समाधिसम्बोज्झङ्गस्स उप्पादाय, उप्पन्नस्स वा समाधिसम्बोज्झङ्गस्स भिय्योभावाय वेपुल्लाय भावनाय पारिपूरिया संवत्तती" (सं० नि० ४-९५) ति।

तथा "अत्थि, भिक्खवे, उपेक्खासम्बोज्झङ्गट्ठानिया धम्मा। तत्थ योनिसो मनसिकारबहुलीकारो, अयमाहारो अनुप्पन्नस्स वा उपेक्खासम्बोज्झङ्गस्स उप्पादाय, उप्पन्नस्स वा उपेक्खासमबोज्झङ्गस्स भिय्योभावाय वेपुल्लाय भावनाय पारिपूरिया संवत्तती" (सं० नि० ४-९५)ति।

तत्थ यथास्स पस्सद्धिआदयो उप्पन्नपुब्बा, तं आकारं सल्लक्खेत्वा तेसं उप्पादनवसेन पवत्तमनसिकारो व तीसु पि पदेसु **योनिसो मनसिकारो** नाम। **समथनिमित्तं** ति च समथस्सेवेतं अधिवचनं। अविक्खेपट्ठेन च तस्सेव **अब्यग्गनिमित्तं** ति।

अपि च सत्त धम्मा पस्सद्धिसम्बोज्झङ्गस्स उप्पादाय संवत्तन्ति—पणीतभोजनसेवनता, उतुसुखसेवनता, इरियापथसुखसेवनता, मज्झत्तपयोगता, सारद्धकायपुग्गलपरिवज्जनता, पस्सद्धकायपुग्गलसेवनता, तदधिमुत्तता ति।

एकादस धम्मा समाधिसम्बोज्झङ्गस्स उप्पादाय संवत्तन्ति—वत्थुविसदता, निमित्तकुसलता, इन्द्रियसमत्तपटिपादनता, समये चित्तस्स निग्गहणता, समये चित्तस्स पग्गहणता, निरस्सादस्स चित्तस्स सद्धासंवेगवसेन सम्पहंसनता, सम्मापवत्तस्स अज्झुपेक्खणता,

---

जो योनिशोमनस्कार है, वह अनुत्पन्न प्रश्रब्धिसम्बोध्यङ्ग की उत्पत्ति के लिये अथवा उत्पन्न प्रश्रब्धिसम्बोध्यङ्ग की वृद्धि, विकास एवं भावना की परिपूर्णता के लिये आहार है।"

तथा—"भिक्षुओ! शमथनिमित्त एवं अव्यग्रनिमित्त भी हैं। उनमें भलीभाँति अभ्यास किया गया जो योनिशोमनस्कार है, वह अनुत्पन्न समाधिसम्बोध्यङ्ग की उत्पत्ति के लिऐ तथा उत्पन्न समाधिसम्बोधाङ्ग की वृद्धि, विकास एवं भावना की परिपूर्णता के लिये आहार है।"

तथा—"भिक्षुओ! धर्म उपेक्षासम्बोध्यङ्गस्थानीय हैं। उनमें जो भलीभाति अभ्यास किया गया योनिशोमनस्कार है, वह अनुत्पन्न उपेक्षासम्बोध्यङ्ग की उत्पत्ति के लिये या उत्पन्न उपेक्षासम्बोध्यङ्ग की वृद्धि, विकास एवं भावना की परिपूर्णता के लिये आहार है।"

यहाँ "अत्थि, भिक्खवे" आदि द्वारा दर्शित पालि में तीनों पदों (उदाहरणवाक्यों) में जो **'योनिशोमनस्कार'** शब्द आया है, उस का तात्पर्य है—उसमें प्रश्रब्धि आदि पूर्व समय में जिस प्रकार उत्पन्न हुए हैं, उस आकार, उपाय, विधि का निरीक्षण करते हुए, उनकी उत्पत्ति के अनुसार प्रवृत्त मनस्कार **शमथनिमित्त** शमथ का ही अधिवचन (पर्याय) है। अविक्षेप के अर्थ में उसी शमथ का अधिवचन **अव्यग्र—निमित्त** है।

(क) प्रश्रब्धिसम्बोध्यङ्ग की उत्पत्ति के लिये सात धर्म हैं— (१) उत्तम भोजन का सेवन, (२) सुखकर ऋतु का सेवन, (३) सुखकर ईर्यापथ का सेवन, (४) मध्यस्थ (=तटस्थ) रहना, (५) आक्रामक (=हिंसक, क्रोधी) प्रकृति के व्यक्तियों का त्याग, (६) शान्त प्रकृति के व्यक्तियों की सेवा, (७) उस (प्रश्रब्धि) के प्रति अधिमुक्ति।

(ख) समाधिसम्बोध्यङ्ग की भावना के लिये ग्यारह धर्म हैं— (१) वस्तुओं को स्वच्छ रखना,

असमाहितपुग्गलपरिवज्जनता, समाहितपुग्गलसेवनता, झानविमोक्खपच्चवेक्खणता, तदधिमुत्तता ति।

पञ्च धम्मा उपेक्खासम्बोज्झङ्गस्स उप्पादाय संवत्तन्ति—सत्तमज्झत्तता, सङ्खारमज्झत्तता, सत्तसङ्खारकेलायनपुग्गलपरिवज्जनता, सत्तसङ्खारमज्झत्तपुग्गलसेवनता, तदधिमुत्तता ति। इति इमेहाकारेहि एते धम्मे उप्पादेन्तो पस्सद्धिसम्बोज्झङ्गादयो भावेति नाम। एवं "यस्मिं समयं चित्तं निग्गहेतब्बं तस्मिं समये चित्तं निग्गण्हाति"।

(६) कथं यस्मिं समये चित्तं सम्पहंसितब्बं तस्मिं समये चित्तं सम्पहंसेति? यदास्स पञ्ञापयोगमन्दताय वा उपसमसुखानधिगमेन वा निरस्सादं चित्तं होति, तदा नं अट्ठसंवेगवत्थुपच्चवेक्खणेन संवेजेति। अट्ठ संवेगवत्थूनि नाम—जाति-जरा-ब्याधि-मरणानि चत्तारि, अपायदुक्खं पञ्चमं, अतीते वट्टमूलकं दुक्खं, अनागते वट्टमूलकं दुक्खं, पच्चुप्पन्ने आहारपरियेट्ठिमूलकं दुक्खं ति। बुद्ध-धम्म-सङ्घगुणानुस्सरणेन चस्स पसादं जनेति। एवं "यस्मिं समये चित्तं सम्पहंसितब्बं तस्मिं समये चित्तं सम्पहंसेति"।

(७) कथं यस्मिं समये चित्तं अज्झुपेक्खितब्बं तस्मिं समये चित्तं अज्झुपेक्खति? यदास्स एवं पटिपज्जतो अलीनं अनुद्धतं अनिरस्सादं आरम्मणे समप्पवत्तं समवीथि-

---

(२) निमित्त-कौशल, (३) इन्द्रियों में समत्व बनाये रखना, (४) उचित समय पर चित्त का निग्रह करना, (५) उचित समय पर चित्त का प्रग्रह करना, (६) उपेक्षायुक्त (=आस्वादरहित) चित्त को श्रद्धा एवं संवेग के द्वारा प्रफुल्लित करना, (७) जो ठीक तरह से घटित हो रहा हो, उसके प्रति उपेक्षा बनाये रखना, (८) असमाहित व्यक्ति का त्याग, (९) समाहित व्यक्ति की सेवा, (१०) ध्यान एवं विमोक्ष का प्रत्यवेक्षण करना एवं (११) उस समाधि के प्रति अधिमुक्ति।

(ग) उपेक्षासम्बोध्यङ्ग की उत्पत्ति के लिये पाँच धर्म हैं— (१) सभी प्राणियों के प्रति तटस्थता, (२) सभी संस्कारों के प्रति तटस्थता, (३) प्राणियों एवं संस्कारों के प्रति ममत्व रखने वाले व्यक्तियों का त्याग, (४) प्राणियों एवं संस्कारों के प्रति तटस्थ रहने वाले व्यक्तियों की सेवा, (५) उस (उपेक्षा) के प्रति अधिमुक्ति। ऐसे इन आकारों (उपायों) से इन धर्मों की उत्पत्ति करते हुए प्रश्रब्धिसम्बोध्यङ्ग आदि की भावना करता है। इस प्रकार—"जिस समय चित्त का निग्रह करना चाहिये उस समय चित्त का निग्रह करता है" (—इस वाक्यांश का व्याख्यान पूर्ण हुआ)।

(६) कैसे जिस समय चित्त को प्रफुल्लित (=प्रोत्साहित, समुत्तेजित) करना चाहिये, उस समय चित्त को प्रफुल्लित करता है? जब इस भिक्षु का चित्त प्रज्ञा के अल्प प्रयोग के कारण या उपशम-(=शान्ति) सुख को प्राप्त न कर सकने के कारण अनमना रहता है, तब वह साधक आठ संवेग-वस्तुओं के प्रत्यवेक्षण द्वारा इसे संवेगयुक्त (=उत्तेजित) करता है। वे आठ संवेग-वस्तु हैं— (१-४) जाति, जरा, व्याधि, मरण—ये चार, (५) अपाय-दुःख पाँचवीं (६) अतीतकाल में भव-चक्र में पड़ने से उत्पन्न दुःख, (७) अनागत काल में भव-चक्र में पड़ने से उत्पन्न हो सकने वाला दुःख एवं (८) प्रत्युत्पन्न काल में आहार की खोज से उत्पन्न दुःख। बुद्ध, धर्म एवं सङ्घ के स्मरण से इस चित्त में प्रसन्नता (प्रीति) उत्पन्न होती है। इस प्रकार—"जिस समय चित्त को प्रफुल्लित करना चाहिये उस समय चित्त को प्रफुल्लित करता है"— इस वाक्य का यह व्याख्या है।।

(७) कैसे "जिस समय चित्त की उपेक्षा करनी चाहिये उस समय चित्त की उपेक्षा करता है"? जब इस प्रकार योजनानुसार चलते हुए उसका चित्त आलस्य एवं औद्धत्य से रहित, समाधि के

पटिपन्नं चित्तं होति, तदास्स पग्गहनिग्गहसम्पहंसनेसु न ब्यापारं आपज्जति, सारथि विय समप्पवत्तेसु अस्सेसु। एवं "यस्मिं समये चित्तं अज्झुपेक्खितब्बं तस्मिं समये चित्तं अज्झुपेक्खति"।

(८) **असमाहितपुग्गलपरिवज्जनता** नाम नेक्खम्मपटिपदं अनारूळ्हपुब्बानं अनेककिच्चपसुतानं विक्खित्तहदयानं पुग्गलानं आरका परिच्चागो।

(९) **समाहितपुग्गलसेवनता** नाम नेक्खम्मपटिपदं पटिपन्नानं समाधिलाभीनं पुग्गलानं कालेन कालं उपसङ्कमनं।

(१०) **तदधिमुत्तता** नाम समाधिअधिमुत्तता, समाधिगरु-समाधिनिन्न-समाधिपोण-समाधिपब्भारता ति अत्थो।

एवमेतं दसविधं अप्पनाकोसल्लं सम्पादेतब्बं॥

१८. एवं हि सम्पादयतो अप्पनाकोसलं इमं।
पटिलद्धे निमित्तस्मिं अप्पना सम्पवत्तति॥
एवं हि पटिपन्नस्स सचे सा नप्पवत्तति।
तथा पि न जहे योगं वायमेथेव पण्डितो॥
हित्वा हि सम्मावायामं विसेसं नाम मानवो।
अधिगच्छे परित्तं पि ठानमेतं न विज्जति॥

आस्वादरहित, आलम्बन में समान रूप से प्रवृत्त, शान्ति के मार्ग पर चलने वाला होता है, तब समान चाल से चलने वाले घोड़े के विषय में सारथि के समान, इस भिक्षु को प्रग्रह, निग्रह, प्रफुल्लित करने आदि के व्यापार की आवश्यकता नहीं रहती। यह हुआ– "जिस समय चित्त की उपेक्षा करनी चाहिये, उस समय चित्त की उपेक्षा करता है" इस वाक्य का व्याख्यान।

(८) **असमाहितपुग्गलपरिवज्जनता** का तात्पर्य है– जिन्होंने नैष्काम्यमार्ग पर चलना प्रारम्भ नहीं किया हो, जो अनेक कार्यों में लगे रहने वाले एवं विक्षिप्त चित्त वाले व्यक्ति हों, उनका दूर से ही परित्याग।

(९) **समाहितपुग्गलसेवनता** का तात्पर्य है–नैष्काम्य–मार्ग पर चलने वाले एवं समाधिप्राप्त सज्जनों के पास समय–समय पर जाते रहना।

(१०) **तदधिमुत्तता** का तात्पर्य है समाधि के प्रति अधिमुक्ति रखना, समाधि के प्रति गौरव रखना....प्रवृत्ति रखना, उसके प्रति रुझान एवं झुकाव रखना।

ऐसे दस प्रकार से **अर्पणा–कौशल** का सम्पादन करना चाहिये।।

१८. इस प्रकार इस अर्पणाकौशल का सम्पादन करते हुए, प्राप्त निमित्त में अर्पणा उत्पन्न होती है।।

इस मार्ग पर चलने वाले को भी यदि वह अर्पणाकौशल उत्पन्न न हो, तब भी पण्डित (=बुद्धिमान्) को चाहिये कि वह प्रयत्न करता रहे, योग को छोड़े नहीं।।

क्योंकि कोई भी मनुष्य भलीभाँति सम्यक् प्रयत्न किये विना थोड़ी–थोड़ी सी भी उपलब्धि कर ले–ऐसा सम्भव नहीं है।।

अतः बुद्धिमान् व्यक्ति चित्त की प्रवृत्ति के आकार का निरीक्षण कर, सन्तुलित उद्योग के साथ पुनः–पुनः चित्त को योग से युक्त करे।।

चित्तप्पवत्तिआकारं तस्मा सल्लक्खयं बुधो।
समतं विरियस्सेव योजयेथ पुनप्पुनं॥
ईसकं पि लयं यन्तं पग्गण्हेथेव मानसं।
अच्चारद्धं निसेधेत्वा सममेव पवत्तये॥

निमित्ताभिमुखपटिपादनं

रेणुम्हि उप्पलदले सुत्ते नावाय नाळिया।
यथा मधुकरादीनं पवत्ति सम्मवण्णिता॥
लीन-उद्धतभावेहि मोचयित्वान सब्बसो।
एवं निमित्ताभिमुखं मानसं पटिपादये॥ ति॥

१९. तत्रायं अत्थदीपना—यथा हि अछेको मधुकरो असुकस्मिं रुक्खे पुप्फं पुप्फितं ति ञत्वा तिक्खेन वेगेन पक्खन्दो तं अतिक्कमित्वा पटिनिवत्तेन्तो खीणे रेणुम्हि सम्पापुणाति। अपरो अछेको मन्देन जवेन पक्खन्दो खीणे येव सम्पापुणाति। छेको पन समेन जवेन पक्खन्दो सुखेन पुप्फरासिं सम्पत्वा यावदिच्छकं रेणुं आदाय मधुं सम्पादेत्वा मधुरसं अनुभवति।

यथा च सल्लकत्तअन्तेवासिकेसु उदकथालगते उप्पलपत्ते सत्थकम्मं सिक्खन्तेसु एको अछेको वेगेन सत्थं पातेन्तो उप्पलपत्तं द्विधा वा छिन्दति, उदके वा पवेसेति। अपरो अथेको छिज्जनपवेसनभया सत्थकेन फुसितुं पि न विसहति। छेको पन समेन पयोगेन तत्थ सत्थप्पहारं दस्सेत्वा परियोदातसिप्पो हुत्वा तथारूपेसु ठानेसु कम्मं कत्वा लाभं लभति।

अल्पमात्र भी आलस्य में पड़े हुए मन को पकड़ कर रखे, वीर्य के अतिरेक अत्यारम्भ को रोककर सन्तुलन बनाये रखे।।

निमित्ताभिमुख प्रवृत्ति का प्रतिपादन

पराग, कमल, दल, सूत, नाव, व नाड़ी (फोंफी) में जैसे मधुमक्खी आदि की प्रवृत्ति वर्णित है, वैसे ही आलस्य-औद्धत्य भावों से मन को सर्वथा छुड़ा कर निमित्त की ओर लगाना चाहिये।।

१९. वहाँ =उन "रेणुम्हि" आदि दोनों गाथाओं के अर्थ की व्याख्या इस प्रकार है-जिस प्रकार कोई अनाड़ी (अकुशल) मधुमक्खी 'अमुक वृक्ष पर फूल लगे हैं' ऐसा जानकर तीव्र वेग से उड़ते हुए उस अभीष्ट फूल को लाँघ कर आगे चली जाती है, फिर पीछे लौटने पर पराग झर चुकने पर ही उस अभीष्ट पुष्प तक पहुँच पाती है, दूसरी अनाड़ी मधुमक्खी भी मन्द गति से उड़ते हुए पराग झर जाने पर ही पहुँच पाती है; किन्तु चतुर (=कुशल) समान गति से उड़ते हुए सुखपूर्वक फूलों के पास पहुँच कर इच्छानुसार पराग लेकर, मधु बनाकर, मधु के स्वाद का आनन्द लेती है। (१)

और जैसे जल भरी थाली में रखे हुए कमल के पत्ते पर शस्त्रकर्म (=चीर-फाड़ करना) सीखने वाले शल्यक (=शल्यचिकित्सक) के शिष्यों में से कोई अनाड़ी शिष्य तेजी के साथ शस्त्र चलाकर या तो कमल के पत्ते को दो भागों में काट डालता है, या फिर उसे जल में डुबा देता है, दूसरा अनाड़ी इस डर से कि कहीं कट न जाय या जल में डूब न जाय, शस्त्र को हाथ लगाने का भी साहस नहीं करता; पर चतुर शिष्य उस स्थिति में सन्तुलित प्रयास द्वारा शस्त्र-प्रहार का प्रदर्शन कर, शिल्प (=शल्यक्रिया) में प्रवीणता दिखाता हुआ तदनुरूप परिस्थितियों में कार्य कर पुरस्कार पाता है। (२)

यथा च "यो चतुब्यामप्पमाणं मक्कटसुत्तं आहरति, सो चत्तारि सहस्सानि लभती" ति रञ्ञा वुत्ते एको अछेकपुरिसो वेगेन मक्कटकसुत्तं आकड्ढन्तो तहिं तहिं छिन्दति येव। अपरो अछेको छेदनभया हत्थेन फुसितुं पि न विसहति। छेको पन कोटितो पट्ठाय समेन पयोगेन दण्डके वेधेत्वा आहरित्वा लाभं लभति।

यथा च अछेको नियामको बलववाते लङ्कारं पूरेन्तो नावं विदेसं पक्खन्दापेति। अपरो अछेको मन्दवाते लङ्कारं आरोपेन्तो नावं तत्थेव ठपेति। छेको पन मन्दवाते लङ्कारं पूरेत्वा बलववाते अड्ढलङ्कारं कत्वा सोत्थिना इच्छितट्ठानं पापुणाति।

यथा च "यो तेलेन अछड्डेन्तो नाळिं पूरेति, सो लाभं लभती" ति आचरियेन अन्तेवासिकानं वुत्ते एको अछेको लाभलुद्धो वेगेन पूरेन्तो तेलं छड्डेति। अपरो तेलछड्डनभया आसिञ्चितुं पि न विसहति। छेको पन समेन पयोगेन पूरेत्वा लाभं लभति।

एवमेव एको भिक्खु "उप्पन्ने निमित्ते सीघमेव अप्पनं पापुणिस्सामी" ति गाळ्हं विरियं करोति, तस्स चित्तं अच्चारद्धविरियत्ता उद्धच्चे पतति, सो न सक्कोति अप्पनं पापुणितुं। एको अच्चारद्धविरियताय दोसं दिस्वा, 'किं दानि मे अप्पनाया' ति विरियं हापेति। तस्स चित्तं अतिलीनविरियत्ता कोसज्जे पतति, सो पि न सक्कोति अप्पनं पापुणितुं। यो पन ईसकं पि लीनं लीनभावतो, उद्धतं उद्धच्चतो मोचेत्वा समेन पयोगेन निमित्ताभिमुखं पवत्तेति, सो अप्पनं पापुणाति। तादिसेन भवितब्बं।

और जैसे "जो चार व्याम (१ व्याम=६फुट) की लम्बाई वाले मकड़ी के सूत को लायगा वह चार हजार पायगा" इस प्रकार राजा द्वारा कहे जाने पर कोई अनाड़ी पुरुष तेजी से मकड़ी का सूत खींच कर निकालते हुए जहाँ तहाँ से तोड़ डालता है; दूसरा अनाड़ी टूट जाने के डर से हाथ लगाने का भी साहस नहीं करता; किन्तु चतुर पुरुष सन्तुलित प्रयास द्वारा किनारे से लेकर अन्त तक डण्डे में सूत लपेट कर राजा के सामने लाकर पुरस्कार पाता है। (३)

और जैसे कोई अनाड़ी माँझी (नाविक=नियामक) तेज हवा में पाल तान कर नाव को विदेश (गलत जगह) में पहुँचा देता है; दूसरा अनाड़ी धीमी हवा में पाल उतार देता है जिससे नाव वहीं की वहीं ठहर जाती है; किन्तु चतुर माँझी धीमी हवा में पूरा पाल तान कर और तेज हवा में आधा पाल तानकर सुरक्षित रूप से अभीष्ट स्थान पर पहुँच जाता है। (४)

और जैसे "जो तेल को विना गिराये उसे फोंफी (शीशी) में भरेगा, वह पुरस्कार पायेगा"— इस प्रकार आचार्य द्वारा शिष्यों को संकेत किये जाने पर कोई अनाड़ी शिष्य, तेजी से भरते हुए, तेल गिरा देता है; दूसरा मूर्ख शिष्य तेल गिर जाने के डर से तेल उड़ेलने का भी साहस नहीं करता; किन्तु चतुर शिष्य सन्तुलित प्रयास द्वारा कथित विधि से भरकर पुरस्कार पाता है। (५)

इसी प्रकार कोई भिक्षु "निमित्त उत्पन्न हो गया, अब शीघ्र ही अर्पणा को प्राप्त करूँगा"—इस प्रकार सोचकर दृढ़ उद्योग करता है। इस अत्यधिक उद्योग के कारण उसके चित्त का औद्धत्य में पतन हो जाता है, अतः वह अर्पणा प्राप्त नहीं कर पाता। दूसरा कोई अत्यधिक उद्योग में दोष देखकर "अब मुझे अर्पणा से क्या?"—ऐसा सोचकर उद्योग करना ही छोड़ देता है। यों, अत्यल्प उद्योग के कारण, उसके चित्त का कौसीद्य में पतन हो जाता है। वह भी अर्पणा प्राप्त नहीं कर पाता। किन्तु जो अल्पमात्र आलस्ययुक्त चित्त को आलस्य से उद्धत चित्त को औद्धत्य से छुड़ाकर उसे सन्तुलित प्रयास द्वारा निमित्त की ओर प्रवृत्त करता है, वही अर्पणा प्राप्त कर पाता है। भिक्षु को ऐसा ही प्रयास करना चाहिये।

इममत्थं सन्धाय एतं वुत्तं—

"रेणुम्हि उप्पलदले, सुत्ते, नावाय, नाळिया।
यथा मधुकरादीनं पवत्ति सम्मवण्णिता॥
लीनउद्धतभावेहि मोचयित्वान सब्बसो।
एवं निमित्ताभिमुखं मानसं पटिपादये॥ ति॥

पठमज्झानकथा

२०. इति एवं निमित्ताभिमुखं मानसं पटिपादयतो पनस्स 'इदानि अप्पना इज्झिस्सती' ति भवङ्गं उपच्छिन्दित्वा 'पथवी, पथवी' ति अनुयोगवसेन उपट्ठितं तदेव पथवीकसिणं आरम्मणं कत्वा मनोद्वारावज्जनं उप्पज्जति। ततो तस्मिं येवारम्मणे चत्तारि पञ्च वा जवनानि जवन्ति। तेसु अवसाने एकं रूपावचरं सेसानि कामावचरानि। पकतिचित्तेहि बलवतरवितक्क-विचारपीतिसुखचित्तेकग्गतानि यानि अप्पनाय परिकम्मत्ता परिकम्मानी ति पि, यथा गामादीनं आसन्नपदेसो गामूपचारो नगरूपचारो ति वुच्चति, एवं अप्पनाय आसन्नत्ता समीपचारित्ता वा उपचारानी ति पि, इतो पुब्बो परिकम्मानं, उपरि अप्पनाय च अनुलोमतो अनुलोमानी

इसी अर्थ के सन्दर्भ में (ऊपर) यह कहा गया है—"रेणुम्हि....उप्पलदले....मानसं पटिपादये"॥ (पराग में....चित्त लगाना चाहिये)।

प्रथमध्यान—वर्णन

२०. इस प्रकार निमित्त की ओर मन को प्रवृत्त करने वाले इस (भिक्षु) में 'इसके बाद अर्पणा उत्पन्न होगी'—इस प्रकार भिक्षु की जानकारी में भवङ्ग[1] का उपच्छेद करके 'पृथ्वी, पृथ्वी' इस अनुयोग के अनुसार उपस्थित उसी पृथ्वीकसिण को आलम्बन बनाकर मनोद्वारावर्जन[2] चित्त उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् उसी आलम्बन में चार या पाँच जवनचित्त जवन[3] करते हैं। उनका अवसान होने पर एक रूपावचर एवं शेष कामावचरचित्त उत्पन्न होते हैं; जो कि साधारण चित्तों की अपेक्षा बलवत्तर वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता से युक्त होते हैं; जो कि अर्पणा के 'परिकर्म'[4] होने से परिकर्म भी एवं जैसे ग्राम आदि का आसन्न प्रदेश या गामोपचार नगरोपचार कहा जाता है, वैसे ही अर्पणा के आसन्न या समीपवर्ती होने से 'उपचार'[5] एवं पहले आने वाले परिकर्मों के या बाद में आने वाली अर्पणा के अनुलोम (=अनुरूप) होने से 'अनुलोम' भी कहे जाते हैं। और जो इनमें से अन्तिम है वह

---

१. "भवस्स अङ्गं भवङ्गं" भव के अङ्ग को 'भवङ्ग' कहते हैं। अर्थात् उत्पत्तिभव की अविच्छिन्न प्रवृत्ति के हेतुभूत चित्त को भवङ्ग कहते हैं। (द्र०—प०दी०, पृष्ठ १०४-१०५।

२. मनोद्वारावर्जन—वीथिसन्तति के पहले भवङ्गसन्तति होती है। जब अभिनव आलम्बन अवभासित होता है तब उस भवङ्गसन्तति को पुनः उत्पन्न होने से रोकने के लिये उसका अवरोध करना आवर्जन का कृत्य है। यह आवर्जन नवीन आलम्बन का ग्रहण करने के लिये वीथिसन्तति के उत्पाद हेतु चित्तसन्तति को नवीन आलम्बन की तरफ अभिमुख करता है। चक्षुर्द्वार आदि पाँच (इन्द्रियों के) द्वारों में होने वाले आवर्जन को 'मनोद्वारावर्जन' कहते हैं। (द्र०—प०दी०, पृ० १०५)

३. 'जवतीति जवनं'—वेग से गमन करना 'जवन' कहलाता है। जवनचित्त चाहे एक बार उत्पन्न हो या अनेक बार, अत्यन्त वेगपूर्वक उत्पन्न होता है। आलम्बन का अनुभव करना या रस लेना जवन का कृत्य है। (द्र०—प० दी०, पृष्ठ १०५)

४. 'परिकरोति अप्पं अभिसङ्खरोतीति परिकम्मं'—जो चित्त अर्पणा का अभिसंस्कार करता है वह 'परिकर्म' है, अर्थात् अर्पणा का उत्पाद करने वाला चित्त। (द्र०—विभा०, पृष्ठ ११२)

५. अर्पणा के न समीप और न बहुत दूर चित्त को 'उपचार' कहते हैं। (द्र० विसु० महा०, प्र० भा०, पृ० ११२)।

ति पि वुच्चन्ति। यं चेत्थ सब्बन्तिमं, तं परित्तगोत्ताभिभवनतो महग्गतगोत्तभावनतो च गोत्रभू ति पि वुच्चति।

अग्गहितग्गहणेन पनेत्थ पठमं परिकम्मं, दुतियं उपचारं, ततियं अनुलोमं, चतुत्थं गोत्रभु। पठमं वा उपचारं, दुतियं अनुलोमं, ततियं गोत्रभु, चतुत्थं पञ्चमं वा अप्पनाचित्तं। चतुत्थमेव हि पञ्चमं वा अप्पेति, तं च खो खिप्पाभिञ्ञ-दन्धाभिञ्ञवसेन। ततो परं जवनं पतति, भवङ्गस्स वारो होति।

२१. आभिधम्मिकगोदत्तत्थेरो पन "पुरिमा पुरिमा कुसला धम्मा पच्छिमानं कुसलानं धम्मानं आसेवनपच्चयेन पच्चयो" (अभि० ७: १-८) ति इमं सुत्तं वत्वा "आसेवनपच्चयेन पच्छिमो पच्छिमो धम्मो बलवा होति, तस्मा छट्ठे पि सत्तमे पि अप्पना होती" ति आह। तं अट्ठकथासु "अत्तनो मतिमत्तं थेरस्सेतं" ति वत्वा पटिक्खित्तं।

२२. चतुत्थपञ्चमेसु येव पन अप्पना होति, परतो जवनं पतितं नाम होति, भवङ्गस्स आसन्नत्ता ति वुत्तं। तं एवं विचारेत्वा वुत्तत्ता न सक्का पटिक्खिपितुं। यथा हि पुरिसो छिन्नपपाताभिमुखो धावन्तो ठातुकामो पि परियन्ते पादं कत्वा ठातुं न सक्कोति पपाते एव पतति, एवं छट्ठे वा सत्तमे वा अप्पेतुं न सक्कोति, भवङ्गस्स आसन्नत्ता। तस्मा चतुत्थपञ्चमेसु येव अप्पना होती ति वेदितब्बा।

२३. सा च पन एकचित्तक्खणिका येव। सत्तसु हि ठानेसु अद्धानपरिच्छेदो नाम

परित्र गोत्र को अभिभूत करने से एवं महद्गत गोत्र की भावना करने से 'गोत्रभू'[1] भी कहा जाता है।

(इन चार चित्तों में से प्रथम को परिकर्म, उपचार एवं अनुलोम—इन तीन नामों से कहा जा सकता है। द्वितीय एवं तृतीय चित्त को भी इन तीन नामों से कहा जा सकता है;) किन्तु गृहीत का ग्रहण न करते हुए (=पुनरावृत्ति से बचते हुए), प्रथम को 'परिकर्म', द्वितीय को 'उपचार', तृतीय को 'अनुलोम', चतुर्थ को 'गोत्रभू' कहा जाता है। अथवा, प्रथम को उपचार, द्वितीय को अनुलोम, तृतीय को गोत्रभू एवं चतुर्थ या पञ्चम को अर्पणाचित्त कहा जाता है। क्षिप्र अभिज्ञा एवं मन्द अभिज्ञा के अनुसार वह चतुर्थ या पञ्चम चित्त अर्पणा होता है। उसके बाद जवन का पात होता है, फिर भवङ्ग का अवसर आता है।

२१. किन्तु आभिधर्मिक **गोदत्त स्थविर** "पूर्व-पूर्व के कुशल धर्म पश्चात्-पश्चात् के कुशल धर्मों के आसेवन प्रत्यय होने से प्रत्यय हैं" (अभि० ७, १-८) इस सूत्र का उद्धरण देकर कहते हैं कि "आसवेन प्रत्यय से पश्चात् का धर्म सबल होता है, इसलिये अर्पणा छठे और सातवें पर भी होती है।"

इस मत का अट्ठकथाओं में "वह स्थविर का अपना विचारमात्र है" कहकर खण्डन किया गया है।

२२. कहा गया है कि "चौथे-पाँचवें में ही अर्पणा होती है। उसके बाद भवङ्ग की समीपता के कारण, जवन-पात होता है।" क्योंकि यह (मत) इस प्रकार विचार करने के बाद कहा गया है, अतः इसका खण्डन नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार कोई व्यक्ति टूटे हुए तटवाले प्रपात की ओर दौड़ते हुए खड़े होने की इच्छा करने पर भी, किनारे पर पैर रखकर खड़ा नहीं हो पाता, प्रपात में गिर ही पड़ता है, उसी प्रकार चौथे पाँचवें में ही अर्पणा होती है—यही समझना चाहिये।

---

१. 'गोत्तं भवति अभिभवतीति गोत्रभू'। अर्थात् पृथग्जन के गोत्र (=सत्कायदृष्टि एवं विचिकित्सा से सम्प्रयुक्त चित्तसन्तति) का अभिभव करने वाला चित्त 'गोत्रभू' है।

नत्थि—पठमप्पनायं, लोकियाभिञ्ञासु, चतूसु मग्गेसु, मग्गानन्तरे फले, रूपारूपभवेसु भवङ्गज्झाने, निरोधस्स पच्चये नेवसञ्ञानासञ्ञायतने, निरोधा वुट्ठहन्तस्स फलसमापत्तियं ति। एत्थ मग्गानन्तरं फलं तिण्णं उपरि न होति। निरोधस्स पच्चयो नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं द्विन्नं उपरि न होति। रूपारूपेसु भवङ्गस्स परिमाणं नत्थि। सेसट्ठानेसु एकमेव चित्तं ति। इति एकचित्तक्खणिका येव अप्पना, ततो भवङ्गपातो। अथ भवङ्गं वोच्छिन्दित्वा झानपच्चवेक्खणत्थाय आवज्जनं, ततो झानपच्चवेक्खणं ति।

२४. एत्तावता च पनेस **"विवच्चेव कामेहि विविच्च अकुसलेहि धम्मेहि सवितक्कं सविचारं विवेकजं पीतिसुखं पठमं झानं उपसम्पज्ज विहरति"** (अभि० १-४५)। **एवमनेन पञ्चङ्गविप्पहीनं पञ्चङ्गसमन्नागतं तिविधकल्याणं दसलक्खणसम्पन्नं पठमं झानं अधिगतं होति पथवीकसिणं।**

२५. तत्थ **विविच्चेव कामेही** ति। कामेहि विविच्चित्वा, विना हुत्वा, अपक्कमित्वा। यो पनायमेत्थ एवकारो, सो नियमत्थो ति वेदितब्बो। यस्मा च नियमत्थो, तस्मा तस्मिं पठमज्झानं उपसम्पज्ज विहरणसमये अविज्जमानानं पि कामानं तस्स पठमज्झानस्स पटिपक्खभावं कामपरिच्चागेनेव चस्स अधिगमं दीपेति।

कथं? 'विविच्चेव कामेही' ति एवं हि नियमे करियमाने इदं पञ्ञायति— नूनमिमस्स झानस्स कामा पटिपक्खभूता येसु सति इदं नप्पवत्तति, अन्धकारे सति पदीपोभासो विय।

---

२३. किन्तु यह अर्पणा एक चित्त–क्षण वाली ही होती है। सात स्थितियों (=स्थानों) में काल–परिच्छेद नहीं होता–प्रथम अर्पणा में, लौकिक अभिज्ञाओं में; चार मार्गों में, मार्ग के बाद फल में, रूप और अरूप भवों में होने वाले भवङ्ग ध्यान में, निरोध के प्रत्यय–नैवसंज्ञानसंज्ञायतन में, निरोध से उठने वाले की फलसमापत्ति में। यहाँ, मार्ग के अनन्तर आने वाला फल संख्या में तीन चित्तों से अधिक नहीं होता। रूप और अरूप भवों में चित्तों की संख्या का परिमाण नहीं है। शेष स्थितियों में एक ही चित्त होता है। अतः अर्पणा एक चित्त–क्षण की ही होती है, तत्पश्चात् भवङ्गपात हो जाता है। तब भवङ्ग को रोक कर, ध्यान के प्रत्यवेक्षण के लिये आवर्जन होता है, तत्पश्चात् ध्यान का प्रत्यवेक्षण होता है।

२४. यहाँ तक **"विवच्चेव कामेहि विविच्च अकुसलेहि धम्मेहि सवितक्कं सविचारं विवेकजं पीतिसुखं पठमं झानं उपसम्पज्ज विहरति"** (अभि० १–४५)। **एवमनेन पञ्चङ्गविप्पहीनं पञ्चङ्गसमन्नागतं तिविधकल्याणं दसलक्खणसम्पन्नं पठमं झानं अधिगतं होति पथवीकसिणं** (कामों से विरहित अर्थात् वियुक्त) होकर ही और अकुशल धर्मों से विरहित होकर, वितर्क–विचार सहित विवेक से उत्पन्न प्रीति और सुखवाले प्रथम ध्यान को प्राप्त कर विहरता है" (अभि० १–४५)। और वह पञ्चाङ्गविरहित, पञ्चाङ्गसमन्वित, तीन प्रकार से उत्तम, दस लक्षणों से सम्पन्न, पृथ्वीकसिण का प्रथम ध्यान प्राप्त कर चुका होता है।) इस पालिपाठ का व्याख्यान हुआ।

२५. इस ध्यान–पालि में **विविच्चेव कामेहि–** "कामों से विरहित होकर ही"–कामों से वियुक्त होकर (उनके) विना होकर, दूर होकर। और यहाँ जो 'एव' ("ही") शब्द का प्रयोग किया गया है, उसे नियम के अर्थ में समझना चाहिये। चूँकि वह नियमार्थ है अतः यह सूचित करता है कि उस प्रथम ध्यान से युक्त होकर विहरने के समय, नहीं रहने वाले कामों का उस प्रथम ध्यान से विरोध है; एवं काम के परित्याग से ही उस प्रथम ध्यान की प्राप्ति होती है।

तेसं परिच्चागेनेव चस्स अधिगमो होति, ओरिमतीरपरिच्चागेन पारिमतीरस्सेव, तस्मा नियमं करोती ति।

तत्थ सिया—कस्मा पनेस पुब्बपदे येव वुत्तो, न उत्तरपदे ? किं अकुसलेहि धम्मेहि अविविच्चा पि झानं उपसम्पज्ज विहरेय्या ति ? न खो पनेतं एवं दट्ठब्बं। तंनिस्सरणतो हि पुब्बपदे एस वुत्तो। कामधातुसमतिक्कमनतो हि कामरागपटिपक्खतो च इदं झानं कामानमेव निस्सरणं। यथाह—"कामानमेतं निस्सरणं यदिदं नेक्खम्मं" (दी० ३-२१२) ति।

उत्तरपदे पि पन यथा—

"इधेव, भिक्खवे, समणो, इध दुतियो समणो" (म० १-९०) ति। एत्थ एवकारो आनेत्वा वुच्चति, एवं वत्तब्बो। न हि सक्का इतो अञ्ञेहि पि नीवरणसङ्खातेहि अकुसलेहि धम्मेहि अविविच्च झानं उपसम्पज्ज विहरितुं। तस्मा "विविच्चेव कामेहि विविच्चेव अकुसलेहि धम्मेही" ति एवं पदद्वये पि एस दट्ठब्बो। पदद्वये पि च किञ्चापि 'विविच्चा' ति इमिना साधारणवचनेन तदङ्गविवेकादयो कायविवेकादयो च सब्बे पि विवेका सङ्गहं गच्छन्ति, तथा पि कायविवेको, चित्तविवेको, विक्खम्भनविवेको ति तयो एव इध दट्ठब्बा।

२६. **कामेही** ति। इमिना पन पदेन ये च **निद्देसे** "कतमे वत्थुकामा ? मनापिका रूपा" (खु० ४: १-१) ति आदिना नयेन वत्थुकामा वुत्ता, ये च तत्थेव **विभङ्गे** च "छन्दो कामो, रागो कामो, छन्दरागो कामो, सङ्कप्पो कामो, रागो कामो, सङ्कप्परागो

कैसे? 'कामों से वियुक्त होकर ही'—ऐसा निर्धारित करने पर यह ज्ञात होता है—अवश्य ही काम इस ध्यान के प्रतिपक्षरूप है, जिनके होने पर यह नहीं होता, अन्धकार एवं प्रकाश के समान, अर्थात् अन्धकार प्रकाश के समान, काम एवं ध्यान साथ-साथ नहीं रह सकते। एवं इस ओर के तट के परित्याग से ही उस ओर के तट की प्राप्ति के समान, उन कामों के परित्याग से ही इस प्रथम ध्यान की प्राप्ति होती है। अतः नियम किया गया है।

वहाँ (=ध्यानसम्बन्धी पालि के विषय में) यह पूछा जा सकता है—"किसलिये यह ('ही'='एव' शब्द) पूर्व पद (पूर्व गद्यांश "विविच्चेव कामेहि") में ही कहा गया है, उत्तर पद में नहीं? क्या अकुशल धर्मों से विरहित हुए विना भी ध्यान को प्राप्तकर विहार किया जा सकता है? ऐसा नहीं समझना चाहिये। उनसे (=कामधातु से) निःसरण के अर्थ में ही यह पूर्वपद में कहा गया है। कामधातु से समतिक्रमण रूप होने से, कामराग का प्रतिपक्षभूत होने से, यह ध्यान काम से ही निःसरण है। जैसा कि कहा है—"यह जो नैष्काम्य है यही कामों से निःसरण है"। कभी-कभी उत्तरपद में भी इस 'एव' का प्रयोग हुआ है। जैसा कि—"भिक्षुओ, यहाँ श्रमण है, यहाँ (ही) दूसरा श्रमण है"। यहाँ 'एव' (ही) लाकर (मानकर ही) कहा गया है—यही कहना चाहिये। यहाँ, नीवरणसंज्ञक अन्य अकुशल धर्मों से रहित हुए विना ध्यान प्राप्त कर विहरना सम्भव नहीं है। इसलिये "कामों से विरहित होकर ही, अकुशल धर्मों से विरहित होकर ही"—इस प्रकार दोनों में इस 'ही' को समझना चाहिये। दोनों पदों में भी यद्यपि "विभक्त (=विरहित) होकर" इस सामान्य वचन से तदङ्गविवेक आदि और कायविवेक आदि सभी विवेक में संगृहीत हो जाते हैं; तथापि कायविवेक, चित्तविवेक एवं विष्कम्भणविवेक—तीनों को यहाँ समझना चाहिये।

२६. **कामेहि** (कामों से)—इस पद से जो कि **निद्देस** (=महानिद्देस ग्रन्थ) में—"कितने वस्तुकाम (=वस्तु के रूप में काम) हैं? मन को प्रिय लगने वाले (=मनाप) रूप" आदि प्रकार से वस्तुकाम कहे गये हैं और वहीं तथा **विभङ्ग** में "छन्द काम है, राग काम है, छन्द राग काम है, सङ्कल्प

कामो— इमे वुच्चन्ति कामा" (अभि० २-३०८) ति एवं किलेसकामा वुत्ता, ते सब्बे पि सङ्गहिता इच्चेव दट्ठब्बा। एवं हि सति विविच्चेव कामेही ति 'वत्थुकामेहि पि विविच्चेवा' ति अत्थो युज्जति, तेन कायविवेको वुत्तो होति। **विविच्च अकुसलेहि धम्मेही** ति। किलेसकामेहि सब्बाकुसलेहि वा विविच्चा ति अत्थो युज्जति, तेन चित्तविवेको वुत्तो होति। पुरिमेन चेत्थ वत्थुकामेहि विवेकवचनतो एव कामसुखपरिच्चागो, दुतियेन किलेसकामेहि विवेकवचनतो नेक्खम्मसुखपरिग्गहो विभावितो होति।

एवं वत्थुकामकिलेसकामविवेकवचनतोयेव च एतेसं पठमेन सङ्किलेसवत्थुप्पहानं, दुतियेन सङ्किलेसप्पहानं। पठमेन लोलभावस्स हेतुपरिच्चागो, दुतियेन बालभावस्स। पठमेन च पयोगसुद्धि, दुतियेन आसयपोसनं विभावितं होती ति विञ्ञातब्बं। एस ताव नयो कामेही ति एत्थ वुत्तकामेसु वत्थुकामपक्खे।

किलेसकामपक्खे पन छन्दो ति च रागो ति च एवमादीहि अनेकभेदो कामच्छन्दो येव कामो ति अधिप्पेतो। सो च अकुसलपरियपन्नो पि समानो "तत्थ कतमो कामो? छन्दो कामो" (अभि० २-३०८) ति आदिना नयेन विभङ्गे झानपटिपक्खतो विसुं वुत्तो। किलेसकामत्ता वा पुरिमपदे वुत्तो, अकुसलपरियापन्नत्ता दुतियपदे। अनेकभेदतो चस्स कामतो ति अवत्वा कामेही ति वुत्तं।

अञ्ञेसं पि च धम्मानं अकुसलभावे विज्जमाने "तत्थ कतमे अकुसला धम्मा?

काम है, राग काम है, सङ्कल्प राग काम है—इन्हें काम कहा जाता है" —इस प्रकार क्लेशकाम कहे गये हैं, उन सबको इसी में संगृहीत समझना चाहिये। ऐसी स्थिति में "कामों से विरहित होकर ही" का अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये—"वस्तुकामों से भी विरहित होकर ही"; एवं इसके द्वारा 'कायविवेक' बतलाया गया है।

विविच्च अकुसलेहि धम्मेहि (अकुशल धर्मों में विरहित होकर)—इसका अर्थ यह समझना चाहिये—क्लेश कामों से या सभी अकुशलों से विरहित होकर। इसके द्वारा 'चित्तविवेक' बतलाया गया है। एवं इस प्रकार प्रथम के द्वारा 'कामसुखों का परित्याग' सूचित होता है; क्योंकि यहाँ केवल वस्तुकामों से विरहित होना कहा है। दूसरे से नैष्काम्य में सुख का परिग्रह सूचित होता है; क्योंकि यह 'क्लेशकामों से विरहित होना' बतलाया है।

'यों 'वस्तुकाम, क्लेशकाम, विवेककाम' जो कहा गया है, उनमें प्रथम (=वस्तुकामविवेक) से संक्लेशवस्तु का प्रहाण एवं दूसरे से संक्लेश का प्रहाण; प्रथम से लोलुपता के हेतु का परित्याग, दूसरे से अविद्या (बालभाव) का; प्रथम से प्रयोग-(=आजीव) शुद्धि एवं दूसरे से आशय (=अभिरुचि) का परिष्कार सूचित होता है—ऐसा जानना चाहिये।

जब 'कामों से' काम का तात्पर्य 'वस्तुकाम' समझा जाता है, तब यह उपर्युक्त नियम है; किन्तु यदि उन्हें क्लेशकाम के अर्थ में लिया जाय तो छन्द, राग आदि अनेक भेदों वाले कामच्छन्द से ही 'काम' का तात्पर्य है। और यद्यपि वह काम 'अकुशल' में समाविष्ट है, तथापि "वहाँ कौन काम है? छन्द काम है" आदि प्रकार से **विभङ्ग** में ध्यान का प्रतिपक्ष होने से पृथक् रूप से कहा गया है। अथवा, क्लेशकाम होने से पूर्वपद में एवं अकुशल में समाविष्ट होने से उत्तरपद में कहा गया है। एवं इस काम के अनेक भेद होने से एकवचन—काम से—न कहकर 'कामों से'—ऐसा बहुवचन का प्रयोग किया गया है।

एवं यद्यपि अन्य धर्मों में भी अकुशलता हो सकती है, किन्तु "उनमें कौन अकुशल है?

कामच्छन्दो" (अभि०२-३०८)ति आदिना नयेन **विभङ्गे** उपरि झानङ्गानं पच्चनीक-पटिपक्खभावदस्सनतो नीवरणानेव वुत्तानि। नीवरणानि हि झानङ्गपच्चनीकानि, तेसं झानङ्गानेव पटिपक्खानि, विद्धंसकानि विघातकानी ति वुत्तं होति। तथा हि "समाधि कामच्छन्दस्स पटिपक्खो, पीति ब्यापादस्स, वितक्को थीनमिद्धस्स, सुखं उद्धच्चकुक्कुच्चस्स, विचारो विचिकिच्छाया" ति **पेटके** वुत्तं।

एवमेत्थ "विविच्चेव कामेही" ति इमिना कामच्छन्दस्स विक्खम्भनविवेको वुत्तो होति। विविच्च अकुसलेहि धम्मेही ति इमिना पञ्चन्नं पि नीवरणानं, अगहितग्गहणेन पन पठमेन कामच्छन्दस्स, दुतियेन सेसनीवरणानं। तथा पठमेन तीसु अकुसलमूलेसु पञ्चकाम-गुणभेदविसयस्स लोभस्स, दुतियेन आघातवत्थुभेदादिविसयानं दोसमोहानं। ओघादीसु वा धम्मेसु पठमेन कामोघकामयोगकामासवकामुपादानअभिज्झाकायगन्थकामरागसंयोजनानं, दुतियेन अवसेसओघ-योगासव-उपादान-गन्थ-संयोजनानं। पठमेन च तण्हाय तंसम्पयुत्त-कानं च, दुतियेन अविज्जाय तंसम्पयुत्तकानं च। अपि च, पठमेन लाभसम्पयुत्तानं अट्ठन्नं चित्तुप्पादानं, दुतियेन सेसानं चतुन्नं अकुसलचित्तुप्पादानं विक्खम्भनविवेको वुत्तो होती ति वेदितब्बो। अयं ताव "विविच्चेव कामेहि विविच्च अकुसलेहि धम्मेही" ति एत्थ अत्थप्पकासना।

२७. एत्तावता च पठमस्स झानस्स पहानङ्गं दस्सेत्वा इदानि सम्पयोगङ्गं दस्सेतुं **सवितक्कं सविचारं** ति आदि वुत्तं। तत्थ वितक्कनं वितक्को, ऊहनं ति वुत्तं होति। स्वायं

कामच्छन्द" (अभि० २, ३०८) आदि प्रकार से **विभङ्ग** में बाद के ध्यानाङ्गों से उनकी विपरीतता, प्रतिपक्षभाव, प्रदर्शित करने के लिये केवल नीवरण ही कहे गये हैं। नीवरण ध्यानाङ्गों के विपरीत हैं, ध्यानाङ्ग ही उनके प्रतिपक्ष हैं, विध्वंसक हैं, विघातक हैं—ऐसा कहा गया है। वैसे ही—"समाधि कामच्छन्द का प्रतिपक्ष है, प्रीति व्यापाद (=बुरी इच्छा) की, वितर्क स्त्यान-मृद्ध का, सुख औद्धत्य-कौकृत्य का, विचार विचिकित्सा का प्रतिपक्ष"—इस प्रकार **पेटक** (=महाकच्चान द्वारा देशित पिटकों की संवर्णना) में कहा गया है।

इस प्रकार यहाँ—"कामों से विरहित होकर"—इससे कामच्छन्द का विष्कम्भण-विवेक बतलाया गया है। और "अकुशल धर्मों से विरहित होकर" इससे पाँचों नीवरणों का भी। किन्तु पुनरावृत्ति न करने पर, प्रथम के द्वारा कामच्छन्द का, द्वितीय द्वारा शेष नीवरणों का एवं प्रथम द्वारा तीन अकुशलमूलों में 'पञ्च कामगुण' भेद वाले विषय के लोभ का, द्वितीय द्वारा आघातवस्तु के भेद आदि विषयों वाले (=आघात के लिये विभिन्न परिस्थितियाँ ही जिनके क्षेत्र हैं, ऐसे) दोष एवं मोह का। अथवा प्रथम द्वारा ओघ आदि धर्मों में से काम-ओघ, काम-योग, काम-आस्रव, काम-उत्पादन, अभिध्या (=विषयगत लोभ), काम-ग्रन्थ और काम-राग संयोजनों का; द्वितीय द्वारा शेष ओघ, योग, आस्रव, उपादान, ग्रन्थ और संयोजन का। एवं प्रथम द्वारा तृष्णा का एवं उससे सम्प्रयुक्तों का, द्वितीय से अविद्या का और उससे सम्प्रयुक्तों का। और वैसे ही—प्रथम द्वारा लोभसम्प्रयुक्त आठ चित्तोत्पादों का, द्वितीय द्वारा शेष चार अकुशल चित्तोत्पादों का 'विष्कम्भणविवेक' कहा गया है—ऐसा तात्पर्य समझना चाहिये।

यह—"**कामों से विरहित होकर ही, अकुशल धर्मों से विरहित होकर**" की व्याख्या (अर्थ प्रकाशन) है।

२७. यहाँ तक प्रथम ध्यान के द्वारा प्रहाण (=त्याग) दिये गये अङ्गों को प्रदर्शित कर अब

आरम्मणे चित्तस्स अभिनिरोपनलक्खणो, आहननपरियाहननरसो। तथा हि तेन योगावचरो आरम्मणं वितक्काहतं वितक्कपरियाहतं करोती ति वुच्चति, आरम्मणे चित्तस्स आनयन-पच्चुपट्ठानो।

विचरणं विचारो, अनुसञ्चरणं ति वुत्तं होति। स्वायं आरम्मणानुमज्जनलक्खणो, तत्थ सहजातानुयोजनरसो, चित्तस्स अनुप्पबन्धनपच्चुपट्ठानो।

सन्ते पि च नेसं कत्थचि अविप्पयोगे, ओळारिकट्ठेन पुब्बङ्गमट्ठेन च घण्टाभिघातो विय चेतसो पठमाभिनिपातो वितक्को। सुखुमट्ठेन अनुमज्जनसभावेन च घण्टानुरवो विय अनुप्पबन्धो विचारो। विप्फारवा चेत्थ वितक्को पठमुप्पत्तिकाले परिप्फन्दनभूतो चित्तस्स, आकासे उप्पतितुकामस्स पक्खिनो पक्खविक्खेपो विय, पदुमाभिमुखपातो विय च गन्धानुबन्धचेतसो भमरस्स। सन्तवुत्ति विचारो नातिपरिफन्दनभावो चित्तस्स, आकासे उप्पतितस्स पक्खिनो पक्खप्पसारणं विय, परिब्भमनं विय च पदुमाभिमुखपतितस्स भमरस्स पदुमस्स उपरिभागं।

दुकनिपातट्ठकथायं पन "अकासे गच्छतो महासकुणस्स उभोहि पक्खेहि वातं गहेत्वा पक्खे सन्निसीदापेत्वा गमनं विय आरम्मणं चेतसो अभिनिरोपनभावेन पवत्तो वितक्को। वातग्गहणत्थं पक्खे फन्दापयमानस्स गमनं विय अनुमज्जनभावेन पवत्तो विचारो" (   ) ति वुत्तं, तं अनुप्पबन्धेन पवत्तियं युज्जति। सो पन नेसं विसेसो पठमदुतियज्झानेसु पाकटो होति।

'सम्प्रयोग' (=ध्यान के साथ सम्प्रयुक्त होने वाले) अङ्गों को प्रदर्शित करने के लिये "सवितर्क सविचार" आदि कहा गया है। उनमें, विशेष रूप से तर्क, ऊहन करना, 'वितर्क' है। इसका **लक्षण** अपने आलम्बन में चित्त को प्रवृत्त करना है, इसका **रस** (=कार्य) प्रहाण करना, निरन्तर प्रहाण करना है। यों वह साधक आलम्बन को वितर्काहत कर डालता है—ऐसा कहा जाता है। आलम्बन में चित्त को ले आना इसका **प्रत्युपस्थान** है।

आलम्बन में विचरण करना, निरन्तर विचरण करना 'विचार' है। अपने आलम्बन का अनुमज्जन (=मर्दन, रगड़ना)—इसका **लक्षण** है, उसमें सहजात धर्मों को लगाये रखना—इसका **रस** है, आलम्बन के साथ चित्त को बाँधे रखना—इसका **प्रत्युपस्थान** है।

और यद्यपि कहीं-कहीं वे परस्पर पृथक् रूप में नहीं पाये जाते, तथापि वितर्क आलम्बन के प्रति चित्त का प्रथम अभिनिपात (=झुकाव) है, इस अर्थ में कि वह स्थूल एवं पूर्वगामी है, घण्टे पर आघात के समान। विचार चित्त का आलम्बन में अनुबन्ध है, इस अर्थ में कि वह सूक्ष्म एवं अनुमज्जन स्वभाव का है, घण्टे की प्रतिध्वनि (अनुगूँज) के समान। एवं इनमें, वितर्क विस्फुरण (=स्पन्दन) युक्त है, विचार-प्रक्रिया की प्रथम उत्पत्ति के समय चित्त का स्पन्दन रूप है, आकाश में उड़ने की इच्छा करने वाले पक्षी द्वारा अपने पङ्खों को हिलाने-डुलाने के समान, या गन्ध से आकृष्ट चित्त वाले भौंरें द्वारा कमल-पुष्प पर मँड़राने के समान।

विचार की वृत्ति शान्त है। वह चित्त का, आकाश में उड़ने वाले पक्षी के पङ्ख फैलाने के समान और कमल के फूल पर मँड़राने वाले भौंरे द्वारा कमल के ठीक ऊपर मँड़राने के समान अतिस्पन्दन रूप है।

अङ्गुत्तरनिकाय के दुकनिपात की अट्ठकथा में कहा गया है— "आकाश में उड़ते हुए विशाल पक्षी द्वारा दोनों पङ्खों में हवा लेकर, उन्हें बलपूर्वक नीचे झुकाकर उड़ने के समान, आलम्बन के प्रति चित्त को आरोपणभाव से प्रवृत्त करना वितर्क; एवं हवा लेने के लिये पङ्खों को हिलाते हुए उड़ते रहने

अपि च—मलग्गहितं कंसभाजनं एकेन हत्थेन दळ्हगहणहत्थो विय वितक्को, परिमज्जनहत्थो विय विचारो। तथा कुम्भकारस्स दण्डप्पहारेन चक्कं भमयित्वा भाजनं करोन्तस्स उप्पीळनहत्थो विय वितक्को, इतो चितो च सञ्चरणहत्थो विय विचारो। तथा मण्डलं करोन्तस्स मज्झे सन्निरुम्भित्वा ठितकण्टको विय अभिनिरोपनो वितक्को, बहि परिब्भमनकण्टको विय अनुमज्जनो विचारो।

इति इमिना च वितक्केन इमिना च विचारेन सह वत्तति रुक्खो विय पुप्फेन चा ति इदं झानं "सवितक्कं सविचारं" ति वुच्चति। **विभङ्गे** पन "इमिना च वितक्केन इमिना च विचारेन उपेतो होति समुपेतो" (अभि० २-३०९)ति आदिना नयेन पुग्गलाधिट्ठाना देसना कता। अत्थो पन तत्रापि एवमेव दट्ठब्बो।

२८. **विवेकजं** ति। एत्थ विवित्ति विवेको, नीवरणविगमो ति अत्थो। विवित्तो ति वा विवेको, नीवरणविवित्तो झानसम्पयुत्तधम्मरासी ति अत्थो। तस्मा विवेका, तस्मिं वा विवेके जातं ति विवेकजं।

२९. **पीतिसुखं** ति। एत्थ पीणयती ति पीति। सा सम्पियायनलक्खणा, कायचित्त-पीणनरसा, फरणरसा वा, ओदग्यपच्चुपट्ठाना। सा पनेसा १.खुद्दिका पीति, २. खणिका पीति, ३. ओक्कन्तिका पीति, ४. उब्बेगा पीति, ५. फरणा पीती ति पञ्चविधा होति।

तत्थ **खुद्दिका पीति** सरीरे लोमहंसमत्तमेव कातुं सक्कोति। **खणिका पीति** खणे

के समान अनुमज्जनभाव से प्रवृत्त करना 'विचार' है"। वह कथन अनुप्रबन्धन के सहारे चित्तप्रवृत्ति में युक्त होता है। उनका वह भेद प्रथम और द्वितीय ध्यानों में (जब ध्यान पाँच अङ्गों वाला माना जाता है) स्पष्ट होता है।

और भी—जिसमें मैल बैठ गया हो, ऐसे काँसे के बर्तन को दृढ़तापूर्वक पकड़ने वाले हाथ के समान वितर्क है; माँजने वाले हाथ के समान विचार है। एवं—दण्डप्रहार से चाक घूमाते हुए बर्तन बनाने वाले कुम्हार के मिट्टी के लोंदे को दबाने वाले हाथ के समान 'वितर्क' है; आकार देने के लिये यहाँ—वहाँ फिरने वाले हाथ के समान 'विचार' है। तथा—परकाल से गोला बनाने (=कागज आदि पर गोल आकार खींचने) वाले व्यक्ति द्वारा बीच में गड़ाकर खड़े किये गये काँटे के समान आलम्बन में चित्त का आरोपण करना 'वितर्क' है; बाहर घूमने (=आकार खींचने) वाले काँटे के समान अनुमज्जन करना 'विचार' है।

इस प्रकार, पुष्पयुक्त वृक्ष के समान यह प्रथम ध्यान इस वितर्क एवं विचार के साथ रहता है; अतः उसे 'सवितर्क सविचार' कहा जाता है। किन्तु **विभङ्ग** में "इस वितर्क से और इस विचार से युक्त, संयुक्त होता है" आदि प्रकार से पुद्गल के विषय में देशना की गयी है। किन्तु वहाँ भी अर्थ तो यही (=उपर्युक्त ही) समझना चाहिये।

२८. **विवेकजं**— यहाँ विवित्त करना ही विवेक है। इसका अर्थ है नीवरणों से रहित होना। अथवा विवित्त (ही) विवेक है। इसका अर्थ है नीवरणों से विवित्त (=रहित), ध्यान से सम्प्रयुक्त धर्मों का समूह। उस विवेक से या उस विवेक में उत्पन्न है अतः विवेकज है।

२९. **पीतिसुखं**— यहाँ—तृप्त करती है या बढ़ाती है इसलिये प्रीति है। आलम्बन में अनुरक्त करना इसका लक्षण है। काय व चित्त को तृप्त करना या बढ़ाना इसका रस है। (जब प्रीति उत्पन्न होती है तब चित्त विकसित कमल के समान खिल जाता है, सम्पूर्ण शरीर तृप्त एवं बृंहित=बढ़ा हुआ प्रतीत होता है।) गद्‌गद (औदग्र्य) होना इसका प्रत्युपस्थान है।

खणे विज्जुप्पादसदिसा होति। **ओक्कन्तिका पीति** समुद्दतीरं वीचि विय कायं ओक्कमित्वा ओक्कमित्वा भिज्जति। **उब्बेगा पीति** बलवती होति, कायं उद्धग्गं कत्वा आकासे लङ्घापनप्पमाणप्पत्ता।

तथा हि पुण्णवल्लिकवासी **महातिस्सत्थेरो** पुण्णमदिवसे सायं चेतियङ्गणं गन्त्वा चन्दालोकं दिस्वा महाचेतियाभिमुखो हुत्वा "इमाय वत वेलाय चतस्सो परिसा महाचेतियं वन्दन्ती" ति पकतिया दिट्ठारम्मणवसेन बुद्धारम्मणं उब्बेगापीतिं उप्पादेत्वा सुधातले पहटचित्रगेण्डुको विय आकासे उप्पतित्वा महाचेतियङ्गणे येव पतिट्ठासि।

तथा गिरिकण्डकविहारस्स उपनिस्सये वत्तकालकगामे एका कुलधीता पि बलवबुद्धारम्मणाय उब्बेगापीतिया आकासे लङ्घेसि।

३०. तस्सा किर मातापितरो सायं धम्मस्सवनत्थाय विहारं गच्छन्ता "अम्म, त्वं गरुभारा अकाले विचरितुं न सक्कोसि, मयं तुय्हं पत्तिं कत्वा धम्मं सोस्सामा" ति अगमंसु। सा गन्तुकामा पि तेसं वचनं पटिबाहितुं असक्कोन्ती घरे ओहायित्वा घराजिरे ठत्वा चन्दालोकेन गिरिकण्डके आकासचेतियङ्गणं ओलोकेन्ता चेतियस्स दीपपूजं अद्दस, चतस्सो च परिसा मालागन्धादीहि चेतियपूजं कत्वा पदक्खिणं करोन्तियो भिक्खुसङ्घस्स च गणसज्झायसद्दं अस्सोसि। यथस्सा "धञ्ञा वतिमे ये विहारं गन्त्वा एवरूपे चेतियङ्गणे अनुसञ्चरितुं, एवरूपं च मधुरधम्मकथं सोतुं लभन्ती" ति मुत्तारासिसदिसं चेतियं पस्सन्तिया एव

वह प्रीति पाँच प्रकार की होती है—१. क्षुद्रिका, २. क्षणिका, ३. अवक्रान्तिका, ४. उद्वेगा एवं ५. स्फुरणा।

इनमें, **क्षुद्रिका प्रीति** शरीर में केवल लोमहर्षण (=रोमांच) कर सकती है। **क्षणिका प्रीति** क्षण-क्षण पर विद्युत्पाद के समान होती है। **अवक्रान्तिका** प्रीति समुद्र तट की तरङ्ग के समान शरीर में फैल-फैलकर समाप्त हो जाती है। **उद्वेगा** प्रीति सबल होती है। यह शरीर को ऊपर की ओर आकाश में उछालती हुई-सी प्रतीत होती है।

वैसे ही (जैसे कि) **पुण्णवल्लिक** निवासी **महातिष्य स्थविर** ने पूर्णिमा के दिन सायंकाल चैत्य के आँगन में जाकर चन्द्रमा के प्रकाश को देख महाचैत्य की ओर मुख करके—"अहा! इस समय तो चारों परिषदें (भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक, उपासिका) महाचैत्य की वन्दना कर रही हैं"— ऐसा सोचकर स्वाभाविक रूप से दीख रहे आलम्बन द्वारा बुद्ध को आलम्बन बनाकर उस में उद्वेगा प्रीति उत्पन्न की। एवं प्लास्टर की गयी (चिकनी) सतह पर चित्रित गेंद के समान स्थविर आकाश में उड़कर सीधे महाचैत्य के आँगन में ही जाकर खड़े हुए।

३०. वैसे ही, **गिरिकण्डक** महाविहार के पास **वत्तकालक** ग्राम में एक कुलपुत्री भी बुद्ध को आलम्बन बनाकर सबल उद्वेगा प्रीति (उत्पन्न करने) से उड़कर आकाश में चली गयी थी।

उसके माता-पिता ने सायङ्काल धर्मश्रवण के लिये विहार जाते समय "पुत्रि! तुम गर्भिणी हो, यों कुसमय में चलना-फिरना तुम्हारे लिये सम्भव नहीं है, (अतः तुम यहीं रहो), हम तुम्हारे प्रति पुण्य-दान का सङ्कल्प कर धर्म-श्रवण करेंगे"—ऐसा कहकर प्रस्थान किया। वह भी जाना चाहती थी, परन्तु उन पूज्यों की बात टाल नहीं सकी। अतः उसने घर में ही रहकर घर के आँगन में खडी होकर चाँदनी में गिरिकण्डक के आकाशचैत्य (=पर्वत पर बने हुए चैत्य) के आँगन की ओर देखते हुए चैत्य की दीप-पूजा, आरती को देखा, और जब चारों परिषदें माला-गन्ध आदि से चैत्य की पूजा कर प्रदक्षिणा कर रही थी, तब भिक्षुसङ्घ के सामूहिक धर्मवाचन को सुना। तब उसने—"अहा! ये धन्य हैं

उब्बेगापीति उदपादि। सा आकासे लङ्घित्वा माता पितूनं पुरिमतरं येव आकासतो चेतियङ्गणे ओरुय्ह चेतियं वन्दित्वा धम्मं सुणमाना अट्ठासि।

अथ नं मातापितरो आगन्त्वा "अम्म, त्वं कतरेन मग्गेन आगतासी" ति पुच्छिंसु। सा "आकासेन आगताम्हि, न मग्गेना" ति वत्वा "अम्म, आकासेन नाम खीणासवा सञ्चरन्ति, त्वं कथं आगता?" ति वुत्ता आह—"मय्हं चन्दालोकेन चेतियं ओलोकेन्तिया ठिताय बुद्धारम्मणा बलवपीति उप्पज्जि। अथाहं नेव अत्तनो ठितभावं, न निसिन्नभावं अञ्ञासिं, गहितनिमित्तेनेव पन आकासे लङ्घित्वा चेतियङ्गणं पतिट्ठिताम्ही" ति। एवं उब्बेगापीति आकासे लङ्घापनप्पमाणा होति।

फरणापीतिया पन उप्पन्नाय सकलसरीरं धमित्वा पूरितवत्थि विय महता उदकोघेन पक्खन्दपब्बतकुच्छि विय च अनुपरिप्फुटं होति।

३१. सा पनेसा पञ्चविधा पीति गब्भं गण्हन्ती परिपाकं गच्छन्ती दुविधं पस्सद्धिं परिपूरेति— कायपस्सद्धिं च, चित्तपस्सद्धिं च। पस्सद्धिं गब्भं गण्हन्ती परिपाकं गच्छन्ती दुविधं पि सुखं परिपूरेति—कायिकं च, चेतसिकं च। सुखं गब्भं गण्हतं परिपाकं गच्छन्तं तिविधं समाधिं परिपूरेति—खणिकसमाधिं, उपचारसमाधिं, अप्पनासमाधिं ति। तासु या अप्पनासमाधिस्स मूलं हुत्वा वड्ढमाना समाधिसम्पयोगं गता फरणापीति, अयं इमस्मिं अत्थे अधिप्पेता पीती ति।

३२. इतरं पन सुखनं सुखं, सुट्ठु वा खादति खणति च कायचित्ताबाधं ति सुखं। तं

जो विहार में जाकर इस प्रकार चैत्य के आँगन में घूम–फिर रहे हैं, ऐसी मधुर धर्मकथा सुन पा रहे हैं"–ऐसा सोचते हुए मुक्ताराशि के समान, चाँदनी में धवल चैत्य को देखते–देखते ही उसे उद्वेगा प्रीति उत्पन्न हुई। वह उड़कर आकाश में पहुँची और माता–पिता से पहले ही, आकाश मार्ग से जाकर चैत्य के आँगन में उतर कर चैत्य की वन्दना कर, धर्मश्रवण करती हुई खड़ी हो गयी।

तब माता–पिता ने वहाँ आने पर उससे पूछा–"पुत्रि! तुम किस रास्ते से आयी हो?" उसने कहा–"आकाश से आयी हूँ, रास्ते से नहीं।" "पुत्रि! आकाश से तो क्षीणास्रव साधक ही आ सकते हैं, तुम कैसे आ गयी?" ऐसा पूछे जाने पर उसने कहा–"मैं जब चाँदनी में चैत्य को देखती हुई खड़ी थी, तब मुझे बुद्ध–आलम्बन में सबल प्रीति उत्पन्न हुई। तब मुझे यह ज्ञान नहीं रहा कि–मैं खड़ी हूँ या बैठी हूँ। ग्रहण किये हुए निमित्त से ही आकाश में उड़कर चैत्य के आँगन में आ गयी हूँ।" अतः उद्वेगा प्रीति इतनी शक्तिशाली हो सकती है कि वह शरीर को ऊपर उठाकर आकाश में ले जा सके।

स्फरणा प्रीति– उत्पन्न होने पर सम्पूर्ण शरीर में फैल जाती है; जैसे चमड़े आदि की थैली फूंक मार कर भर दी गयी हो, और जैसे पर्वत की कुक्षि (=तलहटी में खाली जगह) विशाल जल–प्रवाह से भर गयी हो।

३१. यह पाँच प्रकार की प्रीति जब गौरव–(आधिक्य=गर्भ) शालिनी होती है, परिपक्व होती है, तब द्विविध प्रश्रब्धि (शान्ति) (१. कायप्रश्रब्धि एवं २. चित्तप्रश्रब्धि) को परिपूर्ण करती है। प्रश्रब्धि गौरवशालिनी एवं परिपक्व होकर द्विविध सुख (कायिकऔर चैतसिक) को परिपूर्ण करती है। सुख भी अतिशयता को पाकर व परिपक्व होकर त्रिविध समाधि–क्षणिक समाधि, उपचार समाधि, अर्पणा समाधि को परिपूर्ण करता है। इनमें जो अर्पणा समाधि की मूल बनकर बढ़ने वाली, समाधि के साथ सम्प्रयुक्त होकर विस्तार पाने वाली स्फरणा प्रीति है, यही इस सन्दर्भ में अभिप्रेत है।

३२. किन्तु अन्य शब्दों में, सुखी करना ही सुख है, अथवा काय–चित्त के आबाध (=कष्ट,

सातलक्खणं, सम्पयुत्तानं उपब्रूहनरसं, अनुग्गहपच्चुपट्ठानं। सति पि च नेसं कत्थचि अविप्पयोगे इट्ठारम्मणपटिलाभतुट्ठि पीति। पटिलद्धरसानुभवनं सुखं। यत्थ पीति, तत्थ सुखं। यत्थ सुखं, तत्थ न नियमतो पीति। सङ्खारक्खन्धसङ्गहिता पीति, वेदनाक्खन्धसङ्गहितं सुखं। कन्तारखिन्नस्स वनन्तुदकदस्सनसवनेसु विय पीति, वनच्छायापवेसनउदकपरिभोगेसु विय सुखं। तस्मिं तस्मिं समये पाकटभावतो चेतं वुत्तं ति वेदितब्बं। इति अयं च पीति इदं च सुखं अस्स झानस्स, अस्मिं वा झाने अत्थी ति इदं झानं **पीतिसुखं** ति वुच्चति।

३३. अथ वा पीति च सुखं च पीतिसुखं, धम्मविनयादयो विय। विवेकजं पीतिसुखमस्स झानस्स, अस्मिं वा झाने अत्थी ति एवं पि विवेकजं पीतिसुखं। यथेव हि झानं, एवं पीतिसुखं पेत्थ विवेकजमेव होति। ते चस्स अत्थि, तस्मा एकपदेनेव "विवेकजं पीतिसुखं" ति पि वुत्तं युज्जति। **विभङ्गे** पन "इदं सुखं इमाय पीतिया सहगतं" (अभि० २-३०९) ति आदिना नयेन वुत्तं। अत्थो पन तत्थापि एवमेव दट्ठब्बो।

३४. **पठमं झानं** ति। इदं परतो आविभविस्सति। **उपसम्पज्जा** ति। उपगन्त्वा, पापुणित्वा ति वुत्तं होति। उपसम्पादयित्वा वा, निप्फादेत्वा ति वुत्तं होति। **विभङ्गे पन** "उपसम्पज्जा ति पठमस्स झानस्स लाभो पटिलाभो पत्ति सम्पत्ति फुसना सच्छिकिरिया उपसम्पदा" (अभि० २-३०२) ति वुत्तं। तस्सा पि एवमेव अत्थो दट्ठब्बो।

विहरती ति। तदनुरूपेन इरियापथविहारेन इतिवुत्तप्पकारझानसमङ्गी हुत्वा अत्त-

---

दुःख) को अच्छी तरह खाता है या खनता है, इसलिये सुख है। उसका लक्षण शीतल होना है। सम्प्रयुक्तों को बढ़ाना इसका रस है। अनुग्रह इसका प्रत्युपस्थान है। यद्यपि कहीं-कहीं वे प्रीति और सुख पृथक् नहीं रहते, तथापि इष्ट आलम्बन के प्रतिलाभ से उत्पन्न सन्तुष्टि प्रीति है, प्रतिलब्ध (प्राप्त) का अनुभव सुख है। जहाँ प्रीति है, वहाँ सुख है; किन्तु जहाँ सुख है, वहाँ प्रीति का होना आवश्यक नहीं है। प्रीति संस्कारस्कन्ध में संगृहीत है; और सुख वेदनास्कन्ध में। कान्तार (=गहन वन) में व्याकुल पथिक द्वारा वन में जल को देखने या उसके विषय में सुनने के समान प्रीति है, और सुख है वन में छाया के सेवन और जल के उपभोग के समान। उन-उन समयों में उनकी स्पष्टता होने के कारण यह कहा गया है-ऐसा समझना चाहिये। इस प्रकार इस ध्यान की यह प्रीति है, यह सुख है, अथवा ध्यान में यह है, अतः इस ध्यान को प्रीति-सुख वाला कहा जाता है।

३३. अथवा, धर्मविनय आदि के समान समस्त पद समझिये-प्रीति और सुख=प्रीतिसुख। इस प्रकार परस्पर स्वतन्त्र पदों के रूप में विवेक से उत्पन्न प्रीतिसुख इस ध्यान का है, या इस ध्यान में है, इसलिये भी प्रीतिसुखविवेकज है। जिस प्रकार ध्यान है, उसी प्रकार प्रीतिसुख भी यहाँ प्रस्तुत प्रसङ्ग में विवेकज ही होता है। और वह विवेकज प्रीतिसुख इस ध्यान का है, इसलिये एक पद के द्वारा ही 'विवेकज प्रीतिसुख' इस प्रकार भी कहा जा सकता है। **विभङ्ग में**-जो "इस सुख व इस प्रीति के साथ" आदि प्रकार से कहा गया है, वहाँ भी उसका अर्थ इसी प्रकार समझना चाहिये।

३४. **प्रथम ध्यान**- इसका स्पष्टीकरण आगे (द्र०-पृ० २०६, ४४ पै०) किया जायगा। **'उपसम्पज्ज'**- (उपसम्पन्न होकर) पास जाकर, प्राप्त कर। अथवा सम्पादित कर, निष्पादित कर। **विभङ्ग** में कहा गया है-"उपसम्पद्य का अर्थ है प्रथम ध्यान का लाभ, प्राप्ति, स्पर्श, साक्षात्कार व उपसम्पदा" (अभि० २, ३०२)। उसका भी यही अर्थ समझना चाहिये।

विहरति (विहार करता है)-उसके अनुरूप ईर्यापथ में विहार द्वारा, उक्त प्रकार के ध्यान से युक्त होकर, अपनी खड़े होने बैठने आदि की क्रिया (=ईर्या) वृत्ति, पालन, यपन (उन-उन ईर्यापथों

भावस्स इरियं वुत्तिं पालनं यपनं यापनं चारं विहारं अभिनिप्फादेति। वुत्तं हेतं **विभङ्गे**—"विहरती ति इरियति वत्तति पालेति यपेति यापेति चरति विहरति, तेन वुच्चति विहरती" (अभि०२-३०३) ति।

पञ्चङ्गविप्पहीनादीनमत्थो

३५. यं पन वुत्तं "**पञ्चङ्गविप्पहीनं पञ्चङ्गसमन्नागतं** ति। तत्थ १. कामच्छन्दो, २. ब्यापादो, ३. थीनमिद्धं, ४. उद्धच्चकुक्कुच्चं, ५. विचिकिच्छा ति इमेसं पञ्चन्नं नीवरणानं पहानवसेन पञ्चङ्गविप्पहीनता वेदितब्बा। न हि एतेसु अप्पहीनेसु झानं उप्पज्जति। तेनस्सेतानि पहानङ्गानी ति वुच्चन्ति।

किञ्चापि हि झानक्खणे अञ्ञे पि अकुसला धम्मा पहीयन्ति, तथापि एतानेव विसेसेन झानन्तरायकरानि।

कामच्छन्देन हि नानाविसयप्पलोभितं चित्तं न एकत्तारम्मणे समाधियति। कामच्छन्दाभिभूतं वा तं न कामधातुप्पहानाय पटिपदं पटिपज्जति। ब्यापादेन चारम्मणे पटिहञ्ञमानं न निरन्तरं पवत्तति। थीनमिद्धाभिभूतं अकम्मञ्ञं होति। उद्धच्चकुक्कुच्चपरेतं अवूपसन्तमेव हुत्वा परिब्भमति। विचिकिच्छाय उपहतं झानाधिगमसाधिकं पटिपदं नारोहति। इति विसेसेन झानन्तरायकरत्ता एतानेव पहानङ्गानी ति वुत्तानी ति।

३६. यस्मा पन वितक्को आरम्मणे चित्तं अभिनिरोपेति, विचारो अनुप्पबन्धति, तेहि अविक्खेपाय सम्पादितपयोगस्स चेतसो पयोगसम्पत्तिसम्भवा पीति पीणनं, सुखं च उपब्रूहनं करोति। अथ नं ससेससम्पयुत्तधम्मं एतेहि अभिनिरोपनानुप्पबन्धपीणनउपब्रूहनेहि

के अनुसार रहना), यापन, चर्या विहार का निष्पादन करता है। **विभङ्ग** में कहा गया है—"विहार करता है अर्थात् क्रिया करता है, वर्तता है, पालन करता है, यपन करता है, यापन करता है, चर्या करता है, विहार करता है—इसलिये कहते हैं कि विहार करता है" (अभि० २, ३०२)

'पञ्चाङ्गविप्रहीण' आदि शब्दों का अर्थ

३५. जो पीछे (पृ० १९२ में) कहा है कि **पञ्चङ्गविप्पहीनं पञ्चङ्गसमन्नागतं** (पाँच अङ्गों से रहित, पाँच अङ्गों से युक्त)—उनमें १. कामच्छन्द, २. व्यापाद, ३. स्त्यानमृद्ध, ४. औद्धत्य-कौकृत्य, ५. विचिकित्सा—इन पाँच नीवरणों के प्रहाण को पञ्चाङ्गरहित होना चाहिये। इनका प्रहाण किये विना ध्यान उत्पन्न नहीं होता, इसलिये ये 'प्रहाणाङ्ग' कहे जाते हैं।

यद्यपि ध्यान के क्षण में अकुशल धर्मों का भी प्रहाण होता है, तथापि ये पूर्वोक्त कामच्छन्द आदि ही विशेष रूप से ध्यान के बाधक हैं।

कामच्छन्द के कारण नाना विषयों में लुब्ध चित्त एक आलम्बन में एकाग्र नहीं होता। अथवा कामच्छन्द के वशीभूत वह चित्त कामधातु के प्रहाण करने वाले मार्ग पर नहीं चल पाता। व्यापाद द्वारा प्रताड़ित चित्त आलम्बन के प्रति निरन्तर प्रवृत्त नहीं हो पाता। स्त्यान-मृद्ध के वशीभूत चित्त अकमर्ण्य होता है। औद्धत्य-कौकृत्य द्वारा ग्रस्त चित्त अशान्त होकर भटकता रहता है। विचिकित्सा द्वारा उपहत चित्त ध्यान-लाभकारक मार्ग पर आरूढ़ नहीं होता। यों, इन सभी में विशेष रूप से ध्यान की बाधकता होने से इन्हें ही 'प्रहाणाङ्ग' कहा जाता है।

३६. क्योंकि वितर्क आलम्बन की ओर चित्त को प्रवृत्त करता है, विचार आलम्बन में चित्त को बाँधता है, उनके द्वारा बाधा उत्पन्न न हो—ऐसा उद्योग करने वाले चित्त में उद्योग की सफलता

अनुग्गहिता एकग्गता एकत्तारम्मणे समं सम्मा च आधियति, तस्मा वितक्को विचारो पीति सुखं चित्तेकग्गता ति इमेसं पञ्चन्नं उप्पत्तिवसेन पञ्चङ्गसमन्नागतता वेदितब्बा।

उप्पन्नेसु हि एतेसु पञ्चसु झानं उप्पन्नं नाम होति। तेनस्स एतानि पञ्च समन्नागतङ्गानी ति वुच्चन्ति। तस्मा न एतेहि समन्नागतं अञ्ञदेव झानं नाम अत्थी ति गहेतब्बं। यथा पन अङ्गमत्तवसेनेव चतुरङ्गिनी सेना, पञ्चङ्गिकं तुरियं, अट्ठङ्गिको च मग्गो ति वुच्चति, एवमिदं पि अङ्गमत्तवसेनेव पञ्चङ्गिकं ति वा पञ्चङ्गसमन्नागतं ति वा वुच्चती ति वेदितब्बं।

३७. एतानि च पञ्चङ्गानि किञ्चापि उपचारक्खणे पि अत्थि, अथ खो उपचारे पकतिचित्ततो बलवतरानि। इध पन उपचारतो पि बलवतरानि रूपावचरलक्खणप्पत्तानि। एत्थ हि वितक्को सुविसदेन आकारेन आरम्मणे चित्तं अभिनिरोपयमानो उप्पज्जति। विचारो अतिविय आरम्मणं अनुमज्जमानो। पीतिसुखं सब्बावन्तं पि कायं फरमानं। तेनेवाह— "नास्स किञ्चि सब्बावतो कायस्स विवेकजेन पीतिसुखेन अप्फुटं होती" (दी० १-६५) ति। चित्तेकग्गता पि हेट्ठिमम्हि समुग्गपटले उपरिमं समुग्गपटलं विय आरम्मणेसु फुसिता हुत्वा उप्पज्जति—अयमेतेसं इतरेहि विसेसो।

तत्थ चित्तेकग्गता किञ्चापि सवितक्कं सविचारं ति इमस्मिं पाठे न निद्दिट्ठा, तथापि **विभङ्गे**—"झानं ति वितक्को विचारो पीति सुखं चित्तस्सेकग्गता" (अभि० २-३०९) ति एवं वुत्तत्ता अङ्गमेव। येन हि अधिप्पायेन भगवता उद्देसो कतो, सो येव तेन **विभङ्गे** पकासितो ति।

(प्रयोग–सम्पत्ति) से उत्पन्न प्रीति प्रसन्न (प्रीणन) करती है एवं सुख वृद्धि (उपब्रूहन) करता है। तब शेष सम्प्रयुक्त धर्मों के साथ इस चित्त को इन अभिनिरूपण (=लगाना), अनुप्रबन्धन (बाँधना) प्रीणन, उपब्रूहण द्वारा अनुगृहीत (=सहायताप्राप्त) एकाग्रता एक आलम्बन में, समान एवं सम्यक् रूप से टिकती है। अतः १. वितर्क, २. विचार, ३. प्रीति, ४. सुख और ५. एकाग्रता—इन पाँचों की उत्पत्ति के कारण ध्यान की पञ्चाङ्गयुक्तता कही गयी है।

जब ये पाँचों उत्पन्न होते हैं, तभी कहा जाता है कि ध्यान उत्पन्न हुआ। इसलिये ये पाँचों 'समन्वागत (=युक्त) अङ्ग कहे जाते हैं। अतः यह नहीं समझना चाहिये कि ध्यान कुछ भिन्न है जो इनसे समन्वागत होता है; अपितु जिस प्रकार चतुरङ्गिणी सेना, पञ्चाङ्गिक तूर्य (वाद्य), अष्टाङ्गिक मार्ग आदि शब्दों की तरह केवल अङ्गों के अनुसार इसे पञ्चाङ्गिक या पञ्चाङ्गसमन्वागत कहा जाता है—ऐसा जानना चाहिये।

३७. और ये पाँचों अङ्ग यद्यपि उपचार के क्षण में भी होते हैं और उपचार में वे साधारण चित्त की अपेक्षा सबलतर होते हैं; किन्तु यहाँ प्रथम ध्यान में उपचार से भी सबलतर एवं रूपावचर के लक्षणों को प्राप्त किये हुए होते हैं। इनमें वितर्क चित्त को आलम्बन में विस्तृत रूप से लगाता हुआ उत्पन्न होता है; विचार आलम्बन का अत्यधिक मार्जन करते हुए, प्रीति–सुख शरीर को व्याप्त करते हुए। इसलिये कहा गया है—"उस भिक्षु के शरीर का कोई भी भाग विवेक से उत्पन्न प्रीति–सुख से अव्याप्त नहीं होता।" चित्त की एकाग्रता भी सन्दूक के निचले भाग पर सन्दूक के ऊपरी भाग ढक्कन के समान आलम्बन को पूरी तरह स्पर्श करती हुई उत्पन्न होती है। अन्यों से यह इसका भेद है।

इनमें, यद्यपि चित्त की एकाग्रता का उल्लेख 'सवितर्क सविचार' इस प्रकार प्रारम्भ होने वाले पाठ में नहीं किया गया है, तथापि **विभङ्ग** में—"(प्रथम) ध्यान : वितर्क, विचार, प्रीति, सुख, एकाग्रता"

तिविधकल्याणं

३८. **तिविधकल्याणं दसलक्खणसम्पन्नं** ति। एत्थ पन आदिमज्झपरियोसानवसेन तिविधकल्याणता। तेसं येव च आदिमज्झपरियोसानानं लक्खणवसेन दसलक्खणसम्पन्नता वेदितब्बा।

तत्रायं पालि—

"पठमस्स झानस्स पटिपदाविसुद्धि आदि, उपेक्खानुब्रूहना मज्झे, सम्पहंसना परियोसानं। पठमस्स झानस्स पटिपदाविसुद्धि आदि, आदिस्स कति लक्खणानि? आदिस्स तीणि लक्खणानि—यो तस्स परिपन्थो ततो चित्तं विसुज्झति, विसुद्धत्ता चित्तं मज्झिमं समथनिमित्तं पटिपज्जति, पटिपन्नत्ता तत्थ चित्तं पक्खन्दति। यं च परिपन्थतो चित्तं विसुज्झति, यं च विसुद्धत्ता चित्तं मज्झिमं समथनिमित्तं पटिपज्जति, यं च पटिपन्नत्ता तत्थ चित्तं पक्खन्दति। पठमस्स झानस्स पटिपदाविसुद्धि आदि, आदिस्स इमानि तीणि लक्खणानि। तेन वुच्चति—पठमं झानं आदिकल्याणं चेव होति तिलक्खणसम्पन्नं च।

"पठमस्स झानस्स उपेक्खानुब्रूहना मज्झे, मज्झस्स कति लक्खणानि? मज्झस्स तीणि लक्खणानि—विसुद्धं चित्तं अज्झुपेक्खति, समथपटिपन्नं अज्झुपेक्खति, एकत्तुपट्ठानं अज्झुपेक्खति। यं च विसुद्धं चित्तं अज्झुपेक्खति, यं च समथपटिपन्नं अज्झुपेक्खति, यं च एकत्तुपट्ठानं अज्झुपेक्खति। पठमस्स झानस्स उपेक्खानुब्रूहना मज्झे, मज्झस्स इमानि तीणि लक्खणानि। तेन वुच्चति—पठमं झानं मज्झेकल्याणं चेव होति तिलक्खणसम्पन्नं च।

(अभि० २–३०९) इस प्रकार कथित होने से वह एकाग्रता ध्यान का अङ्ग ही है। जिस अभिप्राय से भगवान् ने ऐसा कहा, उसी को उन्होंने **विभङ्ग** में प्रकाशित किया है।

त्रिविध कल्याण

३८. **त्रिविधकल्याणं दसलक्खणं** (तीन प्रकार से कल्याणकर, दस लक्षणों से युक्त)—इनमें, तीन प्रकार से कल्याणकर होना आरम्भ, मध्य और अन्त के अनुसार है। उन्हीं आरम्भ, मध्य और अन्त को, लक्षणों के अनुसार, दस लक्षणों से युक्त जानना चाहिये। इस सन्दर्भ में यह **पालि** है— "प्रथम ध्यान का आरम्भ मार्ग (=प्रतिपदा) विशुद्धि, मध्य में उपेक्षा की वृद्धि एवं प्रसन्नता (=सम्प्रहर्षण) अन्त है। प्रथम ध्यान का आरम्भ मार्गविशुद्धि है। इस 'आरम्भ' के कितने लक्षण है? आरम्भ के तीन लक्षण हैं— १. जो उस (ध्यान) के बाधक हैं, उनसे चित्त विशुद्ध (विमुक्त) होता है, विशुद्ध होने से चित्त मध्यम (=बीच में आने वाले) शमथ-निमित्त में लगता है, लगने से चित्त वहाँ हर्ष का अनुभव करता है; २. और बाधाओं से चित्त विशुद्ध होता है, विशुद्ध होने से चित्त मध्यम शमथनिमित्त में लगा रहता है और लगने से उसमें चित्त प्रसन्न होता है; ३. प्रथम ध्यान का आरम्भ मार्गविशुद्धि है। 'आरम्भ के ये तीन लक्षण हैं। इसीलिये कहा गया है—'प्रथम ध्यान आरम्भ में कल्याणकर एवं तीन लक्षणों से युक्त होता है।'

"प्रथम ध्यान के मध्य में उपेक्षा की वृद्धि होती है। इस 'मध्य' के कितने लक्षण हैं? मध्य के तीन लक्षण हैं—१. भिक्षु विशुद्ध चित्त की उपेक्षा करता है (क्योंकि चित्त को विशुद्ध करने के प्रयास की अब आवश्यकता नहीं रही), शमथ में लगे हुए की उपेक्षा करता है, एकाग्रता की उपेक्षा करता है। एवं २. वह भिक्षु विशुद्ध चित्त की उपेक्षा करता है, शमथ में लगे हुए की उपेक्षा करता है, एकाग्र अवस्था की उपेक्षा करता है; ३. प्रथम ध्यान के मध्य में उपेक्षा की वृद्धि है। मध्य के ये तीन लक्षण हैं : इसीलिये कहा गया है— "प्रथम ध्यान मध्य में कल्याणकर एवं तीन लक्षणों से युक्त होता है।'

"पठमस्स झानस्स सम्पहंसना परियोसानं। परियोसानस्स कति लक्खणानि? परियोसानस्स चत्तारि लक्खणानि—तत्थ जातानं धम्मानं अनतिवत्तट्ठेन सम्पहसना, इन्द्रियानं एकरसट्ठेन सम्पहंसना, तदुपगविरियवाहनट्ठेन सम्पहंसना, आसेवनट्ठेन सम्पहंसना। पठमस्स झानस्स सम्पहंसना परियोसानं, परियोसानस्स इमानि चत्तारि लक्खणानि। तेन वुच्चति—पठमं झानं परियोसानकल्याणं चेव होति चतुलक्खणसम्पन्नं चा" (खु० ५-१९६) ति।

३९. तत्र **पटिपदाविसुद्धि** नाम ससम्भारिको उपचारो। **उपेक्खानुब्रूहना** नाम अप्पना। **सम्पहंसना** नाम पच्चवेक्खणा ति एवमेके वण्णयन्ति। यस्मा पन "एकत्तगतं चित्तं पटिपदाविसुद्धिपक्खन्दं चेव होति उपेक्खानुब्रूहितं च ञाणेन च सम्पहंसितं" (खु० ५-१९५) ति **पाळियं** वुत्तं, तस्मा अन्तोअप्पनायमेव आगमनवसेन पटिपदाविसुद्धि, तत्रमज्झत्तुपेक्खाय किच्चवसेन उपेक्खानुब्रूहना, धम्मानं अनतिवत्तनादिभावसाधनेन परियोदापकस्स ञाणस्स किच्चनिप्फत्तिवसेन सम्पहंसना च वेदितब्बा।

४०. कथं? यस्मिं हि वारे अप्पना उप्पज्जति, तस्मिं यो नीवरणसङ्खातो किलेसगणो तस्स झानस्स परिपन्थो, ततो चित्तं विसुज्झति। विसुद्धत्ता आवरणविरहितं हुत्वा मज्झिमं समथनिमित्तं पटिपज्जति। मज्झिमं समथनिमित्तं नाम समप्पवत्तो अप्पनासमाधि येव। तदनन्तरं पन पुरिमचित्तं एकसन्ततिपरिणामनयेन तथत्तं उपगच्छमानं मज्झिमं समथनिमित्तं पटिपज्जति नाम, एवं पटिपन्नत्ता तथत्तमुपगमनेन तत्थ पक्खन्दति नाम। एवं ताव पुरिमचित्ते विज्जमानाकारनिप्फादिको पठमस्स झानस्स उप्पादक्खणे येव आगमनवसेन पटिपदाविसुद्धि वेदितब्बा।

४१. एवं विसुद्धस्स पन तस्स पुन विसोधेतब्बाभावतो विसोधने ब्यापारं अकरोन्तो

"प्रथम ध्यान का अन्त (=पर्यवसान) प्रसन्नता है। इस 'अन्त' के कितने लक्षण हैं? अन्त के चार लक्षण हैं— उस (अवस्था) में (१) उत्पन्न धर्मों का अतिरेक नहीं हुआ—इस अर्थ में (अथवा इसलिये) प्रसन्नता होती है। (२) 'इन्द्रियाँ एकरस हैं'—इस अर्थ में प्रसन्नता होती है। (३) 'उपयुक्त उद्योग का निर्वाह हुआ'—इस अर्थ में प्रसन्नता होती है। इस प्रकार प्रथम ध्यान का अन्त प्रसन्नता (=सम्प्रहर्षण) है। एवं (४) आसेवन (आवृत्ति) के अर्थ में प्रसन्नता होती है। यों 'अन्त' के ये चार लक्षण हैं। इसीलिये कहा गया है—प्रथम ध्यान अन्त में कल्याणकर एवं चार लक्षणों से युक्त होता है"।

३९. उनमें **पटिपदाविसुद्धि** आदि पदों में, 'प्रतिपदा' सम्भार के साथ उपचार है। 'उपेक्षा' की वृद्धि अर्पणा है। किसी किसी का मत है कि 'प्रसन्नता' प्रत्यवेक्षण है; किन्तु क्योंकि "एकाग्र चित्त मार्गविशुद्धि में प्रसन्नता का अनुभव करता है, उपेक्षा में वृद्धि, धर्मों के अनतिरेक आदि भावों के निर्वाह द्वारा परिशुद्ध करने वाले ज्ञान के कृत्य की पूर्ति (=निष्पत्ति) के रूप में प्रसन्नता को जानना चाहिये।

४०. कैसे? जिस वार (चित्तसन्तति) में अर्पणा उत्पन्न होती है, उसमें जो 'नीवरण' नामक क्लेशों का समूह उस ध्यान का बाधक (विरोधी) होता है, उससे चित्त नीवरणरहित होकर विशुद्ध हो जाता है। स्वयं अर्पणा समाधि ही 'शमथनिमित्त' के नाम से जानी जाती है। तत्पश्चात् उसके पूर्ववर्ती चित्त के एक चित्तसन्तति में परिणाम करने की विधि के अनुसार उस स्थिति तक पहुँचने से कहा जाता है कि मध्यम शमथनिमित्त में लगता है एवं यह भी कहा जाता है कि वहाँ पहुँचने से प्रसन्नता का अनुभव करता है। अतएव इस मार्ग–विशुद्धि को पूर्ववर्ती चित्त में विद्यमान आकार की उत्पत्ति (=निष्पादन) करने वाली, प्रथम ध्यान के उत्पादक्षण में ही आने वाली के रूप में जानना चाहिये।

४१. इस प्रकार, उस विशुद्ध हुए चित्त की शुद्धि करने की अब कोई आवश्यकता न रह

विसुद्धं चित्तं अज्झुपेक्खति नाम। समथभावूपगमनेन समथपटिपन्नस्स पुन समाधाने ब्यापारं अकरोन्तो समथपटिपन्नं अज्झुपेक्खति नाम। समथपटिपन्नभावतो एव चस्स किलेससंसग्गं पहाय एकत्तेन उपट्ठितस्स पुन एकत्तुपट्ठाने ब्यापारं अकरोन्तो एकत्तुपट्ठानं अज्झुपेक्खति नाम। एवं तत्रमज्झत्तुपेक्खाय किच्चवसेन उपेक्खानुब्रूहना वेदितब्बा।

४२. ये पनेते एवं उपेक्खानुब्रूहिते तत्थ जाता समाधिपञ्ञासङ्खाता युगनद्धधम्मा अञ्ञमञ्ञं अनतिवत्तमाना हुत्वा पवत्ता, यानि च सद्धादीनि इन्द्रियानि नानाकिलेसेहि विमुत्तत्ता विमुत्तिरसेन एकरसानि हुत्वा पवत्तानि, यं चेस तदुपगं तेसं अनतिवत्तनएकरसभावानं अनुच्छविकं वीरियं वाहयति, या चस्स तस्मिं खणे पवत्ता आसेवना, सब्बे पि ते आकारा यस्मा ञाणेन सङ्किलेसवोदानेसु तं तं आदीनवं च आनिसंसं च दिस्वा तथा तथा सम्पहंसितत्ता विसोधितत्ता परियोदापितत्ता निप्फन्ना व। तस्मा "धम्मानं अनतिवत्तनादिभावसाधनेन परियोदापकस्स ञाणस्स किच्चनिप्फत्तिवसेन सम्पहंसना वेदितब्बा" ति वुत्तं।

४३. तत्थ यस्मा उपेक्खावसेन ञाणं पाकटं होति। यथाह-"तथापग्गहितं चित्तं साधुकं अज्झुपेक्खति, उपेक्खावसेन पञ्ञावसेन पञ्ञिन्द्रियं अधिमत्तं होति, उपेक्खावसेन नानत्तकिलेसेहि चित्तं विमुच्चति, विमोक्खवसेन पञ्ञावसेन पञ्ञिन्द्रियं अधिमत्तं होति। विमुत्तत्ता ते धम्मा एकरसा होन्ति। एकरसट्ठेन भावना...." (खु० ५-२६१) ति। तस्मा ञाणकिच्चभूता सम्पहंसना परियोसानं ति वुत्ता।

जाने से, शुद्धि न करने वाले के बारे में कहा जाता है कि "विशुद्ध चित्त की उपेक्षा करता है। इसी प्रकार शमथ भाव की प्राप्ति हो चुकने के कारण शमथ में लगे हुए के द्वारा पुनः एकाग्रता की प्राप्ति का प्रयास न करने से कहा जाता है कि "शमथ में लगे हुए की उपेक्षा करता है।" शमथ में लगा हुआ होने से ही, क्लेश का संसर्ग छोड़कर एकाग्र अवस्था में होने से पुनः एकाग्रता (=प्राप्ति) का प्रयास न करने के कारण कहा गया है कि "एकाग्रता की उपेक्षा करता है।" इस प्रकार उपेक्षा की वृद्धि को तत्रमध्यस्थता (=मध्यस्थ बने रहना) के कृत्य के रूप में जानना चाहिये।

४२. इस प्रकार उपेक्षा की वृद्धि होने पर जो वहाँ उत्पन्न हुए समाधि व प्रज्ञा नामक युगनद्ध (एक दूसरे से गूँथे हुए) धर्म एक दूसरे का अतिरेक न करते हुए प्रवृत्त हुए और जो श्रद्धा आदि इन्द्रियाँ नाना क्लेशों से विमुक्त होने के कारण विमुक्ति के रस से एकरस होती हुई प्रवृत्त हुईं एवं उसके अनुरूप वीर्य का निर्वाह हुआ जो कि उनके 'अनतिरेक' एवं 'एकरस' भावों=अवस्थाओं के अनुकूल है एवं जो उस क्षण में प्रवृत्त पुनरावृत्ति (आसेवन) है—वे सभी आकार, क्योंकि ज्ञान द्वारा संक्लेश और व्यवदान में क्रमशः उन उन दोषों और गुणों को देखते हुए वैसे वैसे प्रसन्न होने से, विशुद्ध होने से, परिशुद्ध होने से निष्पन्न (=पूर्ण) ही हैं, इसलिये कहा गया है कि प्रसन्नता को "धर्मों के अनतिरेक न करने आदि भावों के साधन से परिशुद्ध करने वाले ज्ञान के कृत्य की निष्पत्ति के रूप में जानना चाहिये।"

४३. क्योंकि उपेक्षा के कारण ज्ञान प्रकट होता है, अतः ज्ञान के कृत्य के रूप में प्रसन्नता ध्यान का 'अन्त' कही गयी है। जैसा कि कहा गया है—"उस प्रकार प्रगृहीत (अच्छी तरह पकड़ कर रखे गये, वशीभूत) चित्त की पूर्णरूप से उपेक्षा करता है, उपेक्षा और प्रज्ञा के कारण प्रज्ञेन्द्रिय सबल होती है, उपेक्षा के कारण नाना प्रकार के क्लेशों से चित्त मुक्त होता है, विमोक्ष एवं प्रज्ञा के कारण प्रज्ञेन्द्रिय सबल होती है। विमुक्ति के कारण वे धर्म एकरस होते हैं। एकरस के अर्थ में भावना" ...यों, ज्ञान की कृत्यभूत सम्प्रहर्षणा ही 'अन्त' (पर्यवसान) कहलाती है।

४४. इदानि **पठमं झानं अधिगतं होति पथवीकसिणं** ति एत्थ गणनानुपुब्बता पठमं। पठमं उप्पन्नं ति पि पठमं। आरम्मणूपनिज्झानतो पच्चनीकझापनतो वा झानं। पथवीमण्डलं पन सकलट्ठेन पथवीकसिणं ति वुच्चति, तं निस्साय पटिलद्धनिमित्तं पि, पथवीकसिणनिमित्ते पटिलद्धझानं पि। तत्र इमस्मिं अत्थे झानं पथवीकसिणं ति वेदितब्बं। तं सन्धाय—"पठमं झानं अधिगतं होति पथवीकसिणं" ति।

चिरट्ठितिसम्पादनं

४५. एवमधिगते पन एतस्मिं तेन योगिना वालवेधिना विय सूदेन विय च आकारा परिग्गहेतब्बा। यथा हि सुकुसलो धनुग्गहो वालवेधाय कम्मं कुरुमानो यस्मिं वारे वालं विज्झति, तस्मिं वारे अक्कन्तपदानं च धनुदण्डस्स च जियाय च सरस्स च आकारं परिग्गण्हेय्य—"एवं मे ठितेन एवं धनुदण्डं एवं जियं एवं सरं गहेत्वा वालो विद्धो" ति, सो ततो पट्ठाय तथेव ते आकारे सम्पादेन्तो अविराधेत्वा वालं विज्झेय्य; एवमेव योगिना पि "इमं नाम मे भोजनं भुञ्जित्वा एरूपं पुग्गलं सेवमानेन एवरूपे सेनासने इमिना नाम इरियापथेन इमस्मिं काले इदं अधिगतं" ति एते भोजनसप्पायादयो आकारा परिग्गहेतब्बा। एवं हि सो नट्ठे वा तस्मिं ते आकारे सम्पादेत्वा पुन उप्पादेतुं, अप्पगुणं वा पगुणं करोन्तो पुनप्पुनं अप्पेतुं सक्खिस्सति।

४६. यथा च कुसलो सूदो भत्तारं परिविसन्तो तस्स यं यं रुचिया भुञ्जति, तं तं

---

४४. अब, **पठमं झानं अधिगतं होति पथवीकसिणं** ("पृथ्वीकसिण को आलम्बन बनाने वाला प्रथम ध्यान प्राप्त होता है')— यहाँ गणना के क्रम (आनुपूर्वी) में होने से प्रथम ध्यान प्रथम कहा जाता है। पहले उत्पन्न होता है, इसलिये भी प्रथम है। आलम्बन का चिन्तन (=उपनिज्झान) करने से या प्रतिकूल धर्मों को भस्म (=राख=झापन) कर देने से ध्यान है। पृथ्वीमण्डल को ही 'समस्त' के अर्थ में पृथ्वीकसिग (=कसिण=कृत्स्न=समस्त) कहते हैं, उसके आश्रय से प्राप्त निमित्त को भी तथा पृथ्वीकसिणनिमित्त में प्राप्त ध्यान को भी।

इसी अर्थ में—'पृथ्वीकसिण ध्यान है'—ऐसा जानना चाहिये। उसी को लेकर कहा गया है—"पृथ्वीकसिण के रूप में प्रथम ध्यान प्राप्त होता है।"

चिरस्थितिसम्पादन

४५. यों, इस (ध्यान) के प्राप्त होने पर, योगी को बालवेधी (=बाण से बाल =केश को खण्ड-खण्ड कर देने वाले धनुर्धर) के समान और रसोइये (=पाचक) के समान इसकी प्राप्ति के आकारों (=प्रकारों) पर भलीभाँति विचार करना चाहिये। जिस प्रकार किसी अतिचतुर धनुर्धर को चाहिये कि बाल-वेधन कर्म करते समय, जिस वार वह बाल को बेधने में सफल होता है, उस वार अपने पैरों की स्थिति, धनुर्दण्ड, प्रत्यञ्चा, बाण के आकार पर भलीभाँति विचार करे—"मेरे द्वारा इस प्रकार खड़े रहने पर, ऐसे धनुर्दण्ड, ऐसी प्रत्यञ्चा, ऐसे बाण को ग्रहण करने पर यह बाल बेधा गया।" जिससे कि उसके बाद भी वह उन्हीं आकारों का प्रयोग करते हुए बारम्बार निश्चित रूप से बाल को बेध सके; इसी प्रकार योगी को भी—"मुझे यह भोजन करने पर, इस प्रकार के पुद्गल का साथ करने पर, इस प्रकार के शयनासन में, इस ईर्यापथ से, इस कालविशेष में यह ध्यान प्राप्त हुआ"—इस प्रकार भोजन की अनुकूलता आदि आकारों पर भली-भाँति विचार करना चाहिये। ऐसा होने पर, यदि वह ध्यान नष्ट भी हो जाय, तो साधक उन आकारों का प्रयोग कर पुनः उत्पन्न करने में, उसका अभ्यास करते समय पुनः पुनः प्राप्त करने में सफल हो सकेगा।

सल्लक्खेत्वा ततो पट्ठाय तादिसं येव उपनामेन्तो लाभस्स भागो होति; एवमयं पि अधिगतक्खणे भोजनादयो आकारे गहेत्वा ते सम्पादेन्तो नट्ठे नट्ठे पुनप्पुनं अप्पनाय लाभी होति। तस्मा तेन वालवेधिना विय सूदेन विय च आकारा परिग्गहेतब्बा।

वुत्त पि चेतं भगवता—

"सेय्यथापि, भिक्खवे, पण्डितो ब्यत्तो कुसलो सूदो राजानं वा राजमहामत्तं वा नानच्चयेहि सूपेहि पच्चुपट्ठितो अस्स—अम्बिलग्गेहि पि तित्तकग्गेहि पि कटुकग्गेहि पि मधुरग्गेहि पि खारिकेहि पि अक्खारिकेहि पि लोणिकेहि पि। स खो सो, भिक्खवे, पण्डितो ब्यत्तो कुसलो सूदो सकस्स भत्तु निमित्तं उग्गण्हाति—'इदं वा मे अज्ज भत्तु सूपेय्यं रुच्चति, इमस्स वा अभिहरति, इमस्स वा बहुं गण्हाति, इमस्स वा वण्णं भासति, अम्बिलग्गं वा मे अज्ज भत्तु सूपेय्यं रुच्चति, अम्बिलग्गस्स वा अभिहरति, अम्बिलग्गस्स वा बहुं गण्हाति, अम्बिलग्गस्स वा वण्णं भासति ···· पे० ···· अलोणिकस्स वा वण्णं भासती' ति। स खो सो भिक्खवे, पण्डितो ब्यत्तो कुसलो सूदो लाभी चेव होति अच्छादनस्स, लाभी वेतनस्स, लाभी अभिहारानं। तं किस्स हेतु ? तथा हि सो, भिक्खवे, पण्डितो ब्यत्तो कुसलो सूदो सकस्स भत्तु निमित्तं उग्गण्हाति। एमेव खो, भिक्खवे, इधेकच्चो पण्डितो ब्यत्तो कुसलो भिक्खु काये कायानुपस्सी विहरति.... वेदनासु वेदना.... चित्ते चित्ता.... धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति आतापी सम्पजानो सतिमा विनेय्य लोके अभिज्झादोमनस्सं। तस्स धम्मेसु धम्मानुपस्सिनो विहरतो चित्तं समाधियति, उपक्किलेसा पहीयन्ति। सो तं निमित्तं उग्गण्हाति। स खो सो, भिक्खवे, पण्डितो ब्यत्तो कुसलो भिक्खु लाभी चेव होति

---

४६. और जिस प्रकार कोई कुशल रसोइयाँ स्वामी को भोजन परोसते समय वह जो जो रुचि से खाता है, उस पर ध्यान देते हुए आगे से उसे वैसा ही भोजन लाकर देने से पुरस्कृत होता है; उसी प्रकार यह भी ध्यान प्राप्ति के क्षण में भोजन आदि के प्रकार पर विचार कर उनका प्रयोग करते हुए बार–बार नष्ट होने पर बार बार अर्पणा का लाभ करता है। इसलिये उसे (१) बालवेधी एवं (२) रसोइये (=सूद) के समान आकार–प्रकार का विचार करना चाहिये।

भगवान् ने भी **संयुत्तनिकाय** में यह कहा है—

"जैसे, भिक्षुओ, कोई बुद्धिमान्, अनुभवी, चतुर रसोइया राजा या राजा के महामन्त्री के सामने नाना प्रकार के सूप प्रस्तुत करता है—जैसे खट्टा भी, तीता भी, कडुवा भी, मीठा भी, खारा भी, क्षाररहित भी, नमकीन भी। और भिक्षुओ, वह बुद्धिमान्, अनुभवी, चतुर रसोइया स्वामी के भोजन का निमित्त यों ग्रहण करता है—'मेरे स्वामी को यह सूप अच्छा लग रहा है, इसी से इसके लिये हाथ बढ़ा रहे हैं, इसे बहुत ले रहे हैं', या 'इसकी प्रशंसा कर रहे हैं', या 'आज मेरे स्वामी को खट्टा सूप अच्छा लग रहा है, ये खट्टे के लिये हाथ बढ़ा रहे हैं, खट्टा बहुत ले रहे हैं, खट्टे की प्रशंसा कर रहे हैं।' ...पूर्ववत्...'जो नमकीन नहीं है उसकी प्रशंसा कर रहे हैं।' भिक्षुओ, ऐसा वह बुद्धिमान्, अनुभवी, चतुर रसोइया वस्त्र, वेतन और उपहारों को प्राप्त करता है। वह किस लिये? क्योंकि, भिक्षुओ, वह बुद्धिमान्, अनुभवी, चतुर रसोइया स्वामी के निमित्त को ग्रहण करता है। इसी प्रकार, भिक्षुओ, यहाँ कोई कोई बुद्धिमान्, अनुभवी, चतुर भिक्षु साधक, उद्योगी, सम्प्रजन्ययुक्त एवं स्मृतिमान्, लोक में अभिध्या और दौर्मनस्य का दमन कर, काय में कायानुपश्यी होकर विहार करता है, वेदना में वेदनानुपश्यी चित्त में.... धर्मों में...विहार करता है। धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर विहार करते समय उसका चित्त एकाग्र होता है, उसके उपक्लेश नष्ट होते हैं। वह उस निमित्त का ग्रहण करता है।

दिट्ठधम्मसुखविहारानं, लाभी सतिसम्पजञ्ञस्स। तं किस्स हेतु? तथा हि सो, भिक्खवे, पण्डितो ब्यत्तो कुसलो भिक्खु सकस्स चित्तस्स निमित्तं उग्गण्हाती" (सं०-४-१२९) ति।

४७. निमित्तगहणेन चस्स पुन ते आकरे सम्पादयतो अप्पनामत्तमेव इज्झति, न चिरट्ठानं। चिरट्ठानं पन समाधिपरिपन्थानं धम्मानं सुविसोधिततत्ता होति।

यो हि भिक्खु कामादीनवपच्चवेक्खणादीहि कामच्छन्दं न सुट्ठु विक्खम्भेत्वा, कायपस्सद्धिवसेन कायदुट्ठुल्लं न सुप्पटिपस्सद्धं कत्वा, आरम्भधातुमनसिकारादिवसेन थीनमिद्धं न सुट्ठु पटिविनोदेत्वा, समथनिमित्तमनसिकारादिवसेन उद्धच्चकुक्कुच्चं न सुसमूहतं कत्वा, अञ्ञे पि समाधिपरिपन्थे धम्मे न सुट्ठु विसोधेत्वा झानं समापज्जति, सो अविसोधितं आसयं पविट्ठभमरो विय अविसुद्धं उय्यानं पविट्ठराजा विय च खिप्पमेव निक्खमति। यो पन समाधिपरिपन्थे धम्मे सुट्ठु विसोधेत्वा झानं समापज्जति, सो सुविसोधितं आसयं पविट्ठभमरो विय सुपरिसुद्धं उय्यानं पविट्ठराजा विय च सकलं पि दिवसभागं अन्तोसमापत्तियं येव होति।

४८. तेनाहु पोराणा—

"कामेसु छन्दं पटिघं विनोदये, उद्धच्चमिद्धं विचिकिच्छपञ्चमं।
विवेकपामुज्जकरेन चेतसा राजा व सुद्धन्तगतो तहिं रमे" ति॥

तस्मा चिरट्ठितिकामेन परिबन्धकधम्मे विसोधेत्वा झानं समापज्जितब्बं।

भिक्षुओ, वह बुद्धिमान्, अनुभवी, चतुर भिक्षु इसी जन्म में सुखपूर्वक विहार एवं स्मृतिसम्प्रजन्य का लाभ करता है। वह किसलिये? क्योंकि, भिक्षुओ, वह बुद्धिमान्, अनुभवी, चतुर भिक्षु स्वकीय चित्त के निमित्त का ग्रहण करता है"।

४७. निमित्त का ग्रहण करते हुए उन प्रकारों का प्रयोग करते हुए केवल अर्पणा ही सिद्ध होती है, ध्यान की चिरस्थिति (=देर तक बने रहना) नहीं।' चिरस्थिति तो ध्यान के बाधक धर्मों का सम्यक्तया विशोधन करने से ही होती है।

जो भिक्षु काम–दोषों के प्रत्यवेक्षण आदि द्वारा कामच्छन्द को विना भली प्रकार नष्ट किये, कायप्रश्रब्धि के द्वारा काया के दौष्ठुल्य (=विक्षोभ) को विना भलीभाँति शान्त किये, आरम्भधातु के मनस्कार आदि द्वारा स्त्यान–मृद्ध को विना भलीभाँति दूर किये शमथ निमित्त के मनस्कार द्वारा औद्धत्य–कौकृत्य को विना पूर्णतः नष्ट किये, ध्यान के बाधक अन्य धर्मों को भी विना भलीभाँति दूर किये ध्यान प्राप्त करता है, वह अविशुद्ध (जिसके भीतर कोई रुकावट हो) बिल में प्रविष्ट मधुमक्खी के समान और अविशुद्ध उद्यान में प्रविष्ट राजा के समान शीघ्र ही ध्यान की अवस्था से बाहर आ जाता है। किन्तु जो ध्यान के बाधक धर्मों का भलीभाँति विशोधन कर ध्यान प्राप्त करता है, वह सुविशुद्ध बिल में घुसी मधुमक्खी के समान पूरे दिन भी ध्यान की समापत्ति (=लाभ) में ही रहता है।

४८. इसीलिये प्राचीन विद्वानों ने कहा है—

"कामों में छन्द, प्रतिघ, औद्धत्य, मृद्ध एवं पाँचवीं विचिकित्सा को दूर करे, तथा विवेकी एवं प्रीति (=प्रमोद) से युक्त चित्त से युक्त होकर, अन्त तक स्वच्छ किये गये उद्यान में गये हुए राजा के समान वहीं रमता रहे।"

अतः (ध्यान की) चिर स्थिति की कामना से, बाधक धर्मों का विशोधन कर ध्यान प्राप्त

चित्तभावनावेपुल्लत्थं च यथालद्धं पटिभागनिमित्तं वड्ढेतब्बं। तस्स द्वे वड्ढनाभूमियो—उपचारं, वा, अप्पनं वा। उपचारं पत्वा पि हि तं वड्ढेतुं वट्टति, अप्पनं पत्वा पि। एकस्मिं पन ठाने अवस्सं वड्ढेतब्बं। तेन वुत्तं—"यथालद्धं पटिभागनिमित्तं वड्ढेतब्बं" ति।

निमित्तवड्ढननयो

४९. तत्रायं वड्ढननयो—तेन योगिना तं निमित्तं पत्तवड्ढन-पूववड्ढन-भत्तवड्ढन-लतावड्ढन-दुस्सवड्ढनयोगेन अवड्ढेत्वा यथा नाम कस्सको कसितब्बट्ठानं नङ्गलेन परिच्छिन्दित्वा परिच्छेदब्भन्तरे सति, यथा वा पन भिक्खू सीमं बन्धन्ता पठमं निमित्तानि सल्लक्खेत्वा पच्छा बन्धन्ति; एवमेव तस्स यथालद्धस्स निमित्तस्स अनुक्कमेन एकङ्गुलद्वङ्गुलतिवङ्गुलचतुरङ्गुलमत्तं मनसा परिच्छिन्दित्वा यथापरिच्छेदं वड्ढेतब्बं। अपरिच्छिन्दित्वा पन न वड्ढेतब्बं। ततो विदत्थि-रतन-पमुख-परिवेण-विहारसीमानं गाम-निगम-जनपद-रज्ज-समुद्दसीमानं च परिच्छेदवसेन वड्ढयन्तेन चक्कबाळपरिच्छेदेन वा ततो वा पि उत्तरि परिच्छिन्दित्वा वड्ढेतब्बं।

५०. यथा हि हंसपोतका पक्खानं उट्ठितकालतो पट्ठाय परित्तं परित्तं पदेसं उप्पतन्ता परिचयं कत्वा अनुक्कमेन चन्दिमसूरियसन्तिकं गच्छन्ति; एवमेव भिक्खु वुत्तनयेन निमित्तं परिच्छिन्दित्वा वड्ढेन्तो याव चक्कवाळपरिच्छेदा ततो वा उत्तरि वड्ढेति। अथस्स तं निमित्तं वड्ढितवड्ढितट्ठाने पथविया उक्कूल-विकूल-नदी-विदुग्ग-पब्बतविसमेसु सङ्कुसतसमब्भाहतं उसभचम्मं विय होति।

करना चाहिये। एवं भावना (=समाधि भावना) की परिपूर्णता के लिये, जैसा प्रतिभागनिमित्त उसने प्राप्त किया है, उसे बढ़ाना चाहिये। यहाँ इस वृद्धि के लिये दो उपाय हैं— १. उपचार एवं २. अर्पणा। उपचार प्राप्त करने पर उसे बढ़ाना चाहिये, अर्पणा प्राप्त करने पर भी उसे बढ़ाना चाहिये। किन्तु किसी एक में तो अवश्य बढ़ाना चाहिये, इसीलिये कहा है—"जैसा प्रतिभागनिमित्त प्राप्त हुआ है, उसे बढ़ाना चाहिये।"

निमित्त को बढ़ाने की विधि

४९. उस निमित्त के वर्धन (=बढ़ाने) की विधि इस प्रकार है—

उस भिक्षु को वह निमित्त उस प्रकार नहीं बढ़ाना चाहिये जैसे पात्र, पूआ, भात, लता, वस्त्र आदि को बढ़ाया जाता है, अपितु जैसे कृषक जोतने योग्य स्थान को हल से घेरकर (=सीमा बनाकर) उसी सीमा के भीतर जोतता है; अथवा जैसे भिक्षु सीमानिर्धारण करते हुए पहले निमित्तों का विचार कर बाद में उसे बाँधता है; उसी प्रकार उसे यथाप्राप्त निमित्त को क्रमशः एक अङ्गुल, दो अङ्गुल, तीन अङ्गुल, चार अङ्गुल मात्र मन द्वारा परिसीमित कर, उस सीमा के अनुसार बढ़ाना चाहिये; विना परिसीमित किये नहीं। तत्पश्चात् एक बालिश्त, एक हाथ, एक गलियारा, एक परिवेण (=भवन), एक विहार की सीमा, एक ग्राम-निगम-जनपद-राज्य या समुद्र सीमा तक परिसीमित कर या समस्त ब्रह्माण्ड (=चक्रवाल) तक परिसीमित कर या उससे भी आगे परिसीमित कर बढ़ाना चाहिये।

५०. जिस प्रकार हंसों के बच्चों को जब पङ्ख निकलते हैं, तो थोड़ी थोड़ी दूर तक उड़ने का अभ्यास कर क्रमशः वे चन्द्र-सूर्य के पास तक चले जाने की शक्ति पा जाते हैं; इसी प्रकार भिक्षु यथाविधि निमित्त को परिसीमित कर बढ़ाते हुए समस्त ब्रह्माण्ड की सीमा तक या उससे भी आगे बढ़ाता है। तब उसका वह निमित्त जिस भी स्थान में बढ़ाया गया है, उसमें वह पृथ्वी के ऊँचे-नीचे

५१. तस्मिं पन निमित्ते पत्तपठमज्झानेन आदिकम्मिकेन समापज्जनबहुलेन भवितब्बं, न पच्चवेक्खणबहुलेन। पच्चवेक्खणबहुलस्स हि झानङ्गानि थूलानि दुब्बलानि हुत्वा उपट्ठहन्ति. अथस्स तानि एवं उपट्ठितत्ता उपरि उस्सक्कनाय पच्चयतं आपज्जन्ति। सो अप्पगुणे झाने उस्सुक्कमानो पत्तपठमज्झाना च परिहायति, न च सक्कोति दुतियं पापुणितुं।

तेनाह भगवा—

"सेय्यथापि, भिक्खवे, गावी पब्बतेय्या बाला अब्यत्ता अखेत्तञ्ञू अकुसला विसमे पब्बते चरितुं। तस्सा एवमस्स यं नूनाहं अगतपुब्बं चेव दिसं गच्छेय्यं, अखादितपुब्बानि च तिणानि खादेय्यं, अपीतपुब्बानि च पानीयानि पिबेय्यं ति। सा पुरिमं पादं न सुप्पतिट्ठितं पतिट्ठापेत्वा पच्छिमं पादं उद्धरेय्य, सा न चेव अगतपुब्बं दिसं गच्छेय्य, न च अखादितपुब्बानि तिणानि खादेय्य, न च अपीतपुब्बानि पानीयानि पिबेय्य। यस्मिं चस्सा पदेसे ठिताय एवमस्सा यं नूनाहं अगतपुब्बं चेव....पे०....पिबेय्यं ति। तं च पदेसं न सोत्थिना पच्चागच्छेय्य। तं किस्स हेतु? तथा हि सा, भिक्खवे, गावी पब्बतेय्या बाला अब्यत्ता अखेत्तञ्ञू अकुसला विसमे पब्बते चरितुं। एवमेव खो, भिक्खवे, इधेकच्चो भिक्खु बालो अब्यत्तो अखेत्तञ्ञू अकुसलो विविच्चेव कामेहि ....पे०....पठमं झानं उपसम्पज्ज विहरितुं। सो तं निमित्तं नासेवति, न भावेति, न बहुलीकरोति, न स्वाधिट्ठितं अधिट्ठाति। तस्स एवं होति यं नूनाहं वितक्कविचारानं वूपसमा ....पे०....दुतियं झानं उपसम्पज्ज विहरेय्यं ति। सो न सक्कोति

स्थान, नदी, दुर्गम स्थल, विषम पर्वतों पर सौ कीलें गाड़कर फैलाये गये बैल के चमड़े के समान होता है।

५१. उस निमित्त में प्रथम ध्यान प्राप्त करने वाले प्रारम्भिक योगी को अधिक समय तक ध्यान की स्थिति में रहना चाहिये। अधिकतर प्रत्यवेक्षण नहीं करना चाहिये। जो अधिक प्रत्यवेक्षण करता है, उसके ध्यानाङ्ग स्थूल और दुर्बल रूप में उपस्थित होते हैं। वे इस प्रकार उपस्थित होने पर, आगे के विषय में उत्सुकता के कारण बन जाते हैं। वह भिक्षु अल्पगुण, अपरिचित या उच्चस्तरीय ध्यान के विषय में उत्सुक होने पर, प्राप्त प्रथम ध्यान से भी हाथ धो बैठता है और द्वितीय ध्यान तो प्राप्त ही नहीं कर पाता!

इसलिये भगवान् ने कहा है—"जैसे, भिक्षुओ, कोई पहाड़ी, मूर्ख, अनुभवहीन, चरने के स्थान को न जानने वाली अकुशल गाय ऊँची नीची पहाड़ी भूमि पर चरने में निपुण न हो, वह ऐसा विचार करे—'क्यों न मैं पहले न गये स्थान पर जाऊँ, पहले न खायी घास खाऊँ, पहले न पिया जल पिऊँ' और अगले पैर को अच्छी तरह से टिकाये विना पिछला पैर उठा ले, तब वह न अगत स्थान पर ही जा पायगी, न पहले अभुक्त घास खा पायगी, न पहले न पीया जल ही पी पायगी। इतना ही नहीं, वह उस स्थान पर सुरक्षित नहीं लौट सकेगी जहाँ खड़ी होकर उसने सोचा था कि 'क्यों न मैं न गये हुए...पूर्ववत्...पिऊँ; क्योंकि, भिक्षुओ, वह पहाड़ी, मूर्ख, अनुभवहीन, चरने की जगह को न जानने वाली गाय असमतल पहाड़ पर चरने में निपुण नहीं है। इसी प्रकार, भिक्षुओ, यहाँ कोई कोई मूर्ख, अनुभवहीन, क्षेत्र को न जानने वाला भिक्षु कामों से रहित होकर प्रथम ध्यान को प्राप्तकर विहार करने में निपुण नहीं होता। वह उस निमित्त का न सेवन करता है, न भावना करता है, न वृद्धि करता है, न उसे भलीभाँति प्रतिष्ठित करता है। वह ऐसा सोचता है—'क्यों न मैं वितर्क-विचार का उपशमन कर...द्वितीय ध्यान प्राप्त कर विहार करूँ।' वह वितर्क-विचारों का उपशम होने पर...द्वितीय ध्यान को प्राप्त कर विहार करने में समर्थ नहीं होता। तब वह सोचता है—'क्यों न मैं कामों से रहित

वितक्कविचारानं वूपसमा ....पे०....दुतियं झानं उपसम्पज्ज विहरितुं। तस्सेवं होति यं नूनाहं विविच्चेव कामेहि ....पे०....पठमं झानं उपसम्पज्ज विहरितुं। अयं वुच्चति, भिक्खवे, भिक्खु उभतो भट्ठो, उभतो परिहीनो, सेय्यथापि गावी पब्बतेय्या बाला अब्यत्ता अखेत्तञ्ञू अकुसला विसमे पब्बते चरितुं"(अं०४-५७)ति।

तस्मानेन तस्मिं येव ताव पठमज्झाने पञ्चहाकारेहि चिण्णवसिना भवितब्बं।

पञ्चवसीकथा

५२. तत्रिमा पञ्च वसियो—१. आवज्जनवसी, २. समापज्जनवसी, ३. अधिट्ठानवसी, ४. वुट्ठानवसी, ५. पच्चवेक्खणवसी ति। पठमं झानं यत्थिच्छकं यदिच्छकं यावदिच्छकं आवज्जेति, आवज्जनाय दन्धायितत्तं नत्थी ति **आवज्जनवसी**। पठमं झानं यत्थिच्छकं ....पे०....समापज्जति, समापज्जनाय दन्धायितत्तं नत्थी ति **समापज्जनवसी**। एवं सेसापि वित्थारेतब्बा।

अयं पनेत्थ अत्थप्पकासना—

(१) पठमज्झानतो वुट्ठाय पठमं वितक्कं आवज्जयतो भवङ्गं उपच्छिन्दित्वा उप्पन्नावज्जनानन्तरं वितक्कारम्मणानेव चत्तारि पञ्च वा जवन्ति, ततो द्वे भवङ्गानि, ततो पुन विचारारम्मणं आवज्जनं, वुत्तनयानेव जवनानी ति एवं पञ्चसु झानङ्गेसु यदा निरन्तरं चित्तं पेसेतुं सक्कोति, अथस्स **आवज्जनवसी** सिद्धा होति। अयं पन मत्थकप्पत्ता वसी भगवतो यमकपाटिहारिये लब्भति, अञ्ञेसं वा एवरूपे काले। इतो परं सीघतरा आवज्जनवसी नाम नत्थि।

होकर...प्रथम ध्यान प्राप्त कर विहार करूँ।" किन्तु अब वह कामों से रहित होकर...प्रथम ध्यान प्राप्त कर विहार करने में भी समर्थ नही होता। भिक्षुओ, इसी भिक्षु के लिये कहा जाता है कि वह दोनों ओर से भ्रष्ट हो गया, दोनों ओर से हीन हो गया; जैसे कि वह पहाड़ी, मूर्ख, अनुभवहीन, चरने का स्थान न जानने वाली गाय ऊँचे-नीचे पहाड़ पर चरने में निपुण नहीं होती" (अं० नि० ४.५७)।

इसलिये उस भिक्षु को सर्वप्रथम उसी प्रथम ध्यान में पाँच प्रकार की वशिताएँ (=यथारुचि प्रवृत्ति की क्षमता) प्राप्त करनी चाहिये।।

पाँच वशिताएँ

५२. वे पाँच वशिताएँ ये हैं– १. आवर्जनवशिता, (=ध्यान देना, मन को विषयोन्मुख करना)–२. (ध्यान) प्राप्तिवशिता, ३. अधिष्ठानवशिता, ४. उत्थानवशिता, ५. प्रत्यवेक्षणवशिता। जो प्रथम ध्यान की ओर जहाँ चाहे, जब चाहे, जब तक चाहे तब तक आवर्जन करता है वह **आवर्जन-वशी है**। जो प्रथम ध्यान को जहाँ चाहे...प्राप्त करता है, प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं होती वह आवर्जन को सम्यक्तया प्राप्त करने में वशी है। इसी प्रकार शेष की भी व्याख्या कर लेनी चाहिये।

यहाँ इस अर्थ (व्याख्या) का स्पष्टीकरण इस प्रकार है– (१) जब वह प्रथम ध्यान से उठता है और सर्वप्रथम वितर्क की ओर आवर्जन करता है, तब भवाङ्ग का उपच्छेद करते हुए उत्पन्न होने वाले आवर्जन के पश्चात् वितर्क को ही आलम्बन बनाकर चार या पाँच जवनचित्त जवन करते हैं। तत्पश्चात् दो भवाङ्ग, तत्पश्चात् विचार को आलम्बन बनाने वाला आवर्जन, उपर्युक्त प्रकार से जवन– इस प्रकार पाँच ध्यानाङ्गों में जब वह भिक्षु चित्त को निरन्तर प्रेषित करने में समर्थ होता है, तब वह आवर्जनवशिता में सिद्ध हो गया होता है। किन्तु यह वशिता अपने चरम रूप में भगवान् के

(२)आयस्मतो पन महामोग्गल्लानस्स नन्दोपनन्दनागराजदमने विय सीघं समापज्जनसमत्थता **समापज्जनवसी** नाम।

(३) अच्छरामत्तं वा दसच्छरामत्तं वा खणं ठपेतुं समत्थता **अधिट्ठानवसी** नाम।

(४) तथेव लहुं वुट्ठातुं समत्थता **वुट्ठानवसी** नाम। तदुभयदस्सनत्थं **बुद्धरक्खित**-त्थेरस्स वत्थुं कथेतुं वट्टति।

सो हायस्मा उपसम्पदाय अट्ठवस्सिको हुत्वा थेरम्बत्थले महारोहणगुणत्थेरस्स गिलानुपट्ठानं आगतानं तिंसमत्तानं इद्धिमन्तसहस्सानं मज्झे निसिन्नो, "थेरस्स यागुं पटिग्गाहयमानं उपट्ठाकनागराजानं गहेस्सामी" ति आकासतो पक्खन्दन्तं सुपण्णराजानं दिस्वा तावदेव पब्बतं निम्मिनित्वा नागराजानं बाहायं गहेत्वा तत्थ पाविसि। सुपण्णराजा पब्बते पहारं दत्वा पलायि। महाथेरो आह—"सचे, आवुसो, बुद्धरक्खितो नाभविस्स, सब्बे व गारय्हा अस्सामा" ति।

(५) **पच्चवेक्खणवसी** पन आवज्जनवसिया एव वुत्ता। पच्चवेक्खणजवनानेव हि तत्थ आवज्जनानन्तरानी ति॥

दुतियज्झानकथा

५३. इमासु पन पञ्चसु वसीसु चिण्णवसिना पगुणपठमज्झानतो वुट्ठाय "अयं समापत्ति आसन्ननीवरणपच्चत्थिका, वितक्कविचारानं ओळारिकत्ता अङ्गदुब्बला" ति च तत्थ दोसं दिस्वा दुतियं झानं सन्ततो मनसिकत्वा पठमज्झाने निकन्तिं परियादाय दुतियाधिगमाय योगो कातब्बो।

यमकप्रातिहार्य (द्र० पटिसम्भिदामग्ग, १.६०) में ही पायी जाती है या अन्यों के तद्रूप समय में। उससे शीघ्रतर अन्य कोई आवर्जनवशिता नहीं है।

(२) आयुष्मान् महामोग्गलान द्वारा नन्द, उपनन्द नागराज के दमन के समान शीघ्र प्राप्ति की क्षमता **प्राप्तिवशिता** (समापादनवशिता) है।

(३) एक चुटकी (अक्षरा) या दस चुटकी बजाने में जितना समय लगता है, उतने समय तक ध्यान को रोके रहने की क्षमता ही **अधिष्ठानवशिता** है।

(४) वैसे ही (ध्यान से) शीघ्र उठने की क्षमता **उत्थानवशिता** है। इन अन्तिम दोनों के उदाहरण के रूप में **बुद्धरक्षित स्थविर** की कथा कहनी चाहिये।

वे आयुष्मान् जब उपसम्पदा-प्राप्ति के बाद, आठ वर्ष बीतने पर, स्थविराम्रस्थल में **महारोहणगुण स्थविर** की परिचर्या करने के लिये आये हुए तीस हजार ऋद्धिमानों के बीच में बैठे हुए थे "स्थविर को जब यवागु देगा तब इस सेवक नागराज को पकडूँगा"—ऐसा (सोचकर) आकाश से झपटते हुए गरुड़राज को देखने पर स्थविर उसी समय एक पर्वत ऋद्धिबल से निर्मित कर नागराज को बाँहों से पकड़कर उस पर्वत में प्रवेश कर गये। गरुड़राज पर्वत पर प्रहार कर भाग गया। महास्थविर ने कहा—"आयुष्मन्! यदि इस समय बुद्धरक्षित यहाँ न होते, तो आज हम सबको लज्जित होना पड़ता।"

(५) **प्रत्यवेक्षणवशिता** का वर्णन आवर्जनवशिता के समान ही किया गया है; क्योंकि आवर्जन के अनन्तर ही प्रत्यवेक्षण-जवन होते हैं।।

द्वितीय ध्यान

५३. इन पाँच वशिताओं में निपुणताप्राप्त भिक्षु को उस अभ्यस्त प्रथम ध्यान से उठकर "यह समापत्ति (=ध्यान की प्राप्ति) प्रतिपक्षभूत नीवरणों की समीपवर्ती है, वितर्क-विचारों की स्थूलता के

अथस्स यदा पठमज्झाना वुट्ठाय सतस्स सम्पजानस्स झानङ्गानि पच्चवेक्खतो वितक्क-विचारा ओळारिकतो उपट्ठहन्ति, पीतिसुखं चेव चित्तेकग्गता च सन्ततो उपट्ठाति, तदास्स ओळारिकङ्गप्पहानाय सन्तङ्गपटिलाभाय च तदेव निमित्तं "पथवी पथवी" ति पुनप्पुनं मनसि-करोतो "इदानि दुतियज्झानं उप्पज्जिस्सती" ति भवङ्गं उपच्छिन्दित्वा तदेव पथवीकसिणं आरम्मणं कत्वा मनोद्वारावज्जनं उपज्जति ततो तस्मिं येवारम्मणे चत्तारि पञ्च वा जवनानि जवन्ति, येसं अवसाने एकं रूपावचरं दुतियज्झानिकं। सेसानि वुत्तप्पकारानेव कामावचरानी ति।

एत्तावता **चेस "वितक्कविचारानं वूपसमा अज्झत्तं सम्पसादनं चेतसो एकोदिभावं अवितक्कं अविचारं समाधिजं पीतिसुखं दुतियं झानं उपसम्पज्ज विहरति। (दी० १-६५) एवमनेन दुवङ्गविप्पहीनं तिवङ्गसमन्नागतं तिविधकल्याणं दसलक्खणसम्पन्नं दुतियं झानं अधिगतं होति पथवीकसिणं।**

५३. तत्थ **वितक्कविचारानं वूपसमा** ति। वितक्कस्स च विचारस्स चा ति इमेसं द्विन्नं वूपसमा समतिक्कमा, दुतियज्झानक्खणे अपातुभावा ति वुत्तं होति। तत्थ किञ्चापि दुतियज्झाने सब्बे पि पठमज्झानधम्मा न सन्ति। अञ्ञे येव हि पठमज्झाने फस्सादयो, अञ्ञे इध। ओळारिकस्स पन अङ्गस्स समतिक्कमा पठमज्झानतो परेसं दुतियज्झानादीनं अधिगमो होती ति दीपनत्थं "वितक्कविचारानं वूपसमा" ति एवं वुत्तं ति वेदितब्बं।

कारण दुर्बल अङ्गों वाली है" इस प्रकार उसमें दोष देखते हुए, द्वितीय ध्यान को शान्तिपूर्वक मन में लाते हुए प्रथम ध्यान की कामना (अपेक्षा) त्यागकर द्वितीय ध्यान की प्राप्ति के लिये उद्योग करना चाहिये।

जब प्रथम ध्यान से ऊपर उठकर, निरन्तर सावधान रहने वाला यह भिक्षु ध्यानाङ्गों का प्रत्यवेक्षण करता है, तब उसके वितर्क-विचार स्थूल रूप में उपस्थित होते हैं, प्रीति-सुख और चित्त की एकाग्रता शान्त रूप में (या निरन्तर) उपस्थित रहते हैं। स्थूल अङ्गों के प्रहाण के लिये और शान्त रूप में उपस्थित अङ्गों के लाभ के लिये उसी निमित्त 'पृथ्वी, पृथ्वी' को पुनः मन में लाते हुए "अब द्वितीय ध्यान उत्पन्न होगा" इस प्रकार भवाङ्ग का उपच्छेद कर, उसी पृथ्वीकसिण को आलम्बन बनाकर मनोद्वारावर्जन चित्त उत्पन्न होता है। तब उसी आलम्बन में चार या पाँच जवनचित्त जवन करते है, जिनका अन्तिम चित्त एकरूपवावचर एवं द्वितीय ध्यान का होता है। शेष, कहे गये प्रकार से ही, कामावचर होते हैं।

इतने व्याख्यान से— **"वितक्कविचारानं वूपसमा अज्झत्तं सम्पसादनं चेतसो एकोदिभावं अवितक्कं अविचारं समाधिजं पीतिसुखं दुतियं झानं उपसम्पज्ज विहरति। (दी० १-६५) एवमनेन दुवङ्गविप्पहीनं तिवङ्गसमन्नागतं तिविधकल्याणं दसलक्खणसम्पन्नं दुतियं झानं अधिगतं होति पथवीकसिणं"**—इस पालिपाठ का विवरण सम्पन्न हुआ।

५३. **वितक्कविचारानं वूपसमा**— वितर्क-विचारों का शमन हो जाने से। वितर्क एवं विचार इन दोनों का उपशमन, समतिक्रमण हो जाने से तथा द्वितीय ध्यान के क्षण में इनके प्राप्त न होने के कारण ऐसा कहा गया है। यद्यपि द्वितीय ध्यान में प्रथम ध्यान के सभी धर्म नहीं रहते; क्योंकि प्रथम ध्यान में स्पर्श आदि अन्य ही धर्म होते हैं और यहाँ द्वितीय ध्यान में अन्य; किन्तु स्थूल अङ्गों के समतिक्रमण से प्रथम ध्यान से भिन्न द्वितीय ध्यान आदि की प्राप्ति होती है—इसे दिखाने के लिये "वितर्क-विचारों का शमन हो जाने से" यह कहा गया है—ऐसा जानना चाहिये।

५४. **अज्झत्तं** ति। इध नियकज्झत्तं अधिप्पेतं। **विभङ्गे** पन "अज्झत्तं पच्चत्तं" ति एत्तकमेव वुत्तं। यस्मा च नियकज्झत्तं अधिप्पेतं, तस्मा अत्तनि जातं, अत्तनो सन्ताने निब्बत्तं ति अयमेत्थ अत्थो। **सम्पसादनं** ति। सम्पसादनं वुच्चति सद्धा। सम्पसादनयोगतो झानं पि सम्पसादनं। नीलवण्णयोगतो नीलवत्थं विय। यस्मा वा तं झानं सम्पसादनसमन्नागतत्ता वितक्क-विचारक्खोभवूपसमनेन च चेतसो सम्पसादयति, तस्मा पि सम्पसादनं ति वुत्तं। इमस्मिं च अत्थविकप्पे सम्पसादनं चेतसो ति एवं पदसम्बन्धो वेदितब्बो। पुरिमस्मिं पन अत्थविकप्पे चेतसो ति एतं एकोदिभावेन सद्धिं योजेतब्बं।

५५. तत्रायं अत्थयोजना—एको उदेती ति एकोदि, वितक्कविचारेहि अनज्झारूळ्हत्ता अग्गो सेट्ठो हुत्वा उदेती ति अत्थो। सेट्ठो पि हि लोके एको ति वुच्चति। वितक्कविचारविरहतो वा एको असहायो हुत्वा इति पि वत्तुं वट्टति। अथ वा सम्पयुत्तधम्मे उदायती ति उदि, उट्ठापेती ति अत्थो। सेट्ठट्ठेन एको च सो उदि चा ति एकोदि, समाधिस्सेतं अधिवचनं। इति इमं एकोदिं भावेति वड्ढेती ति इदं दुतियज्झानं एकोदिभावं। सो पनायं एकोदि यस्मा चेतसो, न सत्तस्स, न जीवस्स, तस्मा एतं **चेतसो एकोदिभावं** ति वुत्तं।

५६. ननु चायं सद्धा पठमज्झाने पि अत्थि, अयं च एकोदिनामको समाधि, अथ कस्मा इदमेव "सम्पसादनं चेतसो एकोदिभावं चा" ति वुत्तं? वुच्चते—अदुं हि पठमज्झानं वितक्कविचारक्खोभेन वीचितरङ्गसमाकुलमिव जलं न सुप्पसन्नं हति, तस्मा सतिया पि

---

५४. **अज्झत्तं**— अध्यात्म (=आभ्यन्तर)। स्वयं का अध्यात्म। किन्तु **विभङ्ग** में— "अध्यात्म=प्रत्यात्म" इस प्रकार दोनों को एक के रूप में ही कहा गया है। क्योंकि यहाँ स्वयं का अध्यात्म अभिप्रेत है, अतः यहाँ 'स्व (चित्त—) सन्तति में उत्पन्न'—यही अर्थ है।

सम्पसादनं (प्रसन्नता)— प्रसन्नता '**श्रद्धा**' को कहते हैं। प्रसन्नता के योग से ध्यान भी प्रसन्नता रूप होता है, जैसे नीले रंग के योग से 'नीला वस्त्र' कहा जाता है। अथवा, क्योंकि यह ध्यान प्रसन्नतायुक्त होने के कारण वितर्क—विचार रूप क्षोभ का शमन करने से चित्त को प्रसन्न करता है, इसलिये भी प्रसन्नतारूप कहा जाता है। यह अर्थ मानने पर "चित्त की प्रसन्नता"—ऐसा पद—सम्बन्ध समझना चाहिये। किन्तु पहले वाला अर्थ मानने पर "चित्त का" शब्द को एकान्त भाव (=एकोदित भाव) के साथ जोड़ना चाहिये।

५५. यहाँ '**एकोदिभाव**' शब्द की अर्थ—योजना इस प्रकार है— (१) अकेले उदित होता है। अतः एकोदित है। (२) वितर्क—विचार इस पर आरूढ़ नहीं हैं, अतः अग्र, श्रेष्ठ होकर उदित होता है— यह अर्थ है। (३) क्योंकि श्रेष्ठ को ही लोक में 'एक' कहते हैं। (४) या यह भी कहा जा सकता है कि वितर्क—विचार से रहित, अकेला, असहाय होकर उदित होता है। (५) या सम्प्रयुक्त धर्मों को उदित करता है अतः उदय (='उदि') है, जिसका अर्थ है—उदित करता है। (६) श्रेष्ठ के अर्थ में एक है और वह उदित करता है अतः 'एकोदित' है। यह समाधि का अधिवचन (पर्याय) है। (७) क्योंकि यह एकोदित की भावना करता है, बढ़ाता है, अतः यह ध्यान एकोदयभाव है। और (८) क्योंकि यह एकोदय चित्त का है, सत्त्व का या जीव का नहीं, अतः इसे **चित्त का एकोदयभाव कहा गया है।**

५६. किन्तु यह श्रद्धा तो प्रथम ध्यान में भी होती है और वही एकोदय नामक समाधि है, तब क्यों इसे ही "प्रसन्नता और चित्त का एकोदय भाव" कहा गया है?

इसका **उत्तर है**—इसलिये, क्योंकि प्रथम ध्यान वितर्क—विचारजन्य क्षोभ के कारण वीचि

सद्धाय ''सम्पसादनं'' ति न वुत्तं। न सुप्पसन्नत्ता येव चेत्थ समाधि पि न सुट्ठु पाकटो, तस्मा ''एकोदिभावं'' ति पि न वुत्तं। इमस्मिं पन झाने वितक्कविचारपलिबोधाभावेन लद्धोकासा बलवती सद्धा, बलवसद्धासहायपटिलाभेनेव च समाधि पि पाकटो, तस्मा इमदेव एवं वुत्तं ति वेदितब्बं। **विभङ्गे** पन ''सम्पसादनं ति या सद्धा सद्दहना ओकप्पना अभिप्पसादो। चेतसो एकोदिभावं ति या चित्तस्स ठिति ....पे०.... सम्मासमाधी'' (अभि० २-३१०) ति एत्तकमेव वुत्तं। एवं वुत्तेन पन तेन सद्धिं अयं अत्थवण्णना यथा न विरुज्झति, अञ्ञदत्थु संसन्दति चेव समेति च, एवं वेदितब्बा।

५७. **अवितक्कं अविचारं** ति। भावनाय पहीनत्ता एतस्मिं, एतस्स वा वितक्को नत्थी ति अवितक्कं। इमिना व नयेन अविचारं। **विभङ्गे** पि वुत्तं—''इति अयं च वितक्को अयं च विचारो सन्ता होन्ति समिता, वूपसन्ता अत्थङ्गता अब्भत्थङ्गता अप्पिता व्यप्पिता विसोसिता ब्यन्तीकता, तेन वुच्चति अवितक्कं अविचारं'' ति।

५८. एत्थाह—''ननु च वितक्कविचारानं वूपसमा ति इमिना पि अयमत्थो सिद्धो, अथ कस्मा पुन वुत्तं अवितक्कं अविचारं'' ति? वुच्चते—एवमेतं; सिद्धो वायमत्थो, न पनेतं तदत्थदीपकं। ननु अवोचुम्ह—''ओळारिकस्स पन अङ्गस्स समतिक्कमा पठमज्झानतो परेसं दुतियज्झानादीनं समधिगमो होती ति दस्सनत्थं 'वितक्कविचारानं वूपसमा' ति एवं वुत्तं'' ति।

अपि च वितक्कविचारानं वूपसमा इदं सम्पसादनं, न किलेसकालुस्सियस्स।

(उत्ताल तरङ्ग) और तरङ्गों (छोटी लहरों) द्वारा चञ्चल (=समाकुल) जल के समान भलीभाँति प्रसन्न नहीं होता, अतः (श्रद्धा के) रहने पर भी श्रद्धा को प्रसन्नता (=सम्प्रसादन) नहीं कहा गया है। भलीभाँति प्रसन्न न होने से ही यहाँ प्रथम ध्यान में समाधि भी भलीभाँति प्रकट नहीं हो पाती, अतः 'एकोदय भाव' भी नहीं कहा गया। किन्तु इस द्वितीय ध्यान में वितर्कविचाररूप बाधाओं का अभाव होने से, श्रद्धा को सबल होने का अवसर मिलता है, सबल श्रद्धा की सहायता पाकर समाधि भी प्रकट होती है; अतः इस द्वितीय ध्यान को ही ऐसा कहा गया है—ऐसा समझना चाहिये।

किन्तु **विभङ्ग** में ''श्रद्धा, श्रद्धा करना, विश्वास, प्रसन्नता ही सम्प्रसादन है। चित्त की स्थिति...पूर्ववत्...सम्यक्समाधि ही एकोदय भाव है'' (श्रद्धा और सम्प्रसादन को) एक ही अर्थ में कहा गया है। इस कथन के साथ इस (उपर्युक्त) अर्थ का विरोध नहीं है, अपितु वह भी इसे मिलता है एवं इसके समान है—ऐसा समझना चाहिये।

५७. **अवितक्कं अविचारं** (अवितर्क—अविचार)। भावना का प्रहाण हो जाने से इसमें या इसका वितर्क नहीं है, अतः 'अवितर्क' है। इसी प्रकार 'अविचार' है। **विभङ्ग** में भी कहा गया है—''क्योंकि ये वितर्क और ये विचार शान्त (निरोधप्राप्त) शमित, वहीं भलीभाँति शमित, विनष्ट, भलीभाँति विनष्ट, (प्रवृत्ति नामक सन्तति के अभाव के कारण) शोषित (शुष्क), समाप्त (अन्तप्राप्त) हो जाते हैं, अतः 'अवितर्क—अविचार' कहे जाते हैं।

५८. यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है—''वितर्क—विचारों का शमन हो जाने से''—इस कथन से भी तो यही (उपर्युक्त) अर्थ सिद्ध होता है, फिर पुनः ''अवितर्क अविचार'' क्यों कहा गया? **उत्तर है**—बात आप की ठीक ही है; अथवा यह अर्थ सिद्ध है, किन्तु यह अर्थ को स्पष्ट करने वाला नहीं है।' क्या हमने पहले नहीं कहा था—''स्थूल अङ्गों के समतिक्रमण से प्रथम ध्यान से भिन्न द्वितीय ध्यान आदि की प्राप्ति होती है, इसे समझाने के लिये 'वितर्क—विचारों के शमित हो जाने से' ऐसा कहा गया है।''

वितक्कविचारानं च वूपसमा एकोदिभावं, न उपचारज्झानमिव नीवरणप्पहाना, पठमज्झानमिव च न अङ्गपातुभावा ति एवं सम्पसादनएकोदिभावानं हेतुपरिदीपकमिदं वचनं। तथा वितक्कविचारानं वूपसमा इदं अवितक्कं अविचारं, न ततियचतुत्थज्झानानि विय चक्खुविञ्ञाणादीनि विय च अभावा ति एवं अवितक्कअविचारभावस्स हेतुपरिदीपकं च, न वितक्कविचाराभावमत्तपरिदीपकं। वितक्कविचाराभावमत्तपरिदीपकमेव पन "अवितक्कं अविचारं" ति इदं वचनं। तस्मा पुरिमं वत्वा पि वत्तब्बमेवा ति।

५९. **समाधिजं** ति। पठमज्झानसमाधितो सम्पयुत्तसमाधितो वा जातं ति अत्थो। तत्थ किञ्चापि पठमं पि सम्पयुत्तसमाधितो जातं, अथ खो अयमेव समाधि "समाधी" ति वत्तब्बतं अरहति, वितक्कविचारक्खोभविरहेन अतिविय अचलत्ता, सुप्पसन्नत्ता च। तस्मा इमस्स वण्णभणनत्थं इदमेव "समाधिजं" ति वुत्तं। **पीतिसुखं** ति। इदं वुत्तनयमेव।

६०. **दुतियं** ति। गणनानुपुब्बता दुतियं। इदं दुतियं समापज्जती ति पि दुतियं। यं पन वुत्तं—"**दुवङ्गविप्पहीनं तिवङ्गसमन्नागतं**" ति। तत्थ वितक्कविचारानं पहानवसेन दुवङ्गविप्पहीनता वेदितब्बा। यथा च पठमज्झानस्स उपचारक्खणे नीवरणानि पहीयन्ति, न तथा इमस्स वितक्कविचारा। अप्पनाक्खणे येव पनेतं तेहि उप्पज्जति। तेनस्स ते "पहानङ्गं" ति वुच्चन्ति। पीति, सुखं, चित्तेकग्गता ति इमेसं पन तिण्णं उप्पत्तिवसेन तिवङ्गसमन्नागतता वेदितब्बा। तस्मा यं **विभङ्गे** "झानं ति सम्पसादो पीति सुखं चित्तस्स एकग्गता" (अभि०

और भी—वितर्क–विचारों का भलीभाँति शमन ही सम्प्रसादन है, क्लेश (रूप) कालुष्य (अपवित्रता) का नहीं। इसी प्रकार इस ध्यान में वितर्क–विचारों का शमन ही एकोदय भाव है, उपचार–ध्यान में जैसे होता है उस के समान नीवरणों का प्रहाण नहीं, न ही प्रथम ध्यान के समान अङ्गों का ही प्राप्त होना। इस प्रकार यह वचन सम्प्रसादन एवं एकोदय भाव के हेतु को स्पष्ट करने वाला है। इसी तरह इस ध्यान में वितर्क–विचारों का शमन ही अवितर्क–अविचार है, तृतीय–चतुर्थ ध्यानों के समान एवं चक्षुर्विज्ञान आदि के समान उनका अभाव होना नहीं। इस प्रकार यह वचन अवितर्क–अविचार के भाव (=होने) के हेतु को सूचित करता है, वितर्क–विचार के अभावमात्र को नहीं। जबकि "अवितर्क–अविचार" यह वचन वितर्क–विचार के अभावमात्र का ही सूचक है। इसलिये पहले कहे जाने पर भी पुनः कहना उचित ही था।

५९. **समाधिजं** (समाधि से उत्पन्न)—प्रथम ध्यान रूप समाधि से या सम्प्रयुक्त समाधि से उत्पन्न। यद्यपि प्रथम ध्यान भी सम्प्रयुक्त समाधि से उत्पन्न है, तथापि यही समाधि वितर्क–विचारजन्य क्षोभ से रहित होने के कारण अत्यधिक स्थिर एवं भलीभाँति प्रसन्नता से युक्त होने से 'समाधि' कही जाने योग्य है—यह बताने के लिये इसी को "समाधि से उत्पन्न" कहा गया है।

पीतिसुखं— पूर्वोक्त के अनुसार ही समझना चाहिये।

६०. **दुतियं**— गणना–क्रम में द्वितीय। यह दूसरी बार प्राप्त होता है, इस लिये भी द्वितीय है। जो कहा गया है— 'दो अङ्गों से रहित, तीन अङ्गों से युक्त'—वहाँ वितर्क–विचार के प्रहाण के रूप में इसकी दो अङ्गों से रहितता जाननी चाहिये। और जैसे प्रथम ध्यान के उपचार–क्षण में नीवरणों का प्रहाण होता है, वैसे इस ध्यान के उपचार–क्षण में वितर्क–विचारों का प्रहाण नहीं होता। केवल अर्पणा के क्षण में ही यह ध्यान उनके विना उत्पन्न होता है। इसलिये वे इसके प्रहाणाङ्ग कहे जाते हैं। प्रीति, सुख, चित्तैकाग्रता—इन तीनों की उत्पत्ति के रूप में 'तीन अङ्गों से समन्वागत होना' जानना चाहिये। इसलिये **विभङ्ग** में जो यह कहा गया है—"ध्यान : प्रसन्नता, प्रीति, सुख, एकाग्रता" वह परिष्कार

२-३११) ति वुत्त तं सपरिक्खारं झानं दस्सेतुं परियायेन वुत्तं। ठपेत्वा पन सम्पसादनं निप्परियायेन उपनिज्झानलक्खणप्पत्तानं अङ्गानं वसेन तिवङ्गिकमेव एतं होति। यथाह— "कतमं तस्मिं समये तिवङ्गिकं झानं होति? पीति सुखं चित्तस्स एकग्गता" (अभि० २-३१९) ति। सेसं पठमज्झाने वुत्तनयमेव।

ततियज्झानकथा

६१. एवमधिगते पन तस्मिं पि वुत्तनयेनेव पञ्चहाकारेहि चिण्णवसिना हुत्वा पगुणदुतियज्झानतो वुट्ठाय "अयं समापत्ति आसन्नवितक्कविचारपच्चत्थिका, 'यदेव तत्थ पीतिगतं चेतसो उप्पिलावितं, एतेनेतं ओळारिकं अक्खायती' (दी० १-३३) ति वुत्ताय पीतिया ओळारिकत्ता अङ्गदुब्बला ति च तत्थ दोसं दिस्वा ततियज्झानं सन्ततो मनसिकरित्वा दुतियज्झाने निकन्तिं परियादाय ततियाधिगमाय योगो कातब्बो। अथस्स यदा दुतियज्झानतो वुट्ठाय सतस्स सम्पजानस्स झानङ्गानि पच्चवेक्खतो पीति ओळारिकतो उपट्ठाति, सुखं चेव एकग्गता च सन्ततो उपट्ठाति। तदास्स ओळारिकङ्गप्पहानाय सन्तङ्गपटिलाभाय च तदेव निमित्तं "पथवी पथवी" ति पुनप्पुनं मनसिकरोतो "इदानि ततियज्झानं उप्पज्जिस्सती" ति भवङ्गं उपच्छिन्दित्वा तदेव पथवीकसिणं आरम्मणं कत्वा मनोद्वारावज्जनं उप्पज्जति। ततो तस्मिं येवारम्मणे चत्तारि पञ्च वा जवनानि जवन्ति, येसं अवसाने एकं रूपावचरं ततियज्झानिकं, सेसानि वुत्तनयेनेव कामावचरानी ति।

६२. एत्तावता च पनेस **"पीतिया च विरागा उपेक्खको च विहरति सतो च**

(=संसाधनों) के साथ ध्यान को प्रदर्शित करने के उद्देश्य से आलङ्कारिक रूप से कहा गया है। किन्तु आलङ्कारिक रूप से न कहे जाने पर, प्रसन्नता को छोड़कर, विचार (=उपनिज्झान) के लक्षण वाले अङ्गों के अनुसार यह तीन अङ्गों वाला ही होता है। जैसा कि कहा है—"उस समय कौन से तीन अङ्गों वाला ध्यान होता है? प्रीति, सुख, चित्त की एकाग्रता"। शेष प्रथम ध्यान के विषय में कहे गये के अनुसार ही है।

तृतीय ध्यान

६१. यों द्वितीय ध्यान प्राप्त हो जाने पर, उसमें भी पूर्वोक्त विधि के अनुसार ही पाँच प्रकार से निपुण होकर अभ्यस्त द्वितीय ध्यान से ऊपर उठकर—"यह समापत्ति प्रतिपक्षभूत वितर्क-विचार की समीपवर्तिनी है, उसमें यह जो प्रीतियुक्त चित्त का उत्फुल्ल होना है, उसी कारण से यह स्थूल कही जाती है' (दी० १.३३) इस प्रकार कही गयी "प्रीति के स्थूल होने से वह दुर्बल अङ्गवाली है" ऐसे उस द्वितीय ध्यान में दोष देखकर तृतीय ध्यान की ओर शान्तिपूर्वक मन लगाकर, द्वितीय ध्यान की कामना छोड़कर, तृतीय ध्यान की प्राप्ति के लिये उद्योग करना चाहिये। जब द्वितीय ध्यान से उठकर वह स्मृति और सम्प्रजन्य से युक्त भिक्षु ध्यानाङ्गों का प्रत्यवेक्षण करता है, तब प्रीति स्थूल रूप में उपस्थित प्रतीत होती है, सुख एवं एकाग्रता शान्त रूप में उपस्थित होते हैं। तब यह भिक्षु स्थूल अङ्गों के प्रहाण एवं शान्त अङ्गों की प्राप्ति के लिये उसी 'पृथ्वी, पृथ्वी' निमित्त में बारम्बार मन लगाते हुए 'अब तृतीय ध्यान उत्पन्न होगा' ऐसा जानकर और भवाङ्ग का उपच्छेद कर उसी पृथ्वीकसिण को आलम्बन बनाकर मनोद्वारावर्जन चित्त उत्पन्न करता है। तत्पश्चात् उसी आलम्बन में चार या पाँच जवनचित्त जवन करते हैं, जिनमें से अन्तिम चित्त रूपावचर और तृतीय ध्यान का होता है, शेष पूर्वोक्त के अनुसार ही, कामावचर होते हैं।

६२. इतने व्याख्यान से—**"पीतिया च विरागा उपेक्खको च विहरति सतो च सम्पजानो,**

सम्पजानो, सुखं च कायेन पटिसेवेदेति, यं तं अरिया आचिक्खन्ति उपेक्खको सतिमा सुखविहारी ति, ततियं झानं उपसम्पज्ज विहरती" (दी० १-६६) ति। एवमनेन एकङ्गविप्पहीनं दुवङ्गसमन्नागतं तिविधकल्याणं दसलक्खणसम्पन्नं ततियं झानं अधिगतं होति पथवीकसिणं।

६३. तत्थ **पीतिया च विरागा** ति। विरागो नाम वुत्तप्पकाराय पीतिया जिगुच्छनं वा, समतिक्कमो वा। उभिन्नं पन अन्तरा च-सद्दो सम्पिण्डनत्थो, सो वूपसमं वा सम्पिण्डेति वितक्कविचारानं वूपसमं वा। तत्थ यदा वूपसममेव सम्पिण्डेति, तदा "पीतिया च विरागा किञ्च भिय्यो वूपसमा चा" ति एवं योजना वेदितब्बा। इमिस्सा च योजनाय विरागा जिगुच्छनत्थो होति, तस्मा "पीतिया जिगुच्छना च वूपसमा चा" ति अयमत्थो दट्ठब्बो। यदा पन वितक्कविचारवूपसमं सम्पिण्डेति, तदा "पीतिया च विरागा, किञ्च भिय्यो वितक्कविचारानं च वूपसमा" ति एवं योजना वेदितब्बा। इमिस्सा च योजनाय विरागो समतिक्कमनत्थो होति, तस्मा "पीतिया च समतिक्कमा वितक्कविचारानं च वूपसमा" ति अयमत्थो दट्ठब्बो।

६४. कामं चेते वितक्कविचारा दुतियज्झाने येव वूपसन्ता, इमस्स पन झानस्स मग्गपरिदीपनत्थं वण्णभणनत्तं चेतं वुत्तं। 'वितक्कविचारानं च वूपसमा' ति हि वुत्ते इदं पञ्ञायतिनूनं "वितक्कविचारवूपसमो मग्गो इमस्स झानस्सा" ति। यथा च ततिये अरियमग्गे अप्पहीनानं पि सक्कायदिट्ठादीनं "पञ्चन्नं ओरम्भागियानं संयोजनानं पहाना" (दी०१-

---

सुखं च कायेन पटिसंवेदेति, यं तं अरिया आचिक्खन्ति—उपेक्खको सतिमा सुखविहारी ति, ततियं झानं उपसम्पज्ज विहरती" ति (दी० १–६६)। एवमनेन एकङ्गविप्पहीनं दुवङ्गसमन्नागतं तिविधकल्याणं दसलक्खणसम्पन्नं ततियं झानं अधिगतं होति पथवीकसिणं—का विस्तृत विवरण समाप्त हुआ।

अब आचार्य इस पालिपाठ में आये विशिष्ट शब्दों का व्याख्यान कर रहे हैं—

६३. **पीतिया च विरागा** (प्रीति और विराग से)—पूर्वोक्त प्रकार की प्रीति के प्रति जुगुप्सा (=अरुचि) या उसका अतिक्रमण 'विराग' है। दोनों के बीच का 'और' (='च') शब्द संयोजन के अर्थ में है। वह या तो उपशमन को उन दोनों से जोड़ता है या द्वितीय ध्यान के वर्णन के प्रसङ्ग में वितर्क और विचार के उपशमन को। इनमें, जब उपशमन को ही जोड़ता है, तब "प्रीति से विराग और इसके अतिरिक्त उपशम से" इस प्रकार की अर्थ-योजना समझनी चाहिये। इस अर्थ-योजना में 'विराग' का अर्थ जुगुप्सा है, इसलिये इसका "प्रीति के प्रति जुगुप्सा एवं प्रीति का उपशम"—यह अर्थ समझना चाहिये। किन्तु जब यह मानते हैं कि 'च' शब्द वितर्क-विचार को उपशम के साथ जोड़ता है, तब 'प्रीति से विराग और इसके अतिरिक्त उपशम से'—इस प्रकार अर्थ समझना चाहिये। इस अर्थ-योजना में 'विराग' का अर्थ 'समतिक्रमण' है इसलिये "प्रीति का समतिक्रमण और वितर्क तथा विचार का उपशमन"—यह अर्थ समझना चाहिये।

६४. यद्यपि ये वितर्क और विचार द्वितीय ध्यान में ही शमित हो चुके हैं, किन्तु इस तृतीय ध्यान के मार्ग पर प्रकाश डालने एवं गुण-कथन के उद्देश्य से ऐसा कहा गया है। "वितर्क और विचार के उपशमन से" इस कथन से सूचित होता है कि अवश्य ही इस ध्यान का मार्ग (=उपाय) वितर्क और विचार का शमन है।

जैसे तृतीय आर्य-मार्ग (अनागामी मार्ग) में प्रहीण न होने वाली सत्कायदृष्टि (=शरीर में एक नित्य 'आत्मा' के होने की मिथ्यादृष्टि) आदि के विषय में "पाँच अवरभागीय संयोजनों (१. सत्कायदृष्टि,

१३३)ति एवं पहानं वुच्चमानं वण्णभणनं होति, तदधिगमाय उस्सुक्कानं उस्साहजनकं; एवमेव इध अवूपसन्तानं पि वितक्कविचारानं वूपसमो वुच्चमानो वण्णभणनं होति। तेनायमत्थो वुत्तो—"पीतिया च समतिक्कमा वितक्कविचारानं च वूपसमा" ति।

६५. **उपेक्खको च विहरती** ति। एत्थ उपपत्तितो इक्खती ति उपेक्खा। समं पस्सति, अपक्खपतिता हुत्वा पस्सती ति अत्थो। ताय विसदाय विपुलाय थामगताय समन्नागतत्ता ततियज्झानसमङ्गी उपेक्खको ति वुच्चति।

उपेक्खा पन दसविधा होति—छळङ्गुपेक्खा, ब्रह्मविहारुपेक्खा, बोज्झङ्गुपेक्खा, विरियुपेक्खा, सङ्खारुपेक्खा, वेदनुपेक्खा, विपस्सनुपेक्खा, तत्रमज्झत्तुपेक्खा, झानुपेक्खा, पारिसुद्धिउपेक्खा ति।

(१) तत्थ या "इध, भिक्खवे, भिक्खु चक्खुना रूपं दिस्वा नेव सुमनो होति, न दुम्मनो, उपेक्खको च विहरति सतो सम्पजानो" (अं० नि० ३-३) ति एवमागता खीणासवस्स छसु द्वारेसु इट्ठानिट्ठछळारम्मणापाथे परिसुद्धपकतिभावाविजहनाकारभूता उपेक्खा,अयं **छळङ्गुपेक्खा** नाम।

(२) या पन "उपेक्खासहगतेन चेतसा एकं दिसं फरित्वा विहरती" ति एवमागता सत्तेसु मज्झत्ताकारभूता उपेक्खा, अयं **ब्रह्मविहारुपेक्खा** नाम।

(३) या "उपक्खासम्बोज्झङ्गं भावेति विवेकनिस्सितं" ति एवमागता सहजात-धम्मानं मज्झत्ताकारभूता उपेक्खा, अयं बोज्झङ्गुपेक्खा नाम।

---

२. विचिकित्सा, ३. शीलव्रतपरामर्श, ४. कामच्छन्द एवं ५. व्यापाद) का प्रहाण" (दी० १.१३३) इस प्रकार प्रथम तीन संयोजनों के स्रोतआपत्ति मार्ग में प्रहीण हो जाने पर भी पुनः उनका प्रहाण कहे जाने से गुण-कथन होता है। उस तृतीय मार्ग की प्राप्ति के लिये उत्सुकता व उत्साह बढ़ता है; इसी प्रकार यहाँ तृतीय ध्यान में उपशमित न होने वाले वितर्क और विचार का उपशम कहे जाने से गुण -कथन होता है। अतः इसका यह आशय है- "प्रीति का समतिक्रमण और वितर्क विचार का उपशम हो जाने से।"

६५. **उपेक्खको च विहरति** (उपेक्षा के साथ विहार करता है)- वस्तुओं या घटनाओं की उपपत्ति (उत्पत्ति, उद्भव) के अनुसार उन्हें देखती है (=ईक्षण करती है) अतः 'उपेक्षा' कही जाती है। अर्थात् सम भाव से देखती है, पक्षपातरहित होकर देखती है। उस स्पष्ट (विशद), प्रभूत (विपुल), सुदृढ युक्त होने के कारण, ध्यानप्राप्त भिक्षु 'उपेक्षा से युक्त' कहा जाता है।

उपेक्षा दस प्रकार की होती है- १. षडङ्ग (=छः अङ्गों वाली) उपेक्षा, २. ब्रह्मविहार-उपेक्षा, ३. बोध्यङ्ग-उपेक्षा, ४. वीर्य-उपेक्षा, ५. संस्कार-उपेक्षा, ६. वेदना-उपेक्षा, ७. विपश्यना-उपेक्षा, ८. तत्रमध्यस्थ-उपेक्षा, ९. ध्यानउपेक्षा एवं १०. परिशुद्धि-उपेक्षा।

(१) इनमें, जो "भिक्षुओ, यहाँ भिक्षु चक्षु से रूप देखकर न प्रसन्न होता है, न अप्रसन्न, उपेक्षायुक्त होकर स्मृति और सम्प्रजन्य के साथ विहार करता है"-इस प्रकार वर्णित, छह इन्द्रिय द्वारों पर इष्ट-अनिष्ट (=प्रिय-अप्रिय) छह आलम्बनों के उपस्थित होने पर, क्षीणास्रव की जो परिशुद्ध प्रकृति भावरूप (स्वभावतः विशुद्ध होना) उपेक्षा है, उसे **षडङ्ग-उपेक्षा** कहते हैं।

(२) "उपेक्षासहगत चित्त से एक दिशा को सर्वांशतः ध्यान में लेकर साधना करता है"- इस प्रकार वर्णित, सत्त्वों के प्रति मध्यस्थता के रूप में रहने वाली जो उपेक्षा है, वह **ब्रह्मविहार-उपेक्षा** है।

(४) या पन "कालेन कालं उपेक्खानिमित्तं मनसिकरोती" ति एवमागता अनच्चारद्धनातिसिथिलविरियसङ्खाता उपेक्खा, अयं **विरियुपेक्खा** नाम।

(५)या "कति सङ्खारुपेक्खा समथवसेन उप्पज्जन्ति? कति सङ्खारुपेक्खा विपस्सनावसेन उप्पज्जन्ति? अट्ठ सङ्खारुपेक्खा समाधिवसेन उप्पज्जन्ति, दस सङ्खारुपेक्खा विपस्सनवसेन उप्पज्जन्ती" ति एवमागता नीवरणादिपटिसङ्खासन्तिट्ठाना गहणे मज्झत्तभूता उपेक्खा, अयं **सङ्खारुपेक्खा** नाम।

(६) या पन "यस्मिं समये कामावचरे कुसलं चित्तं उप्पन्नं होति उपेक्खासहगतं" ति एवमागता अदुक्खमसुखसञ्ञिता उपेक्खा, अयं **वेदनुपेक्खा** नाम।

(७)या "यदत्थि यं भूतं तं पजहति, उपेक्खं पटिलभती" ति एवमागता विचिनने मज्झत्तभूता उपेक्खा, अयं **विपस्सनुपेक्खा** नाम।

(८) या पन छन्दादीसु येवापनकेसु आगता सहजातानं समवाहितभूता उपेक्खा, अयं **तत्रमज्झत्तुपेक्खा** नाम।

(९) या "उपेक्खको च विहरती" ति एवमागता अग्गसुखे पि तस्मिं अपक्खपातजननी उपेक्खा, अयं **झानुपेक्खा** नाम।

---

(३) "विवेक पर आधृत उपेक्षासम्बोध्यङ्ग की भावना करता है"—इस प्रकार वर्णित, सहजात धर्मों के प्रति मध्यस्थता के रूप में रहने वाली जो उपेक्षा है, वह **बोध्यङ्ग—उपेक्षा** है।

(४) "समय—समय पर उपेक्षा—निमित्त को मन में लाता है"—इस प्रकार वर्णित, न बहुत सक्रिय न बहुत शिथिल, 'वीर्य' नामक जो उपेक्षा है, वह **वीर्य—उपेक्षा** है।

(५) "संस्कारों के प्रति कितने प्रकार की उपेक्षाएँ शमथ के कारण उत्पन्न होती हैं? संस्कारों के प्रति कितने प्रकार की उपेक्षाएँ विपश्यना के कारण उत्पन्न होती है? संस्कारों के प्रति आठ प्रकार की उपेक्षाएँ शमथ (=समाधि) के कारण उत्पन्न होती हैं। संस्कारों के प्रति दस प्रकार की उपेक्षाएँ विपश्यना के कारण उत्पन्न होती हैं"—इस प्रकार वर्णित, नीवरण आदि के विचार से एक होने के कारण गृहीत मध्यस्थ रहने वाली जो उपेक्षा है, वह **संस्कार—उपेक्षा** है।

(६) "जिस समय उपेक्षासहगत कामावचर कुशलचित्त उत्पन्न होता है" (द्र० ध० सं०, १५६)—इस प्रकार वर्णित 'अदुःख, असुख' संज्ञक जो उपेक्षा है, वह **वेदना—उपेक्षा** है।

(७) "जो है, जो था, उसे त्याग देता है, उसके प्रति उपेक्षा प्राप्त करता है"—इस प्रकार वर्णित, विवेचन करने में मध्यस्थ रहने वाली जो उपेक्षा है, वह **विपश्यना—उपेक्षा** है।

(८) छन्द आदि, 'येवापनक' धर्मों में वर्णित, सहजात धर्मों को लाने वाली जो उपेक्षा है, वह **तत्रमध्यस्थ—उपेक्षा** है।

("ये वा पन तस्मिं समये अञ्ञे पि अत्थि पटिच्चसमुप्पन्ना अरूपिनो धम्मा, इमे धम्मा कुसला"—इस प्रकार से **धम्मसङ्गणि** में "ये वा पन" से प्रारम्भ कर इन नौ धर्मों का वर्णन किया गया है— १. छन्द, २. अधिमोक्ष, ३. मनस्कार, ४. तत्रमध्यस्थता, ५. करुणा, ६. मुदिता, ७. कायदुश्चरित्र—विरति, ८. वाग्दुश्चरित्र—विरति, ९. मिथ्याआजीव—विरति। इन धर्मों के प्रति जो मध्यस्थता है, वही यहाँ अभिप्रेत है।)

(९) "उपेक्षा—युक्त होकर विहार करता है"—इस प्रकार वर्णित, उस अग्रसुख (=सर्वोच्च सुख, ध्यान—सुख) के प्रति भी अपक्षपात की मनोवृत्ति उत्पन्न करने वाली जो उपेक्षा है, वह उपेक्षा कहलाती है।

(१०) या पन "उपेक्खासतिपरिसुद्धिं चतुत्थं झानं" ति एवमागता सब्बपच्चनीकपारिसुद्धा पच्चनीकवूपसमने पि अब्यापारभूता उपेक्खा, अयं **पारिसुद्धिउपेक्खा** नाम।

६६. तत्र छळङ्गुपेक्खा च ब्रह्मविहारुपेक्खा च बोज्झङ्गुपेक्खा च तत्रमज्झत्तुपेक्खा च झानुपेक्खा च पारिसुद्धुपेक्खा च अत्थतो एका, तत्रमज्झत्तुपेक्खा व होति। तेन तेन अवत्थाभेदेन पनस्सा अयं भेदो, एकस्सा पि सतो सत्तस्स कुमारयुवथेरसेनापतिराजादिवसेन भेदो विय। तस्मा तासु यत्थ छळङ्गुपेक्खा, न तत्थ बोज्झङ्गुपेक्खादयो। यत्थ वा पन बोज्झङ्गुपेक्खा, न तत्थ छळङ्गुपेक्खादयो होन्ती ति वेदितब्बा।

६७. यथा चेतासमत्थतो एकीभावो, एवं सङ्खारुपेक्खाविपस्सनुपेक्खानं पि। पञ्ञा एव हि सा किच्चवसेन द्विधा भिन्ना। यथा हि पुरिसस्स सायं गेहं पविट्ठं सप्पं अजपददण्डं गहेत्वा परियेसमानस्स तं थुसकोट्ठके निपन्नं दिस्वा "सप्पो नु खो, नो" ति अवलोकेन्तस्स सोवत्तिकत्तयं दिस्वा निब्बेमतिकस्स "सप्पो, न सप्पो" ति विचिनने मज्झत्तता होति; एवमेव या आरद्धविपस्सकस्स विपस्सनाञाणेन लक्खणत्तये दिट्ठे सङ्खारानं अनिच्चभावादिविचिनने मज्झत्तता उप्पज्जति, अयं विपस्सनुपेक्खा नाम। यथा पन तस्स पुरिसस्स अजपददण्डेन गाळ्हं सप्पं गहेत्वा "किं ताहं इमं सप्पं अविहेठेन्तो अत्तानं च इमिना अडंसापेन्तो मुञ्चेय्यं" ति मुञ्चनाकारमेव परियेसतो गहणे मज्झत्तता होति; एवमेव या लक्खणत्तयस्स दिट्ठत्ता आदित्ते विय तयो भवे पस्सतो सङ्खारगहणे मज्झत्तता, अयं

---

(१०) "उपेक्षा द्वारा परिशुद्ध स्मृति से युक्त चतुर्थ ध्यान"—इस प्रकार वर्णित, सभी विरुद्ध धर्मों से चित्त की परिशुद्धि पूर्व में हो जाने से, विरोधी धर्मों के उपशम के प्रति अनुद्योग रूप जो उपेक्षा है, वह **परिशुद्धि–उपेक्षा** कहलाती है।

६६. इनमें, षडङ्ग–उपेक्षा, ब्रह्मविहार–उपेक्षा, बोध्यङ्ग–उपेक्षा, तत्रमध्यस्थ–उपेक्षा, ध्यान–उपेक्षा एवं परिशुद्धि–उपेक्षा, अर्थतः एक ही हैं, अर्थात् ये सब तत्रमध्यस्थ–उपेक्षा के अन्तर्गत हैं, केवल अवस्थाओं के भेद के अनुसार यह भेद है; जैसे कि सत्त्व=प्राणी एक होने पर भी बालक, युवा, वृद्ध, सेनापति, राजा आदि के रूप में भिन्न–भिन्न होता है। इसलिये यह समझना चाहिये कि उन दस प्रकार की उपेक्षाओं में जहाँ षडङ्ग–उपेक्षा होती है, वहाँ बोध्यङ्ग–उपेक्षा आदि नहीं होतीं। अथवा, जहाँ बोध्यङ्ग–उपेक्षा होती है, वहाँ षडङ्ग–उपेक्षा आदि नहीं होतीं।

६७. एवं जैसे ये अर्थतः एक हैं, वैसे ही संस्कार–उपेक्षा और विपश्यना–उपेक्षा को भी समझें; क्योंकि वह प्रज्ञा ही है जो कृत्य (=कार्य) के अनुसार दो प्रकार से विभक्त है। जैसे कोई पुरुष सायङ्काल घर में घुसे हुए सर्प को अजपददण्ड (=एक विशेष प्रकार का डण्डा जिसका निचला भाग बकरी के खुर के समान होता है) लेकर खोजते हुए उसे अनाज रखने वाली कोठरी में घुसा देखर 'यह सर्प है या नहीं'—ऐसा (सोचते हुए उसे ध्यान से) देखे तो तीन स्वस्तिक (सोवत्तिक=सर्प की ग्रीवा पर पड़ी हुई रेखाएँ) देखकर सन्देहरहित हो चुके उस पुरुष को 'यह सर्प है या नहीं' इस प्रकार गवेषणा करने में मध्यस्थता होती है; उसी प्रकार विपश्यना का प्रारम्भ कर चुके भिक्षु को विपश्यना–ज्ञान द्वारा लक्षणत्रय दीख जाने पर, संस्कारों के अनित्यभाव आदि के अन्वेषण में जो मध्यस्थता उत्पन्न होती है, वह विपश्यना–उपेक्षा है। और जैसे उस पुरुष को, अजपद दण्ड द्वारा सर्प को कसकर पकड़कर "कैसे मैं इस सर्प को विना सताये और स्वयं को विना डँसवाये छोड़ूँ"—इस प्रकार छोड़ने के प्रकार का अन्वेषण करते हुए पकड़ने में मध्यस्थता होती है, वैसे ही लक्षणत्रय दीख जाने से तीनों भवों को जलता हुआ सा देखते हुए, संस्कार के ग्रहण में जो मध्यस्थता होती है, वह

सङ्खारुपेक्खा नाम। इति विपस्सनुपेक्खाय सिद्धाय सङ्खारुपेक्खा ति सिद्धा व होति। इमिना पनेसा विचिननगहणेसु मज्झत्तसङ्खातेन किच्चेन द्विधा भिन्ना ति।

विरियुपेक्खा पन वेदनुपेक्खा च अञ्ञमञ्ञं च अवसेसाहि च अत्थतो भिन्ना एवा ति।

६८. इति इमासु उपेक्खासु झानुपेक्खा इध अधिप्पेता। सा मज्झत्तलक्खणा, अनाभोगरसा, अव्यापारपच्चुपट्ठाना, पीतिविरागपदट्ठाना ति। एत्थाह—ननु च अयं अत्थतो तत्रमज्झत्तुपेक्खा व होति, सा च पठमदुतियज्झानेसु पि अत्थि, तस्मा तत्रापि 'उपेक्खको च विहरती' ति एवमयं वत्तब्बा सिया, सा कस्मा न वुत्ता ति? अपरिब्यत्तकिच्चतो। अपरिब्यत्तं हि तस्सा तत्थ किच्चं; वितक्कादीहि अभिभूतत्ता। इध पनायं वितक्कविचारपीतीहि अनभिभूतत्ता उक्खित्तसिरा विय हुत्वा परिब्यत्तकिच्चा जाता, तस्मा वुत्ता ति।

निट्ठिता "उपेक्खको च विहरती" ति एतस्स सब्बसो अत्थवण्णना।

६९. इदानि **सतो च सम्पजानो** ति। एत्थ सरती ति सतो। सम्पजानाती ति सम्पजानो। पुग्गलेन सति च सम्पजञ्ञं च वुत्तं। तत्थ सरणलक्खणा सति, असम्मुस्सनरसा, आरक्खपच्चुपट्ठाना। असम्मोहलक्खणं सम्पजञ्ञं, तीरणरसं, पविचयपच्चुपट्ठानं।

७०. तत्थ किञ्चापि इदं सतिसम्पजञ्ञं पुरिमज्झानेसु पि अत्थि। मुट्ठसतिस्स हि असम्पजानस्स उपचारमत्तं पि न सम्पज्जति, पगेव अप्पना। ओळारिकत्ता पन तेसं झानानं,

---

संस्कार–उपेक्षा है। इस प्रकार विपश्यना–उपेक्षा सिद्ध होने पर संस्कार–उपेक्षा भी सिद्ध होती है; किन्तु वह अन्वेषण और ग्रहण करने में मध्यस्थ होने के कार्य के अनुसार दो प्रकार से विभक्त है।

वीर्य–उपेक्षा एवं वेदना–उपेक्षा एक दूसरे से भी एवं शेष उपेक्षाओं से भी अर्थतः भिन्न हैं।

६८. इन पूर्वोक्त सभी उपेक्षाओं में यहाँ ध्यान–उपेक्षा ही अभिप्रेत है। वह 'मध्यस्थ' **लक्षण** वाली है, 'अनाभोग' (=सम्बन्ध न रखना) **रस** वाली है, 'अव्यापार' (रुचि न रखना) उसका **प्रत्युपस्थान** एवं प्रीति से विराग **पदस्थान है।**

यहाँ यह **प्रश्न** उठाया जा सकता है– क्या यह अर्थतः तत्रमध्यस्थ–उपेक्षा ही नहीं है? और वह प्रथम तथा द्वितीय ध्यानों में भी होती है, अतः वहाँ भी 'उपेक्षा के साथ विहरता है' ऐसे कहा जाना चाहिये था? तो वह (उपेक्षा) किसलिये वहाँ नहीं की गयी?

उत्तर– कृत्य की अस्पष्टता (अव्यक्तता) के कारण। वहाँ उसका कृत्य वितर्क आदि द्वारा अभिभूत होने से अस्पष्ट होता है। किन्तु यहाँ तृतीय ध्यान में उपेक्षा वितर्क, विचार, प्रीति द्वारा अभिभूत न होने के कारण, सिर उठाये हुए के समान, स्पष्ट कृत्य वाली होती है। इसलिये यहाँ कही गयी है।।

"उपेक्षा के साथ विहरता है"–इस पद की सभी पक्षों में व्याख्या समाप्त हुई।।

६९. अब **सतो च सम्पजानो** "स्मृति और सम्प्रजन्य से युक्त" पर विचार किया जायगा। यहाँ स्मरण करता है (=सरति) अतः स्मृतिमान् है। भलीभाँति जागरूक रहता है (=सम्प्रजानाति), अतः सम्प्रजन्ययुक्त है। ये स्मृति और सम्प्रजन्य गुण वैयक्तिक गुणों के रूप में बतलाये गये हैं। इनमें; १. 'स्मृति' स्मरण लक्षण वाली है, विस्मृत न करना इसका कार्य है, बचाकर रखना इसका प्रत्युपस्थान है। २. 'सम्प्रजन्य' का लक्षण असम्मोह है, निश्चय करना इसका प्रत्युपस्थान है।

७०. इनमें, यद्यपि ये स्मृति–सम्प्रजन्य पूर्व ध्यानों में भी होते हैं, क्योंकि विस्मरणशील और असावधान को तो उपचार मात्र भी प्राप्त नहीं होती, फिर अर्पणा की तो बात ही क्या; किन्तु उन ध्यानों

भूमियं विय पुरिसस्स, चित्तस्स गति सुखा होति, अब्यत्तं तत्थ सतिसम्पजञ्ञकिच्चं। ओळारिकङ्गप्पहानेन पन सुखुमत्ता इमस्स झानस्स पुरिसस्स खुरधारायं विय सतिसम्पजञ्ञकिच्चपरिग्गहिता एव चित्तस्स गति इच्छितब्बा ति इधेव वुत्तं। किञ्च भिय्यो, यथा धेनूपगो वच्छो धेनुतो अपनीतो अरक्खियमानो पुनदेव धेनुं उपगच्छति, एवमिदं ततियज्झानसुखं पीतितो अपनीतं, तं सतिसम्पजञ्ञारक्खेन अरक्खियमानं पुनदेव पीतिं उपगच्छेय्य, पीतिसम्पयुत्तमेव सिया। सुखे वा पि सत्ता सारज्जन्ति, इदं च अतिमधुरं सुखं, ततो परं सुखाभावा। सतिसम्पजञ्ञानुभावेन पनेत्थ सुखे असारज्जना होति, न अञ्ञथा ति इमं पि अत्थविसेसं दस्सेतुं इदं इधेव वुत्तं ति वेदितब्बं।

७१. इदानि **सुखं च कायेन पटिसंवेदेती** ति एत्थ किञ्चापि ततियज्झानसमङ्गिनो सुखपटिसंवेदनाभोगो नत्थि। एवं सन्ते पि यस्मा तस्स नामकायेन सम्पयुत्तं सुखं, यं वा तं नामकायसम्पयुत्तं सुखं, तंसमुट्ठानेनस्स यस्मा अतिपणीतेन रूपेन रूपकायो फुटो, यस्स फुटत्ता झाना वुट्ठितो पि सुखं पटिसंवेदेय्य। तस्मा एतमत्थं दस्सेन्तो, सुखं च कायेन पटिसंवेदेती ति आह।

७२. इदानि **यं तं अरिया आचिक्खन्ति उपेक्खको सतिमा सुखविहारी** ति। एत्थ यंझानहेतु यंझानकारणा तं ततियज्झानसमङ्गिपुग्गलं बुद्धादयो अरिया आचिक्खन्ति देसेन्ति पञ्ञपेन्ति पट्ठपेन्ति विवरन्ति विभजन्ति उत्तानीकरोन्ति पकासेन्ति, पसंसन्ती ति

में स्थूलत्व होने से वहाँ चित्त की गति सरल होती है, जैसे भूमि पर पुरुष की। अतः उन ध्यानों में स्मृति और सम्प्रजन्य का कृत्य अस्पष्ट होता है। किन्तु स्थूल अङ्गों के प्रहाण के कारण इस तृतीय ध्यान के सूक्ष्म होने से छुरे की धार पर पुरुष की गति के समान चित्त की गति स्मृति–सम्प्रजन्य को ग्रहण करके ही होनी आवश्यक है, अतः यहीं कहा गया है। अधिक क्या कहें! जैसे दूध पीने वाला बछड़ा गाय से दूर कर दिये जाने पर भी यदि पकड़ कर न रखा जाय तो पुनः पुनः गाय के पास पहुँच जाता है; उसी प्रकार प्रीति से दूर कर दिया गया यह तृतीय ध्यान का सुख उस स्मृति–सम्प्रजन्य द्वारा रक्षित न किये जाने पर पुनः प्रीति के पास जा पहुँचेगा एवं प्रीति से ही सम्प्रयुक्त हो जायगा। अथवा, 'प्राणी (सत्त्व) सुख में ही राग रखते हैं और यह अतिमधुर सुख है; क्योंकि इससे उत्कृष्ट कोई अन्य सुख नहीं है। किन्तु स्मृति–सम्प्रजन्य के प्रभाव (=आनुभाव) के कारण ही इस सुख में राग नहीं होता, अन्य किसी कारण से नहीं।'—इस विशेष अर्थ को दरसाने के लिये भी इसे यहीं कहा गया है—ऐसा समझना चाहिये।

७१. अब "**सुखं च कायेन पटिसंवेदेति**" (और काय से सुख का अनुभव करता है")—यहाँ यद्यपि तृतीय ध्यान को वस्तुतः प्राप्त करने वाले सुख की संवेदना नहीं होती; तथापि क्योंकि सुख उसके नाम–काय (=वेदना, संज्ञा, संस्कार) से युक्त है अथवा जो नाम–काय से सम्प्रयुक्त सुख है, उसके समुत्थान से क्योंकि अति उत्कृष्ट रूप से रूपकाय परिपूर्ण होता है, जिसके परिपूर्ण होने पर ध्यान से उठने पर भी सुख का अनुभव करता है, अतः यह अर्थ दरसाने के लिये "और काय से सुख का अनुभव करता है"—ऐसा कहा गया है।

७२. अब "**यं तं अरिया आचिक्खन्ति उपेक्खको सतिमा सुखविहारी**" (जिसके कारण उसके विषय में आर्य कहते हैं कि वह उपेक्षायुक्त, स्मृतिमान्, सुखविहारी है)—जिस ध्यान के हेतु से, जिस ध्यान के कारण से, उस तृतीय ध्यान को प्राप्त पुद्गल का बुद्ध आदि आर्यगण उल्लेख करते हैं,

अधिप्पायो। किं ति? उपेक्खको सतिमा सुखविहारी ति। तं ततियं झानं उपसम्पज्ज विहरती ति एवमेत्थ योजना वेदितब्बा।

७३. कस्मा पन तं ते एवं पसंसन्ती ति? पसंसारहतो। अयं हि यस्मा अतिमधुरसुखे सुखपारमिप्पत्ते पि ततियज्झाने उपेक्खको,न तत्थ सुखाभिसङ्गेन आकड्डियति। यथा च पीति न उप्पज्जति, एवं उपट्ठितसतिताय सतिमा। यस्मा च अरियकन्तं अरियजनसेवितमेव च असङ्किलिट्ठं सुखं नाम कायेन पटिसंवेदेति, तस्मा पसंसारहो होति। इति पसंसारहतो नं अरिया ते एवं पसंसाहेतुभूते गुणे पकासेन्तो "उपेक्खको सतिमा सुखविहारी" ति एवं पसंसन्ती ति वेदितब्बं।

७४. **ततियं** ति। गणनानुपुब्बता ततियं, इदं ततियं समापज्जती ति ततियं। यं पन वुत्तं "एकङ्गविप्पहीनं दुवङ्गसमन्नागतं" ति, एत्थ पीतिया पहानवसेन एकङ्गविप्पहीनता वेदितब्बा। सा पनेसा दुतियज्झानस्स वितक्कविचारा विय अप्पनाक्खणे येव पहीयति। तेनस्स सा पहानङ्गं ति वुच्चति। सुखं चित्तेकग्गता ति इमेसं पन द्विन्नं उप्पत्तिवसेन दुवङ्गसमन्नागतता वेदितब्बा। तस्मा यं **विभङ्गे**—"झानं ति उपेक्खा सतिसम्पजञ्ञं सुखं चित्तस्सेकग्गता" (अभि० २-३१२) ति वुत्तं, तं सपरिक्खारं झानं दस्सेतुं परियायेन वुत्तं। ठपेत्वा पन उपेक्खासतिसम्पजञ्ञानि निप्परियायेन उपनिज्झानलक्खणप्पत्तानं अङ्गानं वसेन दुवङ्गिकमेवेतं होति। यथाह—"कतमं तस्मिं समये दुवङ्गिकं झानं होति? सुखं, चित्तस्सेकग्गता" (अभि० २-३१७) ति। सेसं पठमज्झाने वुत्तनयमेव॥

कहते हैं, प्रज्ञप्त करते हैं, प्रतिष्ठापित करते हैं, उद्घाटित करते है, प्रकाशित करते हैं, प्रशंसा करते हैं— यह अभिप्राय है। ऐसा क्यों? क्योंकि "उपेक्षायुक्त, स्मृतिमान्, सुखविहारी उस तृतीय ध्यान को प्राप्त कर विहार करता है"—यहाँ यह अर्थ-योजना समझनी चाहिये।

७३. किन्तु किसलिये वे आर्यजन उसकी इस प्रकार प्रशंसा करते हैं? प्रशंसा के योग्य होने से। क्योंकि यह (भिक्षु) अतिमधुर सुखरूप सुख की चरम सीमा प्राप्त तृतीय ध्यान में भी उपेक्षा से युक्त होता है, उसकी तरफ सुख की लालसा से आकृष्ट नहीं होता। जिस प्रकार प्रीति उत्पन्न न हो, उस प्रकार स्मृति को उपस्थित रखने से स्मृतिमान् है; क्योंकि आर्यजनों को प्रिय, आर्यजनों से सेवित, क्लेशरहित सुख का नाम-काय से अनुभव करता है, इसलिये प्रशंसा के योग्य होता है। इस प्रकार आर्यजन द्वारा प्रशंसा के हेतुभूत गुणों को प्रकाशित करते हुए प्रशंसा के योग्य इसकी "उपेक्षायुक्त, स्मृतिमान्, सुखविहारी"—इस प्रकार प्रशंसा करते हैं, ऐसा जानना चाहिये।

७४. **ततियं (तृतीय)**— गणना के क्रम में तृतीय। गणनाक्रम में इसे तृतीय स्थान प्राप्त होता है, अतः तृतीय है। जो यह कहा गया है—"एक अङ्ग से रहित, दो अङ्गों से युक्त", यहाँ प्रीति के प्रहाण के रूप में एक अङ्ग से रहित होना समझना चाहिये। प्रीति द्वितीय ध्यान के वितर्क विचार के समान अर्पणा के क्षण में ही नष्ट होती है। इसलिये वह इसकी 'प्रहाणाङ्ग' कही जाती है। सुख और चित्त की एकाग्रता—इन दो अङ्गों की उत्पत्ति के रूप में 'दो अङ्गों से युक्त होना' जानना चाहिये। इसलिये जो **विभङ्ग** में—"ध्यान, उपेक्षा, स्मृति-सम्प्रजन्य सुख, चित्त की एकाग्रता"—ऐसा कहा गया है, वह ध्यान को उसके संसाधनों (=परिष्कारों) के साथ दिखाने के लिये आलङ्कारिक रूप में कहा गया है। किन्तु उपेक्षा, स्मृति और सम्प्रजन्य को छोड़कर, वास्तविक अर्थ में चिन्तन (=उपनिज्झान) लक्षण वाले अङ्गों के अनुसार यह तृतीय ध्यान दो अङ्गों वाला ही होता है। जैसा कि कहा गया है—"उस समय

चतुत्थज्झानकथा

७५. एवमधिगते पन तस्मिं पि वुत्तनयेनेव पञ्चहाकारेहि चिण्णवसिना हुत्वा पगुणततियज्झानको वुट्ठाय "अयं समापत्ति आसन्नपीतिपच्चत्थिका, यदेव तत्थ सुखमिति चेतसो आभोगो, एतेनेतं ओळारिकमक्खायती" ति एवं वुत्तस्स सुखस्स "ओळारिकत्ता अङ्गदुब्बला" ति च तत्थ दोसं दिस्वा चतुत्थज्झानं सन्ततो मनसिकत्वा ततियज्झाने निकन्ति परियादाय चतुत्थाधिगमाय योगो कातब्बो। अथस्स यदा ततियज्झानतो वुट्ठाय सतस्स सम्पजानस्स झानङ्गानि पच्चवेक्खतो चेतसिकसोमनस्ससङ्खातं सुखं ओळारिकतो उपट्ठाति, उपेक्खावेदना चेव चित्तेकग्गता च सन्ततो उपट्ठाति, तदास्स ओळारिकङ्गप्पहानाय सन्तङ्गपटिलाभाय च तदेव निमित्तं "पथवी, पथवी" ति पुनप्पुनं मनसिकरोतो "इदानि चतुत्थज्झानं उप्पज्जिस्सती" ति भवङ्गं उपच्छिन्दित्वा तदेव पथवीकसिणं आरम्मणं कत्वा मनोद्वारावज्जनं उप्पज्जति। ततो तस्मिं येवारम्मणे चत्तारि पञ्च वा जवनानि उप्पज्जन्ति, येसं अवसाने एकं रूपावचरं चतुत्थज्झानिकं, सेसानि वुत्तप्पकारानेव कामावचरानि।

अयं पन विसेसो—यस्मा सुखवेदना अदुक्खमसुखाय वेदनाय आसेवनपच्चयेन पच्चयो न होति, चतुत्थज्झाने च अदुक्खमसुखाय वेदनाय उप्पज्जितब्बं, तस्मा तानि उपेक्खा-वेदनासम्पयुत्तानि होन्ति। उपेक्खासम्पयुत्तत्ता येव चेत्थ पीति पि परिहायती ति।

एत्तावता चेस सुखस्स च पहाना दुक्खस्स च पहाना पुब्बेव सोमनस्स-

---

कौन से दो अङ्गों वाला ध्यान है? सुख और चित्त की एकाग्रता।" शेष प्रथम ध्यान में वर्णित विधि के अनुसार ही है।

चतुर्थ ध्यान

७५. इस प्रकार, उस तृतीय ध्यान को प्राप्त कर चुकने पर, उसमें भी कहे गये प्रकार से ही पाँच प्रकार की वशिताएँ प्राप्त कर, अभ्यस्त या परिचित तृतीय ध्यान से उठकर, "यह समापत्ति प्रीति की समीपवर्तिनी है, क्योंकि वहाँ जो 'सुख' इस प्रकार चित्त का आनन्द लेना (=आभोग) है, इससे यह स्थूल कही जाती है"—ऐसे इस प्रकार कहे गये सुख में "स्थूलत्व के कारण दुर्बल अङ्ग वाली है"—इस प्रकार वहाँ तृतीय ध्यान में दोष देखकर चतुर्थ ध्यान की ओर शान्तिपूर्वक मन लगाकर तृतीय की कामना छोड़कर चतुर्थ की प्राप्ति के लिये उद्योग करना चाहिये।

जब तृतीय ध्यान से उठकर स्मृति और सम्प्रजन्य से युक्त उस भिक्षु को ध्यान के अङ्गों का प्रत्यवेक्षण करते हुए चैतसिक सौमनस्य नामक सुख स्थूल प्रतीत होता है एवं उपेक्षा वेदना तथा चित्त की एकाग्रता शान्त प्रतीत होती है, तब वह स्थूल अङ्गों के प्रहाण के लिये और शान्त अङ्गों की प्राप्ति के लिये उसी "पृथ्वी, पृथ्वी" निमित्त को बारम्बार मन में लाते हुए "अब चतुर्थ ध्यान उत्पन्न होगा"—ऐसा जान लेता है, और भवाङ्ग का उपच्छेद कर, उसी पृथ्वीकसिण को आलम्बन बनाकर मनोद्वारावर्जन चित्त उत्पन्न होता है। तब उसी आलम्बन में चार पाँच जवन उत्पन्न होते हैं, जिनका अन्तिम चित्त एकरूपावचर चतुर्थ ध्यान का होता है। शेष पूर्वोक्त प्रकार से कामावचर होते हैं।

किन्तु भेद यह है—क्योंकि सुखवेदना अदुःख–असुख (=उपेक्षा) वेदना का आसेवनप्रत्यय (=पुनरावृत्तिप्रत्यय) नहीं होती एवं चतुर्थ ध्यान में परिकर्म को अदुःख, असुख वेदना के साथ उत्पन्न होना चाहिये, इसलिये वे परिकर्म चित्त उपेक्षावेदना से सम्प्रयुक्त होते हैं। उपेक्षावेदना से सम्प्रयुक्त होने से ही यहाँ प्रीति नहीं रहती।

यों इस तरह "**सुखस्स च पहाना दुक्खस्स च पहाना पुब्बेव सोमनस्सदोमनस्सानं अत्थङ्गमा**

दोमनस्सानं अत्थङ्गमा अदुक्खमसुखं उपेक्खासतिपारिसुद्धिं चतुत्थं झानं उपसम्पज्ज विहरति। एवमनेन एकङ्गविप्पहीनं दुवङ्गसमन्नागतं तिविधकल्याणं दसलक्खणसम्पन्नं चतुत्थं झानं अधिगतं होति पथवीकसिणं।

७६. तत्थ **सुखस्स च पहाना दुक्खस्स च पहाना** ति। कायिकसुखस्स च कायिकदुक्खस्स च पहाना। **पुब्बे वा** ति। तं च खो पुब्बेव, न चतुत्थज्झानक्खणे। **सोमनस्सदोमनस्सानं अत्थङ्गमा** ति। चेतसिकसुखस्स च चेतसिकदुक्खस्स चा ति। इमेसं पि द्विन्नं पुब्बेन अत्थङ्गमा, पहाना इच्चेव वुत्तं होति।

कदा पन नेसं पहानं होती ति? चतुन्नं झानानं उपचारक्खणे। सोमनस्सं हि चतुत्थज्झानस्स उपचारक्खणे येव पहीयति। दुक्खदोमनस्ससुखानि पठमदुतियततियज्झानानं उपचारक्खणेसु। एवमेतेसं पहानक्कमेन अवुत्तानं पि **इन्द्रियविभङ्गे** पन इन्द्रियानं उद्देसक्कमेनेव इधापि वुत्तानं सुखदुक्खसोमनस्सदोमनस्सानं पहानं वेदितब्बं।

७७. यदि पनेतानि तस्स तस्स झानस्स उपचारक्खणे येव पहीयन्ति, अथ कस्मा "कत्थ चुप्पन्नं दुक्खिन्द्रियं अपरिसेसं निरुज्झति? इध, भिक्खवे, भिक्खु विविच्चेव कामेहि ....पे०....पठमं झानं उपसम्पज्ज विहरति। एत्थ चुप्पन्नं दुक्खिन्द्रियं अपरिसेसं निरुज्झति। कत्थ चुप्पन्नं दोमनस्सिन्द्रियं, सुखिन्द्रियं, सोमनस्सिन्द्रियं अपरिसेसं निरुज्झति? इध, भिक्खवे, भिक्खु सुखस्स च पहाना.... पे०.... चतुत्थं झानं उपसम्पज्ज विहरति, एत्थ चुप्पन्नं सोमनस्सिन्द्रियं अपरिसेसं निरुज्झती" (सं० ४-१८५) ति एवं झानेस्वेव निरोधो

अदुक्खमसुखं उपेक्खासतिपारिसुद्धिं चतुत्थं झानं उपसम्पज्ज विहरति। एवमनेन एकङ्गविप्पहीनं दुवङ्गसमन्नागतं तिविधकल्याणं दसलक्खणसम्पन्नं चतुत्थं झानं अधिगतं होति पथवीकसिणं"—इस पालिपाठ का व्याख्यान पूर्ण हो गया।

७६. अब इस पालिपाठ में आये विशिष्ट शब्दों का व्याख्यान कर रहे हैं—"**सुखस्सं च पहाना दुक्खस्स च पहाना**" (सुख के प्रहाण एवं दुःख के प्रहाण से)—कायिक सुख एवं कायिक दुःख के प्रहाण से। **पुब्बेव**— और वह भी पहले ही, चतुर्थ ध्यान के क्षण में नहीं। **सोमनस्सदोमनस्सानं अत्थङ्गमा** (सौमनस्य—दौर्मनस्य के विनाश से)—चैतसिक सुख के एवं चैतसिक दुःख के विनाश से। इन दोनों ही का पहले ही विनाश (प्रहाण) हो जाने से यह कहा गया है। उनका विनाश कब होता है? चारों ध्यानों के उपचार के क्षण में। सौमनस्य का तो चतुर्थ ध्यान के उपचारक्षण में ही प्रहाण होता है। दुःख, दौर्मनस्य और सुख का क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय ध्यानों के उपचार—क्षणों में। इस प्रकार इनका प्रहाण यद्यपि क्रमानुसार नहीं बतलाया गया है, फिर भी **इन्द्रियविभङ्ग** में इन्द्रियों के वर्णनक्रम के अनुसार ही यहाँ भी कथित सुख, दुःख, सौमनस्य और दौर्मनस्य का प्रहाण जानना चाहिये।

७७. **प्रश्न**— किन्तु यदि इनका प्रहाण उस उस ध्यान के उपचार—क्षण में ही हो जाता है, तो इस प्रकार स्वयं ध्यान में ही उनका निरोध क्यों बतलाया गया है—"कहाँ उत्पन्न हुई दुःखेन्द्रिय पूर्णतः निरुद्ध होती है? यहाँ, भिक्षुओ, भिक्षु कामों से रहित होकर...पूर्ववत्...प्रथम ध्यान प्राप्त करता है। यहाँ उत्पन्न हुई दुःखेन्द्रिय पूर्णतः निरुद्ध होती है। कहाँ उत्पन्न हुई दौर्मनस्येन्द्रिय, सुखेन्द्रिय, सौमनस्येन्द्रिय पूर्णतः निरुद्ध होती हैं? यहाँ भिक्षुओ, भिक्षु सुख के प्रहाण के कारण...चतुर्थ ध्यान प्राप्त कर विहार करता है। यहाँ उत्पन्न हुई सौमनस्येन्द्रिय पूर्णतः निरुद्ध होती है?"

वुत्तो ति? अतिसयनिरोधत्ता। अतिसयनिरोधो हि नेसं पठमज्झानादीसु, न निरोधो येव। निरोधो येव पन उपचारक्खणे, नातिसयनिरोधो।

७८. तथा हि नानावज्जने पठमज्झानुपचारे निरुद्धस्सा पि दुक्खिन्द्रियस्स डंसमकसादिसम्फस्सेन वा विसमासनुपतापेन वा सिया उप्पत्ति, न त्वेव अन्तो अप्पनायं। उपचारे वा निरुद्धं पेतं न सुट्ठु निरुद्धं होति, पटिपक्खेन अविहतत्ता। अन्तोअप्पनायं पन पीतिफरणेन सब्बो कायो सुखोक्कन्तो होति, सुखोक्कन्तकायस्स च सुट्ठु निरुद्धं होति दुक्खिन्द्रियं, पटिपक्खेन विहतत्ता। नानावज्जने येव च दुतियज्झानुपचारे पहीनस्स दोमनस्सिन्द्रियस्स, यस्मा एतं वितक्कविचारपच्चये पि कायकिलमथे चित्तुपघाते च सति उप्पज्जति। वितक्कविचाराभावे च नेव उप्पज्जति। यत्थ पन उप्पज्जति, तत्थ वितक्कविचारभावे अप्पहीना, एवं च दुतियज्झानुपचारे वितक्कविचारा ति तत्थस्स सिया उप्पत्ति, न त्वेव दुतियज्झाने, पहीनपच्चयत्ता। तथा ततियज्झानुपचारे पहीनस्सापि सुखिन्द्रियस्स पीतिसमुट्ठानपणीतरूपफुटकायस्स सिया उत्पत्ति, न त्वेव ततियज्झाने। ततियज्झाने हि सुखस्स पच्चयभूता पीति सब्बसो निरुद्धा ति। तथा चतुत्थज्झानुपचारे पहीनस्सा पि सोमनस्सिन्द्रियस्स आसन्नता अप्पनाप्पत्ताय उपेक्खाय अभावेन सम्मा अनतिक्कन्तत्ता च सिया उप्पत्ति, न त्वेव चतुत्थज्झाने। तस्मा येव च एत्थुत्पन्नं दुक्खिन्द्रियं अपरिसेसं निरुज्झती ति तत्थ अपरिसेसग्गहणं कतं ति।

७९. एत्थाह—"अथेवं तस्स तस्स झानस्सुपचारे पहीना पि एता वेदना इध कस्मा

उत्तर— अतिशय निरोध होने के कारण। आशय यह है कि प्रथम ध्यान आदि में इनका अतिशय निरोध होता है, केवल निरोध नहीं। जबकि उपचार के क्षण में निरोध ही होता है, अतिशय निरोध नहीं।

७८. नाना आवर्जनों वाले प्रथम ध्यान के उपचार में निरुद्ध हो चुकी दुःखेन्द्रिय दंश, मशक आदि के स्पर्श अर्थात् दंश से या विषम आसन भोजन से होने वाले कष्ट से पुनः उत्पन्न हो सकती है; किन्तु अर्पणा में कभी उत्पन्न नहीं होती। अथवा, प्रतिपक्ष धर्मों का विनाश न होने से, उपचार में निरुद्ध यह दुःखेन्द्रिय अच्छी तरह निरुद्ध नहीं होती। किन्तु अर्पणा समस्त प्रीति के स्फुरण से कायसुख से परिपूर्ण होती है, सुख से परिपूर्ण काय वाले की दुःखेन्द्रिय प्रतिपक्ष के विनाश से अच्छी तरह निरुद्ध होती है। वैसे ही नाना आवर्जनों वाले द्वितीय ध्यान के उपचारक्षण में प्रहीण दौर्मनस्येन्द्रिय पुनः उत्पन्न हो सकती है, यदि वितर्क एवं विचार के कारण कायिक श्रान्ति (थकान) और चैतसिक पीड़ा हो। वितर्क–विचार के अभाव में वह उत्पन्न नहीं होती। वह जहाँ भी उत्पन्न होती है, वितर्क–विचार के होने पर ही होती है। अतः द्वितीय ध्यान के उपचार में वितर्क–विचार का प्रहाण न होने से वहाँ उसका उत्पाद होना सम्भव है, किन्तु स्वयं द्वितीय ध्यान में नहीं; क्योंकि प्रत्यय कारण का नाश हो चुका होता है। वैसे ही, तृतीय ध्यान के उपचार में प्रहीण हो चुकी सुखेन्द्रिय की प्रीतिसमुत्थान से समुद्भूत रूपकाय में पुनः उत्पत्ति सम्भव है, किन्तु स्वयं तृतीय ध्यान में नहीं। तृतीय ध्यान में तो सुख की प्रत्ययभूत प्रीति सर्वतः निरुद्ध हो जाती है। वैसे ही, चतुर्थ ध्यान के उपचारक्षण में प्रहीण हो चुकी सौमनस्येन्द्रिय उत्पन्न हो सकती है, क्योंकि सौमनस्येन्द्रिय से समीपवर्ती होने से एवं अर्पणा प्राप्त न होने से उपेक्षा का अभाव होने के कारण सम्यक् रूप से उसका अतिक्रमण नहीं हुआ रहता; किन्तु वह चतुर्थ ध्यान में नहीं उत्पन्न हो सकती। इसीलिये यहाँ उत्पन्न हुई दुःखेन्द्रिय पूर्ण (=अशेष रूप से) निरुद्ध हो जाती है, ऐसा सूचित करने के लिये ही वहाँ उन स्थलों में 'अपरिशेष' शब्द का ग्रहण किया गया है।

समाहटा" ति? सुखग्गहणत्थं। या हि अयं अदुक्खमसुखं ति एत्थ अदुक्खमसुखा वेदना वुत्ता, सा सुखुमा दुविञ्ञेय्या न सक्का सुखेन गहेतुं। तस्मा यथा नाम दुट्ठस्स यथा वा तथा वा उपसङ्कमित्वा गहेतुं असक्कुणेय्यस्स गोणस्स सुखग्गहणत्थं गोपो एकस्मिं वजे सब्बा गावो समाहरति, अथेकेकं नीहरन्तो पटिपाटिया आगतं "अयं सो, गण्हथ नं" ति तं पि गाहयति, एवमेव भगवा सुखग्गहणत्थं सब्बा एता समाहरि। एवं हि समाहटा एता दस्सेत्वा यं नेव सुखं न दुक्खं न सोमनस्सं न दोमनस्सं, अयमदुक्खमसुखा वेदना ति सक्का होति एसा गाहयितुं।

८०. अपि च—अदुक्खमसुखाय चेतोविमुत्तिया पच्चयदस्सनत्थं चा पि एता वुत्ता ति वेदितब्बा। दुक्खप्पहानादयो हि तस्सा पच्चया। अथाह—"चत्तारो खो,आवुसो, पच्चया अदुक्खमसुखाय चेतोविमुत्तिया समापत्तिया। इधावुसो, भिक्खु सुखस्स च पहाना....पे०.... चतुत्थं झानं उपसम्पज्ज विहरति। इमे खो, आवुसो, चत्तारो पच्चया अदुक्खमसुखाय चेतोविमुत्तिया समापत्तिया" (म० नि० १-३६६) ति।

८१. यथा वा अञ्ञत्थ पहीना पि सक्कायदिट्ठिआदयो ततियमग्गस्स वण्णभणनत्थं तत्थ पहीना ति वुत्ता, एवं वण्णभणनत्थं पेतस्स झानस्सेता इध वुत्ता ति पि वेदितब्बा।

पच्चयघातेन वा एत्थ रागदोसानमतिदूरभावं दस्सेतुं पेता वुत्ता ति वेदितब्बा। एतासु हि सुखं सोमनस्सस्स पच्चयो, सोमनस्सं रागस्स। दुक्खं दोमनस्सस्स पच्चयो, दोमनस्सं दोसस्स। सुखादिघातेन चस्स सप्पच्चया रागदोसा हता ति अतिदूरे होन्ती ति।

---

७९. यहाँ प्रश्न किया गया है—"ऐसे उस उस ध्यान के उपचार में प्रहीण हो चुकी ये वेदनाएँ यहाँ किसलिये लायी गयी हैं?"

उत्तर— सरलता के साथ समझने के लिये। क्योंकि यहाँ जो अदुःख–असुख के रूप में अदुःख–असुख वेदना का उल्लेख किया गया है, वह सूक्ष्म है, दुर्विज्ञेय है एवं सरलता से समझ में आने योग्य नहीं है। इसलिये जैसे कि कोई ग्वाला किसी दुष्ट बैल को, जिसे पास जाकर पकड़ना सम्भव न हो, आसानी से पकड़ने के लिये एक बाड़े में सभी गाय–बैलों को इकट्ठा करता है, फिर एक एक को निकालते हुए क्रम से (उस दुष्ट, मरकहे बैल की बारी आने पर) "यही है, पकड़ लो इसे" ऐसा कहकर उसे भी पकड़वा देता है; वैसे ही भगवान् ने सरलतापूर्वक समझाने के लिये सभी वेदनाओं को एक साथ रखा। एक साथ इनको दिखाने से 'जो न सुख है, न दुःख है; न सौमनस्य है, न दौर्मनस्य है; वही अदुःख–असुख वेदना है'—इस प्रकार इसे समझाया जा सकता है।

८०. इसके अतिरिक्त, अदुःख–असुख की चेतोविमुक्ति (=चित्त की विमुक्ति) के प्रत्यय को दिखाने के लिये भी इन्हें बतलाया गया है—ऐसा जानना चाहिये। दुःख का प्रहाण आदि उसके प्रत्यय हैं। अतः कहा है— "आयुष्मन्! अदुःख–असुख चेतोविमुक्ति की प्राप्ति के चार प्रत्यय हैं। यहाँ, आयुष्मन्! भिक्षु सुख के प्रहाण से....पूर्ववत्....चतुर्थ ध्यान प्राप्त कर विहार करता है। ये ही, आयुष्मन्! अदुःख–असुख चेतोविमुक्ति की प्राप्ति के चार प्रत्यय हैं।"

८१. अथवा— यह समझना चाहिये कि जैसे अन्यत्र प्रहीण हो चुकी सत्कायदृष्टि आदि तृतीय मार्ग की प्रशंसा के उद्देश्य से वहाँ प्रहीण हुई बतलायी गयी हैं, वैसे ही वे इस ध्यान की प्रशंसा करने के लिये ही यहाँ भी कही गयी हैं।

अथवा—प्रत्यय के नाश से यहाँ से राग–द्वेष आदि का अति दूर होना दिखाने के लिये भी ये यहाँ बतलायी गयी हैं—ऐसा समझना चाहिये। इनमें, सुख सौमनस्य का प्रत्यय है, सौमनस्य राग का।

८२. **अदुक्खमसुखं** ति। दुक्खाभावेन अदुक्खं। सुखाभावेन असुखं। एतेनेत्थ दुक्खसुखपटिपक्खभूतं ततियवेदनं दीपेति, न दुक्खसुखाभावमत्तं। ततियवेदना नाम अदुक्खमसुखा, उपेक्खा ति पि वुच्चति। सा इट्ठानिट्ठविपरीतानुभवनलक्खणा, मज्झत्तरसा, अविभूतपच्चुपट्ठाना, सुखदुक्खनिरोधपदट्ठाना ति वेदितब्बा।

८३. **उपेक्खासतिपारिसुद्धिं** ति। उपेक्खाय जनितसतिया पारिसुद्धिं। इमस्मिं हि झाने सुपरिसुद्धा सति,या च तस्सा सतिया पारिसुद्धि, सा उपेक्खाय कता, न अञ्ञेन। तस्मा एतं "उपेक्खासतिपारिसुद्धिं" ति वुच्चति। **विभङ्गे** पि वुत्तं—"अयं सति इमाय उपेक्खाय विसदा होति परिसुद्धा परियोदाता। तेन वुच्चति उपेक्खासतिपारसुद्धी" (अभि० २-३१४)ति। याय च उपेक्खाय एत्थ सतिया पारिसुद्धि होति, सा अत्थतो तत्रमज्झत्तता ति वेदितब्बा। न केवलं चेत्थ ताय सति येव परिसुद्धा, अपि च खो सब्बे पि सम्पयुत्तधम्मा, सतिसीसेन पन देसना वुत्ता।

तत्थ किञ्चापि अयं उपेक्खा हेट्ठा पि तीसु झानेसु विज्जति। यथा पन दिवा सुरियप्पभाभिभवा सोम्मभावेन च अत्तनो उपकारकत्तेन वा सभागाय रत्तिया अलाभा दिवा विज्जमाना पि चन्दलेखा अपरिसुद्धा होति अपरियोदाता; एवमयं पि तत्रमज्झत्तुपेक्खा चन्द्रलेखा वितक्कादिपच्चनीकधम्मतेजाभिभवा सभागाय च उपेक्खावेदनारत्तिया अप्पटिलाभा विज्जमाना पि पठमादिज्झानभेदेसु अपरिसुद्धा होति। तस्सा च अपरिसुद्धाय दिवा अपरिसुद्धचन्दलेखाय पभा विय सहजाता पि सतिआदयो अपरिसुद्धा व होन्ति। तस्मा तेसु

दुःख दौर्मनस्य का प्रत्यय है, दौर्मनस्य द्वेष का। सुख आदि के नाश से प्रत्यय के साथ रागद्वेष आदि नष्ट हो जाने से अतिदूर हो जाते हैं।

८२. **अदुक्खमसुखं** (अदुःख-असुख)—दुःख के अभाव से अदुःख। सुख के अभाव से असुख। इससे यहाँ दुःख-सुख की प्रतिपक्षभूत तृतीय वेदना सूचित होती है, दुःख-सुख का अभावमात्र नहीं। तृतीय वेदना अदुःख-असुख वेदना है, उसे 'उपेक्षा' भी कहते हैं। उसका लक्षण है इष्ट-अनिष्ट के विपरीत अनुभव। रस है मध्यस्थ होना और प्रत्युपस्थान—अप्रकट होना एवं पदस्थान सुख-दुःख का निरोध है—ऐसा जानना चाहिये।

८३. **उपेक्खासतिपारिसुद्धिं**— उपेक्षा से उत्पन्न स्मृति की परिशुद्धि ही उपेक्षा-स्मृति-परिशुद्धि है। इस ध्यान में स्मृति परिशुद्ध होती है। जो वह वह स्मृति की परिशुद्धि है, वह उपेक्षा द्वारा की गयी होती है, अन्य किसी से नहीं। इसलिये इस ध्यान को 'उपेक्षाजन्य स्मृति की परिशुद्धि वाला' कहा गया है। **विभङ्ग** में भी कहा गया है—"यह स्मृति इस उपेक्षा से स्वच्छ, परिशुद्ध एवं स्पष्ट होती है। इसीलिये कहा जाता है—'उपेक्षास्मृतिपरिशुद्धि' ।" जिस उपेक्षा द्वारा यहाँ स्मृति परिशुद्ध होती है, उसका तात्पर्य तत्रमध्यस्थता समझना चाहिये।

एवं उस उपेक्षा से यहाँ इस ध्यान में केवल स्मृति ही परिशुद्ध नहीं होती, अपितु सभी सम्प्रयुक्त धर्म भी परिशुद्ध हो जाते हैं। किन्तु स्मृति को प्रमुखता देते हुए देशना की गयी है।

वहाँ, यद्यपि यह उपेक्षा निम्नस्तरीय तीनों ध्यानों में भी विद्यमान रहती है, किन्तु जैसे दिन में सूर्य के प्रभाव से अभिभूत होने से सौम्य एवं स्वयं की उपकारक सभाग (=अनुकूल) रात्रि का लाभ न मिलने से दिन में शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की प्रभा (=चन्द्रलेखा) अपरिशुद्ध, अस्पष्ट (अर्थात् निस्तेज) होती है, वैसे ही यह तत्रमध्यस्थ उपेक्षारूपी चन्द्रलेखा भी वितर्क आदि प्रतिपक्ष धर्मों के तेज से अभिभूत होने से एवं सभाग उपेक्षा वेदनारूपी रात्रि का लाभ प्राप्त न करने से, विद्यमान होने पर भी

एकं पि "उपेक्खासतिपारिसुद्धिं" ति न वुत्तं। इध पन वितक्कादिपच्चनीकधम्मतेजाभिभवाभावा सभागाय च उपेक्खावेदनारत्तिया पटिलाभा अयं तत्रमज्झत्तुपेक्खा चन्दलेखा अति विय परिसुद्धा। तस्सा परिसुद्धत्ता परिसुद्धचन्दलेखाय पभा विय सहजाता पि सतिआदयो परिसुद्धा होन्ति परियोदाता। तस्मा इदमेव "उपेक्खासतिपारिसुद्धिं" ति वुत्तं ति वेदितब्बं।

८४. **चतुत्थं** ति। गणनानुपुब्बता चतुत्थं। इदं चतुत्थं समापज्जती ति चतुत्थं। यं पन वुत्तं "**एकङ्गविप्पहीनं दुवङ्गसमन्नागतं**" ति, तत्थ सोमनस्सस्स पहानवसेन एकङ्गविप्पहीनता वेदितब्बा। तं च पन सोमनस्सं एकवीथियं पुरिमजवनेसु येव पहीयति। तेनस्स तं पहानङ्गं ति वुच्चति। उपेक्खावेदना चित्तस्सेकग्गता ति इमेसं पन द्विन्नं उप्पत्तिवसेन दुवङ्गसमन्नागतता वेदितब्बा। सेसं पठमज्झाने वुत्तनयमेव ॥

एस ताव चतुक्कज्झाने नयो॥

पञ्चकज्झानकथा

८५. पञ्चकज्झानं पन निब्बत्तेन्तेन पगुणपठमज्झानतो वुट्ठाय "अयं समापत्ति आसन्ननीवरणपच्चत्थिका, वितक्कस्स ओळारिकत्ता अङ्गदुब्बला" ति च तत्थ दोसं दित्वा दुतियज्झानं सन्ततो मनसिकरित्वा पठमज्झाने निकन्तिं परियादाय दुतियाधिगमाय योगो कातब्बो। अथस्स यदा पठमज्झाना वुट्ठाय सतस्स सम्पजानस्स झानङ्गानि पच्चवेक्खतो वितक्कमत्तं ओळारिकतो उपट्ठाति, विचारादयो सन्ततो। तदास्स ओळारिकङ्गप्पहानाय सन्तङ्गपटिलाभाय च तदेव निमित्तं "पथवी, पथवी" ति पुनप्पुनं मनसिकरोतो वुत्तनयेनेव

प्रथम ध्यान आदि में अपरिशुद्ध होती है। उसके अपरिशुद्ध होने से, दिन में अपरिशुद्ध चन्द्रलेखा के समान सहजात स्मृति आदि भी अपरिशुद्ध ही होती हैं। इसलिये उन ध्यानों में से एक को भी 'उपेक्षा-स्मृतिपरिशुद्धि वाला' नहीं कहा गया है। किन्तु यहाँ चतुर्थ ध्यान में वितर्क आदि प्रतिपक्ष धर्मों के तेज से अभिभूत न होने से एवं सभाग उपेक्षावेदना रात्रि के लाभ से यह तत्रमध्यस्थ उपेक्षा-चन्द्रलेखा अत्यधिक परिशुद्ध होती है। उसके परिशुद्ध होने से परिशुद्ध चन्द्रलेखा की प्रभा के समान सहजात स्मृति आदि भी परिशुद्ध एवं स्पष्ट होती हैं। इसीलिये इसी ध्यान को 'उपेक्षा-स्मृति-परिशुद्धि वाला' कहा गया है—ऐसा जानना चाहिये।

८४. **चतुत्थं**– (चतुर्थ)—गणनाक्रम में चतुर्थ। यह चौथी बार प्राप्त होता है, अतः चतुर्थ है। जो यह कहा गया है—**एकङ्गविप्पहीनं दुवङ्गसमन्नागतं** "एक अङ्ग से रहित होना जानना चाहिये। और वह सौमनस्य उसी विधि के प्रथम जवनों में ही प्रहीण होता है। इसलिये उस सौमनस्य को उसका प्रहाणाङ्ग कहा जाता है। उपेक्षा-वेदना, चित्त की एकाग्रता—इन दो की उत्पत्ति के रूप में दो अङ्गों से युक्त होना जानना चाहिये। शेष प्रथम ध्यान में उक्त विधि अनुसार ही है।।

यह (उपर्युक्त समस्त वर्णन) चार ध्यान मानने वाली विधि के अनुसार है।।

पञ्चक ध्यान

८५. पञ्चक ध्यान (=पाँच भेदों वाला ध्यान) उत्पन्न करने वाले को अभ्यस्त प्रथम ध्यान से उठकर, "यह समापत्ति समीप के नीवरणों की विरोधी है, वितर्क की स्थूलता के कारण दुर्बल अङ्ग वाली है"—इस प्रकार उसमें दोष देखकर द्वितीय ध्यान की ओर शान्तिपूर्वक मन लगाकर, प्रथम ध्यान की कामना छोड़कर द्वितीय ध्यान की प्राप्ति के लिये उद्योग करना चाहिये। तब जिस समय प्रथम ध्यान से उठकर स्मृतिमान्, सम्प्रजन्ययुक्त भिक्षु ध्यान के अङ्गों का प्रत्यवेक्षण करता है, उस समय उसे केवल वितर्क स्थूल रूप में प्रतीत होता है और विचार आदि शान्त अङ्गों की प्राप्ति के लिये

दुतियज्झानं उप्पज्जति। तस्स वितक्कमत्तमेव पहानङ्गं। विचारादीनि चत्तारि समन्नागतानि। सेसं वुत्तप्पकारमेव।

एवमधिगते पन तस्मिं पि वुत्तनयेनेव पञ्चहाकारेहि चिण्णवसिना हुत्वा पगुणदुतियज्झानतो वुट्ठाय "अयं समापत्ति आसन्नवितक्कपच्चत्थिका, विचारस्स ओळारिकत्ता अङ्गदुब्बला" ति च तत्थ दोसं दिस्वा ततियज्झानं सन्ततो मनसिकरित्वा दुतियज्झाने निकन्तिं परियादाय ततियाधिगमाय योगो कातब्बो। अथस्स यदा दुतियज्झानतो वुट्ठाय सतस्स सम्पजानस्स झानङ्गानि पच्चवेक्खतो विचारमत्तं ओळारिकतो उपट्ठाति, पीतिआदीनि सन्ततो। तदास्स ओळारिकङ्गप्पहानाय सन्तङ्गपटिलाभाय च तदेव निमित्तं "पथवी, पथवी" ति पुनप्पुनं मनसिकरोतो वुत्तनयेनेव ततियज्झानं उपज्जति। तस्स विचारमत्तमेव पहानङ्गं, चतुक्कनयस्स दुतियज्झाने विय पीतिआदीनि तीणि समन्नागतङ्गानि। सेसं वुत्तप्पकारमेव।

८६. इति यं चतुक्कनये दुतियं, तं द्विधा भिन्दित्वा पञ्चकनये दुतियं चेव ततियं च होति। यानि च तत्थ ततियचतुत्थानि, तानि च चतुत्थपञ्चमानि होन्ति। पठमं पठममेवा ति।

इति साधुजनपामोज्जत्थाय कते विसुद्धिमग्गे
समाधिभावनाधिकारे पथवीकसिणनिद्देसो नाम
चतुत्थो परिच्छेदो॥



उसी निमित्त 'पृथ्वी, पृथ्वी' को बारम्बार मन में लाता है, तब उक्त विधि से ही द्वितीय ध्यान उत्पन्न होता है। वितर्कमात्र ही उसका प्रहाणाङ्ग है। जबकि चतुष्क नय में द्वितीय ध्यान के प्रहाणाङ्ग वितर्क और विचार दोनों ही हैं। शेष पूर्वोक्त विधि से ही है।

इस प्रकार उस द्वितीय ध्यान को प्राप्त कर लेने पर, उसमें कही गयी विधि के अनुसार पाँच प्रकार की विशेषताएँ प्राप्त कर लेने पर, अभ्यस्त द्वितीय ध्यान से उठकर "यह समापत्ति–वितर्क की समीपवर्तिनी है, विचार की स्थूलता के कारण दुर्बल अङ्गवाली है"—इस प्रकार उसमें दोष देखकर, तृतीय ध्यान की ओर शान्तिपूर्वक मन लगाकर, द्वितीय ध्यान की कामना छोड़कर, तृतीय की प्राप्ति के लिये उद्योग करना चाहिये। तब जिस समय द्वितीय ध्यान से उठ कर स्मृतिमान् सम्प्रजन्ययुक्त भिक्षु को ध्यानाङ्गों का प्रत्यवेक्षण करते समय केवल विचार स्थूल प्रतीत होता है और प्रीति आदि शान्त; तब स्थूल अङ्ग के प्रहाण एवं शान्त अङ्गों की प्राप्ति के लिये उसी निमित्त 'पृथ्वी, पृथ्वी' को बारम्बार मन में लाते हुए उक्त प्रकार से ही तृतीय ध्यान उत्पन्न होता है। उसका प्रहाणाङ्ग विचारमात्र ही है, चतुष्कनय के द्वितीय ध्यान के समान प्रीति आदि समन्वागत (=युक्त) अङ्ग होते हैं। शेष पूर्वोक्त प्रकार से ही है।

८६. इस प्रकार जो चतुष्कनय में द्वितीय है, उसे दो भागों में बाँट देने से, अर्थात् चतुष्कनय में जो द्वितीय ध्यान है—"अवितर्कविचारमात्र, अवितर्क–अविचार, उसे दो भागों में बाँट देने से, पञ्चकनय के द्वितीय और तृतीय ध्यान होते हैं। (किन्तु सूत्रान्तों में स्वरूपतः पञ्चकनय का ग्रहण नहीं किया गया है।) जो वहाँ चतुष्कनय में तृतीय और चतुर्थ ध्यान हैं, वे ही पञ्चकनय में चतुर्थ और पञ्चम ध्यान होते हैं।।

साधुजनों के प्रमोद हेतु विरचित विशुद्धिमार्ग ग्रन्थ के
समाधिभावनाधिकार में पृथ्वीकसिणनिर्देश नामक
चतुर्थ परिच्छेद समाप्त॥



सेसकसिणनिद्देसो

(पञ्चमो परिच्छेदो)

आपोकसिणकथा

१. इदानि पथवीकसिणानन्तरे आपोकसिणे वित्थारकथा होति। यथेव हि पथवीकसिणं, एवं आपोकसिणं पि भावेतुकामेन सुखनिसिन्नेन आपस्मिं निमित्तं गण्हितब्बं, "कते वा अकते वा" ति सब्बं वित्थारेतब्बं। यथा च इध, एवं सब्बत्थ। इतो परं हि एत्तकं पि अवत्वा विसेसमत्तमेव वक्खाम।

२. इधा पि पुब्बेकताधिकारस्स पुञ्ञवतो अकते आपस्मिं पोक्खरणिया वा तळाके वा लोणियं वा समुद्दे वा निमित्तं उप्पज्जति **चूळसीवत्थेरस्स** विय। तस्स किरायस्मतो 'लाभसक्कारं पहाय विवित्तवासं वसिस्सामी' ति महातित्थे नावं आरुहित्वा जम्बुदीपं गच्छतो अन्तरा महासमुद्दं ओलोकयतो तप्पटिभागं कसिणनिमित्तं उदपादि।

३. अकताधिकारेन चत्तारो कसिणदोसे परिहरन्तेन नील-पीत-लोहितोदातवण्णानं अञ्ञतरवण्णं आपं अगहेत्वा यं पन भूमिं असम्पत्तमेव आकासे सुद्धवत्थेन गहितं उदकं, अञ्ञं वा तथारूपं विप्पसन्नं अनाविलं, तेन पत्तं वा कुण्डिकं वा समतित्तिकं पूरेत्वा विहारपच्चन्ते वुत्तप्पकारे पटिच्छन्ने ओकासे ठपेत्वा सुखनिसिन्नेन न वण्णो पच्चवेक्खितब्बो।

शेषकसिणनिर्देश

(पञ्चम परिच्छेद)

आपोकसिण

१. अब पृथ्वीकसिण के पश्चात्, आपो (संस्कृत–'आपः'=जल) कसिण की व्याख्या की जा रही है। पृथ्वीकसिण के समान ही, आपोकसिण के भावनाभिलाषी, सुखपूर्वक आसीन भिक्षु को जल में निमित्त का ग्रहण करना चाहिये। 'कृत या अकृत' आदि (पृथ्वीकसिण के प्रसङ्ग में पृ० १७१ पर कहे गये) सबका यहाँ भी विस्तार कर उन्हें समझना चाहिये। तथा जैसे यहाँ जलकसिण के सम्बन्ध में वैसे ही इस अध्याय में आगे भी सर्वत्र इस अर्थ की योजना करनी चाहिये। (क्योंकि) आगे हम इसकी पुनरावृत्ति न करते हुए, केवल भेदों का ही उल्लेख करेंगे।

२. पृथ्वीकसिण के समान यहाँ भी, पूर्वजन्म में आपोकसिण का अभ्यास कर चुके पुण्यवान् को अकृत जल, जैसे पुष्करिणी, तालाब, लवणिक (=समुद्र के समान लवणयुक्त जल से भरा हुआ जलाशय) या समुद्र में निमित्त उत्पन्न होता है, **चूळसीव स्थविर** के समान। उन आयुष्मान् को "लाभ सत्कार को त्यागकर एकान्तवास करूँगा"–ऐसा सोचकर महातीर्थ (=श्रीलङ्का का एक प्राचीन बन्दरगाह) से नाव मे बैठकर जम्बूद्वीप (=भारतवर्ष) जाते समय, बीच मार्ग में महासमुद्र को देखते हुए उस समुद्र के समान (प्रतिभाग) कसिण–निमित्त उत्पन्न हुआ।

३. जिसने पूर्व जन्म में अभ्यास नहीं किया है, उसे पृथ्वीकसिण में व्याख्यात (पृष्ठ १७१) के कसिण के चार दोषों से दूर रहते हुए, जल को नील–पीत–लोहित–अवदात–इनमें से किसी एक रंग का रूप ग्रहण न करते हुए जो भूमि पर गिरने के पूर्व ही आकाश से शुद्ध वस्त्र द्वारा रोप कर ग्रहण किया गया हो या उसी प्रकार का स्वच्छ, निर्मल हो, उससे पात्र या 'कुण्डिक' (=चार पाये वाले जल–पात्र) को ऊपर किनारे तक भरकर, विहार मे एकान्त स्थान पर जाकर, उक्त प्रकार से घिरे

न लक्खणं मनसि कातब्बं। निस्सयसवण्णमेव कत्वा उस्सदवसेन पण्णत्तिधम्मे चित्तं ठपेत्वा अम्बु, उदकं, वारि, सलिलं ति आदीसु आपोनामेसु पाकटनामवसेनेव "आपो, आपो" ति भावेतब्बं।

४. तस्सेवं भावयतो अनुक्कमेन वुत्तनयेनेव निमित्तद्वयं उप्पज्जति। इध पन उग्गहनिमित्तं चलमानं विय उपट्ठाति, सचे फेणपुप्फुळकमिस्सं उदकं होति, तादिसमेव उपट्ठाति, कसिणदोसो पञ्ञायति। पटिभागनिमित्तं पन निप्परिप्फन्दं आकासे ठपितमणितालवण्टं विय मणिमयादासमण्डलं विय च हुत्वा उपट्ठाति। सो तस्स सह उपट्ठानेनेव उपचारज्झानं, वुत्तनयेनेव चतुक्कपञ्चकज्झानानि च पापुणाती ति।

आपोकसिणं॥

तेजोकसिणकथा

५. तेजोकसिणं भावेतुकामेना पि तेजस्मिं निमित्तं गण्हितब्बं। तत्थ कताधिकारस्स पुञ्ञवतो अकते निमित्तं गण्हन्तस्स दीपसिखाय वा उद्धने वा पत्तपचनट्ठाने वा दवदाहे वा यत्थ कत्थचि अग्गिजालं ओलोकेन्तस्स निमित्तं उप्पज्जति **चित्तगुत्तत्थेरस्स** विय। तस्स हायस्मतो धम्मस्सवनदिवसे उपोसथागारं पविट्ठस्स दीपसिखं ओलोकेन्तस्सेव निमित्तं उप्पज्जि।

६. इतरेन पन कातब्बं। तत्रिदं करणविधानं—सिनिद्धानि सारदारूनि फालेत्वा सुक्खापेत्वा घटिकं घटिकं कत्वा पटिरूपं रुक्खमूलं वा मण्डपं वा गन्त्वा पत्तपचनाकारेन

हुए स्थान में रखकर, सुखपूर्वक बैठकर, न नीलवर्ण का प्रत्यवेक्षण करना चाहिये, और न लक्षण को ही मन में लाना चाहिये। वर्ण को उसके आधार (=भौतिक धरातल, अर्थात् पात्र के धरातल) से सम्बद्ध समझते हुए, प्रमुखतः प्रज्ञप्तिधर्म (नाम) में चित्त को स्थिर कर जल के विभिन्न नामों—अम्बु, उदक, वारि, सलिल—आदि में सर्वाधिक स्पष्ट होने से 'आपः आपः' ('जल–जल')—इस प्रकार भावना करनी चाहिये।

४. जब वह इस प्रकार भावना करता है, तब क्रमशः उक्त प्रकार से ही (द्र०—विसु०, चतुर्थ परिच्छेद पृ० १७४) निमित्तद्वय उत्पन्न होता है। किन्तु यहाँ उद्ग्रह–निमित्त चलायमान सा उपस्थित होता है, यदि फेन के बुलबुलों से मिश्रित जल हो तो उसी प्रकार का उपस्थित होता है, प्रतीत होता है और कसिण का दोष ज्ञात होता है। किन्तु प्रतिभागनिमित्त आकाश में रखे हुए मणिमय पंखे और मणिमय दर्पण के समान स्थिर होकर उपस्थित होता है। वह भिक्षु उस प्रतिभागनिमित्त के उपस्थित होने के साथ ही उपचारध्यान को एवं उक्त प्रकार से चतुर्थ पञ्चक ध्यान को प्राप्त करता है॥

आपोकसिण का वर्णन समाप्त॥

तेजोकसिण

५. तेजोकसिण (तेजःकृत्स्न) की भावना करने के अभिलाषी साधक को भी तेज में निमित्त का ग्रहण करना चाहिये। जिसने इसका अभ्यास पूर्व जन्म में किया हो, ऐसे पुण्यवान्, अकृत निमित्त का ग्रहण करने वाले को दीप–शिखा में, चूल्हे, बर्तन पकाने के स्थान, दावानल में या जहाँ कहीं भी अग्निपुञ्ज को देखते हुए निमित्त उत्पन्न होता है, **चित्रगुप्त** स्थविर के समान। उन आयुष्मान् को धर्मश्रवण के दिन उपोसथगृह में प्रवेश करने पर दीपशिखा को देखते देखते निमित्त उत्पन्न हो गया था।

६. दूसरों को कसिण–मण्डल बनाना चाहिये।

रासिं कत्वा आलिम्पेत्वा कटसारके वा चम्मे वा पटे वा विदत्थिचतुरङ्गुलप्पमाणं छिद्दं कातब्बं। तं पुरतो ठपेत्वा वुत्तनयेनेव निसीदित्वा हेट्ठा तिणकट्ठं वा उपरि धूमसिखं वा अमनसिकरित्वा वेमज्झे घनजालाय निमित्तं गण्हितब्बं। नीलं ति वा, पीतं ति वा ति आदिवसेन वण्णो न पच्चवेक्खितब्बो। उण्हत्तवसेन लक्खणं न मनसि कातब्बं। निस्सय-सवण्णमेव कत्वा उस्सदवसेन पण्णत्तिधम्मे चित्तं ठपेत्वा पावको, कण्हवत्तनी, जातवेदो, हुतासनो ति आदीसु अग्गिनामेसु पाकटनामवसेनेव "तेजो, तेजो" ति भावेतब्बं।

७. तस्सेवं भावयतो अनुक्कमेन वुत्तनयेनेव निमित्तद्वयं उप्पज्जति। तत्थ उग्गहनिमित्तं जालं छिज्जित्वा छिज्जित्वा पतनसदिसं हुत्वा उपट्ठाति। अकते गण्हन्तस्स पन कसिणदोसो पञ्ञायति, अलातखण्डं वा अङ्गारपिण्डो वा छारिका वा धूमो वा उपट्ठाति। पटिभागनिमित्तं निच्चलं आकासे ठपितरत्तकम्बलखण्डं विय सुवण्णतालवण्टं विय कञ्चनत्थम्भो विय च उपट्ठाति। सो तस्स सह उपट्ठानेनेव उपचारज्झानं, वुत्तनयेनेव चतुक्कपञ्चकज्झानानि पापुणाती ति॥

तेजोकसिणं॥

वायोकसिणकथा

८. वायोकसिणं भावेतुकामेना पि वायुस्मिं निमित्तं गण्हितब्बं। तं च खो दिट्ठवसेन वा फुट्ठवसेन वा।

वुत्तं हेतं **अट्ठकथासु**—"वायोकसिणं उग्गण्हन्तो वायुस्मिं निमित्तं गण्हाति, उच्छग्गं वा एरितं समेरितं उपलक्खेति, वेळुग्गं वा ....पे०.... रुक्खग्गं वा केसग्गं वा एरितं समेरितं उपलक्खेति, कायस्मिं वा फुट्ठं उपलक्खेती" ति। तस्मा समसीसट्ठितं घनपत्तं उच्छुं वा

उसके बनाने की विधि यह है—मोटी-मोटी गीली लकड़ियों को चीरकर, सुखाकर उन्हें खण्डशः टुकड़े-टुकड़े करके कर योग्य वृक्ष के नीचे या मण्डप में जाकर, जैसे बर्तन पकाने के लिये बनाया जाता है, वैसे ढेर (राशि) बनाकर, आग लगाकर, बोरे, चमड़े या कपड़े में एक बालिश्त चार अङ्गुल प्रमाण का एक छेद बनाना चाहिये। उसे अग्नि के सामने लटकाकर पूर्वोक्त प्रकार से नीचे बैठकर तृण काष्ठ या ऊपर के धूँए व लपट की ओर ध्यान न देते हुए मध्यवर्ती सघन ज्वाला में निमित्त ग्रहण करना चाहिये। यह नीला है या पीला है—आदि प्रकार से वर्ण का प्रत्यवेक्षण नहीं करना चाहिये। अथवा, उष्णत्व के रूप में इसका लक्षण मन में नहीं लाना चाहिये। इसके वर्ण को इसके आधार से सम्बन्धित मानते हुए प्रमुखतः प्रज्ञप्ति धर्म में चित्त को स्थिर पर, 'पावक', 'कृष्णवर्त्मा' 'जातवेद' 'हुताशन' आदि अग्नि के नामों में 'तेज' यह स्पष्ट नाम होने से 'तेज, तेज"—इस प्रकार भावना करनी चाहिये।

७. जब वह इस प्रकार से भावना करता है, तब क्रमशः उक्त प्रकार से ही निमित्त-द्वय उत्पन्न होता है। इनमें उद्ग्रहनिमित्त अग्नि की लपट के लपलपाते हुए नीचे की ओर झुकने के समान उपस्थित होता है। किन्तु अकृत (=मण्डल आदि में जानबूझ कर न जलायी गयी अग्नि में) निमित्त ग्रहण करने वाले को कसिण का दोष जान पड़ता है, जली हुई लकड़ी के कुन्दे (=अलातखण्ड), कोयला, राख या धूँआ जान पड़ते हैं। प्रतिभागनिमित्त निश्चल आकाश में रखे गये लाल कम्बल के टुकड़े के समान स्वर्णनिर्मित पङ्खा के समान या स्वर्णनिर्मित स्तम्भ के समान जान पड़ता है। वह उस प्रतिभागनिमित्त के उपस्थित होने के साथ ही उपचार ध्यान को और उक्त प्रकार से चतुष्क पञ्चक ध्यानों को प्राप्त कर लेता है।।

तेजोकसिण का वर्णन समाप्त।।

वेळुं वा रुक्खं वा चतुरङ्गुलप्पमाणं घनकेसस्स पुरिसस्स सीसं वा वातेन पहरियमानं दिस्वा "अयं वातो एतस्मिं ठाने पहरती" ति सतिं ठपेत्वा, यं वा पनस्स वातपानन्तरिकाय वा भित्तिछिद्देन वा पविसित्वा वातो कायप्पदेसं पहरति, तत्थ सतिं ठपेत्वा वात-मालुत-अनिलादीसु वायुनामेसु पाकटनामवसेनेव "वातो, वातो" ति भावेतब्बं। इध उग्गह-निमित्तवड्डनतो ओतारितमत्तस्स पायासस्स उसुमवट्टिसदिसं चलं हुत्वा उपट्ठाति। पटिभागनिमित्तं सन्निसिन्नं होति निच्चलं। सेसं वुत्तनयेनेव वेदितब्बं ति॥

वायोकसिणं॥

नीलकसिणकथा

९. तदनन्तरं पन "नीलकसिणं उग्गण्हन्तो नीलकस्मिं निमित्तं गण्हाति पुप्फस्मिं वा वत्थस्मिं वा वण्णधातुया वा" ति वचनतो कताधिकारस्स पुञ्ञवतो ताव तथारूपं मालागच्छं वा पूजाठानेसु पुप्फसन्थरं वा नीलवत्थमणीनं वा अञ्ञतरं दिस्वा व निमित्तं उप्पज्जति। इतरेन नीलुप्पलगिरिकण्णिकादीनि पुप्फानि गहेत्वा यथा केसलं वा वण्टं वा न पञ्ञायति, एवं चङ्कोटकं वा करण्डपटलं वा पत्तेहि येव समतित्तिकं पूरेत्वा सन्थरितब्बं। नीलवण्णेन वा वत्थेन भण्डिकं बन्धित्वा पूरेतब्बं। मुखवट्टियं वा अस्स भेरितलमिव बन्धितब्बं। कंसनील-पलासनील-अञ्जननीलानं वा अञ्ञतरेन धातुना पथवीकसिणे

वायुकसिण

८. वायुकसिण की भावना के अभिलाषी साधक को वायु में निमित्त ग्रहण करना चाहिये। र वं वह देखकर या स्पर्श कर किया जा सकता है।

अट्ठकथाओं में कहा भी गया है—"वायुकसिण का अभ्यास करते हुए वायु में निमित्त का ग्रहण करता है, हिलते—डुलते ईख के पौधे के अग्र भाग को ध्यान से देखता है (=उपलक्षित करता है), या हिलते—डुलते बाँस, वृक्ष या केश के अग्रभाग को ध्यान से देखता है या काया पर वायु के स्पर्श पर ध्यान देता है।" अतः एक समान अग्रभाग वाले सघन पत्तों से युक्त ईख, बाँस, वृक्ष या पुरुष के सिर पर चार अङ्गुल की लम्बाई वाले सघन केशों को हवा से प्रताड़ित होते देखकर "यह हवा उस स्थान पर प्रहार कर रही है"—इस प्रकार स्मृति बनाये हुए अथवा जो वायु खिड़की या झरोखे से प्रवेश कर काया पर प्रहार करती है, उसमें स्मृति बनाये हुए, 'वायु', 'मारुत', 'अनिल' आदि वायु के नामों में से स्पष्ट नाम होने के कारण "वायु, वायु"—इस प्रकार की भावना करनी चाहिये। यहाँ उद्ग्रहनिमित्त चूल्हे से अभी—अभी उतारी हुई खीर की गोल—गोल घूमती हुई भाप के समान जान पड़ता है। प्रतिभागनिमित्त स्थिर, निश्चल होता है। शेष पूर्वोक्त प्रकार से ही जानना चाहिये।।

वायुकसिण का वर्णन समाप्त।।

नीलकसिण

९. तत्पश्चात्, "नील कसिण का ग्रहण करने वाला नीले फूल, वस्त्र या नीले रंग की धातु में निमित्त ग्रहण करता है"—इस वचन के अनुसार, पूर्वजन्म में अभ्यास कर चुके पुण्यवान् को वैसे नीले फूलों की झाड़ी, पूजा के स्थान पर बिछाये गये फूलों या नीले वस्त्र या नीलमणि में से किसी एक को देखकर निमित्त उत्पन्न होता है। दूसरों को नीलोत्पल (=नीलकमल) गिरिकर्णिक आदि फूलों को लेकर। जैसे फूल के केसर या डंठल न दिखायी दें, उस प्रकार डलिया या टोकरी को फूलों से या फूलों की पंखुड़ियों से ही एक समान भरकर फैला देना चाहिये। या नीले वस्त्र के फूलों की आकृति वाले गुच्छे बनाकर टोकरी या डलिया को भरना चाहिये या नीले वस्त्र को डलिया या टोकरी

वुत्तनयेन संहारिमं वा भित्तियं येव वा कसिणमण्डलं कत्वा विसभागवण्णेन परिच्छिन्दितब्बं। ततो पथवीकसिणे वुत्तनयेन "नीलं, नीलं" ति मनसिकारो पवत्तेतब्बो। इधापि उग्गहनिमित्ते कसिणदोसो पञ्ञायति, केसरदण्डकपत्तन्तरिकादीनि उपट्ठहन्ति। पटिभागनिमित्तं कसिणमण्डलतो मुञ्चित्वा आकासे मणितालवण्टसदिसं उपट्ठाति। तेसं वुत्तनयेनेव वेदितब्बं ति॥

नीलकसिणं॥

पीतकसिणकथा

१०. पीतकसिणे पि एसेव नयो। वुत्तं हेतं—"पीतकसिणं उग्गण्हन्तो पीतकस्मिं निमित्तं गण्हाति पुप्फस्मिं वा वत्थस्मिं वा वण्णधातुया वा" ति। तस्मा इधा पि कताधिकारस्स पुञ्ञवतो तथारूपं मालागच्छं वा पुप्फसन्थरं वा पीतवत्थधातूनं वा अञ्ञतरं दिस्वा व निमित्तं उप्पज्जति **चित्तगुत्तत्थेरस्स** विय। तस्स किरायस्मतो चित्तलपब्बते पतङ्गपुप्फेहि कतं आसनपूजं पस्सतो सह दस्सनेनेव आसनप्पमाणं निमित्तं उदपादि। इतरेन कणिकारपुप्फादिना वा पीतवत्थेन वा धातुना वा नीलकसिणे वुत्तनयेनेव कसिणं कत्वा "पीतकं, पीतकं" ति मनसिकारो पवत्तेतब्बो। सेसं तादिसमेवा ति॥

पीतकसिणं॥

लोहितकसिणकथा

११. लोहितकसिणे पि एसेव नयो। वुत्तं हेतं—"लोहितकसिणं उग्गण्हतो

के मुख पर बाँधना चाहिये, जिससे कि वह नगाड़े के तल के समान लगे। या पृथ्वीकसिण के प्रसङ्ग में कहे अनुसार ही, काँसे के समान नीली, पलास (=पत्ते) के समान नीली अर्थात् नीलिमा लिये हुए हरी या अञ्जन के समान नीली किसी धातु से, ले जाने योग्य या किसी दीवार पर ही कसिणमण्डल बनाकर, उसकी पृष्ठभूमि को विषम वर्ण से बना देना चाहिये। (यह पालि शब्द 'नील', जो संस्कृत से ग्रहण किया गया है, नीले हरे एवं कभी-कभी काले रंग का भी सूचक होता है।) तब पृथ्वीकसिण के प्रसङ्ग में बतलाये गये विधि-प्रकार से ही, "नीला-नीला" इस प्रकार मन में लाना चाहिये। यहाँ भी उद्ग्रहनिमित्त में कसिण का दोष दिखलायी देता है; केसर, डण्ठल एवं पंखुड़ियों के बीच में खाली स्थान स्पष्ट प्रतीत होते हैं। प्रतिभागनिमित्त कसिणमण्डल से स्वतन्त्र रूप में, आकाश में इन्द्रनील मणि के पंखे के समान जान पड़ता है। शेष उक्त प्रकार से ही जानना चाहिये।।

नीलकसिण का वर्णन समाप्त।।

पीतकसिण

१०. पीत (पीले) कसिण में भी यही विधि है। क्योंकि कहा गया है—"पीले कसिण का ग्रहण करने वाला पीले फूल, वस्त्र या (पीले) रंग वाली धातु में निमित्त ग्रहण करता है।" इसलिये यहाँ भी, पूर्वजन्म में अभ्यास कर चुके पुण्यवान् को फूलों की झाड़ी , बिछाए हुए फूलों, पीले वस्त्र या धातु में से किसी एक को देखने पर निमित्त उत्पन्न होता है, **चित्रगुप्त स्थविर** के समान। उन आयुष्मान् को चित्तल पर्वत पर पतङ्ग-पुष्पों से की गयी वेदी-पूजा को देखते ही, आसन के प्रमाण का निमित्त उत्पन्न हुआ। दूसरों को कर्णिकार के फूल आदि से, पीले वस्त्र या धातु से नीलकसिण में बतलायी गयी विधि के अनुसार ही कसिण बनाकर "पीला, पीला"—इस प्रकार मन में लाना चाहिये। शेष वैसा ही है।।

पीतकसिण का वर्णन समाप्त।।

लोहितकस्मिं निमित्तं गण्हाति पुप्फस्मिं वा वत्थस्मिं वा वण्णधातुया वा" ति। तस्मा इधा पि कताधिकारस्स पुञ्ञवतो तथारूपं बन्धुजीवकादिमालागच्छं वा पुप्फसन्थरं वा लोहितकवत्थमणिधातूनं अञ्ञतरं दिस्वा व निमित्तं उप्पज्जति। इतरेन जयसुमन-बन्धुजीवक-रत्तकोरण्डकादिपुप्फेहि वा रत्तवत्थेन वा धातुना वा नीलकसिणे वुत्तनयेनेव कसिणं कत्वा "लोहितकं, लोहितकं" ति मनसिकारो पवत्तेतब्बो। सेसं तादिसमेवा ति॥

लोहितकसिणं॥

ओदातकसिणकथा

१२. ओदातकसिणे पि "ओदातकसिणं उग्गण्हन्तो ओदातस्मिं निमित्तं गण्हाति पुप्फस्मिं वा वत्थस्मिं वा वण्णधातुया वा" ति वचनतो कताधिकारस्स ताव पुञ्ञवतो तथारूपं मालागच्छं वा वस्सिकसुमनादिपुप्फसन्थरं वा कुमुदतिपदुमरासिं वा ओदातवत्थधातूनं वा अञ्ञतरं दिस्वा व निमित्तं उप्पज्जति, तिपुमण्डल-रजतमण्डल-चन्दमण्डलेसु पि उप्पज्जति येव। इतरेन वुत्तप्पकारेहि ओदातपुप्फेहि वा ओदातवत्थेन वा धातुना वा नीलकसिणे वुत्तनयेनेव कसिणं कत्वा "ओदातं, ओदातं" ति मनसिकारो पवत्तेतब्बो। सेसं तादिसमेवा ति॥

ओदातकसिणं॥

आलोककसिणकथा

१३. आलोककसिणे पन "आलोककसिणं उग्गण्हन्तो आलोकस्मिं निमित्तं गण्हाति

लोहितकसिण

११. लोहित (लाल) कसिण में भी यही विधि है। क्योंकि कहा गया है—"लोहितकसिण का ग्रहण करने वाला लाल फूल, लाल वस्त्र या लाल रंगवाली धातु में निमित्त ग्रहण करता है।" इसलिये यहाँ भी पूर्वजन्म में अभ्यास कर चुके पुण्यवान् को वैसे लाल रंग के बन्धुजीवक आदि या फूलों की झाड़ी, बिछाये गये फूलों, लाल वस्त्र, मणि, धातुओं में से किसी एक को देखकर ही निमित्त उत्पन्न हो जाता है। दूसरों को जयसुमन, बन्धुजीवक, रत्तकोरण्डक आदि पुष्पों से या लाल वस्त्र या धातु से, नील कसिण में कथित विधि के अनुसार ही कसिण बनाकर "लाल, लाल" इस प्रकार मन में लाना चाहिये। शेष पूर्वोक्त जैसा ही है।।

लोहितकसिण का वर्णन समाप्त।।

अवदात (=श्वेत) कसिण

१२. श्वेतकसिण में भी "श्वेत कसिण का ग्रहण करने वाला श्वेत फूल, वस्त्र या (श्वेत) रंग वाली धातु में निमित्त ग्रहण करता है"—इस वचन के अनुसार, पूर्व जन्म में अभ्यास कर चुके पुण्यवान् को वैसे श्वेत रंग के फूलों या झाड़ी, चमेली आदि के बिछाये हुए फूलों, श्वेत कमलों के समूह या श्वेत वस्त्र व धातु में से किसी एक को देखकर निमित्त उत्पन्न होता है। साथ ही, टिन से बनाये गये मण्डल, रजत (=चाँदी) मण्डल एवं चन्द्रमण्डल में भी उत्पन्न होता है। दूसरों को उक्त प्रकार से श्वेत पुष्पों, श्वेत वस्त्र या धातु से नीलकसिण में कहे गये के अनुसार ही कसिण बनाकर "श्वेत, श्वेत" इस प्रकार मन में लाना चाहिये।।

अवदातकसिण का वर्णन समाप्त।।

आलोक (=प्रकाश) कसिण

१३. आलोककसिण में "आलोक कसिण का ग्रहण करने वाला झरोखे, या उस छेद में

भित्तिछिद्दे वा तालच्छिद्दे वा वातपानन्तरिकाय वा'' ति वचनतो कताधिकारस्स ताव पुञ्ञवतो यं भित्तिछिद्दादीनं अञ्ञतरेन सुरियालोको वा चन्दालोको वा पविसित्वा भित्तियं वा भूमियं वा मण्डलं समुट्ठापेति, घनपण्णरुक्खसाखन्तरेन वा घनसाखामण्डपन्तरेन वा निक्खमित्वा भूमियमेव मण्डलं समुट्ठापेति, तं दिस्वा व निमित्तं उप्पज्जति। इतरेना पि तदेव वुत्तप्पकारं ओभासमण्डलं ''ओभासो,ओभासो'' ति वा ''आलोको, आलोको'' ति वा भावेतब्बं। तथा असक्कोन्तेन घटे दीपं जालेत्वा घटमुखं पिदहित्वा घटे छिद्दं कत्वा भित्तिमुखं ठपेतब्बं। तेन छिद्देन दीपालोको निक्खमित्वा भित्तियं मण्डलं करोति, तं ''आलोको आलोको'' ति भावेतब्बं। इदं इतरेहि चिरट्ठितिकं होति। इध उग्गहनिमित्तं भित्तिया वा भूमियं वा उट्ठितमण्डलसदिसमेव होति। पटिभागनिमित्तं घनविप्पसन्नं आलोकपुञ्जसदिसं। सेसं तादिसमेवा ति।

आलोककसिणं॥

परिच्छिन्नाकासकसिणकथा

१४. परिच्छिन्नाकासकसिणे पि ''आकासकसिणं उग्गण्हन्तो आकासस्मिं निमित्तं गण्हति भित्तिछिद्दे वा ताळच्छिद्दे वा वातपानन्तरिकाय वा'' ति वचनतो कताधिकारस्स ताव पुञ्ञवतो भित्तिछिद्दादीसु अञ्ञतरं दिस्वा व निमित्तं उप्पज्जति। इतरेन सुच्छन्नमण्डपे वा चम्मकटसारकादीनं वा अञ्ञतरस्मिं विदत्थिचतुरङ्गुलप्पमाण छिद्दं कत्वा तदेव वा भित्तिछिद्दादिभेदं छिद्दं ''आकासो, आकासो'' ति भावेतब्बं। इध उग्गहनिमित्तं सद्धिं भित्ति-

---

जिसमें ताली लगाकर ताला खोला जाता है (=ताल-छिद्र) या खिड़की में से आते हुए प्रकाश में निमित्त ग्रहण करता है''-इस वचन के अनुसार, पूर्वजन्म में अभ्यास कर चुके पुण्यवान् को, जो सूर्य या चन्द्र का प्रकाश झरोखे (**गवाक्ष**) आदि में से किसी एक से प्रवेश कर दीवार या भूमि पर गोलाकार पड़ता है या सघन पत्तों वाले वृक्ष की शाखाओं के बीच से निकलकर या सघन शाखामण्डप के बीच से निकल कर भूमि पर गोलाकार पड़ता है, उसे देखकर निमित्त उत्पन्न होता है। दूसरों को भी उसी तरह बतलाये गये प्रकार से ''अवभास, अवभास'' या ''आलोक, आलोक'' इस प्रकार अवभासमण्डल की भावना करनी चाहिये। जो ऐसा न कर सके, उसे चाहिये कि सम्भवतः मिट्टी के घड़े में दीपक रखे। घड़े का मुख बन्द कर, घड़े में छेद कर दे और उस छेद का मुख दीवार की ओर करके रख दे। उस छेद से दीपक का प्रकाश निकल कर दीवार पर गोलाकार पड़ेगा। उसे देखते हुए ''आलोक, आलोक'' इस प्रकार भावना करनी चाहिये। यह घड़े वाला उपाय अन्यों की अपेक्षा चिरस्थायी होता है; क्योंकि सूर्य-चन्द्र का प्रकाश खिसकता रहता है और सदैव उपलब्ध भी नहीं होता। यहाँ उद्ग्रह-निमित्त दीवार पर या भूमि पर बने हुए प्रकाश के मण्डल (=गोलाकार) के समान ही होता है; प्रतिभागनिमित्त सघन, तेज प्रकाश-पुञ्ज के समान। शेष पूर्वोक्त जैसा ही है॥

आलोककसिण का वर्णन समाप्त॥

परिच्छिन्नाकाशकसिण

१४. परिच्छिन्नाकाश (=परिमित खाली स्थान)-कसिण में भी आकाशकसिण का ग्रहण करने वाला झरोखे, ताल-छिद्र या खिड़की के आकाश में निमित्त ग्रहण करता है''-इस वचन के अनुसार पूर्वजन्म में अभ्यास कर चुके पुण्यवान् को दीवार में बने छिद्र (झरोखे) आदि में से किसी एक को देखकर ही निमित्त उत्पन्न हो जाता है। दूसरे साधक को अच्छी तरह से छाये हुए मण्डप, चमड़े, टाट आदि में से किसी एक में एक बालिश्त चार अङ्गुल प्रमाण का छेद बनाकर या उसी

परियन्तादीहि छिद्दसदिसमेव होति, वड्ढियमानं पि न वड्ढति। पटिभागनिमित्तं आकासण्डलमेव हुत्वा उपट्ठाति, वड्ढियमानं च वड्ढति। सेसं पथवीकसिणे वुत्तनयेनेव वेदितब्बं ति॥

परिच्छिन्नाकासकसिणं॥

इति कसिणानि दसबलो दस यानि अवोच सब्बधम्मदसो।
रूपावचरम्हि चतुक्कपञ्चकझानहेतूनि॥
एवं तानि च तेसं च भावनानयमिमं विदित्वान।
तेस्वेव अयं भिय्यो पकिण्णककथा पि विञ्ञेय्या॥

पकिण्णककथा

१५. इमेसु हि **पथवीकसिणवसेन** एको पि हुत्वा बहुधा होती ति आदिभावो, आकासे वा उदके वा पथविं निम्मिनित्वा पदसा गमनं, ठाननिसज्जादिकप्पनं वा, परित्त-अप्पमाणनयेन अभिभायतनपटिलाभो ति एवमादीनि इज्झन्ति।

१६. **आपोकसिणवसेन** पथवियं उम्मुज्जननिमुज्जनं, उदकवुट्ठिसमुप्पादनं, नदीसमुद्दादिनिम्मानं, पथवीपब्बतपासादादीनं कम्पनं ति एवमादीनि इज्झन्ति।

१७. **तेजोकसिणवसेन** धूमायना, पज्जलना, अङ्गारवुट्ठिसमुप्पादनं, तेजसा तेजोपरियादानं, यदेव सो इच्छति तस्स डहनसमत्थता, दिब्बेन चक्खुना रूपदस्सनत्थाय आलोककरणं, परिनिब्बानसमये तेजोधातुया सरीज्झापनं ति एवमादीनि इज्झन्ति।

१८. **वायोकसिणवसेन** वायुगतिगमनं, वातवुट्ठिसमुप्पादनं ति एवमादीनि इज्झन्ति।

पूर्वोक्त झरोखे आदि के छेद में, "आकाश, आकाश" इस प्रकार भावना करनी चाहिये। यहाँ उस छिद्र के समान ही जो दीवार से घिरा होता है, उद्ग्रहनिमित्त होता है, जो बढ़ाने का प्रयास करने पर बढ़ता नहीं है। प्रतिभागनिमित्त आकाशमण्डल के समान ही प्रतीत होता है और बढ़ाने का प्रयास करने पर बढ़ता है। शेष, पृथ्वीकसिण में बतलायी गयी विधि के अनुसार ही, जानना चाहिये।

परिच्छिन्नाकाशकसिण का वर्णन समाप्त॥

प्रकीर्णक (=संग्रह)

इस प्रकार सर्वधर्मदर्शी, दशबल (=भगवान् बुद्ध) ने रूपावचर (भूमि) में चतुष्क-पञ्चक ध्यानों के हेतु (भूत) जिन दस कसिणों को बतलाया है, उनको और उनकी भावना की इस विधि को इस प्रकार जानकर, उन्हीं में इस अतिरिक्त प्रकीर्णक विवरण (=कसिणों के विषय में असाधारण और साधारण कथनों को एकत्र कर किये गये विवरण) को भी जानना चाहिये।

कसिण-सिद्धि का माहात्म्य

१५. इनमें, **पृथ्वीकसिण** की भावना में सिद्धि प्राप्त करने से "एक होकर भी अनेक हो जाता है" आदि का होना, आकाश या जल में पृथ्वी निर्मित कर पैदल चलना, खड़ा होना, बैठना, आदि, परित्र (=परिमित) और अप्रमाण (=अपरिमित) विधि से अभिभ्वावयतन (=निपुणता के आधार) की प्राप्ति आदि असाधारण कार्य सिद्ध होते हैं।

१६. **जलकसिण** से पृथ्वी में डूबना-उतराना (=उन्मज्जन-निमज्जन) जल बरसाना, नदी, समुद्र आदि का निर्माण, पृथ्वी, पर्वत, प्रासाद आदि को कम्पित करना आदि सिद्धियाँ आती हैं।

१७. **तेज-कसिण** से धुँआ उत्पन्न करना, प्रज्वलित होना, अङ्गारे बरसाना, अग्नि से अग्नि बुझाना, जिसे चाहे उसे जलाने का सामर्थ्य, दिव्य चक्षु द्वारा रूप देखने के लिये प्रकाश करना, परिनिर्वाण के समय अग्निधातु से शरीर को जलाना आदि सिद्ध होते हैं।

१९. **नीलकसिणवसेन** नीलरूपनिम्मानं, अन्धकारकरणं, सुवण्णदुब्बण्णनयेन अभिभायतनपटिलाभो, सुभविमोक्खाधिगमो ति एवमादीनि इज्झन्ति।

२०. **पीतकसिणवसेन** पीतकरूपनिम्मानं, सुवण्णं ति अधिमुच्चना, वुत्तनयेनेव अभिभायतनपटिलाभो, सुभविमोक्खाधिगमो चा ति एवमादीनि इज्झन्ति।

२१. **लोहितकसिणवसेन** लोहितकरूपनिम्मानं, वुत्तनयेनेव अभिभायतनपटिलाभो, सुभविमोक्खाधिगमो ति एवमादीनि इज्झन्ति।

२२. **ओदातकसिणवसेन** ओदातरूपनिम्मानं, थीनमिद्धस्स दूरभावकरणं, अन्धकारविधमनं, दिब्बेन चक्खुना रूपदस्सनत्थाय आलोककरणं ति एवमादीनि इज्झन्ति।

२३. **आलोककसिणवसेन** सप्पभारूपनिम्मानं, थीनमिद्धस्स दूरभावकरणं, अन्धकारविधमनं, दिब्बेन चक्खुना रूपदस्सनत्थं आलोककरणं ति एवमादीनि इज्झन्ति।

२४. **आकासकसिणवसेन** पटिच्छन्नानं विवटकरणं, अन्तोपथवीपब्बतादीसु पि आकासं निम्मिनित्वा इरियापथकप्पनं, तिरोकुड्डादीसु असज्जमानगमनं ति एवमादीनि इज्झन्ति।

२५. सब्बानेव "उद्धं अधो तिरियं अद्वयं अप्पमाणं" ति इमं पभेदं लभन्ति। वुत्तं हेतं—

"पथवीकसिणमेको सञ्जानाति। उद्धमधोतिरियं अद्वयमप्पमाणं" ति आदि।

२६. तत्थ **उद्धं** ति उपरि गगनतलाभिमुखं। **अधो** ति हेट्ठाभूमितलाभिमुखं। **तिरियं** ति। खेत्तमण्डलमिव समन्ता परिच्छिन्दितं। एकच्चो हि उद्धमेव कसिणं वड्ढेति, एकच्चो

---

१८. **वायुकसिण** से हवा की चाल से (अतिशीघ्र) जाना, आँधी–तूफान (=वातवृष्टि) उत्पन्न करना आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

१९. **नीलकसिण** से नीले (=कृष्णवर्ण) रूपों का निर्माण, अन्धकार करना, सुवर्ण–दुर्वण के अनुसार अभिभ्वायतन की प्राप्ति, 'शुभ–विमोक्ष' की प्राप्ति आदि कृत्य सिद्ध होते हैं।

२०. **पीतकसिण** से पीले रूपों का निर्माण, (नीलकसिण के प्रसङ्ग में) उक्त विधि से (सुवर्ण–दुर्वर्ण आदि प्रकार से) कथित अभिभ्वावायतन एवं शुभ विमोक्ष की प्राप्ति आदि कृत्य सिद्ध होते हैं।

२१. **लौहितकसिण** से लाल रूपों का निर्माण, उक्त प्रकार से अभिभ्वावयतन की प्राप्ति, शुभ–विमोक्ष की प्राप्ति आदि सिद्ध होते हैं।

२२. **अवदातकसिण** से श्वेत रूपों का निर्माण, स्त्यान–मृद्ध का दूर होना, अन्धकार का नाश, दिव्यचक्षु द्वारा रूप देखने के लिये प्रकाश करना आदि लोकोत्तर कृत्य सिद्ध होते हैं।

२३. **आलोककसिण** से प्रभास्वर रूपों का निर्माण, स्त्यानमृद्ध का दूर होना, अन्धकार का नाश, दिव्यचक्षु से रूप देखने के लिये प्रकाश करना आदि कृत्यों की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

२४. **आकाशकसिण** से प्रच्छन्न (=ढके हुए) को उद्घाटित करना, पृथ्वी–पर्वत आदि के बीच भी आकाश का निर्माण कर ईर्यापथ सम्पादित करना, भित्ति (दीवार) के इस पार से उस पार निर्बाध रूप से जाना आदि सिद्ध होते हैं।

२५. "ऊपर, नीचे, समतल, अद्वितीय, अपरिमित" यह वर्गीकरण (=प्रभेद) सभी कसिणों पर अनिवार्य है; क्योंकि यह कहा गया है—"पृथ्वीकसिण को जानता है—ऊपर, नीचे, समतल, अद्वितीय, अपरिमित" आदि।

२६. इनमें **उद्धं** (ऊपर)—ऊपर आकाश तल की ओर। **अधो** (नीचे)—नीचे भूमि तल की

अधो, एकच्चो समन्ततो। तेन तेन वा कारणेन एवं पसारेति, आलोकमिव **दिब्बचक्खुना** रूपदस्सनकामो। तेन वुत्तं **उद्धमधो तिरियं** ति। **अद्वयं** ति। इदं पन एकस्स अञ्ञभावानुपगमनत्थं वुत्तं। यथा हि उदकं पविट्ठस्स सब्बदिसासु उदकमेव होति, न अञ्ञं; एवमेव पथवीकसिणं पथवीकसिणमेव होति,नत्थि तस्स अञ्ञो कसिणसम्भेदो ति। एसेव नयो सब्बत्थ। **अप्पमाणं** ति। इदं तस्स फरणअप्पमाणवसेन वुत्तं। तं हि चेतसा फरन्तो सकलमेव फरति। न 'अयमस्स आदि, इदं मज्झं' ति पमाणं गण्हाती ति।

२७. ये च ते सत्ता कम्मावरणेन वा समन्नागता, किलेसावरणेन वा समन्नागता, विपाकावरणेन वा समन्नागता अस्सद्धा अच्छन्दिका दुप्पञ्ञा अभब्बा नियामं ओक्कमितुं कुसलेसु धम्मेसु सम्मत्तं ति वुत्ता, तेसमेकस्सापेककसिणे पि भावना न इज्झति।

२८. तत्थ **कम्मावरणेन समन्नागता** ति। आनन्तरियकम्मसमङ्गिनो। **किलेसावरणेन समन्नागता** ति। नियतमिच्छादिट्ठिका चेव उभतोब्यञ्जनकपण्डका च। **विपाकावरणेन समन्नागता** ति। अहेतुकपटिसन्धिका। **अस्सद्धा** ति। बुद्धादीसु सद्धाविरहिता। **अच्छन्दिका** ति। अपच्चनीकपटिपदायं छन्दविरहिता। **दुप्पञ्ञा** ति। लोकियलोकुत्तरसम्मादिट्ठिया विरहिता। **अभब्बा नियामं ओक्कमितुं कुसलेसु धम्मेसु सम्मत्तं** ति। कुसलेसु धम्मेसु

ओर। **तिरियं** (समतल)—खेत के घेरे के समान चारों ओर से परिमित। कोई–कोई योगी कसिण को ऊपर की ओर से बढ़ाता है, कोई कोई नीचे की ओर या कोई कोई चारों ओर! अथवा दिव्यचक्षु द्वारा रूपदर्शन का अभिलाषी उस उस कारण से प्रकाश के समान कसिण का इस प्रकार प्रसार करता है। इसीलिये कहा गया है—"ऊपर, नीचे, समतल"। **अद्वयं** (अद्वितीय)—यह शब्द इसलिये कहा गया है कि ऐसी स्थिति अन्य किसी के साथ नहीं है। जिस प्रकार जल में प्रविष्ट व्यक्ति के लिये चारों दिशाओं में जल ही जल होता है, अन्य कुछ नहीं; उसी प्रकार पृथ्वीकसिण पृथ्वीकसिण ही होता है, अन्य कसिणों के साथ इसकी कुछ भी समानता नहीं है। यही विधि सर्वत्र है। **अप्पमाणं (अपरिमित)**—यह उसके अपरिमित रुझान के कारण कहा गया है; क्योंकि वह चित्त को सम्पूर्णता के साथ झुकाये रखता है, "यह इसका आदि है, यह मध्य है"—इस प्रकार परिमाण का ग्रहण नहीं करता।।

कसिणभावना में अनधिकारी पुद्गल

२७. "जो प्राणी कर्मावरण (=कर्म के आवरण) क्लेशवरण या विपाकावरण से युक्त हैं, श्रद्धाहीन, छन्दरहित, दुष्प्रज्ञ हैं वे कुशल धर्मों की ओर ले जाने वाले श्रेयस्कर मार्ग की प्राप्ति के योग्य नहीं होते"—ऐसा कहा गया है। उनमें से किसी एक को भी कसिण–भावना में सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

२८. इस पालिपाठ में **कम्मावरणेन समन्नागता** (कर्मावरण से युक्त)—आनन्तर्य कर्मों (=१. मातृवध, २. पितृवध, ३. अर्हद्–वध, ४. तथागत के शरीर से रुधिर गिराना, ५. सङ्घ में फूट डालना) से युक्त। **किलेसावरणेन समन्नागता** क्लेशावरण से युक्त (=नियत मिथ्यादृष्टि (=१. अहेतुकवादी, २. अक्रियावादी, ३. नास्तिकवादी, उभयतोव्यञ्जनक (=स्त्री पुरुष दोनों लिङ्गों से युक्त) एवं पण्डक (नपुंसक)।

विपाकावरणेन समन्नागता (विपाकावरण से युक्त)— अहेतुक प्रतिसन्धि वाले (=जिसकी प्रतिसन्धि विना किसी कुशलविपाक के साथ हुई हो या केवल दो कुशल–विपाकों के साथ हुई हो, जैसे पशु योनि में उत्पन्न या मनुष्यों में गूँगे आदि के रूप में उत्पन्न)। **अस्सद्धा** (श्रद्धाहीन)—बुद्ध आदि के प्रति श्रद्धा से रहित। **अच्छन्दिका** (छन्दरहित)—अप्रतिकूल प्रतिपदा (=मार्ग) के प्रति इच्छारहित। **दुप्पञ्ञा** (दुष्प्रज्ञ)—लौकिक–लोकोत्तर सम्यग्दृष्टि से रहित। **अभब्बा नियामं ओक्कमितुं कुसलेसु धम्मेसु**

नियामसङ्खातं सम्मत्तसङ्खातं च अरियमग्गं ओक्कमितुं अभब्बा ति अत्थो। न केवलं च **कसिणे येव,** अञ्ञेसु पि कम्मट्ठानेसु एतेसं एकस्स पि भावना न इज्झति।

तस्मा विगतविपाकावरणेन पि कुलपुत्तेन कम्मावरणं च किलेसावरणं च आरका **परिवज्जेत्वा** सद्धम्मस्सवनसप्पुरिसूपनिस्सयादीहि सद्धं च छन्दं च पञ्ञं च वड्ढेत्वा **कम्मट्ठानानुयोगे** योगो करणीयो ति॥

इति साधुजनपामोज्जत्थाय कते विसुद्धिमग्गे
समाधिभावनाधिकारे सेसकसिणनिद्देसो नाम
पञ्चमो परिच्छेदो॥



सम्मत्तं– कुशलं धर्मों की ओर ले जाने वाली श्रेयस्कर मार्ग की प्राप्ति के अयोग्य कुशल धर्मों (=अवद्य धर्मों, सुखविपाक फल देने वाले धर्मों) के प्रति श्रेयस्कर मार्ग नामक आर्यमार्ग की प्राप्ति के अयोग्य–यह अर्थ है। एवं इन (व्यक्तियों) में से किसी एक की भी न केवल कसिण में, अपितु अन्य कर्मस्थानों में भी भावना सिद्ध नहीं होती।

इसलिये विपाकावरण से रहित होने पर भी कुलपुत्र को कर्मावरण और क्लेशावरण का दूर से ही परित्याग करके सद्धर्मश्रवण एवं सत्पुरुष के आश्रय आदि द्वारा श्रद्धा, छन्द और प्रज्ञा की वृद्धि कर कर्मस्थान के अनुयोग में लगना चाहिये।।

साधुजनों के प्रमोदहेतु विरचित विशुद्धिमार्ग ग्रन्थ के
समानाधिभावनाधिकार में शेषकसिणनिर्देश नामक
नामक पञ्चम परिच्छेद समाप्त॥



असुभकम्मट्ठाननिद्देसो

(छट्ठो परिच्छेदो)

उद्धुमातकादिपदत्थानि

१. कसिणानन्तरं उद्दिट्ठेसु पन उद्धुमातकं, विनीलकं, विपुब्बकं, विच्छिद्दकं, विक्खायितकं, विक्खित्तकं, हतविक्खित्तकं, लोहितकं, पुळवकं, अट्ठिकं ति दससु अविञ्ञाणकासुभेसु भस्ता विय वायुना उद्धं जीवितपरियादाना यथानुक्कमं समुग्गतेन सूनभावेन उद्धुमातत्ता उद्धुमातं, उद्धुमातमेव **उद्धुमातकं**। पटिक्कूलत्ता वा कुच्छिं उद्धुमातं ति उद्धुमातमेव **उद्धुमातकं**। तथारूपस्स छवरीरस्सेतं अधिवचनं।

२. विनीलं वुच्चति विपरिभिन्ननीलवण्णं, विनीलमेव **विनीलकं**। पटिक्कूलत्ता कुच्छितं विनीलं ति **विनीलकं**। मंसुस्सदट्ठानेसु रत्तवण्णस्स, पुब्बसन्निच्चयट्ठानेसु सेतवण्णस्स, येभुय्येन नीलवण्णस्स, नीलट्ठाने नीलसाटकपारुतस्सेव छवसरीरस्सेतं अधिवचनं।

३. परिभिन्नट्ठानेसु विस्सन्दमानं पुब्बं विपुब्बं, विपुब्बमेव **विपुब्बकं**। पटिक्कूलत्ता वा कुच्छितं विपुब्बं ति विपुब्बकं। तथारूपस्स छवसरीरस्सेतं अधिवचनं।

४. विच्छिद्दं वुच्चति द्विधा छिन्दनेन अपवारितं, विच्छिद्दमेव **विच्छिद्दकं**। पटिक्कूलत्ता वा कुच्छितं विच्छिद्दं ति विच्छिद्दकं। वेमज्झे छिन्नस्स छवसरीरस्सेतं अधिवचनं।

अशुभकर्मस्थाननिर्देश

(षष्ठ परिच्छेद)

उद्धुमातक आदि पदों के अर्थ

१. कसिण के पश्चात् निर्दिष्ट दश अचेतन अशुभों—१. उद्धुमातक (=ऊर्ध्वमात्रक), २. विनीलक, ३. विपुब्बक, (विपूयक) ४. विच्छिद्दक (=विच्छिद्रक), ५. विक्खायितक, ६. विक्खित्तक (=विक्षिप्तक), ७. हतविक्खित्तक (हतविक्षिप्तक), ८. लोहितक, ९. पुलुवक, १०. अट्ठिक (=अस्थिक) में—

जैसे भाती (चमड़े की थैली) हवा से ऊपर की ओर फूलती है वैसे ही मृत्यु के बाद शरीर का क्रमशः फूलने, सड़ने से ऊपर की ओर उठना 'उद्धुमात' है। यह उद्धुमात ही 'उद्धुमातक' है। वैसे शव का यह अधिवचन (पर्याय) है। (१)

२. जो जगह-जगह पर नीला पड़ गया हो, उसे विनील कहते हैं। विनील ही 'विनीलक' है। मांस की अधिकता वाले भागों में लाल वर्ण, जहाँ दुर्गन्धमय रक्त (पीब) इकट्ठा हो गया हो उन भागों में श्वेतवर्ण, किन्तु अधिकांशतः नील वर्ण सदृश शव का, जिसके नीले भाग ऐसे लगते हों मानों नीला कपड़ा लपेट दिया हो, यह अधिवचन है। (२)

३. जिसमें जगह-जगह से पीब निकलती हो, वह 'विपुब्ब' है। 'विपुब्ब' ही 'विपुब्बक' कहलाता है। अथवा, प्रतिकूल होने से कुत्सित विपुब्ब 'विपुब्बक' है। वैसे शरीर का यह अधिवचन है (३)

४. दो टुकड़ों में काट दिये जाने से विवृत (=खुला हुआ, जिसका भीतरी भाग, अँतड़ियाँ आदि दिखायी देते) हों, उसे 'विच्छिद्द' कहते है। विच्छिद्द ही विच्छिद्दक है। अथवा, प्रतिकूल होने से कुत्सित विच्छिद्द 'विच्छिद्दक' है। बीच में से काटे गये शव का यह अधिवचन है। (४)

५. इतो च एत्तो च विविधाकारेन सोणसिङ्गालादीहि खायितं ति विक्खायितं, **विक्खायितमेव विक्खायितकं**। पटिक्कूलत्ता वा कुच्छितं विक्खायितं ति विक्खायितकं। तथारूपस्स छवसरीरस्सेतं अधिवचनं।

६. विविधं खित्तं विक्खित्तमेव **विक्खित्तकं**। पटिक्कूलत्ता वा कुच्छितं विक्खित्तं ति विक्खित्तकं। अञ्ञेन हत्थं अञ्ञेन पादं अञ्ञेन सीसं ति एवं ततो ततो खित्तस्स छवसरीरस्सेतं अधिवचनं।

७. हतं च तं पुरिमनयेनेव विक्खित्तकं चा ति **हतविक्खित्तकं**। काकपदाकारेन अङ्गपच्चङ्गेसु सत्थेन हनित्वा वुत्तनयेन विक्खित्तस्स छवसरीरस्सेतं अधिवचनं।

८. लोहितं किरति विक्खिपति इतो चितो च पग्घरती ति **लोहितकं**। पग्घरितलोहितमक्खितस्स छवसरीरस्सेतं अधिवचनं।

९. पुळवा वुच्चन्ति किमयो। पुळवे किरती ति **पुळवकं**। किमिपरिपुण्णस्स छवसरीरस्सेतं अधिवचनं।

१०. अट्ठि येव **अट्ठिकं**। पटिक्कूलत्ता वा कुच्छितं अट्ठी ति अट्ठिकं। अट्ठिसङ्खलिकाय पि एकट्ठिकस्स पि एतं अधिवचनं।

इमानि च पन उद्धुमातकादीनि निस्साय उप्पन्ननिमित्तानं पि निमित्तेसु पटिलद्धज्झानानं पि एतानेव नामानि।

उद्धुमातकभावनाविधानं

११. तत्थ उद्धुमातकसरीरे उद्धुमातकनिमित्तं उप्पादेत्वा उद्धुमातकसङ्खातं झानं भावेतुकामेन योगिना पथवीकसिणे वुत्तनयेनेव वुत्तप्पकारं आचरियं उपसङ्कमित्वा कम्मट्ठानं

---

५. इधर उधर से, अनेक प्रकार से कुत्ते-सियार आदि द्वारा खाया गया मृत-शरीर 'विक्खायितक' (विखादितक) है। विक्खायित ही विक्खायितक है। अथवा प्रतिकूल होने से कुत्सित विक्खायित 'विक्खायितक' है। वैसे शव का यह अधिवचन है। (५)

६. इधर-उधर बिखरा हुआ (=क्षिप्त) ही विक्खित (विक्षिप्त) है। अथवा प्रतिकूल होने से कुत्सित विक्खित्त ही 'विक्खित्तक' है। कहीं हाथ, कहीं पैर, कहीं सिर-इस प्रकार इधर उधर बिखरे हुए शव का यह अधिवचन =द्योतक है। (६)

७. हत्या करके पूर्वोक्त प्रकार से बिखराया गया शव 'हतविक्षिप्तक' कहलाता है। जिस शव के अङ्ग-प्रत्यङ्ग शस्त्र से काटकर, कौए के पैर के आकार में बिखेर दिये गये हों-ऐसे शव का यह पर्याय है। (७)

८. उससे रक्त (=खून) निकलता है, इधर-उधर फैलता है, बहता है, अतः वह 'लोहितक' है। बहते हुए खून से अभिव्याप्त (मक्खित) शव का यह अधिवचन है। (८)

९. पुलव (संस्कृत में, पुलक=एक प्रकार का कीड़ा) कृमियों (कीड़ों) को कहा जाता है। (उस शव से) कृमि निकलते हैं, इसलिये 'पुलवक' है। कृमियों से भरे शव का यह अधिवचन है। (९)

१०. अस्थि (हड्डी) ही 'अट्ठिक' (=अस्थिक है। अथवा प्रतिकूल होने से कुत्सित अस्थि अट्ठिक है। अस्थिकङ्काल का भी और एक अस्थि का भी यह अधिवचन है। (१०)

इन उद्धुमातक आदि के आश्रय से उत्पन्न निमित्तों के, एवं निमित्तों में प्राप्त ध्यानों के भी ये उद्धुमातक आदि नाम हैं।

उग्गहेतब्बं। तेनस्स कम्मट्ठानं कथेन्तेन असुभनिमित्तत्थाय गमनविधानं, समन्ता निमित्तुपलक्खणं एकादसविधेन निमित्तग्गाहो, गतागतमग्गपच्चवेक्खणं ति एवं अप्पनाविधानपरियोसानं सब्बं कथेतब्बं। तेनापि सब्बं साधुकं उग्गहेत्वा पुब्बे वुत्तप्पकारं सेनासनं उपगन्त्वा उद्धुमातकनिमित्तं परियेसन्तेन विहातब्बं।

१२. एवं विहरन्तेन च 'असुकस्मिं नाम गामद्वारे वा अटविमुखे वा पन्थे वा पब्बतपादे वा रुक्खमूले वा सुसाने वा उद्धुमातकसरीरे निक्खित्तं' ति कथेन्तानं वचनं सुत्वा पि न तावदेव अतित्थेन पक्खन्दन्तेन विय गन्तब्बं।

कस्मा? असुभं हि नामेतं वाळमिगाधिट्ठितं पि अमनुस्साधिट्ठितं पि होति। तत्रस्स जीवितन्तरायो पि सिया। गमनमग्गो वा पनेत्थ गामद्वारेन वा न्हानतित्थेन वा केदारकोटिया वा होति। तत्थ विसभागरूपं आपाथमागच्छति, तदेव वा सरीरं विसभागं होति। पुरिसस्स हि इत्थिसरीरं, इत्थिया च पुरिससरीरं विसभागं, तदेतं अधुनामतं सुभतो पि उपट्ठाति, तेनस्स ब्रह्मचरियन्तरायो पि सिया। सचे पन "नयिदं मादिसस्स भारियं" ति अत्तानं तक्कयति, एवं तक्कयमानेन गन्तब्बं।

१३. गच्छन्तेन च सङ्घत्थेरस्स वा अञ्ञतरस्स वा अभिञ्ञातस्स भिक्खुनो कथेत्वा गन्तब्बं। कस्मा? सचे हिस्स सुसाने अमनुस्ससीहब्यग्घादीनं रूपसद्दादिअनिट्ठारम्मणाभि-

---

उद्धुमातक की भावनाविधि

११. पूर्वोक्त उद्धुमातक शरीर में उद्धुमातक निमित्त उत्पन्न कर, 'उद्धुमातक' नामक ध्यान की भावना करने के अभिलाषी योगी को, पृथ्वीकसिण के प्रसङ्ग में आयी विधि के अनुसार ही, उक्त प्रकार के आचार्य के पास जाकर कर्मस्थान ग्रहण करना चाहिये। उसे कर्मस्थान बतलाने वाले इस आचार्य को १. अशुभनिमित्त के अवलोकन के हेतु जाने की विधि, २. चारों ओर से निमित्त को भलीभाँति देखना, ३. ग्यारह प्रकार से निमित्त का ग्रहण, ४. गतागत अर्थात् जाने और आने के मार्ग का प्रत्यवेक्षण—इस प्रकार अर्पणाविधि की समाप्ति तक सब कुछ बतला देना चाहिये। उस योगावचर को भी सब कुछ भलीभाँति सीखकर, पूर्वोक्त प्रकार के शयनासन में जाकर, उद्धुमातक निमित्त को खोजते हुए विहार करना चाहिये।

१२. और इस प्रकार विहार करने वाले को—"अमुक ग्राम के द्वार पर, जङ्गल में, रास्ते में, पर्वत की तलहटी में, वृक्ष के नीचे या श्मशान में उद्धुमातक शव पड़ा हुआ है"—इस प्रकार किसी को कहते हुए सुनकर ही, उस व्यक्ति की तरह जो कि बिना घाट वाली नदी में कूद पड़ता है, उसी समय चल नहीं देना चाहिये। क्यों? क्योंकि १ यह अशुभ हिंसक जन्तुओं के द्वारा भी और अमानवीय सत्ताओं (=अमनुष्यों=भूतप्रेतों) द्वारा भी अधिष्ठित होता है वहाँ उसकी जान भी जा सकती है। २. या हो सकता है कि उस तक जाने का रास्ता ग्राम के द्वार, घाट या सींचे हुए खेत की सीमा से होकर जाता हो और वहाँ विपरीत (=विसभाग) रूप सामने पड़ जाँय। २. या वह शरीर (=शव) ही विपरीत हो। क्योंकि पुरुष के लिये स्त्री का शरीर और स्त्री के लिये पुरुष का शरीर विपरीत है। तब, हाल में ही मृत वह शरीर उस भिक्षु को शुभ (=आकर्षक, सुन्दर) भी प्रतीत हो सकता है, जिससे इसके ब्रह्मचर्य में बाधा पड़ सकती है। किन्तु यदि वह "यह मुझ जैसे के लिये कठिन नहीं है"—ऐसा स्वयं के विषय में सोचता है, तो ऐसा सोचने वाले को चले जाना चाहिये।

१३. हाँ, जाने वाले को सङ्घ के स्थविर से या अन्य किसी सुपरिचित भिक्षु से कहकर जाना चाहिये। किसलिये? क्योंकि (१) यदि श्मशान में अमनुष्यों, सिंह, व्याघ्र आदि रूप, शब्द आदि तथा

भूतस्स अङ्गपच्चङ्गानि वा पवेधेन्ति, भुत्तं वा न परिसण्ठाति, अञ्ञो वा आबाधो होति, अथस्स सो विहारे सुरक्खितं करिस्सति। दहरे वा सामणेरे वा पहिणित्वा तं भिक्खुं पटिजग्गिस्सति।

अपि च 'सुसानं नाम निरातङ्कट्ठानं' ति मञ्ञमाना कतकम्मा पि अकतकम्मा पि चोरा समोसरन्ति। ते मनुस्सेहि अनुबद्धा भिक्खुस्स समीपे भण्डकं छड्डेत्वा पि पलायन्ति। मनुस्सा "सहोड्ढं चोरं अदस्सामा" ति भिक्खुं गहेत्वा विहेठेन्ति। अथस्स सो "मा इमं विहेठयित्थ, ममायं कथेत्वा इमिना नाम कम्मेन गतो" ति ते मनुस्से सञ्ञापेत्वा सोत्थिभावं करिस्सति। अयं आनिसंसो कथेत्वा गमने।

तस्मा वुत्तप्पकारस्स भिक्खुनो कथेत्वा असुभनिमित्तदस्सने सञ्जाताभिलासेन, यथा नाम खत्तियो अभिसेकट्ठानं, यजमानो यञ्ञसालं, अधनो वा पन निधिट्ठानं पीतिसोमनस्सजातो गच्छति, एवं पीतिसोमनस्सं उप्पादेत्वा **अट्ठकथासु** वुत्तेन विधिना गन्तब्बं।

१४. वुत्तं हेतं—

"उद्धुमातकं असुभनिमित्तं उग्गण्हन्तो एको अदुतियो गच्छति, उपट्ठिताय सतिया असम्मुट्ठाय अन्तोगतेहि इन्द्रियेहि अबहिगतेन मानसेन, गतागतमग्गं पच्चवेक्खमानो। यस्मिं पदेसे उद्धुमातकं असुभनिमित्तं निक्खित्तं होति, तस्मिं पदेसे पासाणं वा वम्मिकं वा रुक्खं वा गच्छं वा लतं वा सनिमित्तं करोति, सारम्मणं करोति। सनिमित्तं कत्वा सारम्मणं कत्वा उद्धुमातकं असुभनिमित्तं सभावभावतो उपलक्खेति वण्णतो पि लिङ्गतो पि सण्ठानतो पि

अनिष्ट आलम्बनों से डरकर इस भिक्षु के अङ्ग प्रत्यङ्ग काँपने लगें, खाया-पिया न पचे या कोई दूसरी परेशानी खड़ी हो जाय, तो विहार में वह स्थविर य सुपरिचित भिक्षु उसके पात्र-चीवर को सुरक्षित रखेगा या तरुण भिक्षु को अथवा श्रामणेर को भेजकर उस भिक्षु की सेवा-सुश्रूषा करवायगा।

(२) इसके अतिरिक्त-"श्मशान निरापद स्थान है"-ऐसा जानते हुए चोरी कर चुके या चोरी करने वाले चोर भी आपस में मिलते रहते हैं। जब लोग उनका पीछा करते हैं, तब वे भिक्षु के पास चोरी का माल छोड़कर भाग जाते हैं। लोग "सामान के साथ चोर को पकड़ लिया"-यों कहकर भिक्षु को सताते हैं। ऐसा होने पर वह स्थविर भिक्षु "इसे मत सताओ, यह मुझे बताकर इस कार्य से गया था"-इस प्रकार उन लोगों को सत्य बात बताकर छुड़ा लेगा। अतः कहकर जाने में यह लाभ है।

इसलिये उक्त प्रकार के भिक्षु से कहकर अशुभनिमित्त के दर्शन के अभिलाषी को, जैसे क्षत्रिय अभिषेकस्थल की ओर, यजमान यज्ञशाला की ओर या निर्धन खजाने की ओर प्रीति एवं सौमनस्य के साथ जाता है, वैसे ही प्रीति और सौमनस्य उत्पन्न कर, **अट्ठकथाओं** में कहे गये ढंग से जाना चाहिये।

१४. क्योंकि वहाँ यह कहा गया है-

"उद्धमातक अशुभनिमित्त को ग्रहण करने वाला अकेला, विना किसी को साथ लिये, स्मृति बनाये रखकर, विस्मरण (=सम्प्रमोष) से रहित होकर, इन्द्रियों के अन्तर्मुख होने से वहाँ अन्तर्मुख हुए मन के साथ, गतागत मार्ग का प्रत्यवेक्षण करते हुए जाता है। जिस प्रदेश में उद्धमातक अशुभनिमित्त पडा हुआ होता है, उस प्रदेश में पत्थर, दीमक की बाँबी, पेड, झाडी या लता को निमित्त के साथ ग्रहण करता है, आलम्बन के साथ ग्रहण करता है। निमित्त या आलमम्बन के साथ ग्रहण कर,

दिसतो पि ओकासतो पि परिच्छेदतो पि सन्धितो विवरतो निन्नतो थलतो समन्ततो। सो तं निमित्तं सुग्गहितं करोति, सूपधारितं उपधारेति, सुववत्थितं ववत्थपेति। सो तं निमित्तं सुग्गहितं कत्वा सूपधारितं उपधारेत्वा सुववत्थितं ववत्थपेत्वा एको अदुतियो गच्छति उपट्ठिताय सतिया असम्मुट्ठाय, अन्तोगतेहि इन्द्रियेहि अबहिगतेन मानसेन गतागतमग्गं पच्चवेक्खमानो। सो चङ्कमन्तो पि तब्भागियं येव चङ्कमं अधिट्ठाति। निसीदन्तो पि तब्भागियञ्ञेव आसनं पञ्ञपेति।

"समन्ता निमित्तुपलक्खणा किमत्थिया किमानिसंसा ति? समन्ता निमित्तुपलक्खणा असम्मोहत्था असम्मोहानिसंसा। एकादसविधेन निमित्तग्गाहो किमत्थियो किमानिसंसो ति? एकादसविधेन निमित्तग्गाहो उपनिबन्धनत्थो उपनिबन्धनानिसंसो। गतागतमग्गपच्चवेक्खणा किमत्थिया किमानिसंसा ति? गतागतमग्गपच्चवेक्खणा वीथिसम्पटिपादनत्था वीथिसम्पटिपादनानिसंसा।

"सो आनिसंसदस्सवी रतनसञ्ञी हुत्वा चित्तकारं उपट्ठपेत्वा सम्पियायमानो तस्मिं आरम्मणे चित्तं उपनिबन्धति—'अद्धा इमाय पटिपदाय जरामरणम्हा परिमुच्चिस्सामी' ति। सो विविच्चेव कामेहि ....पे०.... पठमं झानं उपसम्पज्ज विहरति। तस्साधिगतं होति रूपावचरं पठमं झानं, दिब्बो च विहारो, भावनामयं च पुञ्ञकिरियवत्थुं" (   ) ति।

१५. तस्मा यो चित्तसञ्ञत्तत्थाय सिवथिकदस्सनं गच्छति, सो घण्टिं पहरित्वा

अशुभनिमित्त को उसके स्वभाव के अनुसार भली भाँति देखता है—वर्ण से भी, लिङ्ग से भी, आकार (संस्थान) से भी, दिशा से भी, रिक्त स्थान (=अवकाश) से, जोड़ (=सन्धि), छिद्र (=विहार), निचाई, ऊँचाई, चारों ओर से भी। तब वह उस निमित्त को भलीभाँति ग्रहण करता है। भली–भाँति मन में धारण करता है, सुव्यवस्थित करता है। वह उस निमित्त को भलीभाँति ग्रहण कर, भलीभाँति धारण कर, सुव्यवस्थित कर, स्मृति बनाये रखकर, विस्मरण से रहित होकर, इन्द्रियों के अन्तर्मुख होने से इस अन्तर्मुख हुए मन के साथ गतागत मार्ग का प्रत्यवेक्षण करते हुए अकेला, विना किसी को साथ लिये, जाता है। वह चंक्रमण करते समय भी उस अशुभनिमित्त के बारे में चिन्तन करते हुए ही चंक्रमण करता है। बैठते समय भी उस अशुभनिमित्त के बारे में चिन्तन–मनन करते हुए ही आसन पर बैठता है।

(१) चारों ओर से निमित्त को ध्यानपूर्वक देखने का क्या प्रयोजन या क्या गुण (=माहात्म्य) है? चारों ओर से निमित्त को ध्यान से देखना असम्मोह (=मोह से रहित होने) के लिये है। उसका गुण असम्मोह है। (२) ग्यारह प्रकार से निमित्त ग्रहण करने का क्या प्रयोजन है, क्या गुण है? ग्यारह प्रकार से निमित्त का ग्रहण उस अशुभ आलम्बन से चित्त को बाँधे रखने के लिये हैं। उसका गुण बाँधे रखना है। (३) गतागत मार्ग के प्रत्यवेक्षण का क्या प्रयोजन, क्या गुण है? गतागत मार्ग का प्रत्यवेक्षण कर्मस्थान के मार्ग (–विधि) के सम्यक् प्रतिपादन के लिये है। मार्ग का सम्यक्प्रतिपादन उसका गुण है।

वह भिक्षु उसमें गुण देखते हुए, उसे रत्न के समान मूल्यवान् समझते हुए उसके प्रति आदर और प्रेम से युक्त होकर, उस आलम्बन से चित्त को इस प्रकार बाँधता है—'अवश्य ही इस मार्ग से मैं जरामरण से मुक्त हो जाऊँगा'। वह कामों से रहित....पूर्ववत्...प्रथम ध्यान प्राप्त कर विहार करता है। वह रूपावचर प्रथम ध्यान, दिव्य विहार एवं भावनामय पुण्य क्रियावस्तु[1] प्राप्त करता है।"

---

१. द्र०—दी० नि० ३.१०।

गणं सन्निपातेत्वा पि गच्छतु। कम्मट्ठानसीसेन पन गच्छन्तेन एककेन अदुतियेन मूलकम्मट्ठानं अविस्सज्जेत्वा तं मनसिकरोन्तेनेव सुसानं सोणादिपरिस्सयविनोदनत्थं कत्तरदण्डं वा यट्ठिं वा गहेत्वा, सूपट्ठितभावसम्पादनेन असम्मुट्ठं सतिं कत्वा मनच्छट्ठानं च इन्द्रियानं अन्तोगत-भावसम्पादनतो अबहिगतमनेन हुत्वा गन्तब्बं।

१६. विहारतो निक्खमन्तेनेव 'असुकदिसाय असुकद्वारेन निक्खन्तोम्ही' ति द्वारं सल्लक्खेतब्बं। ततो येन मग्गेन गच्छति, सो मग्गो ववत्थपेतब्बो— 'अयं मग्गो पाचीनदिसाभिमुखो वा गच्छति, पच्छिम.... उत्तर.... दक्खिणदिसाभिमुखो वा विदिसाभिमुखो वा' ति। 'इमस्मिं पन ठाने वामतो गच्छति, इमस्मिं ठाने दक्खिणतो; इमस्मिं चस्स ठाने पासाणो, इमस्मिं वम्मिको, इमस्मिं रुक्खो, इमस्मिं गच्छो, इमस्मिं लता'— ति एवं गमनमग्गं ववत्थपेन्तेन निमित्तट्ठानं गन्तब्बं, नो च खो पटिवातं। पटिवातं गच्छन्तस्स हि कुणपगन्धो घानं पहरित्वा मत्थलुङ्गं वा सङ्खोभेय्य, आहारं वा छड्डापेय्य, विप्पटिसारं वा जनेय्य— 'ईदिसं नाम कुणपट्ठानं आगतोम्ही' ति। तस्मा पटिवातं वज्जेत्वा अनुवातं गन्तब्बं। सचे अनुवातमग्गेन न सक्का होति गन्तुं, अन्तरा पब्बतो वा पासाणो वा वति वा कण्टकट्ठानं वा उदकं वा चिक्खल्लं वा होति, चीवरकण्णेन नासं पिदहित्वा गन्तब्बं। इदमस्स गमनवत्तं।

१७. एवं गतेन पन न ताव असुभनिमित्तं ओलोकेतब्बं। दिसा ववत्थपेतब्बा।

---

१५. इसलिये यदि वह चित्त को संयत करने के उद्देश्य से शव को देखने जा रहा हो, तो वह चाहे तो घण्टी बजाकर भिक्षुगण को एकत्र करके भी जाय या घण्टी बजाकर पाठ समाप्त करके भी जाय, किन्तु कर्मस्थान को प्रमुखता देने वाले को वहाँ जाते समय अकेले, विना किसी को साथ लिये, मूल कर्मस्थान को छोड़े विना, उसके बारे में चिन्तन करते हुए, श्मशान में कुत्ते आदि के सम्भावित उपद्रव को दूर करने के लिये छड़ी या लाठी लेकर, स्मृति को उपस्थित बनाये रखकर, स्मृति को विस्मरण दोष से रहित करके और इन्द्रियों को अन्तर्मुख रखने से छह इन्द्रियों सहित मन को बाहर न जाने देते हुए, अन्तर्मुख रखते हुए जाना चाहिये।

गमनविषयक नियम

१६. विहार से निकलते समय "अमुक दिशा से, अमुक द्वार से निकल रहा हूँ"—इस प्रकार द्वार को ध्यान से देखना चाहिये। तत्पश्चात् जिस मार्ग से जाता है, उस मार्ग पर विचार करना चाहिये कि "यह मार्ग पूर्व दिशा की ओर जाता है या पश्चिम या उत्तर या दक्षिण दिशा की ओर या उपदिशा (=विदिशा, जैसे पूर्वोत्तर, पश्चिमोत्तर आदि) की ओर। यहाँ से रास्ता बायीं ओर जाता है, यहाँ से दाहिनी ओर, इस स्थान पर पत्थर है, इस स्थान पर दीमक की बाँबी, इस पर वृक्ष, इस पर झाड़ी, इस पर लता"—इस प्रकार गमन—मार्ग का विचार करने वाले को ही निमित्त के स्थान पर जाना चाहिये; किन्तु हवा के रुख से विपरीत (=प्रतिवात) नहीं। क्योंकि हो सकता है कि हवा के रुख से विपरीत जाने वाले की घ्राणेन्द्रिय पर दुर्गन्ध के झोंके से उसका मस्तिष्क भन्नाने लगे, वमन हो जाय या उसे इस प्रकार पछतावा होने लगे कि "कैसे घृणित स्थान पर आया हूँ!' इसलिये हवा से विपरीत जाने से बचते हुए, हवा के रुख के अनुकूल (=अनुवात) जाना चाहिये। यदि हवा के अनुकूल मार्ग से जाना सम्भव न हो, क्योंकि हो सकता है—बीच में पर्वत, झरना, पत्थर, चहारदीवारी, कँटीला स्थान, जल या कीचड़ हो तो चीवर के कोने से नाक बन्द करके जाना चाहिये। यह गमन के सम्बन्ध में इस भिक्षु का व्रत नियम या विधि है।

एकस्मिं हि दिसाभागे ठितस्स आरम्मणं च न विभूतं हुत्वा खायति, चित्तं च न कम्मनियं होति। तस्मा तं वज्जेत्वा यत्थ ठितस्स आरम्मणं च विभूतं हुत्वा खायति, चित्तं च कम्मनियं होति, तत्थ ठातब्बं। पटिवातानुवातं च पहातब्बं। पटिवाते ठितस्स हि कुणपगन्धेन उब्बाळ्हस्स चित्तं विधावति। अनुवाते ठितस्स सचे तत्थ अधिवत्था अमनुस्सा होन्ति, ते कुज्झित्वा अनत्थं करोन्ति। तस्मा ईसकं उक्कम्म नातिअनुवाते ठातब्बं।

एवं तिट्ठमानेना पि नातिदूरे नाच्चासन्ने नानुपादं नानुसीसं ठातब्बं। अतिदूरे ठितस्स हि आरम्मणं अविभूतं होति। अच्चासन्ने भयं उप्पज्जति। अनुपादं वा अनुसीसं वा ठितस्स सब्बं असुभं समं न पञ्ञायति। तस्मा नातिदूरे नाच्चासन्ने ओलोकेन्तस्स फासुकट्ठाने सरीर-वेमज्झभागे ठातब्बं।

१८. एवं ठितेन "तस्मिं पदेसे पासाणं वा ....पे०.... लतं वा सनिमित्तं करोती" ति एवं वुत्तानि समन्ता निमित्तानि उपलक्खेतब्बानि। तत्रिदं उपलक्खणविधानं—सचे तस्स निमित्तस्स समन्ता चक्खुपथे पासाणो होति, सो अयं पासाणो उच्चो वा नीचो वा, खुद्दको वा महन्तो वा, तम्बो वा काळो वा सेतो वा दीघो वा परिमण्डलो वा ति ववत्थपेतब्बो। ततो इमस्मिं नाम ओकासे अयं पासाणो इदं असुभनिमित्तं, इदं असुभनिमित्तं अयं पासाणो ति सल्लक्खेतब्बं।

सचे वम्मिको होति, सो पि उच्चो वा नीचो वा, खुद्दको वा महन्तो वा, तम्बो वा

अवलोकनविषयक नियम

१७. इस प्रकार जाने पर भी, जाते ही अशुभनिमित्त का अवलोकन नहीं करना चाहिये; क्योंकि किसी–किसी दिशा में खड़े होने पर आलम्बन स्पष्ट रूप से दिखायी नहीं देता और चित्त भी वश में नहीं रहता। अतः उसे ऐसे स्थान से बचते हुए, जहाँ खड़े होने से आलम्बन भी स्पष्ट रूप से दिखायी दे और चित्त भी वश में रहे, वहाँ खड़ा होना चाहिये। हवा के रुख के प्रतिकूल या हवा के रुख के अनुकूल रहने से बचना चाहिये। हवा के रुख के प्रतिकूल खड़े हुए भिक्षु का चित्त दुर्गन्ध से उद्वेलित होकर इधर–उधर दौड़ता है। यदि उस शव पर अमनुष्य वास करते हों तो वे हवा के रुख के अनुकूल खड़े हुए भिक्षु पर कुपित होकर अनर्थ (=उत्पात) कर सकते हैं। इसलिये थोड़ा सा हटकर, न कि ठीक हवा के रुख के अनुकूल, खड़ा होना चाहिये।

इस प्रकार खड़े होते हुए भी, (उसे अन्य बातों का भी ध्यान रखना चाहिये; जैसे–शव से) न बहुत दूर, बहुत पास, न पैर या सिर की ओर खड़ा होना चाहिये। बहुत दूर खड़े होने पर आलम्बन स्पष्ट नहीं होता। बहुत पास खड़े होने से भय उत्पन्न होता है। पैर या सिर की ओर खड़े होने पर समस्त अशुभ (=मृत शरीर) एक बराबर, समान दिखायी नहीं देता। इसलिये न बहुत दूर, न बहुत पास, सुविधाजनक स्थान में शरीर के मध्य भाग की ओर खड़ा होना चाहिये।

१८. यों खड़े हुए भिक्षु को "उस प्रदेश में पत्थर या ...पूर्ववत्... लता को निमित्त के साथ ग्रहण करता है"–इस प्रकार बतलाये गये चारों ओर के निमित्तों को ध्यान से देखना चाहिये।

वहाँ **ध्यान से देखने की विधि** यह है–"यदि उस निमित्त के पास दृष्टिपथ में पत्थर हो तो उस पर विचार करना चाहिये कि वह पत्थर ऊँचा है या नीचा, छोटा है या बड़ा, ताँबे के रंग का है, काला है या सफेद है, लम्बा है या गोल है। तब इस प्रकार निरीक्षण करना चाहिये–'इस स्थान पर यह पत्थर है यह अशुभनिमित्त है; यह अशुभनिमित्त है यह पत्थर है।"

यदि दीमक की बाँबी हो तो वह भी ऊँची है या नीची, छोटी है या बड़ी, ताँबे के रंग की है

काळो वा सेतो वा, दीघो वा परिमण्डलो वा ति ववत्थपेतब्बो। ततो इमस्मिं नाम ओकासे 'अयं वम्मिको इदं असुभनिमित्तं' ति सल्लक्खेतब्बं।

सचे रुक्खो होति, सो पि अस्सत्थो वा निग्रोधो वा कच्छको वा कपीतनो वा उच्चो वा नीचो वा, खुद्दको वा महन्तो वा, तम्बो वा काळो वा सेतो वा ति ववत्थपेतब्बो। ततो इमस्मिं नाम ओकासे 'अयं रुक्खो इदं असुभनिमित्तं' ति सल्लक्खेतब्बं।

सचे गच्छो होति, सो पि सिन्दि वा करमन्दो वा कणवीरो वा कुरण्डको वा उच्चो वा नीचो वा, खुद्दको वा महन्तो वा ति ववत्थपेतब्बो। ततो इमस्मिं नाम ओकासे 'अयं गच्छो' इदं असुभनिमित्तं ति सल्लक्खेतब्बं।

सचे लता होति, सा पि लाबु वा कुम्भण्डो वा सामा वा काळवल्लि वा पूतिलता वा ति ववत्थपेतब्बा। ततो इमस्मिं नाम ओकासे 'अयं लता इदं असुभनिमित्तं, इदं असुभनिमित्तं' अयं लता ति सल्लक्खेतब्बं।

१९. यं पन वुत्तं 'सनिमित्तं करोति सारम्मणं, करोती' ति, तं इधेव अन्तोगधं। पुन-प्पुनं ववत्थपेन्तो हि सनिमित्तं करोति नाम। 'अयं पासाणो इदं असुभनिमित्तं', 'इदं असुभनिमित्तं अयं पासाणो' ति एवं द्वे द्वे समासेत्वा समासेत्वा ववत्थपेन्तो सारम्मणं करोति नाम।

एवं सनिमित्तं सारम्मणं च कत्वा पन **सभावभावतो ववत्थपेती** ति वुत्तत्ता य्वास्स सभावभावो अनञ्ञसाधारणो अत्तनियो उद्धुमातकभावो, तेन मनसिकातब्बं। वणितं उद्धुमातकं ति एवं सरसेन ववत्थपेतब्बं ति अत्थो।

या काली या सफेद, लम्बी है या गोल—इसका विचार करना चाहिये। तब "इस स्थान पर यह दीमक की बाँबी है, यह अशुभनिमित्त है"—इस प्रकार निरीक्षण करना चाहिये।

यदि वृक्ष हो, तो वह भी अश्वत्थ (=पीपल) है या न्यग्रोध (=बरगद), कच्छक (=पाकड़) है या कपित्थ (=कैथ), ऊँचा है या नीचा, छोटा है या बड़ा, ताँबे के रंग का है, काला है या सफेद—इस प्रकार विचार करना चाहिये। तब "इस स्थान पर यह वृक्ष है, यह अशुभनिमित्त है"—इस प्रकार निरीक्षण करना चाहिये।

यदि झाड़ी है, तो वह भी छोटी खजूर है या कमन्द (=करवन), करवीर है या कुरण्डक (=जयन्ती), ऊँची है या नीची, छोटी है या बड़ी—इस प्रकार विचार करना चाहिये। तब "इस स्थान पर यह झाड़ी है—यह अशुभनिमित्त है, या झाड़ी"—इस प्रकार निरीक्षण करना चाहिये।

यदि लता हो, तो वह भी लौकी है या कुम्हड़ा, श्यामा है या कालवल्ली या पूतिलता (=गिलोय)—इस प्रकार विचार करना चाहिये। तब "इस स्थान पर यह लता है, यह अशुभनिमित्त है; यह अशुभ निमित्त है, यह लता है"—इस प्रकार निरीक्षण करना चाहिये।

१९. जो कहा गया है— **सनिमित्तं करोति, सारम्मणं करोति** (निमित्त के साथ (ग्रहण) करता है, आलम्बन के साथ ग्रहण करता है) उसका यहीं (=उपर्युक्त वर्णन में ही) समावेश हो जाता है; क्योंकि जब वह बारम्बार विचार करता है, तब वह आसपास की वस्तुओं को निमित्त के साथ ग्रहण करता है। वैसे ही, "यह पत्थर है, यह अशुभनिमित्त है, यह अशुभनिमित्त है, यह पत्थर है" इस प्रकार दो-दो को जोड़कर विचार करते हुए वस्तुतः वह आलम्बन के साथ उन्हें ग्रहण करता है।

निमित्त के साथ, आलम्बन का साथ ग्रहण करने के बाद, क्योंकि कहा गया है कि **सभावभावतो ववत्थपेति** "स्वभाव के अनुसार विचार करता है" अतः जो इस उद्धुमातक का स्वभाव-

२०. एवं ववत्थपेत्वा १. वण्णतो पि, २. लिङ्गतो पि, ३. सण्ठानतो पि, ४. दिसतो पि, ५. ओकासतो पि, ६. परिच्छेदतो पि ति छब्बिधेन निमित्तं गहेतब्बं।

कथं? तेन हि योगिना इदं सरीरं काळस्स वा ओदातस्स वा मङ्गुरच्छविनो वा ति **वण्णतो** ववत्थपेतब्बं।

लिङ्गतो पन इत्थिलिङ्गं वा पुरिसलिङ्गं वा ति अववत्थपेत्वा, पठमवये वा मज्झिमवये वा पच्छिमवये वा ठितस्स इदं सरीरं ति ववत्थपेतब्बं।

सण्ठानतो उद्धुमातकस्स सण्ठानवसेनेव इदमस्स सीससण्ठानं, इदं गीवासण्ठानं, इदं हत्थसण्ठानं, इदं उदरसण्ठानं, इदं नाभिसण्ठानं, इदं कटिसण्ठानं, इदं उरुसण्ठानं, इदं जङ्घासण्ठानं, इदं पादसण्ठानं ति ववत्थपेतब्बं।

दिसतो पन 'इमस्मिं सरीरे द्वे दिसा—नाभिया अधो हेट्ठिमदिसा, उद्धं उपरिमदिसा' ति ववत्थपेतब्बं। अथ वा 'अहं इमिस्सा दिसाय ठितो, असुभनिमित्तं इमिस्सा' ति ववत्थपेतब्बं।

आकासतो पन 'इमस्मिं नाम ओकासे हत्था, इमस्मिं पादा, इमस्मिं सीसं, इमस्मिं मज्झिमकायो ठितो' ति ववत्थपेतब्बं। अथ वा— 'अहं इमस्मिं ओकासे ठितो असुभनिमित्तं इमस्मिं' ति ववत्थपेतब्बं।

परिच्छेदतो 'इदं सरीरं अधो पादतलेन उपरि केसमत्थकेन तिरियं तचेन परिच्छिन्नं, यथापरिच्छिन्ने च ठाने द्वत्तिंसकुणपभरितमेवा' ति ववत्थपेतब्बं। अथ वा 'अयमस्स हत्थपरिच्छेदो,

---

है, दूसरों से भिन्न उसका अपना उद्धुमातक भाव है, उसका चिन्तन करना चाहिये। "फूला हुआ उद्धुमातक है"— इस प्रकार स्वभाव के अनुसार, कार्य के अनुसार विचार करना चाहिये, यह अर्थ है।

२०. इस प्रकार विचार कर, १. वर्ण, २. लिङ्ग, ३. संस्थान, ४. दिशा, ५. अवकाश, ६. सीमा—इस प्रकार छह प्रकार से निमित्त ग्रहण करना चाहिये। कैसे?

उस योगी को— "यह शरीर काले रंग का है या गोरे या सुनहले (=गेहुँए) रंग का?"—इस प्रकार **वर्ण** के अनुसार विचार करना चाहिये। (१)

लिङ्ग से— 'स्त्रीलिङ्ग है या पुल्लिङ्ग' इसका विचार न कर, यह शरीर प्रथम वय में, मध्यम वय में या पश्चिम वय में है—इस प्रकार विचार करना चाहिये। (२)

संस्थान (अकार) से—उद्धुमातक के आकार के अनुसार ही, यह इसके सिर का आकार है, यह ग्रीवा (=गरदन) का आकार, यह हाथ का आकार, यह पैर का आकार, यह पेट का आकार, यह नाभि... यह कमर... यह जाँघ... यह पैर का आकार है—इस प्रकार विचार करना चाहिये। (३)

दिशा से— इस शरीर में दो दिशाएँ (=भाग) हैं—नाभि से नीचे निचली दिशा, (नाभि से) ऊपरी दिशा इस प्रकार विचार करना चाहिये। अथवा—मैं "इस दिशा में हूँ, अशुभनिमित्त इस दिशा में"—इस प्रकार विचार करना चाहिये। (४)

स्थान (अवकाश) से—"इस स्थान पर हाथ, इस पर पैर, इस पर सिर, इस पर काय का मध्यभाग स्थित है"—इस प्रकार विचार करना चाहिये। अथवा, "मैं इस स्थान पर हूँ, अशुभनिमित्त इस स्थान पर"—इस प्रकार विचार करना चाहिये। (५)

परिच्छेद (=सीमा) से—"यह शरीर नीचे पैर के तलवे से लेकर ऊपर सिर के बालों तक समतल त्वचा से परिसीमित है। ऐसे परिसीमित स्थान में बत्तीस (३२) गन्दगियाँ (=अशुचि पदार्थ) ही

अयं पादपरिच्छेदो, अयं सीसपरिच्छेदो, अयं मज्झिमकायपरिच्छेदो' ति ववत्थपेतब्बं। यत्तकं वा पन ठानं गण्हाति, तत्तकमेव इदं ईदिसं उद्धुमातकं ति परिच्छिन्दितब्बं।

पुरिसस्स पन इत्थिसरीरं, इत्थिया वा पुरिससरीरं न वट्टति। विसभागे सरीरे आरम्मणं न उपट्ठाति, विप्फन्दनस्सेव पच्चयो होति। "उग्घाटिता पि हि इत्थी पुरिसस्स चित्तं परियादाय तिट्ठती" ति **मज्झिमट्ठकथायं** वुत्तं। तस्मा सभागसरीरे येव एवं छब्बिधेन निमित्तं गण्हितब्बं।

२१. यो पन पुरिमबुद्धानं सन्तिके आसेवितकम्मट्ठानो परिहतधुतङ्गो परिमद्दितमहाभूतो परिग्गहितसङ्खारो ववत्थापितनामरूपो उग्घाटितसत्तसञ्ञो कतसमणधम्मो वासितवासनो भावितभावनो सबीजो ञाणुत्तरो अप्पकिलेसो कुलपुत्तो, तस्स ओलोकितोलोकितट्ठाने येव पटिभागनिमित्तं उपट्ठाति। नो चे एवं उपट्ठाति, अथेवं छब्बिधेन निमित्तं गण्हतो उपट्ठाति।

२२. यस्स पन एवं पि न उपट्ठाति, तेन १. सन्धितो, २. विवरतो, ३. निन्नतो, ४. थलतो, ५. समन्ततो ति पुन पि पञ्चविधेन निमित्तं गहेतब्बं।

तत्थ **सन्धितो** ति। असीतिसतसन्धितो। उद्धुमातके पन कथं असीतिसतसन्धियो ववत्थपेस्सति? तस्मानेन तयो दक्खिणहत्थसन्धी, तयो वामहत्थसन्धी, तयो वामपादसन्धी, एको गीवसन्धि, एको कटिसन्धी ति एवं चुद्दसमहासन्धिवसेन सन्धितो ववत्थपेतब्बं।

हैं"—इस प्रकार विचार करना चाहिये। अथवा, "यह इसके हाथ की सीमा है, यह इसके पैर की सीमा, यह सिर की सीमा, यह शरीर के मध्य भाग की सीमा"—इस प्रकार करना चाहिये। अथवा उद्धुमातक के जितने स्थान (=भाग) का विचार के लिये मन से ग्रहण करता है, उतने ही के बारे में "यह इस प्रकार का उद्धुमातक है"—इस प्रकार सीमा का निश्चय करना चाहिये। (६)

पुरुष के लिये स्त्री का शरीर या स्त्री के लिये पुरुष का शरीर ध्यान के आलम्बन के रूप में विहित नहीं है। विपरीत शरीर में अशुभ आलम्बन नहीं जान पड़ता, अपितु वह अनुचित उत्तेजना (=विस्पन्दन=क्लेश-स्पन्दन) का ही कारण होता है। **मज्झिमनिकाय** की **अट्ठकथा** में कहा गया है—"खुले हुए शरीर वाली (=निर्वस्त्र शरीर वाली) स्त्री (चाहे भले ही उसका शरीर पूरी तरह से सड़ा हुआ हो) पुरुष के चित्त को वशीभूत कर लेती है।" इसलिये अनुरूप शरीर में ही (=भिक्षु को पुरुष-शरीर में एवं भिक्षुणी को स्त्री के शरीर में ही) ऐसे छह प्रकार से निमित्त ग्रहण करना चाहिये।

२१. जिसने पूर्व बुद्धों के समीप कर्मस्थान का पालन, धुताङ्ग-धारण, महाभूतों का परिमर्दन (=सूक्ष्मतया मनन-चिन्तन द्वारा विश्लेषण), संस्कारों का ग्रहण, नामरूप का विचार, सत्त्व-संज्ञा का नाश या श्रमण धर्म का पालन किया है, जो कुशल वासना से वासित और कुशल भावना से भावित है, बुद्धत्व के बीज से युक्त, उच्चस्तरीय ज्ञान से युक्त एवं अल्पक्लेश वाला है, ऐसे कुलपुत्र को उस अशुभनिमित्त को देखते ही, उसी स्थान पर प्रतिभागनिमित्त उत्पन्न हो जाता है। यदि इस प्रकार उत्पन्न न हो, तो ऐसे उक्त छह प्रकार से निमित्त ग्रहण करते समय उत्पन्न हो जाता है।

२२. जिसे इस प्रकार भी निमित्त उत्पन्न न हो, उसे १. सन्धि, २. छिद्र (=विवर), ३. नीचे, ४. ऊपर, ५. चारों ओर से—इस तरह, पूर्वोक्त छह के अतिरिक्त, पुनः इन पाँच प्रकारों से भी निमित्त का ग्रहण करना चाहिये—

सन्धितो (सन्धि से)—एक सौ अस्सी सन्धियों से। किन्तु उद्धुमातक में किस प्रकार एक सौ अस्सी सन्धियों का विचार कर पायगा? इसलिये उस भिक्षु को तीन दाहिने हाथ की सन्धियाँ, तीन बायें हाथ की सन्धियाँ, तीन दाहिने पैर की सन्धियाँ, तीन बायें पैर की संन्धियाँ, एक ग्रीवा की सन्धि, एक कमर की सन्धि—इस प्रकार चौदह प्रमुख सन्धियों के अनुसार सन्धि का विचार करना चाहिये। (१)

विवरतो ति। विवरं नाम हत्थन्तरं पादन्तरं उदरन्तरं कण्णन्तरं ति एवं विवरतो ववत्थपेतब्बं। अक्खीनं पि निम्मीलितभावो वा उम्मीलितभावो वा, मुखस्स च पिहितभावो वा विवटभावो वा ववत्थपेतब्बो।

निन्नतो ति। यं सरीरे निन्नट्ठानं अक्खिकूपो वा अन्तोमुखं वा गलवाटको वा, तं ववत्थपेतब्बं। अथ वा ' अहं निन्ने ठितो, सरीरं उन्नते' ति ववत्थपेतब्बं।

थलतो ति। यं सरीरे उन्नतट्ठानं जण्णुकं वा उरो वा नलाटं वा, तं ववत्थपेतब्बं। अथ वा 'अहं थले ठितो, सरीरं निन्ने' ति ववत्थपेतब्बं।

समन्ततो ति। सब्बं सरीरं समन्ततो ववत्थपेतब्बं। सकलसरीरे ञाणं यं ठानं विभूतं हुत्वा उपट्ठाति, तत्थ "उद्धुमातकं उद्धुमातकं" ति चित्तं ठपेतब्बं। सचे एवं पि न उपट्ठाति उदरपरियोसानं अतिरेकं उद्धुमातकं होति, तत्थ "उद्धुमातकं उद्धुमातकं" ति चित्तं ठपेतब्बं।

विनिच्छियकथा

२३. इदानि **सो तं निमित्तं सुग्गहितं करोती** ति आदीसु अयं विनिच्छयकथा—

तेन योगिना तस्मिं सरीरे यथावुत्तनिमित्तग्गाहवसेन सुट्ठु निमित्तं गण्हितब्बं, सतिं सूपट्ठितं कत्वा आवज्जितब्बं, एवं पुनप्पुनं करोन्तेन साधुकं उपाधारेतब्बं चेव ववत्थपेतब्बं च। सरीरतो नातिदूरे नाच्चासन्ने पदेसे ठितेन वा निसिन्नेन वा चक्खुं उम्मीलेत्वा ओलोकेत्वा

विवरतो (विवर से)– 'विवर' कहते हैं हाथ के अन्तर (=दाहिने हाथ और दाहिने पार्श्व के बीच, बायें हाथ और बायें पार्श्व के बीच का खाली स्थान) पैर के अन्तर (=दोनों पैरों के बीच का खाली स्थान), पेट के अन्तर (=कुक्षि के मध्य में स्थित नाभि–विवर या पेट के भीतर का विवर), कान के अन्तर (=कान के भीतर का खाली स्थान) को। इस प्रकार विवर के अनुसार विचार करना चाहिये। आँख और मुख के भी बन्द होने या खुले होने का विचार करना चाहिये। (२)

निन्नतो (नीचे से)– जो शरीर में खोखला स्थान है, जैसे आँख का गड्ढा, मुख के भीतर का भाग या गले का निचला भाग (=गलवाटक) उसका विचार करना चाहिये। अथवा, 'मैं निचाई पर स्थित हूँ, मृत शरीर ऊँचाई पर'—इस प्रकार विचार करना चाहिये। (३)

थलतो (ऊँचे से)– शरीर में जो उन्नत स्थान हैं, जैसे घुटना, छाती या ललाट—उस पर विचार करना चाहिये। अथवा 'मैं ऊँचाई पर स्थित हूँ, शरीर निचाई पर'—इस प्रकार विचार करना चाहिये। (४)

समन्ततो (चारों ओर से)—समस्त शरीर का चारों ओर से विचार करना चाहिये। समस्त शरीर में से जिस स्थान का स्पष्ट रूप से ज्ञान हो रहा हो, उसी में "उद्धुमातक, उद्धुमातक"—इस प्रकार चित्त को स्थिर करना चाहिये। यदि ऐसे भी (=ऐसा करने पर भी) (अशुभनिमित्त) उपस्थित न होता हो, और यदि शव के पेट में शोथ अधिक हो, तो उसी में "उद्धुमातक, उद्धुमातक" इस प्रकार चित्त को स्थिर करना चाहिये। (५)

उक्त अट्ठकथा की व्याख्या (=विनिश्चयकथा)

२३. अब, **सो तं निमित्तं सुग्गहितं करोति** (वह उस निमित्त को भलीभाँति ग्रहण करता है) आदि वाक्यावलि की यह व्याख्या है—

उस योगी को उस शरीर में यथोक्त निमित्त ग्रहण की विधि के अनुसार भली–भाँति निमित्त का ग्रहण करना चाहिये। स्मृति को बनाये रखकर बार–बार विचार करना चाहिये। इस प्रकार बार–बार विचार करते हुए, भली भाँति धारण करना चाहिये, चिन्तन करना चाहिये। मृत शरीर से न बहुत

निमित्तं गण्हितब्बं। "उद्धुमातकपटिक्कूलं उद्धुमातकपटिक्कूलं" ति सतक्खत्तुं सहस्सक्खत्तुं उम्मीलेत्वा ओलोकेतब्बं, निमीलेत्वा आवज्जितब्बं।

एवं पुनप्पुनं करोन्तस्स उग्गहनिमित्तं सुग्गहितं होति। कदा सुग्गहितं होति? यदा उम्मीलेत्वा आलोकेन्तस्स निमीलेत्वा आवज्जेन्तस्स च एकसदिसं हुत्वा आपाथं आगच्छति, तदा सुग्गहितं नाम होति।

२४. सो तं निमित्तं एवं सुग्गहितं कत्वा सूपधारितं उपधारेत्वा सुववत्थितं ववत्थपेत्वा सचे तत्थेव भावनापरियोसानं पत्तुं न सक्कोति, अथानेन आगमनकाले वुत्तनयेनेव एककेन अदुतियेन तदेव कम्मट्ठानं मनसिकरोन्तेन सूपट्ठितं सतिं कत्वा अन्तोगतेहि इन्द्रियेहि अबहिगतेन मानसेन अत्तनो सेनासनमेव गन्तब्बं।

सुसाना निक्खमन्तेनेव च आगमनमग्गो ववत्थपेतब्बो—'येन मग्गेन निक्खन्तोस्मि, अयं मग्गो पाचीनदिसाभिमुखो वा गच्छति, पच्छिम... उत्तर... दक्खिणदिसाभिमुखो वा गच्छति, विदिसाभिमुखो वा गच्छति, इमस्मिं पन ठाने वामतो गच्छति, इमस्मिं दक्खिणतो, इमस्मिं चस्स ठाने पासाणो, इमस्मिं वम्मिको, इमस्मिं रुक्खो, इमस्मिं गच्छो, इमस्मिं लता' ति। एवं आगमनमग्गं ववत्थपेत्वा आगतेन चङ्कमन्तेना पि तब्भागियो व चङ्कमो अधिट्ठातब्बो। असुभनिमित्तदिसाभिमुखे भूमिप्पदेसे चङ्कमितब्बं ति अत्थो। निसीदन्तेन आसनं पि तब्भागियमेव पञ्ञपेतब्बं। सचे पन तस्सं दिसायं सोब्भो वा पपातो वा रुक्खो वा वति वा कललं वा होति, न सक्का तंदिसाभिमुखे भूमिप्पदेसे चङ्कमितुं, आसन्नं पि

दूर, न बहुत पास खड़े होकर या बैठे हुए, आँखों को खोले रखकर निमित्त को ग्रहण करना चाहिये। "उद्धुमातक प्रतिकूल (=कुत्सित, वितृष्णाजनक), उद्धुमातक प्रतिकूल"—इस प्रकार सौ बार या हजार बार आँखें खोलकर देखना चाहिये और आँखें बन्द कर मनन करना चाहिये।

इस प्रकार बार बार करने पर उद्ग्रह–निमित्त भलीभाँति गृहीत हो जाता है। कब भलीभाँति गृहीत होता है? जब आँखें खोलकर देखते समय और बन्द कर मनन करते समय निमित्त एक जैसा जान पड़ता हो, तब कहा जाता है कि वह उद्ग्रहनिमित्त भलीभाँति पकड़ में आ गया।

२४. उस निमित्त का भलीभाँति ग्रहण करने, भलीभाँति धारण करने, भलीभाँति विचार करने पर, यदि उसी स्थान पर भावना की पूर्णता प्राप्त न हो सके तो उसे आगमन के बारे में बतलायी गयी विधि के अनुसार ही, अकेले, विना किसी को साथ लिये, उसी कर्मस्थान के विषय में चिन्तन करते हुए स्मृति को बनाये रखकर, अन्तर्मुखी इन्द्रियों के कारण अन्तर्मुख हुए मन के साथ अपने शयनासन में ही जाना चाहिये।

श्मशान से निकलते समय लौटने के मार्ग का विचार (=निश्चय) करना चाहिये—"जिस मार्ग से निकलता हूँ, वह मार्ग पूर्व दिशा की ओर जाता है या पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशा की ओर जाता है या उपदिशा की ओर जाता है, इस स्थान से बायीं या दायीं ओर जाता है; यहाँ पत्थर, यहाँ दीमक की बाँबी, यहाँ वृक्ष, यहाँ झाड़ी, यहाँ लता है।" इस प्रकार लौटने के मार्ग का विचार कर, वापस आकर चंक्रमण करते समय भी उसी ओर मुख किये हुए ही चंक्रमण करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि अशुभनिमित्त की दिशा की ओर अभिमुख भूभाग पर चंक्रमण करना चाहिये। बैठते समय आसन भी उसी तरफ मुख करके बिछाना चाहिये।

किन्तु यदि उस दिशा में पानी भरा गड्ढा, झरना, चहारदीवारी या कीचड़ हो, उस दिशा की

अनोकासत्ता न सक्का पञ्ञपेतुं। तं दिसं अनपलोकेन्तेनापि ओकासानुरूपे ठाने चङ्कमितब्बं चेव निसीदितब्बं च। चित्तं पन तंदिसाभिमुखं येव कातब्बं।

२५. इदानि **समन्ता निमित्तुपलक्खणा किमत्थिया** ति आदिपञ्हानं **असम्मोहत्था** ति आदि विस्सज्जने अयं अधिप्पायो—यस्स हि अवेलायं उद्धुमातकनिमित्तट्ठानं गन्त्वा समन्ता निमित्तुपलक्खणं कत्वा निमित्तग्गहणत्थं चक्खुं उम्मीलेत्वा ओलोकेन्तस्सेव तं मतसरीरं उट्ठहित्वा ठितं विय अज्झोत्थरमानं विय अनुबन्धमानं विय च हुत्वा उपट्ठाति, सो तं बीभच्छं भेरवारम्मणं दिस्वा विक्खित्तचित्तो उम्मत्तको विय होति, भयं छम्भितत्तं लोमहंसं पापुणाति। पाळियं हि विभत्तअट्ठतिंसारम्मणेसु अञ्ञं एवरूपं भेरवारम्मणं नाम नत्थि। इमस्मिं हि कम्मट्ठाने झानविब्भन्तको नाम होति। कस्मा? अतिभेरवत्ता कम्मट्ठानस्स।

तस्मा तेन योगिना सन्थम्भित्वा सतिं सूपट्ठितं कत्वा मतसरीरं उट्ठहित्वा अनुबन्धकं नाम नत्थि। सचे हि सो "एतस्स समीपे ठितो पासाणो वा लता वा आगच्छेय्य, सरीरं पि आगच्छेय्य, यथा पन सो पासाणो वा लता वा नागच्छति, एवं सरीरं पि नागच्छति। अयं पन तुय्हं उपट्ठानाकारो सञ्ञजो सञ्ञासम्भवो, कम्मट्ठानं ते अज्ज उपट्ठितं, मा भायि, भिक्खू" ति तासं विनोदेत्वा हासं उप्पादेत्वा तस्मिं निमित्ते चित्तं सञ्चरापेतब्बं। एवं विसेसं अधिगच्छति। इदमेतं सन्धाय वुत्तं—"**समन्ता निमित्तुपलक्खणा असम्मोहत्था**" ति।

२६. **एकादसविधेन पन निमित्तग्गाहं सम्पादेन्तो कम्मट्ठानं उपनिबन्धति। तस्स हि चक्खूनि उम्मीलेत्वा ओलोकनपच्चया उग्गहनिमित्तं उप्पज्जति, तस्मिं मानसं चारेन्तस्स**

ओर अभिमुख भूभाग पर टहलना सम्भव न हो, खाली जगह न मिलने से आसन बिछाना भी सम्भव न हो, तो उस दिशा की ओर न देखते हुए भी, टहलना–बैठना तो वहीं चाहिये जहाँ स्थान मिले, किन्तु चित्त को उसी दिशा की ओर, जहाँ वह अशुभनिमित्त है, अभिमुख किये रहना चाहिये।

२५. अब **समन्ता निमित्तुपलक्खणं किमत्थिया** (चारों ओर से निमित्त को ध्यान से देखने का क्या प्रयोजन है?) आदि प्रश्नों तथा **असम्मोहत्था** (असम्मोह के लिये) आदि उत्तरों का तात्पर्य यह है—कुसमय में उद्धुमातक निमित्त के स्थान में जाकर चारों ओर से निमित्त को ध्यानपूर्वक देखकर निमित्त का ग्रहण करने के लिये आँखें खोल कर देखने वाले को जब वह मृत शरीर उठकर खड़ा होता हुआ, भूमि छोड़कर ऊपर उठता हुआ, पीछा करता हुआ जान पड़ता है; तब वह भिक्षु उस बीभत्स, भयानक आलम्बन को देखकर विक्षिप्तचित्त, पागल के समान हो जाता है। भय, जड़ता या रोमहर्षण (=रोयें खड़े हो जाना) हो जाते हैं। पालि में कथित अड़तीस आलम्बनों में कोई अन्य आलम्बन इस जैसा भयानक नहीं है। इसी कर्मस्थान में किसी–किसी योगी का ध्यान टूट जाता है। क्यों? कर्मस्थान की अत्यधिक भयानकता के कारण।

इसलिये उस योगी को दृढ़ता के साथ स्मृति बनाये रखकर, "मृत शरीर उठकर पीछा नहीं कर सकता। यदि उसके समीपवर्ती पत्थर या लता आते तो वह शरीर भी आता; किन्तु पत्थर या लता नहीं आते, अतः शरीर भी नहीं आ रहा है। यह तो मुझे प्रतीतमात्र हो रहा है, पूर्ववर्ती संज्ञा (=प्रत्यक्ष ज्ञान) से उत्पन्न है। आज मेरा कर्मस्थान उपस्थित हुआ है। भिक्षु, डर मत"—इस प्रकार उसे भयपूर्वक न लेते हुए निमित्त में चित्त को लगाये रखना चाहिये। इस प्रकार भिक्षु विशेषता प्राप्त करता है। इसी को लक्ष्य करके कहा गया है— **समन्ता निमित्तुपलक्खणा असम्मोहत्था** (चारों ओर से निमित्तो को देखना असम्मोह के लिये है)।

२६. ग्यारह प्रकार से निमित्त का ग्रहणकर्ता भिक्षु कर्मस्थान में लगता है। जब वह आँखें

पटिभागनिमित्तं उप्पज्जति। तत्थ मानसं चारेन्तो अप्पनं पापुणाति। अप्पनायं ठत्वा विपस्सनं वड्ढेन्तो अरहत्तं सच्छिकरोति। तेन वुत्तं—**एकादसविधेन निमित्तग्गाहो उपनिबन्धनत्थो** ति।

२७. **गतागतमग्गपच्चवेक्खणा वीथिसम्पटिपादनत्था** ति। एत्थ पन या गतमग्गस्स च आगतमग्गस्स च पच्चवेक्खणा वुत्ता, सा कम्मट्ठानवीथिया सम्पटिपादनत्था ति अत्थो। सचे हि इमं भिक्खुं कम्मट्ठानं गहेत्वा आगच्छन्तं अन्तरामग्गे केचि 'अज्ज, भन्ते, कतमी' ति दिवसं वा पुच्छति, पञ्हं वा पुच्छति, पटिसन्थारं वा करोन्ति, 'अहं कम्मट्ठानिको' ति तुण्हीभूतेन गन्तुं न वट्टति। दिवसो कथेतब्बो। पञ्हो विस्सज्जेतब्बो। सचे न जानाति, 'न जानामी' ति वत्तब्बं। धम्मिको पटिसन्थारो कातब्बो। तस्सेवं करोन्तस्स उग्गहितं तरुणनिमित्तं नस्सति। तस्मिं नस्सन्ते पि दिवसं पुट्ठेन कथेतब्बमेव। पञ्हं अजानन्तेन 'न जानामी' ति वत्तब्बं। जानन्तेन एकदेसेन कथेतुं पि वट्टति। पटिसन्थारो पि कातब्बो। आगन्तुकं पन भिक्खुं दिस्वा आगन्तुकपटिसन्थारो कातब्बो व। अवसेसानि पि चेतियङ्गणवत्त-बोधियङ्गणवत्त-उपोसथागारवत्त-भोजनसाला-जन्ताघर-आचरियुपज्झाय-आगन्तुक-गमिकवत्तादीनि सब्बानि **खन्धक**वत्तानि पूरेतब्बानेव। तस्स तानि पूरेन्तस्सा पि तं तरुणनिमित्तं नस्सति, 'पुन गन्त्वा निमित्तं गण्हिस्सामी' ति गन्तुकामस्सा पि अमनुस्सेहि वा वाळमिगेहि वा अधिट्ठितत्ता सुसानं पि गन्तुं न सक्का होति, निमित्तं वा अन्तरधायति। उद्धुमातकं हि एकमेव वा द्वे वा दिवसे ठत्वा विनीलकादिभावं गच्छति। सब्बकम्मट्ठानेसु

खोलकर देखता है, तब उस (अवलोकन) के कारण से उद्‌ग्रहनिमित्त उत्पन्न होता है। उसमें मन लगाये रहने से (=उसका चिन्तन-मनन करने पर) प्रतिभागनिमित्त उत्पन्न होता है। उस प्रतिभागनिमित्त में मन लगाये रहने से अर्पणा प्राप्त होती है। अर्पणा में स्थित होकर, विपश्यना को बढ़ाते हुए अर्हत्त्व का साक्षात्कार करता है। इसलिये कहा गया है—**एकादसविधेन निमित्तग्गाहो उपनिबन्धनत्थो** (ग्यारह प्रकार के निमित्त का ग्रहण चित्त को बाँधे रखने के लिये है)।

२७. **गतागतमग्गपच्चवेक्खणा वीथिसम्पटिपादनत्था** [गतागत मार्ग का प्रत्यवेक्षणा वीथि (=मार्ग, पथ) के सम्यक् प्रतिपादन के लिये]—जिस मार्ग से जाया जा चुका है और जिस मार्ग से आया गया है, उसका प्रत्यवेक्षण कर्मस्थान की वीथि के सम्यक् प्रतिपादन के लिये है—यह अर्थ है। कर्मस्थान ग्रहण कर लौटते हुए इस भिक्षु से यदि कोई बीच रास्ते में "भन्ते, आज कौन-सी तिथि है?'—इस प्रकार दिन पूछता है, प्रश्न पूछता है या अभिवादन करता है, "तो मैं कर्मस्थान ग्रहण कर चुका हूँ" ऐसा सोचकर चुपचाप चले नहीं जाना चाहिये, अपितु दिन बताना चाहिये, प्रश्न का उत्तर देना चाहिये। यदि न जानता हो, तो "नहीं जानता हूँ—" ऐसा कहना चाहिये। यद्यपि उसके द्वारा ऐसा किये जाने पर कुछ ही समय पूर्व प्राप्त उद्‌ग्रहनिमित्त नष्ट हो जाता है; किन्तु भले ही वह नष्ट हो जाय, दिन पूछने पर बतलाना चाहिये, अभिवादन भी करना चाहिये। आगन्तुक भिक्षु को आते हुए देखकर अपनी ओर से आगन्तुक का अभिवादन तो करना चाहिये ही! अन्य भी चैत्य के आँगन विषयक कर्त्तव्य, बोधि वृक्ष के आँगन विषयक कर्त्तव्य, उपोसथगृह, भोजनालय, अग्निशालाविषयक कर्त्तव्य, आचार्य, उपाध्याय आगन्तुक, यात्रा के लिये प्रस्थान करने वाले के प्रति कर्त्तव्य आदि **खन्धक** (महावग्ग) में बतलाये सभी कर्त्तव्यों को पूर्ण करना चाहिये।

उन्हें पूर्ण करते समय भी, कुछ ही समय पूर्व प्राप्त किया गया उसका निमित्त नष्ट हो जाता है। "फिर से जाकर निमित्त ग्रहण करूँगा"—इस प्रकार जाने की इच्छा रहने पर भी, अमनुष्यों या

एतेन समं दुल्लभं कम्मट्ठानं नाम नत्थि। तस्मा एवं नट्ठे निमित्ते तेन भिक्खुना रत्तिट्ठाने वा दिवाट्ठाने वा निसीदित्वा-'अहं इमिना नाम द्वारेन विहारा निक्खमित्वा असुकदिसाभिमुखं मग्गं पटिपज्जित्वा असुकस्मिं नाम ठाने वामं गण्हिं, असुकस्मिं दक्खिणं। तस्स असुकस्मिं ठाने पासाणो, असुकस्मिं वम्मिक-रुक्ख-गच्छ-लतानं अञ्ञतरं। सोहं तेन मग्गेन गन्त्वा असुकस्मिं असुभं अद्दसं, तत्थ असुकदसाभिमुखी ठत्वा एवं चेवं च समन्ता निमित्तानि सल्लक्खेत्वा एवं असुभनिमित्तं उग्गहेत्वा असुकदिसाय सुसानतो निक्खमित्वा एवरूपेन नाम मग्गेन इदं चिदं च करोन्तो आगन्त्वा इध निसन्नो' ति एवं याव पल्लङ्कं आभुजित्वा निसिन्नट्ठानं, ताव गतागतमग्गो पच्चवेक्खितब्बो। तस्सेवं पच्चेक्खतो तं निमित्तं पाकटं होति, पुरतो निक्खित्तं विय उपट्ठाति। कम्मट्ठानं पुरिमाकारेनेव वीथिं पटिपज्जति। तेन वुत्तं—**गतागतमग्गपच्चवेक्खणा वीथिसम्पटिपादनत्था** ति।

२८. इदानि **आनिसंसदस्सावी रतनसञ्ञी हुत्वा चित्तीकारं उपट्ठपेत्वा सम्पियायमानो तस्मिं आरम्मणे चित्तं उपनिबन्धती** ति। एत्थ उद्धुमातकपटिक्कूले मानसं चारेत्वा झानं निब्बत्तेत्वा झानपदट्ठानं विपस्सनं वड्ढन्तो "अद्धा इमाय पटिपदाय जरामरणम्हा परिमुच्चिस्सामी" ति एवं आनिसंसदस्साविना भवितब्बं।

यथा पन दुग्गतो पुरिसो महग्घं मणिरतनं लभित्वा 'दुल्लभं वत मे लद्धं' ति तस्मिं रतनसञ्ञी हुत्वा गारवं जनेत्वा विपुलेन पेमेन सम्पियायमानो तं रक्खेय्य; एवमेव "दुल्लभं

जङ्गली जानवरों के कारण विवश होकर श्मशान भी नहीं जा पाता, या निमित्त ही अन्तर्धान हो जाता है; क्योंकि उद्धुमातक तो एक-दो दिन रहता है, बाद में विनीलक आदि हो जाता है। सभी कर्मस्थानों में इसके समान दुर्लभ कर्मस्थान दूसरा कोई नहीं। इसलिये निमित्त के इस प्रकार नष्ट हो जाने पर, उस भिक्षु को चाहिये कि रात्रिकालीन विश्रामस्थल में या दिवसकालीन स्थान में बैठकर "मैं इस नाम के विहार से निककर अमुक दिशा की ओर जाने वाले मार्ग पर चलकर अमुक नाम के स्थान पर बायें घूमा, अमुक पर दाहिने। उस मार्ग के अमुक स्थान पर पत्थर, अमुक पर दीमक की बाँबी, वृक्ष, झाड़ी-लता में से कोई एक था। मैंने उस मार्ग से जाकर अमुक नाम के स्थान पर अशुभ को देखा और वहाँ अमुक दिशा की ओर मुख किये हुए खड़े होकर ही चारों ओर के निमित्तों को ध्यानपूर्वक देखते हुए, ऐसे अशुभनिमित्त का ग्रहण कर ऐसा ऐसा करते हुए, वापस आकर यहाँ बैठा हूँ"—इस प्रकार, जब वह पद्मासन से बैठा हो, तब उसे गतागत मार्ग का प्रत्यवेक्षण करना चाहिये। जब वह इस प्रकार प्रत्यवेक्षण करता है, तब वह निमित्त प्रकट (=स्पष्ट) होता है, सामने रखे हुए के समान जान पड़ता है। कर्मस्थान पहले के समान ही चित्तवीथि में आता है। इसलिये कहा गया है—"गतागत मार्ग का प्रत्यवेक्षण वीथिसम्पादन के लिये है।"

२८. अब, **आनिसंसदस्सावी रतनसञ्ञी हुत्वा चित्तीकारं उपट्ठपेत्वा सम्पियायमानो तस्मिं आरम्मणे चित्तं उपनिबन्धति** (गुण देखते हुए, रत्न के समान मूल्यवान् समझते हुए, आदर और प्रेम करते हुए उस आलम्बन से चित्त को बाँधता है)—यहाँ, उद्धुमातक-प्रतिकूल में मन लगाकर ध्यान उत्पन्न कर, ध्यान के पदस्थान विपश्यना को बढ़ाते हुए "अवश्य ही मैं इस मार्ग के जरामरण से विमुक्त हो जाऊँगा"— इस प्रकार गुणदर्शी होना चाहिए।

जिस प्रकार कोई निर्धन पुरुष अतिमूल्यवान् महार्घ मणिरत्न को पाकर "अहा, मुझे दुर्लभ पदार्थ प्राप्त हुआ है" इस प्रकार उसे रत्न समझते हुए उसके प्रति आदर उत्पन्न कर, अत्यधिक प्रेम के साथ उसकी रक्षा करे, वैसे ही "मुझे यह दुर्लभ कर्मस्थान प्राप्त हुआ है, निर्धन को अतिमूल्यवान्

मे इदं कम्मट्ठानं लद्धं, दुग्गतस्स महग्घमणिरतनसदिसं। चतुधातुकम्मट्ठानिको हि अत्तनो चत्तारो महाभूते परिग्गण्हाति, आनापानकम्मट्ठानिको अत्तनो नासिकावातं परिग्गण्हाति, कसिणकम्मट्ठानिको कसिणं कत्वा यथासुखं भावेति, एवं इतरानि कम्मट्ठानानि सुलभानि। इदं पन एकमेव वा द्वे वा दिवसे तिट्ठति, ततोपरं विनीलकादिभावं पापुणाती ति नत्थि इतो दुल्लभतरं" ति तस्मिं रतनसञ्ञिना हुत्वा चित्तीकारं उपट्ठपेत्वा सम्पियायमानो तं निमित्तं रक्खितब्बं। रत्तिट्ठाने च दिवाठाने च "उद्धुमातकपटिक्कूलं उद्धुमातकपटिक्कूलं" ति तत्थ पुनप्पुनं चित्तं उपनिबन्धितब्बं। पुनप्पुनं तं निमित्तं आवज्जितब्बं, मनसिकातब्बं, तक्काहतं वितक्काहतं कातब्बं।

२९. तस्सेवं करोतो पटिभागनिमित्तं उप्पज्जति। तत्रिदं निमित्तद्वयस्स नानाकरणं। उग्गहनिमित्तं विरूपं बीभच्छं भेरवदस्सनं हुत्वा उपट्ठाति। पटिभागनिमित्तं पन यावदत्थं भुञ्जित्वा निपन्नो थूलङ्गपच्चङ्गपुरिसो विय।

तस्स पटिभागनिमित्तपटिलाभसमकालमेव बहिद्धा कामानं अमनसिकारा विक्खम्भनवसेन कामच्छन्दो पहीयति। अनुनयप्पहानेनेव चस्स लोहितप्पहानेन पुब्बो विय ब्यापादो पि पहीयति। तथा आरद्धविरियताय थीनमिद्धं, अविप्पटिसारकरसन्तधम्मानुयोगवसेन उद्धच्चकुक्कुच्चं, अधिगतविसेसस्स पच्चक्खताय पटिपत्तिदेसके सत्थरि पटिपत्तियं पटिपत्तिफले च विचिकिच्छा पहीयती ति पञ्च नीवरणानि पहीयन्ति।

३०. तस्मिञ्ञेव च निमित्ते चेतसो अभिनिरोपनलक्खणो वितक्को, निमित्तानुमज्जन-

---

मणिरत्न के समान; क्योंकि चार धातुओं को कर्मस्थान बनाने वाला योगी तो स्वयं में चार महाभूतों का स्पष्ट अनुभव (=परिग्रह) करता है, कसिण को कर्मस्थान के रूप में ग्रहण करने वाला स्वयं की नासिका से आने वाली वायु का स्पष्ट अनुभव करता है, कसिण को कर्मस्थान बनाने वाला कसिण (-मण्डल) बनाकर, सुविधानुसार भावना करता है; इसी प्रकार अन्य कर्मस्थान भी सुलभ हैं। किन्तु यह उद्धुमातक तो एक-दो दिन ही उद्धुमातक रहता है, उसके बाद तो विनीलक आदि हो जाता है, अतः इससे अधिक दुर्लभ कर्मस्थान कोई नहीं है"-यों विचार कर उसे रत्न समझते हुए आदर और प्रेम के साथ उस निमित्त की रक्षा करनी चाहिये। भले ही रात्रिकालीन स्थान हो या दिवसकालीन स्थान, "उद्धुमातक प्रतिकूल, उद्धुमातक प्रतिकूल" इस प्रकार उससे चित्त को बारम्बार बाँधना चाहिये। बार बार उस निमित्त का विचार, चिन्तन, तर्क-वितर्क करना चाहिये।

२९. जब वह ऐसा करता है, तब प्रतिभागनिमित्त उत्पन्न होता है। दोनों निमित्तों में यह भेद है-उद्ग्रहनिमित्त नीरूप, बीभत्स, भयानक जान पड़ता है। और प्रतिभागनिमित्त इच्छा भर खाकर सोये हुए स्थूलकाय पुरुष के समान जान पड़ता है।

वह जैसे ही प्रतिभागनिमित्त की प्राप्ति करता है; बाह्य कामनाओं के प्रति ध्यान न देने के कारण दमित हो जाने से, कामच्छन्द का प्रहाण हो जाता है। अनुनय का प्रहाण हो जाने से, उसके व्यापाद का भी प्रहाण हो जाता है, रक्त के न रह जाने पर मवाद (गन्दा खून) के समाप्त हो जाने के समान। वैसे ही वीर्य का आरम्भ करने से, स्त्यान-मृद्ध एवं पश्चात्तापरहित होने से (=अविप्रतिसार के) कारणभूत (अशुभ कर्मस्थान रूप) शान्त धर्म के सेवन (=अनुयोग) के फलस्वरूप औद्धत्य-कौकृत्य का; उपलब्ध विशिष्टता की अनुभूति के कारण मार्ग के उपदेशक शास्ता, मार्ग एवं मार्ग-फल में सन्देह (=विचिकित्सा) का प्रहाण हो जाता है। यों पाँचों नीवरण प्रहीण हो जाते हैं।

३०. उसी निमित्त में चित्त की प्रवृत्ति रूप लक्षण वाला वितर्क, निमित्त का मार्जन कृत्य करने

किच्चं साधयमानो विचारो, पटिलद्धविसेसाधिगमपच्चया पीति, पीतिमनस्स पस्सद्धिसम्भवतो पस्सद्धि, तंनिमित्तं सुखं, सुखितस्स चित्तसमाधिसम्भवतो सुखनिमित्ता एकग्गता चा ति झानङ्गानि पातुभवन्ति। एवमस्स पठमज्झानपटिबिम्बभूतं उपचारज्झानं पि तं खणं येव निब्बत्तति। इतो परं याव पठमज्झानस्स अप्पना चेव वसिप्पत्ति च, ताव सब्बं पथवीकसिण वुत्तनयेनेव वेदितब्बं।

विनीलकादिभावनाविधानं

३१. इतो परेसु पन विनीलकादीसु पि यं तं "उद्धुमातकं असुभनिमित्तं उग्गण्हन्तो एको अदुतियो गच्छति उपट्ठिताय सतिया" ति आदिना नयेन गमनं आदि कत्वा लक्खणं वुत्तं, तं सब्बं "विनीलकं असुभनिमित्तं उग्गण्हन्तो, विपुब्बकं असुभनिमित्तं उग्गण्हन्तो" ति एवं तस्स वसेन तत्थ तत्थ उद्धुमातकपदमत्तं परिवत्तेत्वा वुत्तनयेनेव सविनिच्छयाधिप्पायं वेदितब्बं।

३२. अयं पन विसेसो— **विनीलके** "विनीलकपटिक्कूलं विनीलकपटिक्कूलं" ति मनसिकारो पवत्तेतब्बो। उग्गहनिमित्तं चेत्थ कबरकबरवण्णं हुत्वा उपट्ठाति। पटिभागनिमित्तं निच्चलं सन्निसिन्नं हुत्वा उपट्ठाति।

३३. **विपुब्बके** "विपुब्बकपटिक्कूलं विपुब्बपटिक्कूलं" ति मनसिकारो पवत्तेतब्बो। उग्गहनिमित्तं पनेत्थ पग्घरन्तमिव उपट्ठाति। पटिभागनिमित्तं निच्चलं सन्निसिन्नं हुत्वा उपट्ठाति।

३४. **विच्छिद्दकं** युद्धमण्डले वा चोराटवियं वा सुसाने वा यत्थ राजानो चोरे छिन्दापेन्ति, अरञ्ञे वा पन सीहब्यग्घेहि छिन्नपुरिसट्ठाने लब्भति। तस्मा तथारूपं ठानं

वाला विचार, उपलब्ध विशिष्टता से उत्पन्न प्रीति, प्रीतियुक्त मन वाले के लिये ही प्रश्रब्धि सम्भव होने से प्रश्रब्धि, प्रश्रब्धि जिसका निमित्त है वह सुख, उस सुखी की ही चित्त की समाधि (=एकाग्रता) सम्भव होने से सुखनिमित्त वाली एकाग्रता—ये ध्यानाङ्ग प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार उपचार ध्यान, जो कि प्रथम ध्यान का प्रतिबिम्बरूप है, उसी क्षण उत्पन्न होता है। इसके बाद प्रथम ध्यान में अर्पणा एवं उस परवशिता की प्राप्ति तक सब विधि पृथ्वीकसिण में उक्त विधानानुसार जानना चाहिये।

विनीलक आदि की भावनाविधि

३१. इसके पश्चात्, विनीलक आदि के विषय में जो भी "वह उद्धुमातक अशुभनिमित्त को ग्रहण करने वाला अकेला, विना किसी को साथ लिये, स्मृति को बनाये रखकर जाता है" आदि प्रकार से, गमन से प्रारम्भ कर समग्र लक्षण बतलाये गये हैं—उन सबको—"विनीलक अशुभनिमित्त को ग्रहण करने वाला"—इस प्रकार उसी रूप में वहाँ-वहाँ केवल उद्धुमातक शब्द को हटाकर पूर्वोक्तानुसार ही, व्याख्या एवं तात्पर्य जानना चाहिये।

३२. अन्तर यह है—**विनीलक** के प्रसङ्ग में "विनीलक प्रतिकूल, विनीलक प्रतिकूल"—इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये। यहाँ उद्ग्रहनिमित्त चितकबरा (शबल) जान पड़ता है। किन्तु प्रतिभागनिमित्त उस रंग का जान पड़ता है, जिस रंग की प्रमुखता होती है अर्थात् लाल, नीला या सफेद रंग का।

३३. **विपुब्बक** में "विपुब्बकप्रतिकूल, विपुब्बकप्रतिकूल" इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये। यहाँ उद्ग्रहनिमित्त फूटकर बहता हुआ जान पड़ता है। किन्तु प्रतिभामनिमित्त निश्चल, स्थिर जान पड़ता है।

३४. **विच्छिद्दक** युद्धक्षेत्र में, चोरों द्वारा अधिकृत जङ्गल में, श्मशान में, जहाँ राजा चोरों को

गन्त्वा सचे नानादिसायं पतितं पि एकावज्जनेन आपाथं आगच्छति इच्चेतं कुसलं, नो चे आगच्छति, सयं हत्थेन न परामसितब्बं। परामसन्तो हि विस्सासं आपज्जति। तस्मा आरामिकेन वा समणुद्देसेन वा अञ्ञेन वा केनचि एकट्ठाने कारेतब्बं। अलभन्तेन कत्तरयट्ठिया वा दण्डकेन वा एकङ्गुलन्तरं कत्वा उपनामेतब्बं। एवं उपनामेत्वा "विच्छिद्दकपटिकूलं विच्छिद्दकपटिकूलं" ति मनसिकारो पवत्तेतब्बो। तत्थ उग्गहनिमित्तं मज्झे छिद्दं विय उपट्ठाति। पटिभागनिमित्तं पन परिपुण्णं हुत्वा उपट्ठाति।

३५. **विक्खायितके** "विक्खायितपटिकूलं विक्खायितपटिकूलं" ति मनसिकारो पवत्तेतब्बो। उग्गहनिमित्तं पनेत्थ तहिं तहिं खायितसदिसमेव उपट्ठाति। पटिभागनिमित्तं परिपुण्णं व हुत्वा उपट्ठाति।

३६. **विक्खित्तकं** पि विच्छिद्दके वुत्तनयेनेव अङ्गुलङ्गुलन्तरं कारेत्वा वा कत्वा वा "विक्खित्तकपटिकूलं विक्खित्तकपटिकूलं" ति मनसिकारो पवत्तेतब्बो। एत्थ उग्गहनिमित्तं पाकटन्तरं हुत्वा उपट्ठाति। पटिभागनिमित्तं पन परिपुण्णं व हुत्वा उपट्ठाति।

३७. **हतविक्खित्तकं** पि विच्छिद्दके वुत्तप्पकारेसु येव ठानेसु लब्भति। तस्मा तत्थ गन्त्वा वुत्तनयेनेव अङ्गुलङ्गुलन्तरं कारेत्वा वा कत्वा वा "हतविक्खित्तकपटिकूलं हतविक्खित्तकपटिकूलं" ति मनसिकारो पवत्तेतब्बो। उग्गहनिमित्तं पनेत्थ पञ्ञायमानं पहारमुखं विय होति, पटिभागनिमित्तं परिपुण्णमेव हुत्वा उपट्ठाति।

३८. **लोहितकं** युद्धमण्डलादीसु लद्धप्पहारानं हत्थपादादीसु वा छिन्नेसु भिन्नगण्ड-

---

कटवा डालते हैं वहाँ या जङ्गल में सिंह–व्याघ्र आदि द्वारा लोग मार दिये जाते हैं वहाँ, प्राप्त होता है। इसलिये वैसे स्थान पर जाकर, यदि एक ही बार ध्यान से देखने पर, अनेक दिशाओं में छितराया हुआ भी दिखायी पड़ जाय तो अच्छा है। यदि न दिखायी पड़े, तो अपने हाथ से न छूना चाहिये, क्योंकि छूने पर विश्वास उत्पन्न हो जाता है (=वितृष्णा का भाव भी जाता रहता है)। इसलिये किसी विहारवासी, श्रामणेर या किसी अन्य के द्वारा छितराये हुए अङ्गों को एक स्थान पर करवा देना चाहिये। यदि श्रामणेर आदि न मिले, तो छड़ी या डण्डे से सभी अङ्गों को एक–एक अङ्गुल का अन्तर रखते हुए, इकट्ठा करना चाहिये। इस प्रकार इकट्ठा करके "विच्छिद्रक प्रतिकूल, विच्छिद्रक प्रतिकूल"– इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये। यहाँ उद्ग्रहनिमित्त बीच में छिद्र (=युक्त) सा जान पड़ता है; किन्तु प्रतिभागनिमित्त पूर्ण के रूप में प्रतीत होता है।

३५. **विक्खायितक में–** "विक्खायितक प्रतिकूल, विक्खायितक प्रतिकूल" इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये। किन्तु प्रतिभागनिमित्त परिपूर्ण होकर उपस्थित होता है (=पूर्ण रूप में प्रतीत होता है)।

३६. **विक्खित्तक** का भी एक–एक अङ्गुल की दूरी पर, विच्छिद्दक में बतलाये गये ढंग से ही, करवा कर या करके "विक्खित्तक प्रतिकूल, विक्खितक प्रतिकूल"–इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये। यहाँ उद्ग्रहनिमित्त के अङ्गों के बीच का अन्तर स्पष्ट रूप से जान पड़ता है। किन्तु प्रतिभागनिमित्त पूर्ण रूप में जान पड़ता है।

३७. **हतविक्खित्तक** भी विच्छिद्दक के प्रसङ्ग में बतलाये गये स्थानों पर ही प्राप्त होता है। इसलिये वहाँ जाकर, उक्त प्रकार से एक एक अङ्गुल की दूरी पर करवा कर या करके "हतविक्खित्तक, हतविक्खित्तक"–इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये। यहाँ उद्ग्रहनिमित्त घाव के मुख के समान होता है। किन्तु प्रतिभागनिमित्त पूर्ण रूप में ही जान पड़ता है।

पीळकादीनं मुखतो पग्घरमानकाले लब्भति। तस्मा तं दिस्वा "लोहितकपटिक्कूलं लोहितकपटिक्कूलं" ति मनसिकारो पवत्तेतब्बो। एत्थ उग्गहनिमित्तं, वातप्पहता विय रत्तपटाका, चलमानाकरं उपट्ठाति। पटिभागनिमित्तं पन सन्निसिन्नं हुत्वा उपट्ठाति।

३९. **पुळवकं** द्वीहतीहच्चयेन कुणपस्स नवहि वणमुखेहि किमिरासिपग्घरकाले होति। अपि च—तं सोणसिङ्गलअमनुस्सगोमहिंसहत्थिअस्सअजगरादीनं सरीरप्पमाणमेव हुत्वा सालिभत्तरासि विय तिट्ठति। तेसु यत्थ कत्थचि "पुळवकपटिक्कूलं पुळवकपटिक्कूलं" ति मनसिकारो पवत्तेतब्बो। चूळपिण्डपातिक**तिस्सत्थे**रस्स हि काळदीघवापिया अन्तो हत्थिकुणपे निमित्तं उपट्ठासि। उग्गहनिमित्तं पनेत्थ चलमानं विय उपट्ठाति। पटिभागनिमित्तं सालिभत्तपिण्डो विय सन्निसिन्नं हुत्वा उपट्ठाति।

४०. **अट्ठिकं** "सो पस्सेय्य सरीरं सीवथिकाय छड्डितं अट्ठिसङ्खलिकं समंसलोहितं न्हारुसम्बन्धं" (म० ३-१५४) ति आदिना नयेन नानप्पकारतो वुत्तं। तत्थ यत्थ तं निक्खत्तं होति, तत्थ पुरिमनयेनेव गन्त्वा समन्ता पासाणादीनं वसेन सनिमित्तं सारम्मणं कत्वा इदं अट्ठिकं ति सभावभावतो उपलक्खेत्वा वण्णादिवसेन एकादसहाकारेहि निमित्तं उग्गहेतब्बं।

४१. **लिङ्गं** ति इध हत्थादीनं नामं। तस्मा हत्थपादसीसउरबाहुकटिऊरुजङ्घानं वसेन **लिङ्गतो** ववत्थपेतब्बं। दीघरस्सवट्टचतुरस्सखुद्दकमहन्तवसेन पन **सण्ठानतो**

---

३८. **लोहितक** तब मिलता है जब युद्धक्षेत्र आदि में गले हुए (पाये गये) घाव आदि के मुख से या काटे गये हाथ पैर में उत्पन्न हुए फोड़े-फुंसियों के मुख से खून बहता रहता है। इसलिये उसे देखकर "लोहितक प्रतिकूल, लोहितक प्रतिकूल"—इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये। यहाँ उद्ग्रहनिमित्त हवा में हिलते हुए लाल रंग के झण्डे के समान चञ्चल जान पड़ता है। किन्तु प्रतिभागनिमित्त स्थिर प्रतीत होता है।

३९. **पुळवक**निमित्त मृत शरीर में उस समय होता है, जब दो तीन दिन बीत जाने पर शरीर के नौ (९) प्रमुख छिद्रों से समूहरूप में कृमि निकलने लगते हैं। अपि च—वह कृमियों की राशि कुत्ते, सियार, अमनुष्य, गाय, भैंस, हाथी-घोड़ा, अजगर आदि के देह-परिमाण में ही, शालि (=धान की एक प्रजाति) के भात के पिण्ड के समान होता है। उनमें से किसी के मृत शरीर में भी "पुळवक प्रतिकूल, पुळवक प्रतिकूल"—इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये। चूळपिण्डपातिक **तिष्यस्थविर** को **कालदीघवापी** (श्रीलङ्का में एक स्थान) में हाथी के मृत शरीर में निमित्त जान पड़ा। यहाँ उद्ग्रहनिमित्त सचल प्रतीत होता है। किन्तु प्रतिभागनिमित्त शालि के भात के पिण्ड के समान स्थिर जान पड़ता है।

४०. **अट्ठिक**— "मानो वह श्मशान में फेंके गये, मांस-रक्त से युक्त, नसों में बँधे हुए अस्थिकङ्काल को देख रहा हो" (म० नि० ३-१५४) आदि प्रकार से अस्थिक को अनेक प्रकार से बतलाया गया है। वह जहाँ कहीं भी पड़ा हो, वहाँ पूर्व प्रकार से जाकर, चारों ओर के पत्थर आदि के अनुसार निमित्त व आलम्बन के साथ ग्रहण कर "यह अस्थिक है"—ऐसा उसके स्वभाव के अनुसार भलीभाँति विचार कर, वर्ण आदि के अनुसार, ग्यारह प्रकार का निमित्त ग्रहण करना चाहिये।

४१. किन्तु उसे "वर्ण से श्वेत है" इस रूप में देखने वाले को वह निमित्त कुत्सित रूप में नहीं जान पड़ता; क्योंकि वैसे वह अवदात कसिण का ही एक भेद हो जाता है। इसलिये "अस्थिक है"—इस प्रकार प्रतिकूल के रूप में ही अवलोकन करना चाहिये।

लिङ्ग का अर्थ है हाथ आदि। अतः हाथ, पैर, सिर, बाँह, कमर, जाँघ के अनुसार 'लिङ्ग' का विचार करना चाहिये। लम्बा, नाटा, वृत्त, चतुर्भुज, छोटे, बड़े के अनुसार **सण्ठान** (आकार) का विचार

ववत्थपेतब्बं। **दिसोकासा** वुत्तनया एव। तस्स तस्स अट्ठिनो परियन्तवसेन **परिच्छेदतो** ववत्थपेत्वा यदेवेत्थ पाकटं हुत्वा उपट्ठाति, तं गहेत्वा अप्पना पापुणितब्बा। तस्स तस्स अट्ठिनो निन्नट्ठानवसेन पन **निन्नतो च थलतो** च ववत्थपेतब्बं। पदेसवसेना पि 'अहं निन्ने ठितो अट्ठि थले, अहं थले अट्ठि निन्ने' ति पि ववत्थपेतब्बं। द्विन्नं पन अट्ठिकानं घटितघटितट्ठानवसेन **सन्धितो** ववत्थपेतब्बं। अट्ठिकानं येव अन्तरवसेन **विवरतो** ववत्थपेतब्बं। सब्बत्थेव पन ञाणं चारेत्वा इमस्मिं ठानेदमट्ठी ति **समन्ततो** ववत्थपेतब्बं। एवं पि निमित्ते अनुपट्ठहन्ते नलाटट्ठिम्हि चित्तं सण्ठपेतब्बं।

४२. यथा चेत्थ, एवं इदं एकादसविधेन निमित्तगहणं इतो पुरिमेसु पुळवकादीसु पि युज्जमानवसेन सल्लक्खेतब्बं।

इदं च पन कम्मट्ठानं सकलाय पि अट्ठिकसङ्खलिकाय एकस्मिं पि अट्ठिके सम्पज्जति। तस्मा तेसु यत्थ कत्थचि एकादसविधेन निमित्तं उग्गहेत्वा "अट्ठिकपटिक्कूलं अट्ठिकपटिक्कूलं" ति मनसिकारो पवत्तेतब्बो। इध उग्गहनिमित्तं पि पटिभागनिमित्तं पि एकसदिसमेव होती ति वुत्तं, तं एकस्मिं अट्ठिके युत्तं। अट्ठिकसङ्खलिकाय पन उग्गहनिमित्ते पञ्ञायमाने विवरता। पटिभागनिमित्ते परिपुण्णभावो युज्जति। एकट्ठिके पि च उग्गहनिमित्तेन बीभच्छेन भयानकेन भवितब्बं। पटिभागनिमित्तेन पीतिसोमनस्सजनकेन, उपचारावहत्ता।

४३. इमस्मिं हि ओकासे यं अट्ठकथासु वुत्तं, तं द्वारं दत्वा व वुत्तं। तथा हि तत्थ

करना चाहिये। **दिशा** और **रिक्त स्थान** का विचार पहले कहे गये के अनुसार अस्थि की लम्बाई–चौड़ाई (=पर्यन्त) के अनुसार अस्थिकङ्काल के **परिच्छेद** का विचार करके, जो भी अस्थि यहाँ स्पष्ट जान पड़े, उसी का ग्रहण कर क्रमशः अर्पणा प्राप्त करनी चाहिये। प्रत्येक अस्थि के नीचे और ऊँचे स्थान (परिच्छेद) के अनुसार निचाई–ऊँचाई का विचार करना चाहिये। प्रदेश के अनुसार भी–"मैं नीचे स्थित हूँ; अस्थि ऊँचाई पर है; मैं ऊँचाई पर हूँ, अस्थि निचाई पर है"–इस प्रकार भी विचार करना चाहिये। दो अस्थियों के जोड़ वाले स्थान के रूप में **सन्धि** का विचार करना चाहिये। अस्थियों के बीच के अन्तर के रूप में **विवर** का विचार करना चाहिये। सबको ज्ञान का विषय बनाकर (=सर्वत्र ज्ञान का सञ्चार कर) "इस स्थान पर यह अस्थि है"–इस प्रकार **समन्ततः** (चारों ओर का) विचार करना चाहिये। यदि इस प्रकार भी निमित्त उपस्थित न हो तो ललाट में चित्त को स्थिर करना चाहिये।

४२. जैसे यहाँ, वैसे ही इसके पूर्व पुळवक आदि में भी उक्त ग्यारह (११) प्रकार से निमित्त की योजना कर लेनी चाहिये।

यह कर्मस्थान समग्र अस्थिकङ्काल में भी और केवल एक अस्थि में भी उत्पन्न होता है। इसलिये उनमें से किसी एक में भी ग्यारह प्रकार से निमित्त ग्रहण करके "अस्थिक प्रतिकूल, अस्थिक प्रतिकूल" इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये–यहाँ–"उद्ग्रहनिमित्त और प्रतिभागनिमित्त एक–सा ही होता है" ऐसा जो कहा गया है, वह एक अस्थि के बारे में कहा गया है। किन्तु अस्थिकङ्काल के उद्ग्रहनिमित्त में विवर जान पड़ना और प्रतिभागनिमित्त का परिपूर्ण के रूप में प्रतीत होना युक्त प्रतीत होता है। एवं उद्ग्रहनिमित्त भले ही एक ही अस्थि में हो, अवश्य ही बीभत्स, भयानक होता है। किन्तु प्रतिभागनिमित्त, क्योंकि उपचार को लाता है अतः, प्रीति और सौमनस्य उत्पन्न करता है।

४३. इस सन्दर्भ में जो कुछ **अट्ठकथाओं** में कहा गया है, वह उपर्युक्त निगमन (उपसंहार) का

"चतूसु ब्रह्मविहारेसु दससु च असुभेसु पटिभागनिमित्तं नत्थि। ब्रह्मविहारेसु हि सीमसम्भेदो येव निमित्तं। दससु च असुभेसु निब्बिकप्पं कत्वा पटिक्कूलभावे येव दिट्ठे निमित्तं नाम होती" ति वत्वा पि पुन अन्तरन्तरमेव, "दुविधं इध निमित्तं—उग्गहनिमित्तं, पटिभागनिमित्तं। उग्गहनिमित्तं विरूपं बीभच्छं भयानकं हुत्वा उपट्ठाती" ति आदि वुत्तं। तस्मा यं विचारेत्वा अवोचुम्ह, इदमेवेत्थ युत्तं।

अपि च—**महातिस्सत्थेरस्स** दन्तट्ठिकमत्तावलोकनेन सकलित्थिसरीरस्स अट्ठिसङ्घातभावेन उपट्ठानादीनि चेत्थ निदस्सनानी ति।

इति असुभानि सुभगुणो दससतलोचनेन थुतकित्ति।
यानि अवोच दसबलो एकेकज्झानहेतूनी॥ ति॥

पकिण्णककथा

एवं तानि च तेसं च भावनानयमिमं विदित्वान।
तेस्वेव अयं भिय्यो पकिण्णककथा पि विञ्ञेय्या॥

४४. एतेसु हि यत्थ कत्थचि अधिगतज्झानो सुविक्खम्भितरागत्ता वीतरागो विय निल्लोलुप्पचारो होति। एवं सन्ते पि य्वायं असुभप्पभेदो वुत्तो, सो सरीरसभावप्पत्तिवसेन च रागचरितभेदवसेन चा ति वेदितब्बो।

छवसरीरं हि पटिक्कूलभावं आपज्जमानं उद्धुमातकसभावप्पत्तं वा सिया, विनीलकादीनं वा अञ्ञतरसभावप्पत्तं। इति यादिसं यादिसं सक्का होति लद्धुं तादिसे

समर्थन करता है। क्योकि उनमें—"चार ब्रह्मविहारों और दस अशुभों में प्रतिभागनिमित्त नहीं होता। इन ब्रह्मविहारों (=मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा) में तो सीमाओं का भङ्ग होना ही निमित्त है; और दस अशुभों में विचार किये विना ही, प्रतिकूल को देखते ही, निमित्त उत्पन्न हो जाता है"—इस प्रकार कहे जाने पर भी उसके तुरन्त बाद ही—"यहाँ द्विविध निमित्त हैं—उद्ग्रहनिमित्त और प्रतिभागनिमित्त। उद्ग्रहनिमित्त विरूप, बीभत्स, भयानक जान पड़ता है"—आदि कहा गया है। इसलिये विचार करने के बाद जो हमने प्रतिपादित किया है, वही यहाँ युक्त है।

इसके अतिरिक्त, **महातिष्य** स्थविर को दाँत की अस्थि देखने मात्र से ही स्त्री के समस्त शरीर की अस्थिकङ्काल के रूप में प्रतीति होना—आदि यहाँ उदाहरण हैं।

इस प्रकार शुभ गुणों वाले, सहस्राक्ष (इन्द्र) द्वारा प्रशंसित कीर्ति वाले दशबल (बुद्ध) ने एक-एक ध्यान के हेतु जिन अशुभों को बतलाया, उन्हें और उनकी भावना करने की इस विधि को इस प्रकार जानकर, उन्हें यह अधोलिखित अतिरिक्त प्रकीर्णक वर्णन जानना चाहिये।।

प्रकीर्णक वर्णन

४४. इनमें से किसी में भी ध्यान को प्राप्त करने वाला भिक्षु राग के भलीभाँति दमित हो जाने से, वीतराग के समान, लोभरहित होकर विचरने वाला हो जाता है। ऐसा होने पर भी अर्थात् सभी दश अशुभों में से किसी एक में ध्यान प्राप्त करने का उपर्युक्त सामान्य लाभ होने पर भी, जो ये अशुभ के भेद बतलाये गये हैं, वे मृत शरीर की स्वभावप्राप्ति के अनुसार एवं रागचरित के भेदों के अनुसार हैं—ऐसा जानना चाहिये।

जब कोई शव प्रतिकूलता (=कुत्सित भाव) को प्राप्त होता है, तब वह उद्धुमातक स्वभाव को प्राप्त करता है या विनीलक आदि किसी अन्य स्वभाव को। वह जिस जिस रूप में प्राप्त हो, उस उस

तादिसे उद्धुमातकपटिक्कूलं ति एवं निमित्तं गण्हितब्बं एवा ति सरीरसभावप्पत्तिवसेन दसधा असुभप्पभेदो वुत्तो ति वेदितब्बो।

४५. विसेसतो चेत्थ **उद्धुमातकं** सरीरसण्ठानविपत्तिप्पकासनतो सण्ठानरागिनो सप्पायं। **विनीलकं** छविरागविपत्तिप्पकासनतो सरीरवण्णरागिनो सप्पायं। **विपुब्बकं** कायवणपटिबद्धस्स दुग्गन्धभावस्स पकासनता मालागन्धादिवसेन समुट्ठापितसरीर-गन्धरागिनो सप्पायं। **विच्छिद्दकं** अन्तोसुसिरभावप्पकासनतो सरीरे घनभावरागिनो सप्पायं। **विक्खायितकं** मंसूपचयसम्पत्तिविनासप्पकासनतो थनादीसु सरीरप्पदेसेसु मंसूपचयरागिनो सप्पायं। **विक्खित्तकं** अङ्गपच्चङ्गानं विक्खेपप्पकासनतो अङ्गपच्चङ्गलीलारागिनो सप्पायं। **हतविक्खित्तकं** सरीरसङ्घातभेदविकारप्पकासनतो सरीरसङ्घातसम्पत्तिरागिनो सप्पायं। **लोहितकं** लोहितमक्खितपटिक्कूलभावप्पकासनतो अलङ्कारजनितसोभारागिनो सप्पायं। **पुळवकं** कायस्स अनेककिमिकुलसाधारणभावप्पकासनतो काये ममत्तरागिनो सप्पाये। **अट्ठिकं** सरीरट्ठीनं पटिक्कूलभावप्पकासनतो दन्तसम्पत्तिरागिनो सप्पायं ति।

एवं रागचरितभेदवसेना पि दसधा असुभप्पभेदो वुत्तो ति वेदितब्बो।

४६. यस्मा पन दसविधे पि एतस्मिं असुभे सेय्यथापि नाम अपरिसण्ठितजलाय

रूप में "उद्धुमातक प्रतिकूल" आदि प्रकार से निमित्त का ग्रहण करना ही चाहिये। अतः जानना चाहिये कि शरीर-स्वभाव की प्राप्ति के अनुसार दस प्रकार से अशुभ के भेद बतलाये गये हैं।।

उद्धुमातक आदि का विशेष उपयोग

४५. योगी की वैयक्तिक विशेषता के अनुसार- **उद्धुमातक** क्योंकि शारीरिक आकार की विकृति का प्रकाशन करता है, अतः उन लोगों के लिये उपयुक्त है जो कि शारीरिक आकार (=आकृति, नासिका आदि का गठन आदि) के प्रति राग से युक्त हैं। **विनीलक** काय के आकर्षक वर्ण की विकृति का प्रकाशक होने से, शरीर के वर्ण में राग रखने वालों के लिये उपयुक्त है। **विपुब्बक** काय के व्रण (=घाव, फोड़ा) से सम्बद्ध दुर्गन्ध का प्रकाशक होने से, माला, इत्र आदि से उत्पन्न शरीर की सुगन्ध में राग रखने वालों के लिये उपयुक्त है। **विच्छिद्दक**-कायान्त पाति अनन्त छिद्रों के दर्शन से शरीर में घनभाव (मोह) रखने वाले साधक के लिये अनुकूल है। **विक्खायितक** मांसलता रूप दैहिक सम्पत्ति की नश्वरता का प्रकाशक होने से, स्तन आदि शरीर के भागों की मांसलता के प्रति राग रखने वालों के लिये उपयुक्त है। **विक्खित्तक** अङ्ग प्रत्यङ्ग के छिन्न-भिन्न हो जाने का प्रकाशक होने से, अङ्ग प्रत्यङ्ग के लीला-विलास में राग रखने वालों के लिये उपयुक्त है। **हतविक्खित्तक** शरीर की सम्पूर्णता (सङ्घात) के भङ्ग होने और विकृत होने का प्रकाशक होने से, शरीर की सम्पूर्णता में राग रखने वालों के लिये उपयुक्त है। **लोहितक**-खून से लथपथ होने के कारण प्रतिकूलता का प्रकाशक होने से अलङ्कारजन्य शोभा में राग रखने वालों के लिये उपयुक्त है। **पुळवक**-काया के नाना क्रिमियों की राशि का आभास होना दिखाने से काया में ममत्व की प्रतिकूलता द्योतित करता है। **अट्ठिक**-शरीर की अस्थियों की प्रतिकूलता का प्रकाशक होने से स्वशरीर को दन्त-सम्पत्ति में राग रखने वालों के लिये उपयुक्त है।

इस प्रकार रागचरित के भेद के अनुसार अशुभ का दशविध प्रभेद बतलाया गया है, ऐसा जानना चाहिये।

४६. यह अशुभ दशविध होने पर भी; जैसे चञ्चल जल के तेज बहाव वाली नदी में नाव

सीघसोताय नदिया अरित्तबलेनेव नावा तिट्ठति, विना अरित्तबलेन न सक्का ठपेतुं; एवमेव दुब्बलत्ता आरम्मणस्स वितक्कबलेनेव चित्तं एकग्गं हुत्वा तिट्ठति, विना वितक्केन न सक्का ठपेतुं। तस्मा पठमज्झानमेवेत्थ होति, न दुतियादीनि।

४७. पटिक्कूले पि च एतस्मिं आरम्मणे "अद्धा इमाय पटिपदाय जरामरणम्हा परिमुच्चिस्सामी" ति एवं आनिसंसदस्साविताय चेव नीवरणसन्तापप्पहानेन च पतिसोमनस्सं उप्पज्जति, 'बहुं दानि वेतनं लभिस्सामी' ति आनिसंसदस्साविनो पुप्फछड्डकस्स गूथरासिम्हि विय उस्सन्नब्याधिदुक्खस्स रोगिनो वमनविरेचनप्पवत्तियं विय च।

४८. दसविधं पि चेतं असुभं **लक्खणतो** एकमेव होति। दसविधस्सा पि हेतस्स असुचिदुग्गन्धजेगुच्छपटिक्कूलभावो एव लक्खणं। तदेतं इमिना लक्खणेन न केवलं मतसरीरे, दन्तट्ठिकदस्साविनो पन चेतियपब्बतवासिनो **महातिस्स**त्थेरस्स विय, हत्थिक्खन्धगतं राजानं ओलोकेन्तस्स **सङ्घरक्खित**त्थेरुपट्ठाकसामणेरस्स विय च जीवमानकसरीरे पि उट्ठाति। यथेव हि मतसरीरं एवं जीवमानकं पि असुभमेव। असुभलक्खणं पनेत्थ आगन्तुकेन अलङ्कारेन पटिच्छन्नत्ता न पञ्ञायति। पकतिया पन इदं सरीरं नाम अतिरेकतिसत-अट्ठिकसमुस्सयं असीति-सतसन्धिसङ्घटितं नवन्हारुसतनिबन्धनं नवमंसपेसिसतानुलित्तं अल्लचम्मपरियोनद्धं छविया पटिच्छन्नं छिद्दावछिद्दं मेदकथालिका विय निच्चुग्घरितपग्घरितं किमिसङ्घनिसेवितं रोगानं आयतनं दुक्खधम्मानं वत्थु परिभिन्नपुराणगण्डो विय नवहि वणमुखेहि सततविस्सन्दनं। यस्स उभोहि अक्खीहि अक्खिगूथको पग्घरति, कण्णबिलेहि कण्णगूथको, नासापुटेहि सिङ्घाणिका, मुखतो आहारपित्तसेम्हरुधिरानि, अधोद्वारेहि

लंगर के बल से ही रुकती है, बिना लंगर के नहीं रुक पाती; वैसे ही, क्योंकि आलम्बन की दुर्बलता के कारण वितर्क के बल से ही चित्त एकाग्र होकर रहता है, विना वितर्क के नहीं टिक सकता; अतः यहाँ केवल प्रथम ध्यान होता है, द्वितीय आदि नहीं।

४७. और "यद्यपि आलम्बन प्रतिकूल है, फिर भी अवश्य ही इस मार्ग से मैं जरामरण से मुक्त हो जाऊँगा"— इस प्रकार गुण देखने से एवं नीवरणजन्य सन्ताप का प्रहाण हो जाने से प्रीति और सौमनस्य उत्पन्न होते हैं, जैसे कि "अब बहुत वेतन पाऊँगा" इस प्रकार सोचकर भङ्गी (=मैला ढोने वाला, पुप्फछड्डुक) मल के ढेर में और उत्पन्न व्याधि से दुःखी रोगी वमन-विरेचन होने में गुण (=लाभ) देखता है।

४८. यह दशविध अशुभ, लक्षण के अनुसार एक ही होता है; क्योंकि यद्यपि यह सङ्ख्या से दशविध है, तथापि अपवित्र, दुर्गन्धित, जुगुप्साजनक और प्रतिकूल होना ही इसका लक्षण है। ऐसा वह अशुभ इन लक्षणों से न केवल मृत शरीर में, अपितु दाँत की अस्थियों को अशुभ रूप में देखने वाले चैत्यपर्वतवासी **महातिष्य** स्थविर के समान और हाथी पर बैठे हुए राजा को देखने वाले **सङ्घरक्षित** स्थविर के सेवक श्रामणेर के समान, जीवित शरीर में भी जान पडता है। मृत शरीर के ही समान जीवित (शरीर) भी अशुभ ही है। किन्तु यहाँ (=जीवित शरीर में) अशुभ का लक्षण आगन्तुक अलङ्कारों (=साज-शृंगार) से ढँके रहने से नहीं जान पड़ता है, किन्तु स्वभाव से तो यह शरीर तीन सौ से अधिक अस्थियों का समुच्चय, एक सौ अस्सी सन्धियों (जोड़ों) से जुड़ा, नौ सौ से बँधा, नौ सौ मांसपेशियों से लिपटा हुआ, भीतरी गीली त्वचा से लपेटा हुआ, ऊपरी त्वचा से ढँका हुआ, छोटे बड़े छिद्रों से बहने वाला, क्रिमियों के समूह से सेवित, रोगों का घर, दुःख-धर्मों का आश्रय, फूटे हुए

उच्चारपस्सावा, नवनवुतिया लोमकूपसहस्सेहि असुचिसेदयूसो पग्घरति। नीलमक्खिकादयो सम्परिवारेन्ति। यं दन्तकट्ठ–मुखधोवन–सीसमक्खन–न्हाननिवासन–पारुपनादीहि अपटिजग्गित्वा यथाजातो व फरुसविप्पकिण्णकेसो हुत्वा गामेन गामं विचरन्तो राजा पि पुप्फछड्डकचण्डालादीसु अञ्ञतरो पि समसरीरपटिक्कूलताय निब्बिसेसो होति, एवं असुचिदुग्गन्धजेगुच्छपटिक्कूलताय रञ्ञो वा चण्डालस्स वा सरीरवेमत्तं नाम नत्थि।

दन्तकट्ठ–मुखधोवनादीहि पनेत्थ दन्तमलादीनि पमज्जित्वा नानावत्थेहि हिरिकोपीनं पटिच्छादेत्वा नानावण्णेन सुरिभिविलेपनेन विलिम्पत्वा पुप्फाभरणादीहि अलङ्करित्वा अहं ममं ति गहेतब्बाकारप्पत्तं करोन्ति। ततो इमिना आगन्तुकेन अलङ्कारेन पटिच्छन्नत्ता तदस्स याथावसरसं असुभलक्खणं असञ्जानन्ता पुरिसा इत्थिसु, इत्थियो च पुरिसेसु रतिं करोन्ति। परमत्थतो पनेत्थ रज्जितब्बकयुत्तट्ठानं नाम अणुमत्तं पि नत्थि।

तथा हि केसलोमनखदन्तखेळसिङ्घाणिकउच्चारपस्सावादीसु एककोट्ठासं पि सरीरतो बहि पतितं सत्ता हत्थेन छुपितुं पि न इच्छन्ति अट्टियन्ति, हरायन्ति, जिगुच्छन्ति। यं यं पनेत्थ अवसेसं होति, तं तं एवं पटिक्कूलं पि समानं, अविज्जन्धकारपरियोनद्धा अत्तसिनेहरागरत्ता, इट्ठं कन्तं निच्चं सुखं अत्ता ति गण्हन्ति। ते एवं गण्हन्ता अटवियं किंसुकरुक्खं दिस्वा रुक्खतो अपतितपुप्फं "अयं मंसपेसी" ति विहञ्ञमानेन जरसिङ्गालेन समानतं आपज्जन्ति। तस्मा—

जहरबाद (विषव्रण) के समान नौ व्रण–मुखों से लगातार बहता रहने वाला है। जिसकी दोनों आँखों से कीचड़ (गीढ) निकलता रहता है, कान के छेदों से मैल, नाक के छेदों से सिणक (सिङ्घाणक), मुख से आहार, पित्त, श्लेष्मा (=कफ) रक्त; नीचे के द्वारों से मलमूत्र, निन्यानवे हजार रोमछिद्रों से गन्दा पसीना चूता रहता है। नीलमक्खियाँ आदि चारों ओर से घेरे रहती हैं। जिस शरीर का दातौन, मुखप्रक्षालन, सिर पर मालिश, स्नान (वस्त्र) पहनाना–ओढ़ाना आदि न कर, जैसा जन्म से है वैसे ही, रूखे बिखरे बालों वाला बने रहकर यदि गाँव–गाँव फिरता रहे, तो समान शरीर की प्रतिकूलता की दृष्टि से राजा और चाण्डाल आदि में कोई अन्तर न रह जाय। इस प्रकार अपवित्र, दुर्गन्धित, जुगुप्साजनक, प्रतिकूल होने की दृष्टि से राजा और चाण्डाल के शरीर में कोई भेद नहीं है।

किन्तु दातौन, मुखप्रक्षालन आदि के द्वारा दाँत के मैल आदि का परिमार्जन कर, नाना वस्त्रों से गुप्ताङ्गों को ढँककर, अनेक रङ्गों के लेपों, अङ्गराग आदि सुगन्धित लेपों से लेपकर, पुष्पों, अलङ्कारों से अलङ्कृत कर ऐसे इस कुत्सित शरीर को लोग "मैं और मेरा" इस प्रकार ममत्व ग्रहण करने योग्य बनाते हैं। इसलिये इन आगन्तुक अलङ्कारों से ढँके होने के कारण इसके यथार्थ स्वभाव को, अशुभ लक्षण को, न जानते हुए ही पुरुष स्त्रियों से और स्त्रियाँ पुरुषों से प्रेम करती हैं। किन्तु परमार्थतः तो यहाँ इस शरीर में प्रेम (राग) करने योग्य स्थान अणुमात्र भी नहीं है।

और शरीर से बाहर गिरे हुए केश, रोम, नख, दाँत, थूक, सिणक, मलमूत्र आदि में से किसी को भी लोग हाथ से छूना तक नहीं चाहते, अपितु उनसे उद्विग्न होते हैं, लज्जा करते हैं, घृणा करते हैं। वैसे तो जो उस शरीर में रह जाता है, वह प्रतिकूलता में समान ही है, किन्तु अविद्यारूपी अन्धकार से आवृत होने के कारण, स्वयं के प्रति स्नेह के चलते रागरक्त होकर अज्ञानी जन उस शरीर को इष्ट, कान्त, नित्य, सुख, आत्मा के रूप में ग्रहण करते हैं। इस प्रकार ग्रहण करते हुए वे लोग जङ्गल में किंशुक के वृक्ष (=जिसके फूल लाल रंग के होते हैं) को देखकर, वृक्ष से न गिरे हुए

४९. यथा पि पुप्फितं दिस्वा सिङ्गालो किंसुकं वने।
'मंसरुक्खो मया लद्धो' इति गन्त्वान वेगसा॥
पतितं पतितं पुप्फं डंसित्वा अतिलोलुपो।
नयिदं मंसं अदुं मंसं यं रुक्खस्मिं ति गण्हाति॥
कोट्ठासं पतितं येव असुभं ति तथा बुधो।
अग्गहेत्वा गण्हेय्य सरीरट्ठं पि न तथा॥
इमं हि सुभतो कायं गहेत्वा तत्थ मुच्छिता।
बाला करोन्ता पापानि दुक्खा न परिमुच्चरे॥
तस्मा पस्सेय्य मेधावी जीवतो वा मतस्स वा।
सभावं पूतिकायस्स सुभभावेन वज्जितं॥

५०. वुत्तं हेतं—

"दुग्गन्धो असुचि कायो कुणपो उक्करूपमो।
निन्दितो चक्खुभूतेहि कायो बालाभिनन्दितो॥
अल्लचम्मपटिच्छन्नो नवद्वारो महावणो।
समन्ततो पग्घरति असुचि पूतिगन्धियो॥
सचे इमस्स कायस्स अन्तो बाहिरको सिया।
दण्डं नून गहेत्वान काके सोणे निवारये" ति॥

फूलों केविषय में "यह मांसपेशी है"—ऐसा सोच-सोच कर व्याकुल होने वाले बूढ़े सियार के समान होते हैं।

४९. जिस प्रकार कोई परमलोभी सियार वन में फूले हुए किंशुक को देखकर "मैंने मांस का पेड़ पा लिया"—ऐसा सोचकर वहाँ दौड़ते हुए जाता है।।

और गिरे हुए फूलों पर मुँह मारते हुए, "यह मांस नहीं है, जो पेड़ पर है वही मांस है"—ऐसा मानता है।

उस प्रकार बुद्धिमान् न करें। अर्थात् वह ऐसा न माने कि "शरीर से गिरा हुआ भाग ही अशुभ है", अपितु जो शरीर में है उसे भी वैसा ही माने।।

मूर्ख इस काय को शुभ मानते हुए उसमें मुग्ध होते हैं। वे इसके सहारे पाप करते हुए दुःखों से छुटकारा नहीं पाते।।

इसलिये बुद्धिमान् को जीवित या मृत अपवित्र काय के शुभत्व से रहित स्वभाव को देखना समझना चाहिये।।

५०. कहा भी है—

"दुर्गन्धित, अपवित्र काय शौचालय के समान घृणित है। यह काय (प्रज्ञा-) चक्षुवालों के द्वारा निन्दित और मूर्खों के द्वारा ही अभिनन्दित है।।

"गीले (भीतरी) चमड़े से ढँका नौ द्वारों वाला यह (शरीररूपी) महाव्रण चारों ओर से दुर्गन्धित गन्दगी बहा रहा है।।

"यदि इस शरीर का भीतरी भाग बाहर होता तो प्रत्येक शरीरधारी को स्वरक्षाहेतु अवश्य ही डण्डा लेकर कौवों और कुत्तों को रोकना पड़ता।।"

तस्मा दब्बजातिकेन भिक्खुना जीवमानसरीरं वा होतुं मतसरीरं वा, यत्थ यत्थ असुभाकारो पञ्ञायति, तत्थ तथेव निमित्तं गहेत्वा कम्मट्ठानं अप्पनं पापेतब्बं ति॥

इति साधुजनपामोज्जत्थाय कते विसुद्धिमग्गे समाधिभावनाधिकारे
असुभकम्मट्ठाननिद्देसो नाम
छट्ठो परिच्छेदो॥



इसलिये उत्तर (=श्रेष्ठ) मनुष्य धर्म को प्राप्त करने की योग्यता रखने वाले बुद्धिमान् भिक्षु को, चाहे जीवित शरीर हो या मृत शरीर, जहाँ भी अशुभ की प्रतीति हो वहाँ वैसा ही निमित्त ग्रहण कर कर्मस्थान को अर्पणा तक पहुँचाना चाहिये।।

साधुजनों के प्रमोद हेतु विरचित विसुद्धिमग्ग के
समाधिभावनाधिकार में अशुभकर्मस्थाननिर्देश
नामक षष्ठ परिच्छेद समाप्त॥

